पदार्थ-शास्त्र

हिन्दी समिति, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश, लखनऊ

पदार्थ-शास्त्र

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला संख्या—११४

पदार्थ-शास्त्र

लेखक

पं० आनन्द झा, न्यायाचार्य, साहित्यालंकार

(प्राच्य दर्शनाध्यापक, लखनऊ विश्वविद्यालय)

हिन्दी समिति, सूचना विभाग

उत्तर प्रदेश, लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९६५

मूल्य
आठ रुपये

मुद्रक
लीडर प्रेस, प्रयाग

प्रकाशकीय

हमारे देश में पदार्थों के विचार की परंपरा सुदूर प्राचीन काल से चली आ रही है। इसके क्रमबद्ध रूप में प्रवर्तक आचार्य कपिल, कणाद, गौतम आदि मनीषी माने जाते हैं। इन विचारकों ने 'पदार्थ' शब्द को व्यापक––मूर्त-अमूर्त, सत् या काल्पनिक वस्तु मात्र के अर्थ में ग्रहण किया है, जब कि आजकल उसका अर्थ मूल द्रव्य या भौतिक तत्त्व तक ही परिमित प्रचलित है। 'पदार्थ' के पूर्वोक्त अर्थ में विज्ञान, दर्शन, वस्तु-संकलन, ज्ञान-मीमांसा एवं प्रमाण-मीमांसा––सभी का समावेश हो जाता है। इसी निरीक्षण-परीक्षण-निष्कर्षात्मक आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत 'तर्क' भी अनुमान प्रमाण का एक अंग है, जिसे कुछ विचारकों ने 'ऋषि' के समकक्ष प्रतिष्ठित बतलाया है। कणाद, गौतम एवं उनके व्याख्याकारों ने वैशेषिक एवं न्याय दर्शन के अन्तर्गत पदार्थों का विचार करते हुए अनुमिति ज्ञान की सिद्धि के प्रसंग में तर्क का इतना सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है कि नवीन न्याय-वैशेषिक शास्त्र को तर्क-शास्त्र भी कहा जाने लगा है।

स्वाधीन भारत में तर्क शास्त्र की बड़ी धूम रही है और वैदिक, बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि दार्शनिक धुरंधर तार्किक होते आये हैं। अब तक मिथिला, नवद्वीप-जैसे संस्कृत भाषा के विद्यास्थान न्याय या तर्क शास्त्र के गढ़ माने जाते रहे हैं। दर्शन, आलोचना, विधि शास्त्र आदि के क्षेत्र में तर्क का प्रमुख आधार रहता है, किन्तु हिन्दी में इस प्रकार का मौलिक साहित्य अभी पूर्ण रूप में प्रकाशित नहीं हुआ है। राष्ट्रभाषा के इस अभाव की पूर्ति का प्रयास प्रस्तुत 'पदार्थ-शास्त्र' पुस्तक के प्रकाशन द्वारा किया जा रहा है। इसके लेखक, नव्य न्यायशास्त्र की जन्मभूमि मिथिला के ही विद्वान् पं० आनन्द झा हैं, जो संप्रति लखनऊ विश्वविद्यालय में प्राच्य दर्शन शास्त्र के प्राध्यापक हैं। झाजी कर्कश तर्क के गंभीर विद्वान् होते हुए साहित्य के भी सरस रचनाकार हैं, अतः प्रस्तुत कृति में रूक्ष तार्किक विषय का वर्णन उन्होंने सरल तथा सुबोध शैली में किया है, जिससे, आशा है कि न्याय-वैशेषिक पदार्थों के प्रारम्भिक एवं प्रौढ अभ्यासियों के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होगा।

सुरेन्द्र तिवारी

सचिव, हिन्दी समिति

২৫৮

[illegible]

प्राक्कथन

किसी भी देश की स्वाधीनता, संपन्नता एवं तदनुरूप राष्ट्रनीति की सुव्यवस्था क्षणिक-विज्ञानवाद, परमाणपुञ्जवाद, सर्वशून्यवाद या नित्यविज्ञानाद्वैतवाद आदि के प्रचार-प्रसार से सुरक्षित या सुदृढ़ नहीं हो सकती। क्योंकि अपेक्षित शास्य-शासक-भाव, दण्डच-दाण्डिकभाव, पोष्य-पोषकभाव, भक्ष्य-भक्षकभाव आदि को सुव्यवस्थित रखने के लिए सांसारिक पदार्थों में स्थिर वस्तुदृष्टि, सत्यतादृष्टि का सिद्धान्त अपेक्षित है। सांसारिक वस्तुओं को "सांवृतिक" या "व्यावहारिक" मानने पर उक्त सुव्यवस्था इसलिए प्रचलित नहीं हो सकती कि इससे जनसाधारण में मिथ्याचार फैलने का बहुत भय रहता है।

चतुर्वर्ग के अन्तिम स्वरूप निःश्रेयस या निर्वाण के लिए कुछ विरल अधिकारियों को ही इन वादों की मूलभूत दृष्टि की अपेक्षा होती है। त्रिवर्ग के अन्दर किसी को लक्ष्य बनाकर चलने वाली साधारण जनता के लिए इनकी एवं इनकी मूलभूत दृष्टि की कोई अपेक्षा नहीं। उसे तो ठोस वस्तु के लिए ठोस वस्तु का ज्ञान चाहिए। वह निर्वाण के लिए किसी साधना-पथ की पथिक नहीं होती कि किसी दृष्टि मात्र से उसका काम चल जाय। अतः जनता की सुव्यवस्था के लिए और राष्ट्र की सु-शृंखल स्वाधीनता के लिए "वस्तुवाद" नितान्त अपेक्षित है।

यही कारण है कि प्राचीन भारतीय व्यवस्थाकार मनु, याज्ञवल्क्य, चाणक्य प्रभृति ऋषि-महर्षियों ने उक्त विज्ञानवाद आदि को प्रश्रय नहीं दिया, और आधुनिक कतिपय पर्यवेक्षक दार्शनिक-विद्वान् शांकर नित्यविज्ञानाद्वैतवाद के ऊपर सश्रद्ध होते हुए भी स्थिर-सत्य विभिन्न वस्तुओं की सत्ता को अपेक्षाभरी दृष्टि से देखते दीख पड़ते हैं।

यह 'पदार्थ-शास्त्र' प्राचीनतम वस्तुवादी महर्षि कणाद के "वैशेषिक दर्शन"-गत सिद्धान्त को मेरुदण्ड रखकर न्याय-मत को प्रश्रय देते हुए लिखा गया है। अतएव इस ग्रन्थ में "प्राचीन पदार्थ-शास्त्री" नाम से जहाँ कहीं भी उल्लेख किया गया है, वहाँ प्राचीन वैशेषिक मतानुयायी विद्वानों को समझना चाहिए। यों तो अन्य दार्शनिकों ने भी अपनी-अपनी कृति के अन्दर पदार्थों का विवेचन किया है, परन्तु उनका लक्ष्य उन पदार्थों के वास्तविक स्वरूप-निर्णय की ओर न होकर उनके खण्डन की ओर ही रहा है, अतः उन्हें पदार्थशास्त्री नहीं कहा जा सकता। हाँ, बाह्य-

अस्तित्ववादी सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक सम्प्रदाय के बौद्ध विद्वानों ने 'अभिधर्मकोश' आदि ग्रन्थों में पदार्थों का विवेचन कुछ वास्तविक रूप से किया है। फिर भी वैशेषिकों की तुलना में उन्हें इसलिए नहीं रखा जा सकता कि उनका वस्तु-विवेचन उतना पुष्ट नहीं हुआ है, जितना वैशेषिकों का। क्योंकि वस्तु-विवेचन के मूल्यांकन के लिए सबसे बड़ी कसौटी है विभाजन। वह जितना वैशेषिकों का सांकर्य-रहित विशद पाया जाता है उतना औरों का नहीं।

फिर भी यह ध्यान में रखने की बात है कि यहाँ पदार्थ-विवेचन में लेखक ने अपने को वैशेषिकों के हाथ बेच नहीं डाला है। जहाँ जो अच्छा मालूम हुआ है स्वतन्त्रता-पूर्वक आक्षेप-शून्य भाव से तटस्थतया उसका ग्रहण किया गया है एवं स-सम्मान यथासम्भव मतान्तरों का समावेश भी किया गया है। किसी का व्यर्थ खण्डन या अपमान करना इस कृति का लक्ष्य नहीं है।

जिन विशिष्ट विद्वानों ने अपनी बहुमूल्य सम्मति देकर इसके सम्बन्ध में मुझे आश्वस्त करने का अनुग्रह किया है (यथा—म० म० डा० गोपीनाथ कविराज, स्व० डा० भगवानदास, डा० अमरनाथ झा, विषेशतः आचार्य नरेन्द्रदेव एवं श्री धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री-मेरठ), उनके निकट सविनय नमस्कृति द्वारा कृतज्ञता-प्रकाश के अतिरिक्त मैं क्या उपस्थित कर सकता हूँ?

अन्त में विनम्र वक्तव्य यह है कि जो लोग विवेचन-पूर्वक एतद्गत त्रुटि का मुझे ज्ञान करायेंगे उन्हें मैं उसके सम्मार्जनार्थ अपना श्रेष्ठ बन्धु समझूँगा।

आनन्द झा

विषय-सूची

पदार्थ-शास्त्र

पदार्थ

मनुष्यों की तो बात ही क्या, छोटे-छोटे प्राणी कीट-पतंग तक में भी कुछ-न-कुछ समझ अवश्य रहती है। अपने जीवन-निर्वाह के लिए अपेक्षित ज्ञान उन्हें भी होता है अन्यथा उन्हें इच्छा न होगी, फिर जीवनधारण के लिए अपेक्षित साधनों में प्रवृत्ति न हो सकेगी। क्योंकि वस्तु को जाने विना उसके लिए इच्छा नहीं होती और इच्छा के विना कभी प्रवृत्ति नहीं होती; यह बात निश्चित है। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि ज्ञान प्रत्येक प्राणी को होता है। विषय के विना ज्ञान कभी नहीं होता। साधारण लोग भी कहा करते हैं, "वे इस विषय के अच्छे ज्ञाता हैं," "उन्हें इस विषय का अच्छा ज्ञान है," "वे इस विषय को बिल्कुल नहीं जानते" इत्यादि। अतः यह भी मानना पड़ेगा कि यदि ज्ञान है, तो उसका विषय भी है। उसी विषय को 'वस्तु' 'पदार्थ' आदि संज्ञा कही जाती है, क्योंकि ऐसा भी कहा जाता है, कि "वे इस वस्तु के अच्छे ज्ञाता हैं", "उन्हें इस वस्तु का अच्छा ज्ञान है", "वे इस वस्तु को अच्छी तरह जानते हैं।" अथवा "वे इस पदार्थ के अच्छे ज्ञाता नहीं हैं", "उन्हें इस पदार्थ का अच्छा ज्ञान नहीं है", "वे इस पदार्थ को बिल्कुल नहीं जानते" इत्यादि।

वस्तुओं को पदार्थ इसलिए कहते हैं कि संसार की ऐसी कोई भी चीज नहीं जो किसी शब्द से अभिहित न हो, जिसकी कोई संज्ञा अर्थात कोई नाम न हो, जो किसी नाम से निर्धारित न की जा सकती हो। अतः ज्ञान का विषय बननेवाली सभी वस्तुओं को 'पदार्थ' कहा जाता है। 'पद' और 'अर्थ' इन दो शब्दों के योग से 'पदार्थ' शब्द की निष्पत्ति होती है। 'पद' है नाम और 'अर्थ' है उसका वाच्य, अर्थात किसी शब्द से कही जाने वाली वस्तु ही पदार्थ है। जैसे पुष्प शब्द है 'पद', और सुगन्ध आदि स्वभाववाली वस्तु है उसका 'अर्थ'। अतः वह फूल पदार्थ कहा जायगा। इस प्रकार संसार की जो भी वस्तुएँ हैं, जो किसी भी ज्ञान का विषय होती हैं, वे सभी पदार्थ हैं।

पदार्थ के प्रभेद

यों तो पदार्थों के प्रभेद अनन्त हैं, उनकी गणना अनन्त है। यदि पदार्थ एक ही होता तो ज्ञान का तारतम्य कभी न हो सकता, उन्हें एकाधिक किन्तु परिगणन-योग्य मानने पर उक्त तारतम्य की सिद्धि होने पर भी अनुभवसिद्ध असमज्ञता (पदार्थों की तुल्य कोटिक अनुभूति) कभी न हो सकती। अर्थात् प्रयत्नपूर्वक कितना भी ढूँढ़ा जाय, एसे दो ज्ञाता कभी न मिल सकते जिनके ज्ञान के विषयों की संख्या समान हो। यदि विषय परिगणित होते तो ऐसे प्राणी भी पाये जाते, जिनके ज्ञान के विषयों की संख्या कदाचित समान होती। तथापि जिस प्रकार मनुष्यों के असंख्य होने पर भी 'मनुष्य' रूप से हम उन्हें एक समझते हैं, उसी प्रकार पदार्थों के असंख्य होने पर भी सामान्यतः उनकी गणना की जा सकती है। पदार्थ के 'इतने प्रकार हैं' इतने प्रभेद हैं' यह कहा जा सकता है। इस कारण से पुरातन पदार्थ शास्त्रियों ने पदार्थ के सात प्रभेद किये हैं, यथा—(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) समवाय और (७) अभाव।

कुछ आचार्यों ने प्रमाण, प्रमेय आदि रूप से पदार्थों का विभाजन किया है, किन्तु वह इसलिए वास्तविक विभाजन नहीं कहला सकता कि प्रमाण-प्रमेयभाव नियत नहीं होता। अर्थात् कभी प्रमाण भी प्रमेय और कभी प्रमेय भी प्रमाण हो जाता है। जैसे दीपक से जब अन्य पदार्थों को देखते हैं, तब दीपक को 'प्रमाण' कहा जाता है, क्योंकि उसके सहारे अन्य दृश्य देखे जाते हैं। फिर वही दीपक जब आँखों से देखा जाता है, तब आँखों के प्रमाण होने के कारण दीपक कहलाता है। जिससे जाना जाय, वह होता है 'प्रमाण' और जो जाना जाय, वह होता है 'प्रमेय'। अतः प्रमाण-प्रमेय आदि रूप से पदार्थों का विभाजन सुसंगत नहीं। उसे दृष्टि-भेद मात्र का व्यापक समझना चाहिए

कुछ लोग कहते हैं कि पदार्थ के दो प्रभेद हैं—भाव और अभाव। फिर भाव पदार्थ के छः प्रभेद हैं—जैसे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। कुछ लोग द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन को ही भाव पदार्थ मानते हैं। पदार्थों की संख्या के सम्बन्ध में भारतीय पुरातन विद्वानों में बहुत मतभेद उपलब्ध होता है। उसका विवेचन अन्यत्र किया जायगा।

द्रव्य पदार्थ

द्रव्य पदार्थ उसे कहते हैं जो रूप-रस आदि गुणों का आधार हो। अर्थात्

कोई-न-कोई गुण उसमें अवश्य हो। जैसे "फल" द्रव्य है, क्योंकि नील, पीत आदि कोई-न-कोई रूप और कोई-न-कोई रस उसमें अवश्य होता है। ऐसा कोई द्रव्य नहीं जिसमें कोई-न-कोई गुण न हो।

कुछ लोगों का कहना है कि जिसमें "चलन" (क्रिया) हो, अर्थात जो हिल-डुल सकता हो वह द्रव्य है। फूल हिल-डुल सकता है; अतः वह द्रव्य है। किन्तु यह कथन इसलिए ठीक नहीं कि आकाश भी द्रव्य है, किन्तु व्यापक होने के कारण उसमें चलन नहीं है। आत्मा द्रव्य है किन्तु कम्पन उसमें भी नहीं है; अतः चलन वाला द्रव्य है। यह कथन उन्हीं का हो सकता है जो पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार को द्रव्य मानते हैं।

कुछ दार्शनिक शक्ति और शक्तिमान् की भाँति गुण और गुणी को, जैसे रूप और रूपवाले को भी, एक ही पदार्थ मान लेते हैं। किन्तु यह इसलिए ठीक नहीं कि किसी भी पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता प्रामाणिक लोक-बुद्धि के आधार पर अवलम्बित है। कोई भी अभ्रान्त मनुष्य ऐसा नहीं समझता अथवा कहता है कि "रूप फूल है।" किन्तु "फूल का रूप नीला है" अथवा "फूल नीले रूपवाला है" ऐसा ही समझता एवं कहता है। अतः गुण और गुणी एक नहीं माने जा सकते।

द्रव्य पदार्थ को कुछ लोग "पुद्गल" भी कहते हैं।

द्रव्य पदार्थ के प्रभेद

जिस प्रकार पदार्थ असंख्य होने पर भी वर्गीकरण से उनकी संख्या सात होती है, उसी प्रकार वर्गीकरण के अनुसार द्रव्यों की संख्या नौ है। अर्थात् द्रव्य पदार्थ नौ प्रकार का होता है। जैसे (१) पृथिवी, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु, (५) आकाश, (६) काल, (७) दिक्, (८) आत्मा और (९) मन। कुछ दार्शनिक पृथिवी, जल, तेज, वायु और आत्मा इन पाँच को ही द्रव्य मानते हैं। कुछ लोग पृथिवी, जल, तेज, और वायु इन चार को द्रव्य मानते हैं। कुछ लोग उक्त नौ प्रकार के अतिरिक्त अन्धकार को भी अधिक (दसवाँ) द्रव्य मानते हैं। इन मतवादों की विवेचना यथास्थान की जायेगी।

पृथिवी

यहाँ 'पृथिवी' केवल उसे ही नहीं समझना चाहिए, जिसके शब्द-कोशों में, भूमि धरित्री, अचला आदि नाम हैं। किन्तु छोटे-से-छोटे पार्थिव कण से लेकर महापृथिवी पर्यन्त को भी समझना चाहिए। पृथिवी वह है जिसमें स्वतः या जलाने पर गन्ध अवश्य उपलब्ध हो, अन्यथा उससे बने हुए बड़े पार्थिव पदार्थों में भी गन्ध न पायी

जा सकेगी। जिस फूल के अवयवों में जो गन्ध नहीं होती, उस सम्पूर्ण फूल में भी वह नहीं पायी जाती। परमाणुस्वरूप पार्थिव कण में गन्ध इसलिए ज्ञात नहीं होती कि प्रत्यक्ष का एक कारणभूत महत्--परिमाण उसमें नहीं होता। द्रव्य के प्रत्यक्ष में द्रव्यगत महत्त्व, और गुण आदि के प्रत्यक्ष में गुण आदि के प्रति आश्रयीभूत द्रव्यगत महत्त्व कारण होता है।

पत्थर में गन्ध होने पर भी घ्राण उसका प्रत्यक्ष इसलिए नहीं होता कि वह अस्फुट है। स्फुट रूप, रस, गन्ध, आदि का ही प्रत्यक्ष हुआ करता है। (उद्भूत) यदि पत्थर में मूलतः गन्ध न होती तो उसे जलाने पर उसमें गन्ध मालूम न होती, क्योंकि यह मानना ही पड़ेगा कि पत्थर और उसकी भस्म दोनों के आरम्भक परमाणु एक ही हैं; अर्थात् पार्थिव। किसी कपड़े के टुकड़े कर देने पर टुकड़ों के धागे वे ही रहते हैं जो कपड़े के आरम्भक होते हैं। सुतराँ, यदि जले हुए पत्थर में गन्ध है तो बिना जले में भी है, ऐसा मानना पड़ेगा। 'गन्ध' का मतलब सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों समझना चाहिए। केवड़ाजल, गुलाबजल आदि में जो गन्ध पायी जाती है वह तत्त्वतः जल की नहीं, अपितु पृथिवी की ही है, क्योंकि उन फूलों के सम्बन्ध के विना जल में वह गन्ध नहीं पायी जाती। पृथिवी में कहीं सुगन्ध और कहीं दुर्गन्ध अवश्य रहती है।

पृथिवी के प्रभेद

सामान्यतः पृथिवी दो भागों में विभक्त की जा सकती है--नित्य पृथिवी और अनित्य पृथिवी। नित्य पृथिवी वह है जो 'परमाणु' नाम से कही जाती है। अनित्य पृथिवी को जन्य भी कहते हैं। प्राचीन दार्शनिकों ने परमाणु को इसलिए नित्य माना है कि उसका नाश नहीं होता, क्योंकि वह निरवयव है। जो सावयव है वह 'परमाणु' नहीं हो सकता। परमाणु वह कहलाता है जिससे छोटा और कोई न हो। परमाणु के दो टुकड़े नहीं किये जा सकते। जो द्रव्य विभक्त नहीं किया जा सकता, उसका नाश भी नहीं हो सकता। फूल, फल आदि द्रव्य नाशशील इसलिए होते हैं कि वे अनेक भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। जो किसी भी साधन से विभक्त न किया जा सके, अर्थात् जिसके अवयवों का विश्लेषण न किया जा सके, वह कभी अनित्य नहीं है। परमाणु को भी प्राचीन दार्शनिकों ने ऐसा ही माना है, अतः वह नित्य है (आधुनिक परमाणु-खंडन को 'द्वयणुक' या 'त्रसरेणु' का विभाजन कह सकते हैं, जो ईश्वरेच्छावश बने हुए परमाणु द्वय-संयोग का विघातक अतः विक्षोभक है)।

आधुनिक वैज्ञानिक जिसे परमाणु मानते हैं एवं जिसके सम्बन्ध में तोड़ने की क्रिया

करते हैं, वह तत्त्वतः परमाणु नहीं, पारिभाषिक परमाणु है । क्योंकि निरवव पदार्थ तोड़ा नहीं जा सकता । सावयव वस्तु को तोड़ते-तोड़ते उसका ऐसा भी कोई भाग अवश्य रह जायगा जो तोड़ा न जा सके । परमाणु को निरवयव मानने में प्राच्य विवेचकों ने यह भी युक्ति दी है कि वह यदि सावयव माना जाय तो उसी युक्ति से उसके अवयवों को सावयव मानना पड़ेगा । इस प्रकार अवयवावयवधारा चल पड़ेगी । फिर राई और पर्वत के परिमाण में कोई अन्तर होना एवं समझना कठिन हो जायगा, क्योंकि दोनों की ही आवयवावयवधाराएँ अनन्त होंगी ।

परमाणु को निरवयव मानने पर यह दोष इसलिए नहीं हो पाता कि निरवयव परमाणुओं की संख्या का तारतम्य (कमो-बेश) राई-मेरु परिणामों में अन्तर का नियामक हो जाता है । अर्थात् राई जितने परमाणुओं से बनी है, पर्वत उससे कहीं अधिक परमाणुओं से बना है, अतः दोनों समान परिमाणवाले नहीं हो सकते । जैसे दस तन्तुओं से बने और हजार तन्तुओं से बने कपड़े समान परिमाण वाले नहीं होते ।

निरवयव परमाणु के स्वीकार में एक युक्ति यह भी है कि जिस प्रकार महत् परिमाण का तारतम्य आकाश, आत्मा आदि व्यापक वस्तु में जाकर अपनी अन्तिम सीमा पर विश्रान्त हो जाता है, उससे बड़ी कोई भी वस्तु नहीं होती; उसी प्रकार अणुत्व भी अपनी अंतिम छोटी सीमा पर कहीं सीमित होगा । ऐसी भी कोई वस्तु होगी जिससे छोटी कोई चीज न हो । जो पदार्थ अन्त में जाकर सबसे छोटा होगा वही होगा परम अणु, अतः वही परमाणु कहलायेगा । परमाणुरूप नित्य पृथ्वी का प्रत्यक्ष इसलिए नहीं हो पाता कि उसमें महत्त्व नहीं । प्रत्यक्ष के प्रति महत्त्व कारण है ।

कुछ लोग अवयवधारा की सीमा तो मानते हैं, किन्तु उस सीमा-स्थान निरवयव द्रव्य को परम अणु नहीं मानते । उसे निरवयव, नित्य किन्तु महान् अर्थात् मध्यम महत्त्व (परिमाण) से युक्त मानते हैं । पर्यवसित अर्थ यह हुआ कि अवयवधारा के विश्राम-स्थान को जो लोग परमाणु कहते हैं, वे, द्वयणुकोत्पत्ति के क्रम से जो त्र्यणुक उत्पन्न होता है, अर्थात् दो-दो परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होने वाले तीन द्वयणुकों से जो त्र्यणुक नाम की वस्तु उत्पन्न मानी जाती है, उसे ही नित्य निरवयव मान लेते हैं । उसके अतिरिक्त द्वयणुक और परमाणु नहीं मानते । यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि अवयवधारा का विराम और उस विराम स्थान की नित्यता-उक्त दोनों ही मतों में समान है, भेद केवल इतना है कि पूर्व मत में परम अणु होने के कारण उस विराम-स्थान को परमाणु कहते हैं और द्वितीय मत में मध्यम महान् होने के कारण

उसे परमाणु नहीं कहते, अपितु "त्रुटि" आदि शब्दों से कहते हैं। यदि परमाणु शब्द यौगिक मान्य न हो कर निरवयव किन्तु परम महान् के अतिरिक्त वस्तु के अर्थ में रूढ़ या पारिभाषिक मान लिया जाय तो त्रुटि को परमाणु कहने में कोई बाधा न रहेगी। रहस्य यह है कि महत्त्व यदि किसी निम्न से निरपेक्ष भी मान्य हो तो द्वितीय मतवाद संगत हो सकता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि 'त्रुटि' में महत्त्व किस छोटे द्रव्य के छोटेपन की अपेक्षा कर सकेगा? पूर्व मतवाद में द्व्यणुक और त्र्यणुक उन्हें कहा जाता है जो क्रमशः दो परमाणुओं और तीन द्व्यणुकों के संयोग से उत्पन्न होते हैं।

जन्य पृथिवी के प्रभेद

जन्य पृथिवी के दो प्रभेद हैं—उपभोग्य और उपभोग-साधन। उपभोग्य वह है जिसके सम्पर्क से शरीरधारी सुख वा दुःख का उपभोग करते हैं, अर्थात् अपने को सुखी अथवा दुःखी समझते हैं। जैसे फूल को देख या सूँघ कर लोगों को सुख होता है, अतः वह उपभोग्य है। इस उपभोग्य पृथिवी के असंख्य प्रभेद हैं।

उपभोग-साधनभूत पृथिवी के दो प्रभेद हैं—शरीर और इन्द्रिय। ये उपभोग के साधन इसलिए हैं कि शरीर एवं इन्द्रियों के विना जीवात्मा सुख या दुःख का भोग एवं अन्य अनुभव नहीं कर सकता। परमाणुस्वरूप नित्य पृथिवी उपभोग्य इसलिए नहीं कही जा सकती कि उसके सम्पर्क से प्राणी को कोई सुख-दुःख नहीं होता, यहाँ तक कि उसका प्रत्यक्ष भी नहीं होता।

शरीरस्वरूप पृथिवी के चार प्रभेद हैं—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज। गर्भस्थ बच्चे जिस थैली में रहते हैं उसका नाम जरायु है। लोग उसे जेर भी कहते हैं। मनुष्य, पशु आदि के शरीर उसी के भीतर उत्पन्न होते हैं एवं जन्म के पहले उसी में परिपुष्ट होते हैं। अतः उन्हें 'जरायु' कहते हैं। पक्षी एवं सर्प आदि के शरीर अण्डे से उत्पन्न होते हैं, अतः उन्हें 'अण्डज' कहते हैं। 'स्वेदज' वे कहलाते हैं जो शारीरिक वा अशारीरिक वाष्पों से उत्पन्न होते हैं। जैसे शरीर एवं कपड़े आदि में उत्पन्न होने वाली जूँ प्रभृति। जो पृथिवी को भेदन कर अर्थात् फोड़ कर उत्पन्न होते हैं उन्हें 'उद्भिज्ज' कहते हैं। जैसे लता वनस्पति आदि।

आधुनिक वैज्ञानिकों का कहना है कि जरायुज एवं उद्भिज्ज शरीर भी तत्त्वतः अण्डज ही होते हैं। गर्भाशय में डिम्ब (अण्ड) के साथ शुक्र-कीट का संयोग होने पर ही मनुष्य-पशु-शरीर बनते हैं एवं जूँ-मच्छर आदि के भी अण्डे ही होते हैं, अतः स्वेदज शरीर भी अण्डज हुए। यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो लता-वनस्पति आदि के बीजों को भी अण्ड कहा जा सकता है। स्मृति ग्रन्थों से उक्त

वैज्ञानिक मतवाद की पुष्टि ही होती है, क्योंकि जगत् को उत्पन्न करने वाले हिरण्य-गर्भ ब्रह्मा की उत्पत्ति अण्ड से बतायी गयी है। प्राचीन पदार्थशास्त्रियों ने शरीर का जरायुज आदि जो प्रभेद बतलाया है उसका कारण यह है कि उन्होंने लौकिक एवं लोक-सिद्ध शब्द-प्रयोगात्मक व्यवहार के आधार पर पदार्थों का अस्तित्व मानकर सर्वप्रथम आधुनिक विज्ञान की नींव डाली थी। जरायु को या लता-वनस्पति आदि के बीजों को कोई अण्ड नहीं कहता, अतः सभी अण्डज नहीं कहलाते हैं।

प्राचीन पदार्थशास्त्रियों ने शरीरों को प्रथमतः दो भागों में विभक्त किया है—योनिज और अयोनिज। उक्त चार प्रकार के शरीरों में जरायुज और अण्डज, ये दोनों योनिज होते हैं और स्वेदज एवं उद्भिज्ज तथा स्वर्गीय एवं नारकीय शरीर अयोनिज होते हैं। योनिज का अर्थ है शुक्र और शोणित दोनों के संयोग से उत्पन्न, और अयोनिज का अर्थ है उस संयोग की अपेक्षा न करके उत्पन्न। मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि के शरीर स्त्री-पुरुष-संयोग की अपेक्षा रखते हैं, अतः वे योनिज हैं। यूका, मच्छर आदि के शरीरों एवं लता, वृक्षादि शरीरों में उसकी अपेक्षा नहीं होती, अतः ये अयोनिज हैं। सारांश यह कि योनिज और अयोनिज में योनि शब्द का अर्थ कारण मात्र नहीं है। क्योंकि कारण के विना तो कुछ उत्पन्न हो ही नहीं सकता।

हित वस्तु की प्राप्ति और अहित वस्तु के परिहार के अनुकूल क्रिया का नाम चेष्टा है। ऐसी चेष्टा जिसमें हो, वह शरीर है। वृक्ष आदि स्थावर शरीरों में स्थूल चेष्टा न होने पर भी सूक्ष्म चेष्टाएँ हैं। अन्यथा उनका जीवन-मरण क्षत-प्ररोह न हो।

शरीर, इन्द्रिय और विषय इन प्रभेदों से विभक्त पृथिवी में प्राणियों की नासिका-स्थित घ्राण इन्द्रियस्वरूप पृथिवी है। क्योंकि उसी से पृथिवी के असाधारण गुण-गन्ध का साक्षात्कार होता है। अन्यथा ऐसा होने में कोई कारण ही न रह जाता। गन्ध का ही क्यों रूप, रस आदि अन्य गुणों का प्रत्यक्ष भी घ्राण से होने लगता। यद्यपि पार्थिव होने के कारण नाक में भी गन्ध है, किन्तु तब स्वगत गन्ध का प्रत्यक्ष उससे सदा इसलिए नहीं होता कि गन्धसहित घ्राण इन्द्रिय कहलाती है, अतः उसमें रहने वाली गन्ध भी उपभोगसाधन के अन्तर्गत हो जाती है, सुतराँ वह उपभोग्य नहीं हो सकती। अतः उसी घ्राण से गन्ध नहीं सूँघी जाती। एक कारण यह है कि इन्द्रिय होने के कारण घ्राण जैसे अतीन्द्रिय है वैसे ही उसमें रहनेवाली गन्ध भी अतीन्द्रिय घ्राण है। अतः घ्राण के समान तद्गत गन्ध का भी प्रत्यक्ष नहीं होता। घ्राण अतीन्द्रिय है। अज्ञ लोग जिसे नाक कहते हैं तत्त्वतः वह घ्राण नहीं। घ्राण तो नाक के अग्रभाग में रहनेवाली अप्रत्यक्ष वस्तु है। मुख-मण्डल-प्रदेश में साधारणतया

नाक शब्द से अभिहित अवयव में कोई विघटन न होने पर भी कभी किसी रोग के कारण पुष्प आदि की गन्ध का प्रत्यक्ष लोग नहीं कर पाते। यदि स्थूल शारीरिक अवयव ही घ्राण हो, तो ऐसा नहीं हो सकता। अतः मानना पड़ेगा कि उस मांसमय नली से अतिरिक्त किन्तु उसके ही अग्रभाग में रहनेवाली नासिका (घ्राण) नाम की अतीन्द्रिय 'इन्द्रिय' है, जिसके नष्ट अथवा विकृत हो जाने पर उक्त परिस्थिति होती है। घ्राण गन्ध के पास नहीं जाती किन्तु विषयभूत गन्ध ही अपने आश्रय के साथ घ्राण से सन्निकृष्ट होती है, जिससे उसका प्रत्यक्ष होता है।

यह महापृथिवी भी जन्य पथिवी है, जिस पर अन्य सभी चर-अचर पदार्थ आसीन हैं। आधुनिक अन्वेषक इसे सूर्य से उत्पन्न मानते हैं। परमाणु से द्वयणुक आदि उत्पत्ति क्रम द्वारा इस महापृथिवी की उत्पत्ति होती है; यह प्राच्य-पदार्थशास्त्रियों का कथन है। पूर्व मत के लिए कह सकते हैं कि सूर्य केवल तेज-पुञ्ज नहीं, किन्तु जाज्वल्यमान अग्नि-पुञ्ज के समान उसमें भी पार्थिव अंश प्रचुर मात्रा में है। अतः स्फुलिंग के समान सूर्य से निर्गत रेणु-निकर ताप-रहित होकर जब परस्पर सम्बद्ध हुआ, तब द्वयणुक आदि के उत्पत्ति-क्रम से इस विशाल पृथिवी की उत्पत्ति हुई।

महापृथिवी की आकृति गोल है, इसी से इसके लिए "भूगोलक" शब्द का प्रयोग किया जाता है। आधुनिक अन्वेषक इसे गोलाकार मानते हुए भी उत्तर-दक्षिण भाग में कुछ चपटी-सी मानते हैं। यह उत्तर मेरु से लेकर दक्षिण मेरु तक सात हजार आठ सौ निन्यानवे मील लम्बी है। और प्रति घंटा साठ मील की गति वाले यान से लगातार इक्कीस दिन-रात में इसकी परिक्रमा की जा सकती है। वैज्ञानिकों का कहना है कि पथिवी में आकर्षण-शक्ति है, इसीलिए कोई भी पदार्थ ऊपर से नीचे की ओर ही आता है। इसी के सहारे मेघ नीचे की ओर आकृष्ट हो कर जल-वर्षण करता है। प्राचीन पदार्थशास्त्री केवल पृथिवीगत आकर्षण-शक्ति से ही किसी भी वस्तु का पतन नहीं मानते। वे कहते हैं कि गुरुत्व अर्थात् भारीपन पतन के लिए अपेक्षित है। अन्यथा दीप की शिखा पृथिवी से आकृष्ट होकर निम्नमुख क्यों नहीं होती?

जल

पृथ्वी के समान जल भी द्रव्य पदार्थ है। जिसमें स्वाभाविक शीतल स्पर्श हो उसे जल समझना चाहिए। जहाँ कहीं भी शीतल स्पर्श उपलब्ध होता है, वह जल के सम्मिश्रण से ही प्रतीत होता है, जैसे चन्दन आदि की शीतलता जल के सम्पर्क से प्रतीत होती है। 'सीता-कुण्ड' 'गौरी-कुण्ड' आदि का जल यद्यपि उष्ण पाया जाता है, तथापि उसकी वह उष्णता स्वाभाविक नहीं। गन्धक आदि उष्ण खनिज द्रव्यों के सम्पर्क से ही वह उष्ण प्रतीत होता है। वह उष्ण जल भी कुण्ड से निकाल कर

अलग रख देने पर क्रमशः शीतल हो जाता है। अतः मानना पड़ेगा कि जल का शीतल स्पर्श स्वाभाविक है। उष्णता उसमें आगन्तुक है।

जल में द्रवत्वगुण भी स्वाभाविक है। द्रवत्व का ही अपर नाम है तरलता। इस तरलता के कारण जल का कोई खास आकार नहीं होता। आधार के अनुसार ही जल आकार धारण करता है। यदि किसी त्रिकोण पात्र में जल रख दिया जाय तो वह भी त्रिकोण प्रतीत होता है। आधुनिक अन्वेषकों का कहना है कि जल में यह विशेषता है कि इसमें पदार्थों का गुरुत्व घट जाता है। अर्थात् पदार्थों में भारीपन के बदले हलकापन आ जाता है। क्योंकि घड़ेभर कोई वस्तु जल के बाहर उठा कर ले जाने में जितना आयास होता है उससे कहीं कम आयास होता है उसी को जल में उतरा-डुबा कर ले जाने में।

परन्तु विचार करने पर यह संगत नहीं मालूम होता कि जल में किसी वस्तु के वजन में कमी हो जाती है। अन्यथा जल से बाहर करते ही फिर उसी वस्तु में उतना ही भारीपन कहाँ से आ जाता? यह सही है कि जल में और उसके बाहर भरे घड़े के भार की न्यूनता और अधिकता का भान होता है। एवं आयास में भी तारतम्य होता है। किन्तु भान और वास्तविकता दोनों एक नहीं। मरुमरीचिका में जल का भान होता है परन्तु तत्त्वतः वहाँ जल नहीं। जल में पदार्थ के वजन में जो कमी मालूम पड़ती है इसका कारण है जल की विलक्षण धारण-शक्ति; जिसके सहारे वह नौका, जहाज आदि भारी-से-भारी पदार्थों का भी धारण कर सकता है। जल से विधारित होने के कारण ही जल में किसी पदार्थ का भार घट गया-सा मालूम पड़ता है। जैसे कोई भारी वस्तु जब किसी एक ही मनुष्य द्वारा उठायी जाती है तब जितना भार मालूम पड़ता है उतना अधिक मनुष्यों के मिल कर उठाने पर नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि आयास बँट जाता है। परन्तु उस वस्तु में गुरुत्व उतना ही रहता है। उसी प्रकार जल के भीतर और बाहर भी किसी पदार्थ का भार एक-सा ही रहता है, बदलता नहीं। केवल भान होता है कि भार में तारतम्य हुआ। अपने सम्पर्क में आने वाली वस्तु में ताजगी बनाये रखना जल द्रव्य का प्रधान गुण है।

जल के प्रभेद

प्राच्य-पदार्थशास्त्रियों ने पृथिवी-द्रव्य के समान जल-द्रव्य को भी नित्य और अनित्य रूप से दो भागों में विभक्त किया है। नित्यजल परमाणु रूप में होता है। अविभाज्य सूक्ष्मतम जल-कण परमाणु-जल कहलाता है। वह नित्य क्यों है? परमाणु क्यों कहलाता है? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर वैसे ही समझने चाहिए जैसे 'पृथिवी-परमाणु' के विचार-स्थल में दिये गये हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक जलीय परमाणु नहीं मानते क्योंकि उनके मत से जल कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं। उनका कहना है कि दो प्रकार के वायु के संयोग से जल बन जाता है यह आज प्रत्यक्ष देखा जाता है, अतः जैसे दही कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं, दूध का ही रूपान्तर है, वैसे ही वायु के संयोग से उत्पन्न होने वाला जल भी कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं।

किन्तु प्राचीन पदार्थशास्त्रियों का अभिप्राय यह है कि परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म है। जिन वायुद्वय के संयोग से प्रत्यक्ष सिद्ध स्थूलजल की उत्पत्ति देखी जाती है उनमें भी अतिसूक्ष्म जलीय परमाणु होते ही हैं। जलीय द्वयणुक त्र्यणुक आदि अवयवी जलद्रव्य की उत्पत्ति होकर ही स्थूलजल की उत्पत्ति होती है। क्योंकि उपादान और उपादेय का साजात्य द्रव्यों के उत्पादन में अपेक्षित है। परमाणुओं से विजातीय द्रव्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। वायु में उड़ते दो पार्थिव कण जुट कर पार्थिव द्रव्य ही उत्पन्न करते हैं। एवं तादृश दो तैजस-कण मिलकर तैजस-द्रव्य ही, विजातीय द्रव्य नहीं, तो जलीय-परमाणुरहित दो वायु भी संयुक्त होकर वायु ही उत्पन्न करेंगे, जल नहीं। अतः मानना ही पड़ेगा कि दोनों वायु में अति सूक्ष्म जलीय परमाणु रहते हैं जो परस्पर जुट कर स्थूल जल की उत्पत्ति करते हैं। अतः जल को भी पृथिवी आदि के समान ही स्वतन्त्र द्रव्य मानना चाहिए।

इसकी पोषक अन्य भी युक्तियाँ हैं। यथा—जल सूख कर क्या हो जाता है? क्या वह फिर वायु बन जाता है? या सूर्य-रश्मि से ऊपर खींच लिया जाता है? यदि कहा जाय कि वह वायु बन जाता है तो जल से वायु की उत्पत्ति होती है या वायु से जल की, इसका निर्णायक क्या होगा? यदि कोई नहीं, तो जल ही स्वतन्त्र और वायु ही अस्वतन्त्र द्रव्य क्यों न माना जाय? सूर्य-रश्मि से जल ऊपर खींच लिया जाता है, यदि यह कहा जाय, तो मानना ही पड़ेगा कि अति सूक्ष्म जलीय-परमाणु ऊपर उड़ते रहते हैं। फिर तो वायु के साथ उनका होना और उनके संयोग से स्थूल जल की उत्पत्ति भी स्वाभाविक ही है। अतः वायु के समान जल भी स्वतन्त्र द्रव्य, एवं जलीय परमाणुओं से द्वयणुक आदि क्रम से स्थूल जल की उत्पत्ति भी स्वीकरणीय है।

तेज द्रव्य

तेज द्रव्य वह है जिसका स्पर्श उष्ण एवं जो प्रकाशरूप है। अग्नि, सूर्य आदि तेज द्रव्य हैं। किसी भी पदार्थ का परिपाक इसी तेज द्रव्य से होता है। यही कारण है कि कोई भी वस्तु गरमी में बहुत जल्द पक जाती या सड़ जाती है, और जाड़े में अधिक समय तक उसमें ताजगी रहती है। क्योंकि ग्रीष्म में तैजस कण प्रचुर मात्रा

में फैले रहते हैं। तैजस होने से रत्नों का भी उष्णस्पर्श है, किंतु वह पार्थिव अनुष्णाशीतस्पर्श से अभिभूत रहता है, अतः उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इस तरह सुवर्ण का उष्णस्पर्श भी पार्थिव अनुष्णाशीतस्पर्श से अभिभूत होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता।

कुछ लोग रत्नों एवं सोने को तेज नहीं मानते। उनके मत में वे पार्थिव ही हैं। इसका विवेचन यथास्थान किया जायगा। यों तो पृथिवी, जल, तेज और वायु, इन चारों में परस्पर कुछ-न-कुछ संश्लेष रहता ही है, परन्तु पृथ्वी और जल में तेज की अनुस्यूति विशेषरूप से रहती है, क्योंकि पृथिवी-पृथिवी के संघर्ष से तेज प्रकट होता देखा जाता है। अग्नि से जल का विरोध होने पर भी जल में तेज की अनुस्यूति इसलिए माननी ही पड़ेगी कि बिजली जल से ही निकलती है। तेज की एक विशेषता यह है कि वह बिल्कुल हलका होता है; गुरुत्व अर्थात् भार उसमें होता ही नहीं। यही कारण है कि उलटाने पर भी दीप-शिखा ऊपर ही उठती है, नीचे नहीं जाती।

तेज द्रव्य के प्रभेद

तेज द्रव्य भी नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का होता है। पूर्व विवेचनानुसार परमाणु रूप तेज नित्य है। नित्य तैजस परमाणु की सिद्धि भी पूर्व प्रदर्शित युक्तियों के आधार पर ही होती है। तैजस परमाणुओं के संयोग से यही तैजस द्वयणुक आदि के उत्पत्ति-क्रम से बड़े तैजस पदार्थों की उत्पत्ति होती है।

जन्य (अनित्य) भी पूर्ववत् उपभोग-साधन भेद से दो प्रकार का है। यों तो उपभोग्य वस्तु के विना उपभोग न हो सकने के कारण उपभोग्य भी उपभोग-साधन कहा जा सकता है, परन्तु उपभोग-साधन शब्द से उपभोक्ता के अधीन होकर जो उपभोग-सम्पादन में समर्थ हो वह अभिप्रेत है। शरीर एवं इन्द्रियाँ उपभोक्ता के अधीन होती हैं, परन्तु उपभोग्य वस्तु ऐसी नहीं होती, क्योंकि अनेक स्थल में उपभोक्ता के अनेक चेष्टा करने पर भी वह नहीं मिलती। अनित्य तेज के अन्तर्गत छोटे द्वयणुकात्मक तेज से आरम्भ कर सूर्य प्रभृति बड़े तेज तक समझना चाहिए, क्योंकि ये सभी उत्पन्न हुए हैं और नष्ट होनेवाले हैं। शरीर एवं इन्द्रियों को छोड़कर अन्य जितने तेज हैं, जिनसे प्राणियों को सुख वा दुःख मिलता है, वे सभी उपभोग्य तेज हैं। शीतार्त मनुष्य अग्नि किंवा सूर्य-किरणों द्वारा शीत-दुःख से छुटकारा पाकर सुखी होता है, अतः अग्नि, सूर्य आदि उपभोग्य तेज हैं।

तैजस शरीर यद्यपि इस लोक में नहीं पाया जाता, तथापि तैजस परलोक में उसका होना वैसे ही स्वाभाविक है जैसे इस भू-लोक पर बसनेवाले प्राणियों के शरीर भौम अर्थात् पार्थिव होते हैं। तैजस इन्द्रिय (चक्षु) आँखें हैं, क्योंकि दीप वा सूर्य

आदि के प्रकाश से जैसे किसी वस्तु का केवल रूप देखा जाता है, रस-गन्ध आदि गुण ज्ञात नहीं होते, और दीप, सूर्य आदि तेज ही हैं। उसी प्रकार आँखों से भी किसी वस्तु का नीला-पीला रूप ही देखा जाता है, उसके रस-गन्ध आदि गुण ज्ञात नहीं होते, अतः प्रदीप आदि के समान आखें भी तैजस ही हैं।

प्राचीन पदार्थशास्त्रियों ने पृथिवी, जल और तेज तीनों को (१) शरीर, (२) इन्द्रिय और (३) विषय; तीन भेदों में बाँटा है। विषयरूप तेज को उन्होंने फिर चार भागों में विभक्त किया है, (१) भौम, (२) दिव्य, (३) उदर्य और (४) आकरज। अग्नि, जुगनू आदि भौम तेज हैं। जल से दीप्त होनेवाली बिजली दिव्य तेज है। जिससे खाये-पिये अन्न-जल-फल आदि पचते हैं, वह जठरानल है उदर्य तेज, और खानों से निकलनेवाले स्वर्ण, हीरक आदि आकरज तेज हैं। दिव्य नाम से, मेघ-मण्डल में चमकनेवाली एवं यान्त्रिक प्रक्रिया से पैदा होनेवाली दोनों तरह की बिजली समझनी चाहिए।

सूर्य तेज

वेद में "सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" कह कर जो सूर्य समग्र स्थावर जंगम का कारण बताया गया है, उसके सम्बन्ध में आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि—सूर्य इतना महान् है कि उसकी महत्ता तेरह लाख पृथिवी की महत्ता के समान है। घण्टे में ६० मील चलनेवाली गाड़ी पर चढ़ कर सूर्य की परिक्रमा की जाय तो पाँच वर्ष समय लगे। पृथिवी से इसकी दूरी प्रायः ९ कोटि ३० लाख मील की है। प्रति घण्टा ३० मील की गति से यदि कोई गाड़ी चले तो पृथ्वी से सूर्य तक पहुँचने में ३५० वर्ष लगे। सूर्य सामान्यतः तीन अंशों में विभक्त किया जा सकता है। एक वह जो चमकती थाली के समान खाली आँखों से भी दीखता है। यह "आलोक-मण्डल" कहलाता है जो मध्यवर्त्ती सूर्य-पिण्ड से निर्गत जाज्वल्यमान वाष्प-राशि से निर्मित है। इस आलोक-मण्डल से समस्त प्रकाश एवं ताप निकल कर चारों ओर फैलता है। आलोक-मण्डल के चारों ओर उज्ज्वल वाष्पावरण है जो "वर्ण-मण्डल" कहलाता है। यह "वर्ण-मण्डल" भी नाना प्रकार धातु-वाष्प का समुदाय-स्वरूप है। यह आवरण न होता तो और भी अधिक प्रकाश एवं ताप पृथिवी पर आता। फिर पृथिवी इतनी गरम हो जाती कि प्राणियों के निवास-योग्य ही न रह जाती। सूर्य में कल्पनातीत ताप होने से ताप-राशि का बहिर्निर्गम सर्वदा होता रहता है इसी कारण अति भीषण प्रवाहरूप में परिचलन-स्रोत सर्वदा प्रवाहित होता रहता है। इसी परिचलन-स्रोत के कारण समान स्वर्णाकृति दृश्य उनके चारों ओर उपस्थित होता है।

उक्त परिचलन-स्रोत—प्रयुक्त ही उक्त वर्ण-मण्डल से सदा ही जाज्वल्यमान

वाष्प-राशि अत्यन्त ऊर्ध्वमुख उत्थित होकर विराट् "अग्नि-शिखा" अथवा सौर-शिखा की सृष्टि करता है। सूर्य-ग्रहण-काल में सूर्य आवृत होने पर वह अग्नि-शिखा आवृत सूर्यांश के चारों ओर मुकुट के समान शोभित होती है। यही अंश "छटा-मण्डल" कहलाता है। दूरवीक्षण यन्त्र से देखने पर सूर्य में कुछ काले धब्बे दीखते हैं जो सौर-केतु कहलाते हैं। सौर-केतु का मध्यांश गाढ़ा काला और पार्श्वांश कम काला होता है। यह सौर-केतु कभी-कभी इतना बड़ा हो जाता है कि दूरवीक्षण यन्त्र के विना भी देखा जाता है।

सूर्य से ताप-राशि का विकीरण अनर्गल रूप से सर्वदा होता रहता है जिसके कारण सूर्य-पिण्ड सर्वदा संकुचित हो रहा है। सूर्य के अभ्यन्तर से स्फुलिंग-राशि के समान वाष्प-राशि सर्वदा अत्यन्त वेग से ऊर्ध्वमुख उठ रही है। अतः जगह-जगह गड्ढे हो जाते हैं। सूर्य चारों ओर जिन उष्ण-कणों का वर्षण करता है उसके बीस करोड़ भागों का एक भाग मात्र पृथिवी पर आता है। अन्य सभी उष्ण कण महाशून्य में ही विलीन हो जाते हैं। सूर्य पृथ्वी से ९ करोड़ तीस लाख मील की दूरी पर अवस्थित है, फिर भी उसका इतना ताप पृथ्वी पर आता है। भारतीय साहित्य में सूर्य "जगच्चक्षु" अर्थात् समग्र प्राणियों की आँख कहलाता है। सूर्य और आँख में समता भी है क्योंकि वह वहाँ आकर विषय का प्रत्यक्ष कराता है और आँख की भी रश्मि दृश्य तक जाकर उसका प्रत्यक्ष कराती है। किन्तु आधुनिक वैज्ञानिकों का कहना है कि आँख रश्मि-रूप में दृश्य-देश तक नहीं जाती किन्तु गोलकरूप आँख में दृश्य वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी से प्रत्यक्ष होता है। इसके सम्बन्ध में विशेष विवेचन ज्ञान-प्रकरण में किया जायगा।

चन्द्रमा तेज

"सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा" इस वेद-वाक्य में चन्द्रमा को राजा कहा गया है। विचार-दृष्टि से यह बात बिल्कुल सही जँचती है। राजा जैसे पोषण-शक्ति के सहारे प्रजाओं का पालन करता है। वैसे ही चन्द्रमा भी पोषण-तत्त्व से परि-पूर्ण होने के कारण प्राणियों का पालन करता है। यही कारण है कि दिन में कार्य-भार से परिश्रान्त प्राणी रात में विश्रान्ति पाकर नवजीवन प्राप्त करते हैं। वैज्ञानिकों का कहना है कि चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा करता है, इसी से कभी दृश्य और कभी अदृश्य होकर शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष की सृष्टि करता है। चन्द्रमा भी तेज है इसी से यह वस्तुओं का प्रकाशन करता है। कितने ही वैज्ञानिकों का कहना है कि चन्द्रमा स्वतः प्रकाशशील नहीं किन्तु उसके पर-भाग में सूर्य का प्रकाश पड़ता है, इसी से यह प्रकाश देता है। परन्तु ऐसा होने पर भी वह है तेज ही, अन्यथा सूर्य के प्रकाश से भी

वह उतना प्रकाशशील न होता। चन्द्र भी गोलाकृति है किन्तु उसका विस्तार सूर्य के जितना नहीं, वह केवल २,१६० मील विस्तृत है। फिर भी सूर्य के समान ही इसलिए दिखाई देता है कि पृथ्वी से केवल २४० लाख मील दूर है। आधुनिक अन्वेषकों का कहना है कि चन्द्र-मण्डल में बहुत बड़े-बड़े पर्वत हैं जिनके उन्नत-शृंगों से सूर्य-किरण के अवरुद्ध होने पर जो छाया पड़ती है उसी से चन्द्र-मण्डल में काले धब्बे दिखाई देते हैं। कवि लोग उसी को मृग आदि का रूप देते हैं। अन्वेषकों का यह भी कहना है कि चन्द्र-मण्डल में बहुत गड्ढे हैं। इनका आनुमानिक कारण यह बताया जाता है कि जैसे पृथ्वी पर आग्नेय पवतों से अनवरत ज्वाला निकलती है और स्थान-स्थान पर तत्प्रयुक्त गड्ढे हो रहे हैं वैसे ही किसी काल में चन्द्र-मण्डल स्थित गिरि-शृंगों से भी आग्नेय ज्वाला निकलती थी और गड्ढे हो गये। वर्त्तमान काल में एक गर्त्त तो अत्यन्त विस्मयकारक है, उसकी गहराई बीस हजार फीट और चौड़ाई बावन मील बतायी जाती है।

वायु द्रव्य

वायु वह है जिसमें रूप नहीं किन्तु स्पर्श है। अर्थात् रूप न होने से जो दिखाई तो नहीं पड़ता, किन्तु त्वक् इन्द्रिय से स्पर्श का प्रत्यक्ष होने पर, उस स्पर्श के आश्रय रूप से जिसका अनुमान होता है वह वायु है। आकाश आदि द्रव्यों में भी रूप नहीं है किन्तु स्पर्श भी नहीं हैं, अतः वे वायु नहीं। पृथिवी, जल, तेज में स्पर्श है तो रूप भी है, अतः वे भी वायु नहीं। सुतरां, वायु नामक द्रव्य मानना पड़ता है। उदाहरण रूप में प्राणियों का श्वास-प्रश्वास वायु, है, क्योंकि उसका रूप तो नहीं दीखता किन्तु स्पर्श मालूम पड़ता है। यद्यपि पहले तेज का यह स्वरूप बतलाया गया है कि वह "उष्ण स्पर्श युक्त होता है", तदनुसार श्वास-प्रश्वास भी तेज माना जाना चाहिए। तथापि वह तेज इसलिए नहीं कि उसके स्पर्श की उष्णता स्वाभाविक नहीं होती। जठरानल से सम्बन्ध प्राप्त कर बाहर निकलने के कारण वह गरम मालूम पड़ता है। तत्त्वतः श्वास-प्रश्वास का स्पर्श न उष्ण है और न शीत, वह तो तृतीय प्रकार का अनुष्णाशीत है, अतः वह तेज नहीं कहला सकता। तेज वह द्रव्य है जिसका स्पर्श स्वाभाविक उष्ण हो।

वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता। सन-सन आवाज सुनने से, पृथिवी, जल अथवा तेज के स्पर्श से, विलक्षण स्पर्श के प्रत्यक्ष होने से, रूई आदि हलकी वस्तु को निराधार उड़ते देखने से और हिलती वृक्षों शाखाओं को देखने से वायु का अनुमान किया जाता है। क्योंकि सन-सन शब्द पृथिवी, जल वा तेज किसी के संयोग-विभाग से नहीं होता। वायु चलने पर मालूम होनेवाला स्पर्श पृथिवी, जल वा तेज का नहीं, क्योंकि तेज का

स्पर्श उष्ण होता है। पृथिवी का स्पर्श अनुष्णाशीत होते हुए भी "पाकज" होता है, किन्तु वायु का स्पर्श "अपाकज" अनुष्णाशीत है। पाकज-अपाकज की परिभाषा आगे बतलायी जायगी। आकाश में उड़नेवाली रूई आदि का धारक पृथिवी, जल वा तेज कोई नहीं दीखता, और धारक के विना निरवलम्ब आकाश में रूई आदि का धारण नहीं हो सकता, अतः रूई आदि के धारक रूप से वायु का अस्तित्व मानना पड़ता है। जब पृथिवी, जल वा तेज किसी का आघात नहीं होता तब वृक्षों की शाखाएँ किससे आहत होकर डोलती हैं? अतः आघातक वायु है, यह मानना ही पड़ेगा। इसी वायु के आधार पर समग्र चर-अचर प्राणियों का जीवन अवलम्बित है। क्योंकि श्वास-प्रश्वास से जीवन का प्रारम्भ होता और उसी का अन्त होने पर जीवन का भी अन्त हो जाता है। वायु की गति सीधी नहीं, सर्वदा वक्र हुआ करती है।

कुछ लोग कहते हैं कि वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष न होने पर भी त्वक् से तो उसका प्रत्यक्ष होता ही है। अतः उसका स्पार्शन-प्रत्यक्ष मानना चाहिए। जो लोग ऐसा नहीं मानते उनका कहना है कि किसी भी वाह्य इन्द्रिय से उसी द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है जिसमें रूप हो, वायु में रूप नहीं; अतः उसका त्वक् से भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने वायु में गुरुत्व अर्थात् वजन नहीं माना है, किन्तु आधुनिक वैज्ञानिकों का कहना है कि वायु में वजन है। यहाँ विरोधाभास का परिहार यों किया जा सकता है कि वैज्ञानिक जिसे तौलते हैं वह केवल शुद्ध वायु नहीं। उसमें पार्थिव, जलीय, तैजस आदि परमाणु मिले होते हैं, अतः गुरुत्व होना स्वाभाविक ही है। जैसे सोने में तत्त्वतः भारीपन नहीं, क्योंकि वह तेज है और तेज में गुरुत्व नहीं होता; किन्तु पार्थिव भाग--सम्बलित व्यावहारिक सोने में गुरुत्व होता है, वह तौला जाता है, उसी प्रकार वायु भी तौला जाता है किन्तु वह विशुद्ध नहीं। प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने जिसमें गुरुत्व नहीं माना है वह है विशुद्ध वायु। जिस भूत के परमाणु में गुरुत्व नहीं उस स्थूल भूत में भी वे गुरुत्व नहीं मानते। वहाँ उपलब्ध गुरुत्व को वे वैसे ही औपाधिक, आगन्तुक मानते हैं जैसे जल में उष्णता को। प्राच्य पदार्थशास्त्रियों का परमाणु उससे भिन्न ही है जिसे आधुनिक वैज्ञानिक परमाणु कहते हैं, यही इस विरोध या विरोधाभास का मूल कारण है कि "परमाणु" शब्द उभयत्र प्रयुक्त होता है।

वायु के प्रभेद

वायु भी नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का है। परमाणु रूप वायु नित्य है और द्व्यणुक से लेकर महाझंझा-वायु पर्यन्त अनित्य। परमाणु रूप वायु मानने की युक्ति पूर्वोक्त समझनी चाहिए। पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार अनित्य वायु भी दो प्रकार का है। उपभोग्य और उपभोग-साधन। उपभोग-साधन के दो प्रभेद हैं; शरीर

और इन्द्रिय। पिशाच आदि के शरीर वायवीय हुआ करते हैं। इन्द्रिय रूप वायु त्वक् है; क्योंकि वह पंखे के वायु के समान स्पर्श का ही ज्ञापक है, रूप आदि का नहीं। त्वक् को चर्म नहीं समझना चाहिए, वह तो केवल आवरण होता है। त्वक् मांस तक में वर्तमान है। यही कारण है कि शरीर में जहाँ चर्म बिल्कुल कट जाता है वहाँ भी मांस पर किसी वस्तु का संयोग होने पर स्पर्श-ज्ञान होता है।

प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने त्वक् इन्द्रिय के उपयोग के सम्बन्ध में यहाँ तक कहा है कि स्पार्शन-प्रत्यक्ष में तो यह कारण होती ही है, अधिकन्तु इसकी विशेषता यह है कि जब तक इससे मन का संयोग न हो तब तक किसी भी प्रकार का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष कोई भी ज्ञान नहीं हो सकता। यही कारण है कि गाढ़-सुषुप्ति अवस्था में कोई भी ज्ञान नहीं होता। अर्थात् त्वक् स्वतः स्पार्शन-प्रत्यक्ष में तो कारण है ही, साथ ही मन से संयुक्त होकर वह परोक्ष और अपरोक्ष सभी प्रकार के ज्ञान का भी कारण होती है। कुछ दार्शनिक तो यहाँ तक कहते हैं कि केवल यही इन्द्रिय है, जिसके तत्तत्स्थानों में रहने के कारण कभी रूप का और कभी रस का ज्ञान होता है। वे चक्षु आदि इन्द्रियों का अस्तित्व नहीं मानते। इस मतवाद की समीक्षा अन्यत्र की जायगी। पिशाच आदि का वायवीय शरीर यद्यपि दिखाई नहीं पड़ता, तथापि उसका अस्तित्व मानना ही पड़ेगा। जो वस्तु आँखों से दीख न पड़े, वह यदि हो ही नहीं, तो फिर इस तर्क से स्वयं आँखें भी नहीं मानी जा सकतीं, क्योंकि आँखें अपने से नहीं देखी जातीं।

शरीररूप और इन्द्रियरूप वायु के अतिरिक्त सभी जन्य वायु को उपभोग्य वायु समझना चाहिए। पूर्व परिभाषा के अनुसार उपभोग्य वायु वह है जिससे प्राणियों को सुख वा दुःख हो। जैसे शीत ऋतु का वायु दुःखद होने और अन्य ऋतु का सुखद होने के कारण उपभोग्य है। श्वास-प्रश्वास रूप प्राण-वायु यद्यपि शरीर वा इन्द्रियरूप नहीं, तथापि उसे उपभोग-साधन कोटि में ही समझना चाहिए; क्योंकि वह शरीर से असम्बद्ध होकर उपभोग का विषय नहीं होता और उपभोग की उत्पत्ति में उसकी पूर्ण अपेक्षा है।

कुछ आचार्यों ने पृथिवी, जल, तेज इन तीन भूतों को शरीर, इन्द्रिय और विषय-रूप से तीन-तीन भागों में विभक्त किया है, और वायु को शरीर, इन्द्रिय, विषय और प्राण इन चार भागों में। इसमें एक ही बात खटकती है कि शरीर आदि के विभागों के अतिरिक्त यहाँ प्राणरूप एक अधिक विभाग मानना पड़ता है। कुछ लोग वायु को भी पृथिवी आदि की तरह शरीर, इन्द्रिय और विषय इन तीन भागों में विभक्त कर, प्राण को भी विषय के ही अन्तर्भुक्त मानते हैं। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि विषयपद का अर्थ यदि उपभोग का विषय किया जाय तो प्राण उपभोग का विषय

नहीं और यदि उपभोग-साधन मानें तो वह वैसा हो सकता है, क्योंकि प्राणी को ही उपभोग होता है। परन्तु तब शरीर एवं इन्द्रियाँ भी उपभोग-साधन होने के कारण विषय कही जायेंगी। फिर उक्त तीन प्रभेद नहीं बनेंगे।

शरीर में प्राणवायु तत्त्वत: एक ही है किन्तु विभिन्न स्थानों में वही (१) प्राण, (२) अपान, (३) उदान, (४) समान और (५) व्यान कहलाता है। मुँह और नाक से संचार के समय उसी का नाम प्राण, मल-द्वार से संचार के समय अपान, नाभि देश में संचार के समय समान, कण्ठ में संचार के समय उदान एवं समग्र शरीर में संचार के समय व्यान होता है। ये संज्ञाएँ यौगिक हैं। श्वास-प्रश्वास रूप प्राणन व्यापार के कारण वह प्राण कहलाता है, मल-मूत्र आदि का अपनयन करता है अत: अपान, खाये-पीये अन्न आदि का समीकरण अर्थात् पाचन कर एकाकार करने के कारण समान, भुक्त अन्नादि का उन्नयन अर्थात् कण्ठ तक उठाने के कारण उदान और शोणित-संचार के लिए शरीर-स्थित नाड़ियों का वितनन करने अर्थात् फैलाने के कारण व्यान कहलाता है।

आकाश द्रव्य

आकाश द्रव्य है, क्योंकि इसमें शब्द नामक गुण उत्पन्न होता है। आकाश एक ही है, कारण कि वह सर्वत्र समान रूप से पाया जाता है। शब्द गुण की उत्पत्ति भी सर्वत्र समान भाव से ही होती है, तब उसे अनेक मानने का कोई कारण नहीं। पृथिवी आदि महाभूतों के समान वह अव्यापक भी नहीं किन्तु व्यापक है। व्यापक पदार्थ कभी अनित्य नहीं होता, जैसे आत्मा; अत: वह नित्य भी है। कुछ लोग पार्थिव आदि परमाणु के समान ही आकाशीय परमाणु भी मानते हैं, किन्तु यह इसलिए संगत नहीं कि परमाणु निष्कम्प नहीं होते। इसलिए सकम्पपरमाणु से निष्पन्न आकाश भी तब सावयव मानना होगा, सर्वव्यापी नहीं। अत: उसे सावयव न मानकर एक और नित्य मानना ही संगत है।

यद्यपि "आत्मन आकाश: सम्भूत:" इस श्रुतिवाक्य से उसका उत्पन्न होना जान पड़ता है, तथापि पदार्थ-शास्त्रियों ने सजातीय से ही उत्पत्ति को संगत मानकर ऐसा नहीं माना। उनका कहना है कि वेद ऐसा चिन्तन करने का आदेश देता है, जिससे आत्मा की सर्वश्रेष्ठता पर दृढ़ विश्वास हो। आत्मा आकाश का अवयव नहीं कि उससे आकाश की उत्पत्ति होगी। साथ ही किसी भी द्रव्य की उत्पत्ति अनेक द्रव्यों के संयोग से होती है। जैसे कपड़ा बहुत तन्तुओं के संयोग से और भवन बहुत ईंटों के संयोग से उत्पन्न होता है। तब एक परमात्मा से आकाश द्रव्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? यदि अनेक जीवात्माओं के संयोग से उसकी उत्पत्ति मानी जाय तो यह भी संगत नहीं

होगा। क्योंकि एक तो व्यापकों का संयोग ही मान्य नहीं, दूसरे, संयोग मानने पर उसे भी अनादि-संयोग मानना पड़ेगा, फिर आकाश को भी अनादि ही मानना होगा। फिर उसकी उत्पत्ति कैसी ?

कुछ लोग आकाश द्रव्य को इसलिए भी अतिरित नहीं मानते कि जब आकाश भी व्यापक है और आत्मा भी, तब दोनों एक ही क्यों न मान लिये जायँ ? फलतः आत्मा द्रव्य ही शब्द का आधार बन जायगा। आकाश की स्वतन्त्र सत्ता न रहेगी। किन्तु यह इसलिए संगत नहीं कि आकाश परमात्मा-रूप माना जायगा या जीवात्मा-रूप ? यदि परमात्मा माना जाय तो शब्द का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि परमात्मा में होनेवाले ज्ञान, इच्छा आदि गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता। जीवात्मा-स्वरूप माना जाय तो जीवात्मा एक नहीं अनेक हैं। क्योंकि एक ही काल में कोई सुखी है, कोई दुःखी, कोई रोगी है तो कोई विरक्त, फिर आकाश किस जीवात्मा का स्वरूप माना जाय ? जो शब्द सुनता है उस जीवात्मास्वरूप आकाश है वा अन्य जीवात्मा-स्वरूप ? यदि शब्द प्रत्यक्ष करनेवाले जीव का रूप उसे माना जाय, तो जैसे "मैं ज्ञानी हूँ, मुझे ज्ञान हुआ है" इस प्रकार स्वगत ज्ञान आदि का प्रत्यक्ष प्रत्येक प्राणी को होता है, वैसे ही "मैं शब्दवाला हूँ, मुझमें शब्द हुआ है" इस प्रकार की समझ होनी चाहिए। किन्तु ऐसा कोई समझता नहीं। फिर आकाश को शब्द-प्रत्यक्ष करनेवाले आत्मा का स्वरूप कैसे माना जाय ? यदि उसे अतिरिक्त आत्मारूप माना जाय तो फिर शब्द का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि दूसरे के ज्ञान, इच्छा आदि गुणों का कोई अन्य प्रत्यक्ष नहीं कर पाता।

आकाश व्यापक काल-रूप इसलिए नहीं माना जा सकता कि काल सभी चर-अचर वस्तुओं का आश्रय होता है, क्योंकि "आज घड़ा हुआ", "उस दिन कपड़ा था", "परसों राम आयेगा" इत्यादि सभी विषयों में काल वस्तुओं के आश्रयरूप से प्रतीत होता है। किन्तु आकाश के सम्बन्ध में ऐसी प्रतीति कभी नहीं हुआ करती। फिर काल और आकाश ये दोनों एक ही कैसे माने जायँ ?

आकाश व्यापक दिक्-स्वरूप भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि जहाँ पूर्व-पश्चिम आदि दिशाओं का व्याहार नहीं होता वहाँ भी आकाश का व्याहार होता है। जैसे जहाँ मनुष्य बैठा हो वहाँ के लिए यह कहा जाता है कि "यहाँ का आकाश निर्मल है", किन्तु "यहाँ की दिशा निर्मल है" ऐसा कोई नहीं कहता। इसी तरह "पूर्व दिशा में आकाश मेघाच्छन्न हो आया है" ऐसा प्रयोग लोग करते हैं। यदि आकाश दिशा ही होता तो फिर किसी दिशा से वह सीमित न किया जा सकता। क्योंकि अपने आपको कोई सीमित नहीं कर सकता। किन्तु उक्त वाक्य में "पूर्व दिशा में आकाश" इस

वाक्यांश से व्यापक आकाश पूर्व दिशा से सीमित किया गया है। अतः आकाश दिक्-स्वरूप भी नहीं माना जा सकता। पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन ये सभी परिच्छिन्न अर्थात् अव्यापक हैं, अतः आकाश, पृथिवी आदि रूप कैसे हो सकता है ? सुतराँ मानना पड़ेगा कि आकाश एक स्वतंत्र द्रव्य है जिससे शब्द गुण उत्पन्न होता है।

कुछ लोग आकाश के सम्बन्ध में यह मत व्यक्त करते हैं कि शून्यता ही आकाश है और शून्यता है अभाव, अतः आकाश अभाव नामक पदार्थ में अन्तर्भुक्त हो जाता है, उसे द्रव्य मानना अनुचित है। किन्तु विचार करने पर यह मतवाद भी टिकने नहीं पाता, क्योंकि शून्यता कही जाय या अभाव कहा जाय वह होता है किसी वस्तु का, जैसे "घटशून्यता" घट का अभाव, इत्यादि। फिर आकाश-रूप अभाव किसका अभाव होगा ? यदि सारे भाव पदार्थों के अभाव को आकाश कहा जाय तो वह कथन भी संगत नहीं हो सकता। क्योंकि अन्ततः पृथिवी, जल आदि के परमाणु सर्वत्र व्याप्त हैं, फिर वह सब का अभाव कैसे होगा ? यदि यह कहा जाय कि दृढ़ आवरक पृथिवी द्रव्य का अभाव आकाश है। तो यह भी इसलिए संगत नहीं कि आकाश अन्य द्रव्यों के आश्रयरूप से ज्ञात एवं व्याहृत होता है। जैसे "आकाश में सूर्य देदीप्यमान है", "आकाश में चिड़िया उड़ रही है" इत्यादि। किन्तु "अभाव में सूर्य देदीप्यमान है", "अभाव में चिड़िया उड़ रही है" ऐसा नहीं कहा जाता। अतः दृढ़ प्रतिघाती द्रव्य का अभाव आकाश नहीं, किन्तु तादृश अभाव का आश्रय आकाश है, यही मानना पड़ेगा।

कुछ लोगों का कहना है कि शब्द गुण नहीं किन्तु द्रव्य है। अतः आकाश शब्द-गुण का आश्रय नहीं कहा जा सकता। किन्तु शब्द द्रव्य नहीं, गुण है यह "गुण ग्रन्थ" में बतलाया जायगा। अतः आकाश शब्द-गुण का ही आश्रय है। कुछ लोग कहते हैं कि शब्द गुण तो है किन्तु आकाश का नहीं; वायु का। किन्तु यह मतवाद भी इसलिए संगत नहीं कि वायु में स्पर्शरूप विशेष गुण भी तबतक बराबर रहता है जबतक वायु रहता है। ऐसा नहीं कि वायु हो और स्पर्श नष्ट हो जाय। यदि शब्द वायु का गुण होता तो वह भी वायु के अस्तित्व काल तक रहता, किन्तु ऐसा नहीं होता। वह अपनी उत्पत्ति के तृतीय क्षण में नष्ट हो जाता है। अतः वह वायु का गुण नहीं। सुतरां उसका आश्रय आकाश द्रव्य ही है। पार्थिव आदि शरीरों के समान आकाशीय कोई शरीर नहीं। किन्तु कर्णपिण्ड-छिद्र से सीमित होकर वह श्रोत्र (कान) इन्द्रिय बनकर शब्दों का ही ज्ञान कराता है। श्रोत्र के आकाश होने पर भी किसी मनुष्य से सुने गये शब्द सभी मनुष्य समान भाव से इसलिए नहीं सुनते कि उक्त सीमित आकाश ही श्रोत्र है और वह शरीर-भेद से भिन्न हुआ करता है, सब के श्रोत्र एक ही नहीं।

श्रोत्र से शब्द का प्रत्यक्ष यों होता है कि शब्द-उत्पत्ति-स्थल से जल-तरंग-धारावत्

शब्द-तरंग-धारा चलती है। श्रोता के कान में जो शब्द उत्पन्न होता है वही वह सुनता है। सारांश यह कि कान शब्द के पास नहीं जाता। प्रथम शब्द से उसका सजातीय शब्द दूसरा और उससे तीसरा; इस प्रकार से उत्पन्न होता हुआ श्रोता के कानों में शब्द उत्पन्न होता है वही वह सुनता है।

काल

जिस द्रव्य के सहारे--"यह कार्य हो गया", "यह कार्य हो रहा है", "यह कार्य होगा" इस प्रकार किसी भी वस्तु में अतीतता, वर्तमानता या भाविता का ज्ञान एवं व्यवहार होता है, उसे काल कहा जाता है। सारकथा यह कि यदि काल नामक द्रव्य न हो तो फिर किससे सम्बद्ध होने के कारण किसी वस्तु को भूत, भविष्य या वर्त्तमान कहा जा सकेगा ? अतः काल नामक एक स्वतन्त्र द्रव्य मानना चाहिए। अथवा इस प्रकार समझा जाय कि यदि कोई कहे कि "अभी यह पुस्तक है" तो "अभी" का अर्थ क्या होगा ? यही होगा कि सूर्य के इस चलन से युक्त। पूरे वाक्य का अर्थ यह होगा कि "यह पुस्तक सूर्य में होनेवाले इस चलन से अर्थात् गमनात्मक क्रिया से युक्त है।" अब यह देखना होगा कि चलन तो सूर्य में है, फिर उससे अतिदूरवर्त्ती इस पुस्तक का क्या सम्बन्ध है ? चलन का साक्षात् सम्बन्ध तो सूर्य में ही है। अतः काल नामक एक व्यापक द्रव्य माना जाय जो उस चलन के आश्रयभूत सूर्य से भी सम्बद्ध हो और पुस्तक से भी। इस प्रकार काल द्रव्य मानने पर उसे बीच में रखकर सूर्यगत चलन से पुस्तक सम्बद्ध हो सकेगी। अर्थात् चलन का आश्रय होगा सूर्य, उसका संयोग होगा व्यापक काल-द्रव्य में और उस काल का संयोग होगा पुस्तक में। इस प्रकार--"स्वाश्रयसूर्यसंयोगिसंयोग" नामक सम्बन्ध से सूर्यगत चलन पुस्तकगत भी हो जायगा। अतः "अभी यह पुस्तक है" इस प्रकार का ज्ञान या व्यवहार होने में कोई बाधा नहीं होगी। उक्त सम्बन्ध तब तक नहीं बन सकता, जब तक व्यापक काल नामक द्रव्य न मान लिया जाय। अतः उसे मानना चाहिए।

इसलिए काल द्रव्य है कि उक्त द्रव्यों के समान संख्या, परिमाण आदि गुण उसमें विद्यमान रहते हैं। यदि यह कहा जाय कि काल न मानकर उक्त "स्वाश्रयसंयोगिसंयोग" सम्बन्ध बनाने के लिए आकाश को ही ले लिया जाय---अर्थात् आकाश भी तो चलन के आश्रय सूर्य और पुस्तक इन दोनों में संयुक्त है, अतः स्वाश्रयसूर्यसंयोगिरूप से आकाश को लेकर तत्संयोग पुस्तक में होने के कारण पुस्तक के साथ उक्त सम्बन्ध सूर्यगत चलन का हो सकता है। फिर काल-द्रव्य क्यों माना जाय ? इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि पूर्वसिद्ध आकाश, आत्मा आदि व्यापक द्रव्यों के अन्दर यदि किसी का यह स्वभाव माना जाय कि वह दूरवर्ती किसी पदार्थगत गुण और

क्रिया का अन्यत्र दूरवर्ती पदार्थ में आधान करता है, तो दूरवर्ती जपापुष्पगत अरुणिमा को आकाश आदि दूरवर्ती स्फटिक में भी वह प्रतिफलित कर देगा। अर्थात् जपापुष्प निकट में न होने पर भी स्फटिक लाल मालूम होगा। आकाश यदि दूरवर्ती-सूर्यगत चलन को पुस्तक आदि दूरवर्त्ती में लायेगा, तो दूरवर्ती जपागत अरुणिमा को उससे दूरवर्त्ती स्फटिक में क्यों नहीं लायेगा? काल द्रव्य के स्वीकार पक्ष में यह बात नहीं होती। क्योंकि काल खास कर सूर्यगत चलन को ही तत्तद्वस्तुओं में संयुक्त करने वाला माना जाता है, अतः वह चलन को ही अन्यत्र ले जा सकेगा, अरुणिमा आदि को नहीं। आकाश जैसे पूर्वसिद्ध व्यापक द्रव्य के लिए यह बात नहीं कही जा सकती कि वह केवल चलन को ही ले जायगा, अरुणिमा को नहीं। क्योंकि वह शब्द के आश्रयरूप से पूर्वसिद्ध होने के कारण चलन और अरुणिमा दोनों के लिए समान होगा, अतः काल न मानने पर उक्त दोष अनिवार्य होगा। सुतरां "अभी यह पुस्तक है" इत्यादि ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोग के सम्पादनार्थ काल नामक द्रव्य मानना चाहिए। अन्य द्रव्यों से इसकी यह विशेषता है कि कोई भी वस्तु इसके विना उत्पन्न नहीं होती।

काल के प्रभेद

जैसे आकाश एक होने पर भी गृह आदि का परिच्छेदक मानकर उसके लिए "गृहाकाश", "घटाकाश" आदि शब्दों का प्रयोग होता है एवं साधारण लोग सीमित रूप में उसे अनेक समझते हैं। उसी प्रकार काल-द्रव्य तत्त्वतः एक होने पर भी क्षण, पल, दंड, दिन, रात्रि, अहोरात्र, कृष्ण, शुक्ल-पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष रूप में सीमित अतएव अनेक होता है। क्षण उसको कहा जाता है, जितने काल का किसी स्पन्दन की उत्पत्ति से सम्बन्ध हो।

क्रिया की उत्पत्ति से लेकर विनाश तक की साधारणतः प्रक्रिया यह है कि प्रथम क्षण में अर्थात् किसी एक क्षण में क्रिया की उत्पत्ति होती है। द्वितीय क्षण में उस क्रियाश्रय-द्रव्य का अन्य द्रव्य से विभाग होता है, जिसमें प्रथम क्षण में क्रिया उत्पन्न हुई होती है। तृतीय क्षण में उस पूर्वसंयोग का नाश होता है, जो क्रिया के आश्रय द्रव्य में पहले से विद्यमान रहता है। चौथे क्षण में उस द्रव्य का किसी अन्य द्रव्य के साथ नया संयोग उत्पन्न होता है। पंचम क्षण में उस क्रिया का नाश हो जाता है जो इस क्रियानाश के पूर्वपंचम-क्षण में उत्पन्न होती है। जैसे एक परमाणु कहीं पड़ा था, वायु के झकोरे से उसमें प्रथम क्षण में कम्पन हुआ। द्वितीय क्षण में उस स्पन्दनशील परमाणु में उससे विभाग हुआ, जहाँ वह पड़ा हुआ था। तृतीय क्षण में उस संयोग का नाश हो गया, जो उसमें अपने पूर्व-आश्रय के साथ था। चतुर्थ क्षण में वह परमाणु किसी और द्रव्य के साथ जा जुटा अर्थात् उत्तर संयोग उत्पन्न हुआ। पंचम क्षण में,

वह स्पन्दन नष्ट हो गया, जो पूर्व पंचम क्षण में, उत्पन्न हुआ था। इस प्रक्रिया के आधार पर अनायास यह कहा जा सकता है कि उक्त क्रिया की उत्पत्ति का काल एक क्षण है। उक्त विभागोत्पत्ति का काल भी एक क्षण है। पूर्वसंयोगनाश की उत्पत्ति का काल भी एक क्षण है। उत्तर संयोग की उत्पत्ति का काल भी एक क्षण है और क्रियानाशोत्पत्ति का काल भी एक क्षण है। इस तरह क्षणात्मक काल का सम्पादन हो जाने पर उसके समुदाय को लेकर पल, दण्ड आदि का भी सम्पादन हो जायगा।

दिन-रात्रि आदि स्थूल कालों के परिचय में तो इसलिए सरलता होगी कि सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक के परिच्छिन्न काल को दिन कहा जायगा। इसी प्रकार सूर्यास्त से लेकर सूर्योदय तक के परिच्छिन्न काल को रात्रि कहा जाता है। दोनों के मिलाने पर अहोरात्र होता है। इस प्रकार पक्ष, मास आदि का भी सम्पादन होने के कारण तत्त्वतः एक महाकाल भी अनेक अणु कालों के रूप में कल्पित रूप से विभक्त होकर उक्त ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोगों का सम्पादन कर सकेगा।

कुछ लोग काल नामक द्रव्य नहीं मानते। उनका कहना है कि महाकाल को विषय करनेवाला कोई ज्ञान नहीं होता, एवं स्वतन्त्र वाक्य-प्रयोग भी नहीं ही होता, क्योंकि "अभी" "जभी" "तभी" इत्यादि ज्ञान का विषय स्वल्पकाल ही होता है। खण्डकाल की रचना किसी क्रिया या जन्य द्रव्य को लेकर होती है यह बात पहले बतलायी जा चुकी है। फिर परिच्छेदक क्रिया किंवा जन्य द्रव्य को ही क्यों न काल माना जाय? परन्तु यह इसलिए संगत नहीं कि यदि कोई यह कहता है कि "यह इसी क्षण में हो रहा है" तो इसका अर्थ कोई भी यह नहीं समझता कि यह क्रिया में उत्पन्न हो रहा है। किसी पदार्थ का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वतन्त्र ज्ञान और लोक-व्यवहार के आधार पर ही माना जाता है। इससे यह मतवाद भी समीक्षित समझना चाहिए कि "अन्तःकरण वृत्तियों के पूर्वापरीभाव के आधार पर बाह्य घटनाओं में पूर्वापरीभाव की कल्पना ही काल की कल्पना है, अतः काल विकल्पित है" क्योंकि बाह्य घटनाएँ यदि विकल्पित नहीं तो उनका पूर्वापरीभाव ही क्यों विकल्पित होगा? और अन्तःकरण-वृत्तियों का पूर्वापरीभाव भी तो काल माने विना नहीं कहा जा सकता। उधर आन्तर घटनाएँ चलती हैं और इधर बाह्य-घटनाएँ होती हैं, इसलिए काल का भान मात्र होता है; यह कथन भी तब तक कठिन है जब तक काल न माना जाय? क्योंकि उक्त "इधर" और "उधर" से घटना-द्वय की समसामयिकता प्रतीत होती है, वह समयरूप काल के अधीन ही होती है।

कुछ आधुनिक विवेचक कहते हैं कि मूर्त्त द्रव्यों की दीर्घता, ह्रस्वता आदि के समान काल भी मूर्त्त-द्रव्य का स्वरूप ही है, अतएव "यह इतना लम्बा है" "यह इतना

चौड़ा है" इत्यादि प्रतीति के समान यह भी प्रतीति होती है कि "यह इतने दिन (काल) का है"। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि दीर्घता आदि द्रव्य नहीं उसके गुण हैं यह गुणग्रंथ में बतलाया जायगा। और दूसरी बात यह भी है कि जो सभी के आधार-रूप से प्रतीत होता हो उसे आधेय-द्रव्य-स्वरूप कैसे माना जा सकता है ? काल में एक विचित्र नियमनशक्ति है, जिसके सहारे कार्य ठीक व्यवस्थित रूप से हुआ करते हैं। सभी फूल, फल आदि एकदा नहीं हुआ करते। ज्येष्ठ, कनिष्ठ आदि व्यवहार भी लोक में इस काल के सहारे ही हुआ करते हैं। यह बात सही है कि क्रिया एवं जन्य द्रव्य आदि के सहारे परिच्छिन्न बनकर ही काल लोक-व्यवहार का विषय होता है, किन्तु उन क्रिया आदि को ही काल मान लेना संगत नहीं, क्योंकि परिच्छेदक और परिच्छेद्य एक नहीं होते।

दिक् द्रव्य

जिस द्रव्य के सहारे किसी भी परिच्छिन्न द्रव्य के लिए, पूर्व पश्चिम आदि दिशा-वाचक शब्दों का व्यवहार होता है, अर्थात् ऐसा कहा जाता है कि अमुक पूर्व दिशा में है और अमुक पश्चिम में, उस द्रव्य का नाम है दिक्। यतः किसी में पूर्व, पश्चिम आदि शब्द-प्रयोग के मूलभूत पूर्वत्व, पश्चिमत्व आदि, पृथिवी जैसी किसी वस्तु के साथ सम्बन्ध-प्रयुक्त हैं; ऐसा देखा नहीं जाता। अतः दिक् नामक कोई स्वतन्त्र द्रव्य अवश्य है जिसके सम्बन्ध से किसी भी परिच्छिन्न वस्तु को पूर्व, पश्चिम आदि दिशा-वाचक विशेषण प्राप्त होते हैं। यह दिक् द्रव्य भी तत्त्वतः काल-द्रव्य के समान एक, व्यापक एवं नित्य है। तथापि व्यावहारिक काल के समान यह भी अनेक होता है, इसलिए पूर्व, पश्चिम आदि विभिन्न रूप से इसका ज्ञान होता है।

यह दिक्-द्रव्य पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन रूप इसलिए नहीं कहा जा सकता कि वे सभी अव्यापक हैं और यह व्यापक है। इसे आकाश इसलिए नहीं कह सकते कि इसमें शब्द नहीं होता। काल इसे इसलिए नहीं कह सकते कि ज्येष्ठता और कनिष्ठता नियत होती है। अर्थात् जो जिससे ज्येष्ठ है वह सदा उससे ज्येष्ठ ही रहेगा। किन्तु दिक् में यह बात नहीं। जो जिससे पूर्व -दिशा में है वही उससे पश्चिम में भी हो सकता है। जैसे देवदत्त यदि पटने में है और यज्ञदत्त काशी में, तो देवदत्त यज्ञदत्त से पूर्व (देश) में कहा जायगा और यज्ञदत्त पश्चिम में। किन्तु वही देवदत्त यदि प्रयाग चला जाय तो काशीस्थ यज्ञदत्त से तब पश्चिमस्थ कहलायेगा। अतः दिक् काल भी नहीं। यह दिक् आत्मा इसलिए नहीं कि इसमें चेतन के धर्म ज्ञान, इच्छा, यत्न आदि नहीं हैं। अतः इसे स्वतन्त्र द्रव्य ही मानना पड़ेगा। दिक् में एक विशेषता यह भी है कि दूरता और समीपता का ज्ञान इस दिक् नामक द्रव्य के ही सहारे होता

है। "प्रयाग से काशी निकट है और पटना दूर", इसका अर्थ यही होगा कि प्रयाग और काशी के बीच पृथिवी, जल, तेज आदि परिच्छिन्न द्रव्य व्यवधान रूप से जितने हैं, उससे अधिक प्रयाग और पटना के बीच हैं। किन्तु उक्त व्यवधायक पार्थिव, जलीय आदि परिच्छिन्न वस्तुएँ व्यापक नहीं कि किसी व्यापक द्रव्य को आश्रय किये विना स्वगत अल्पता या अधिकता की सहायता से ही काशी को प्रयाग से निकट और पटना को दूर समझा सकें, अतः व्यापक द्रव्य की अपेक्षा होती है। वह द्रव्य काल आदि नहीं हो सकते। अतः दिक् नामक नित्य, व्यापक, एक स्वतन्त्र द्रव्य मानना ही पड़ेगा।

दिक् के प्रभेद

काल के समान दिक् भी व्यापक और नित्य द्रव्य है। किंतु काल के समान दिक् का भी औपाधिक भेद माना जाता है। मुख्यतया इसके छः भेद हैं। जैसे--पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधः। पूर्व, पश्चिम आदि चार दिशाओं के बीच चार उपदिशाएँ हैं। जैसे--दक्षिण-पूर्व, पूर्वोत्तर, उत्तर-पश्चिम और पश्चिम-दक्षिण। इस तरह सबको मिलाकर दिक् द्रव्य की औपाधिक संख्या दस है। उक्त चार उपदिशाओं को कोण क्रम मिलाना भी कहा जाता है। यथा आग्नेय कोण, ईशान कोण, वायव्य कोण, और नैऋत्य कोण।

पूर्व आदि चारों को प्राची, अवाची, प्रतीची और उदीची इन नामों से एवं ऐन्द्री, वारुणी, कौबेरी एवं याम्या, इन नामों से भी कहा जाता है। सूर्योदय काल में सूर्य की ओर मुँह कर खड़े होने वाले मनुष्य के सामने पूर्व दिशा, पीठ की ओर पश्चिम, दाहिने हाथ की ओर दक्षिण और बायें हाथ की ओर उत्तर दिशा होती है। लोगों के व्यवहार में ये औपाधिक दिशाएँ ही आती हैं। परन्तु विशेषअर्थात् भेद किसी सामान्य के ही हुआ करते हैं अतः सामान्यतः एक व्यापक नित्य दिशा मानकर इन सबको उसका प्रभेद मानना चाहिए।

आत्मा द्रव्य

जो चेतन है, अर्थात् जिसमें चेतना है, जिसमें किसी काल में ज्ञान होता है, वह आत्मा है। वह नित्य है। क्योंकि ऐसा न मानने पर कर्म और फलभोग का नियम नहीं बन सकेगा। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि जो मनुष्य कोई कार्य करता है वह उससे हानि या लाभ उठाता है। अतः यह मानना अनिवार्य है कि कर्त्ता और भोक्ता एक ही होता है, अर्थात् जो भला या बुरा कर्म करता है, उस के फल सुख या दुःख को भी वही भोगता है। जैसे, जो चोरी करता है, कारावास दण्ड भी उसे ही भोगना पड़ता है। जो भृत्य अपने कर्त्तव्य का पालन उचित भाव से करता है, पद-वृद्धि भी वही पाता है। अतः मानना होगा कि कोई स्थायी आत्मा है।

इसलिए भी चेतन आत्मा का स्वीकार आवश्यक है कि जड़ पदार्थ जब तक चेतन पदार्थ से प्रेरित नहीं होता, तब तक वह कार्यक्षम नहीं होता है। जैसे कितनी ही तीक्ष्ण तलवार क्यों न हो, जबतक उसको कोई चलायेगा नहीं, तबतक वह अनपेक्षित रूप से काट नहीं सकती। घड़ी के काँटे बहुत देर तक चलते रहते हैं, किन्तु कभी उसमें कोई चाबी भरता ही है, अतः जो "हम", "मैं" आदि शब्दों से कहा जाता है, जिसके बारे में कोई भी प्राणी "मैं हूँ या नहीं" इस प्रकार सन्देह कभी नहीं करता, एवं "मैं नहीं हूँ" इस प्रकार विपरीत––निश्चय भी कभी नहीं करता, ऐसी एक कोई वस्तु माननी ही पड़ेगी। वही आत्मा है।

कुछ लोग आत्मा नामक स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते। उनका कहना है कि प्रत्येक भौतिक-कण चेतन है, अतः भौतिक-कणों का समष्टि-स्वरूप यह शरीर ही आत्मा है, इससे अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है। यद्यपि घड़े, कपड़े, ईंट, पत्थर आदि भी भौतिक कणों से ही निष्पन्न (बने) हैं, अतः वे भी चेतन हैं। किन्तु उनकी चेतना "अस्फुट" हैं, अतः उन्हें आत्मा नहीं कहा जाता। एवं वे अपनी हित-प्राप्ति और अहित-परिहार के लिए सचेष्ट नहीं देखे जाते। किन्तु प्राणि-शरीररूप आत्मा में चैतन्य का विकास होने के कारण वह "स्फुटचैतन्य" होता है, अतः हित की प्राप्ति एवं अहित के परिहार के लिए वहाँ चेष्टा होती है। जैसे, अन्न के प्रत्येक कण में अस्फुट मादकता है किन्तु तब तक वह "मद्य" नहीं कहलाता जब तक जल-गुड़ आदि के साथ उसे सड़ाया नहीं जाता। सड़ने के बाद विलक्षण पाक-प्रक्रिया से उसमें मादकता स्फुट हो आती और वही "मद्य" बन जाता है। उसी तरह पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों के अस्फुट चेतनावान् कण-समुदाय से शरीर की निष्पत्ति होने पर वह चेतना उसमें स्फुट हो आती और सचेष्ट हो जाती है। अतः शरीर से अतिरिक्त आत्मा नहीं मानना चाहिए, इत्यादि।

किन्तु यह मतवाद इसलिए संगत नहीं मालूम पड़ता कि प्रत्येक परमाणु के चेतन होने पर उससे निर्मित शरीर को चेतन की समष्टि मानना होगा। अनेक चेतनों का किसी भी विषय में मतैक्य होना असम्भव है, फलतः कुछ भी निर्णय होना कठिन हो जायगा। फिर तो किसी कार्य में निष्कम्प प्रवृत्ति न होगी, सभी निश्चेष्ट हो जायेंगे। किसी भी विषय में निर्णयार्थ पाँच-सात चेतन एकत्र होने पर भी मतभेद हो जाता है, यह प्रत्यक्षसिद्ध है। फिर करोड़ों चेतनों में मतैक्य होना तो असम्भव ही मालूम होता है। किसी को विशेषाधिकार दिया जाय और उसके अधीन निर्णय माना जाय, जैसे सदस्यों में मतभेद होने पर अध्यक्ष के मतानुसार समितियों में निर्णय हुआ करता है, तो फिर उस अध्यक्ष-स्थानीय निर्णेता को ही एक आत्मा मानना चाहिए; एक शरीर

में करोड़ों चेतन मानने का प्रयोजन क्या है ? यदि यह कहा जाय कि एक शरीर में रहनेवाले करोड़ों चेतन मतगणना के आधार पर कर्त्तव्य का निर्णय करेंगे, जैसा कि मताधिक्य से निर्णय हुआ करता है। तो जो भौतिक चेतन कण होगें उन्हें आत्मा और "चेतन" कहलाने का कोई अधिकार नहीं रहेगा, क्योंकि आत्मशब्द और चेतन शब्द ये दोनों ही पर्याय हैं। साथ ही आत्मा और अनात्मा की व्यवस्था भी न रहेगी, क्योंकि जो सदस्य एक निर्णय-स्थल में हारता है वही कभी अन्य निर्णय-स्थल में विजयी भी होता है। फिर तो एक निर्णय-स्थल में जो आत्मा होगा वह अन्य निर्णय-स्थल में अनात्मा हो जायगा। वही फिर किसी अन्य निर्णय-स्थल में भी आत्मा हो जायगा। फिर सभी भौतिक कण स्वतः चेतन आत्मरूप हैं, यह मतवाद कहाँ स्थिर रह सकता है?

दूसरी बात यह कि एक भौतिक शरीर को या शरीर में रहनेवाले अनेक भौतिक कणों को आत्मा मानने पर बाल्य काल में देखी हुई वस्तु का वृद्धावस्था में स्मरण नहीं हो सकेगा। वृद्धावस्था में न तो वह शरीर रह जायगा, और न वे भौतिक कण ही रह जायेंगे। क्योंकि आधुनिक वैज्ञानिक भी यह बात मानते हैं कि प्रत्येक ६ वर्ष के अन्दर शरीर के सारे परमाणु बदल जाते हैं। अतएव वह शरीर भी न रह सकेगा। जो पहले देखता है वही पीछे स्मरण करता है। ऐसा कभी नहीं होता कि देखा किसी ने, और स्मरण किया और किसी ने !

तीसरी बात यह है कि शरीर को आत्मा मानने पर, जीवन और मरण नहीं बनता। क्योंकि शरीर और शारीरिक भूत-कण तो मरने के अनन्तर भी अनेक काल तक उसी प्रकार रहते हैं।

चतुर्थ, ध्यान देने योग्य विषय यह है कि इस मतवाद में जन्मान्तर तो होगा नहीं, क्योंकि प्राण-वियोग के बाद उस शरीरको जला देने पर वह आत्मा ही मर गया, और उस शरीर के बाद अन्य शरीर-रूप आत्मा से उसका कोई भी सम्बन्ध न होगा। ऐसा होने पर सद्योजात शिशु तक को जो दूध आदि पीने-खाने में प्रथम-प्रवृत्ति होती है, वह न हो सकेगी। क्योंकि किसी कार्य में प्रवृत्ति, विना इच्छा के नहीं होती, और इच्छा कभी इष्टसाधनता-ज्ञान के विना नहीं होती। "इस कार्य से मेरा उपकार होगा" इसी ज्ञान का नाम इष्टसाधनता है। जब प्राणी यह समझता है कि इससे मुझे सुख मिलेगा, तो उसके लिए ऐसी इच्छा होती है कि "यह वस्तु मुझे मिले", फिर उसके मिलने के लिए वह उद्यम करता है। यही है कार्य में प्रवृत्ति की प्रक्रिया। अतः मानना पड़ेगा कि उस सद्योजात शिशु को पहले यह ज्ञान होता है कि "दूध पीने से मेरा उपकार होगा", फिर उसे यह इच्छा होती है कि "दूध मुझे मिले", फिर वह माँ के स्तन की ओर अपना मुँह बढ़ाता है।

अब यह सोचना चाहिए कि यदि पूर्व जन्म न माना जाय तो वह शिशु अकस्मात् कैसे समझ सकेगा कि "दूध पीने से मेरा उपकार होगा", क्योंकि ऐसा ज्ञान तो वही कर सकता है जो दूध पी चुका है और उससे लाभ उठा चुका है। अतः मानना होगा कि शरीर आत्मा नहीं है, किन्तु उससे अतिरिक्त कोई स्थायी आत्मा है जिसका अनेक शरीरों से क्रमशः सम्बन्ध हुआ करता है। अतः पूर्व शरीर काल में अनुभूत दुग्ध-पान और उससे हुए लाभ को वह पुनर्जन्म होने पर स्मरण करता है, फिर इसकी इच्छा होकर प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार पूर्वजन्मीय शैशव-दुग्धपान की प्रवृत्ति से उस आत्मा के पूर्व जन्म की भी सिद्धि होती है। इस तरह से वह आत्मा पदार्थ अनादि सिद्ध होता है। आकाश, काल, परमाणु आदि अनादि भाव नित्य हैं, तद्वत् यह आत्मा भी नित्य है। व्यापक इसे इसलिए मानना पड़ता है कि यदि परमाणु के समान इसे अति सूक्ष्म माना जायगा तो इसमें होने वाले ज्ञान, इच्छा आदि का मानस प्रत्यक्ष उसी तरह न हो सकेगा, जैसे परमाणु के रूप, रस आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता। किन्तु "मैं जानता हूँ", "मुझे इच्छा हुई है", "मैं प्रयत्नशील हूँ", "मैं सुखी हूँ", "मैं दुखी हूँ" इस प्रकार मानस प्रत्यक्ष लोगों को होता है। यदि आत्मा मध्यम-परिमाण वाला ऐसा अर्थात् अत्यन्त छोटा और अत्यन्त बड़ा भी नहीं है तो वह अनित्य अर्थात् नश्वर हो जायगा। क्योंकि कोई भी मध्यम परिमाण वाला द्रव्य नित्य नहीं होता। मध्यम परिमाणवाले सभी घट-पट आदि अनित्य पाये जाते हैं। आत्मा अनित्य नहीं, नित्य है। यह बात अभी बतलायी जा चुकी है। अतः उसे व्यापक मानना होगा।

कुछ लोगों का कहना है कि शरीर को आत्मा न मानना तो ठीक है, किन्तु उसे अतिरिक्त द्रव्य मानने का प्रयोजन नहीं पाया जाता। क्योंकि इन्द्रिय को आत्मा मान लेने से यह आक्षेप दूर हो जाता है कि "बाल्यावस्था में देखे हुए पदार्थ का स्मरण वृद्धावस्था में नहीं हो सकेगा।" शरीर बदलने पर भी इन्द्रियाँ तो वे ही रहती हैं। अतः अनुभव भी इन्द्रिय को ही हुआ था और स्मरण भी उसी को हुआ।

परन्तु यह मत इसलिए संगत नहीं है कि जो जन्मान्ध नहीं है, अर्थात् पहले दृश्यों को देखता था, किन्तु पश्चात् अन्धा हो गया है, वह अन्धा होने पर भी पहले देखी हुई वस्तु का स्मरण करता है। इन्द्रियात्मवाद में यह उपपन्न नहीं हो सकेगा, क्योंकि देखनेवाला (चक्षु) तो नष्ट हो गया, फिर दूसरा स्मरण कैसे कर सकेगा? यह पहले भी कहा जा चुका है कि द्रष्टा और स्मर्त्ता दोनों का एक होना अनिवार्य है। वस्तुतः इस मत में पूर्वोक्त दोष भी आपन्न होते हैं। यथा—एक इन्द्रिय को आत्मा माना जायगा या सब इन्द्रियों को। एक को माना जाय तो किसको, यह नियम होना

कठिन होगा, क्योंकि किसी के पक्ष में कोई निर्णायक नहीं। सब को मानने पर मतैक्य होना कठिन हो जायगा, साथ ही सभी इन्द्रियाँ सभी विषयों का ज्ञान कराने में समर्थ होने लगेंगी। अर्थात् रूप का ज्ञान जिह्वा से भी होने लगेगा। बाल्यावस्था में देखे हुए पदार्थ का स्मरण वृद्धावस्था में नहीं हो सकेगा। क्योंकि कान को छोड़कर अन्य सारी इन्द्रियाँ सावयव हैं, अतः उनके परमाणु भी अवस्था-भेद से अवश्य बदलेंगे। बदलने से बाल्यकाल की इन्द्रियाँ वद्धावस्था में रह नहीं सकेंगी। सुतरां द्रष्टा और स्मर्त्ता एक नहीं हो सकेंगे, जो कि स्मरण के लिए अति आवश्यक हैं। कहने का सारांश यह है कि अन्धे हो जानेवाले की बात क्या, किसी को भी अवस्था-भेद होने पर स्मरण न हो सकेगा। अतः इन्द्रियात्मवाद स्वीकार योग्य नहीं।

अन्य लोगों का कहना है कि आँख, कान आदि सावयव हैं, अतएव नश्वर बाह्य इन्द्रियों को आत्मा मानना असंगत है। आभ्यन्तर इन्द्रिय अर्थात् मन को आत्मा मान लेना चाहिए, क्योंकि वह परमाणु के समान अति सूक्ष्म होने के कारण नित्य है। वह मनरूप आत्मा बाल्य, वार्द्धक्य आदि अवस्थाओं के भेद से भिन्न नहीं होगा। एक शरीर में मन एक ही होने के कारण "मतैक्य कैसे होगा" यह प्रश्न भी नहीं उठता। परन्तु यह मत इसलिए संगत नहीं कहा जा सकता कि ऐसा मानने पर ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख, आदि का जो मानस-प्रत्यक्ष होता है, वह नहीं हो सकेगा। क्योंकि आगे कही जानेवाली युक्ति के सहारे मन को परमाणु-परिमाण अर्थात् अति सूक्ष्म मानना पड़ेगा, फिर तदाश्रित ज्ञान, सुख आदि का प्रत्यक्ष उसी प्रकार नहीं हो सकेगा, जिस प्रकार पार्थिव, जलीय आदि परमाणु में होनेवाले रूप आदि गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता।

एक यह भी ध्यान रखने की बात है कि आँख आदि बाह्य इन्द्रियों को या आभ्यन्तर इन्द्रिय मन को आत्मा इसलिए भी नहीं माना जा सकता कि "कर्तृकरणविरोध" हो जायगा। किसी भी क्रिया की निष्पत्ति के लिए कर्ता और करण दोनों की अपेक्षा होती है, और वे दोनों अर्थात् करण और कर्त्ता भिन्न हुआ करते हैं। जैसे किसी पेड़ को काटना है, तो काटने के लिए काटनेवाला (कर्त्ता) भी चाहिए, और उससे अतिरिक्त कुल्हाड़ी भी। उसी प्रकार (करण) के लिए किसी वस्तु को देखने के लिए देखने व.ले के अतिरिक्त देखने का साधन भी चाहिए। अतः देखने का कर्त्ता आत्मा और उससे भिन्न करण आँख भी माननी ही पड़ेगी। इसी तरह घ्राण आदि से होने वाले प्रत्यक्ष स्थल में भी ज्ञातव्य है। एवं सुख आदि के ज्ञानकर्ता आत्मा से अतिरिक्त करण रूप में मन को ज्ञान साधन माना जाता है। अतः मन को आत्मा नहीं कहा जा सकता।

यदि मन को ज्ञाता का पद दिया जायगा तो उससे अतिरिक्त कोई अन्य ज्ञान का करण अर्थात् साधन मानना पड़ेगा। क्योंकि प्रमाता प्रमाण से प्रमेय की प्रमा करता

है, यही वस्तुस्थिति है। अतः प्रमाण और प्रमाता एक नहीं हो सकते। मनरूप ज्ञाता से अतिरिक्त ज्ञान-साधन स्वीकार करने पर तो नाम का ही विवाद रह जाता है, पदार्थ के सम्बन्ध में नहीं। क्योंकि नाम तो कोई अपने सद्योजात अज्ञ शिशु का "वाचस्पति" भी रखता है। इसी तरह ज्ञाता को आत्मा न कहकर अगर कोई "मन" शब्द से पुकारे, और मन को किसी और कल्पित नाम से, तो उसके लिए कोई विवाद क्यों करेगा ? क्योंकि तत्त्वतः कोई विरोध नहीं रह जाता।

कुछ लोग कहते हैं कि ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय इन तीनों को ज्ञान ही केवल साथ-साथ नहीं होता, प्रत्युत ये एक ही हैं। अतः ज्ञान को ही आत्मा मानना चाहिए। विज्ञान आभ्यन्तर वस्तु है, वही जब बाह्य आकार धारण करता है तब पुष्प, फल, वृक्ष आदि बाह्य पदार्थ रूप से भासित मात्र होता है। आत्मा को पृथिवी आदि द्रव्यों एवं गुण पदार्थ से अतिरिक्त विज्ञान ही मानना चाहिए। किन्तु यह मत इसलिए युक्तिसंगत माना नहीं जा सकता कि कोई भी मनुष्य अपने को ज्ञान नहीं समझता, अपितु ज्ञानवाला समझता है। इसीलिए कोई किसी से यह नहीं कहता कि "मैं ज्ञान हूँ", किन्तु इस प्रकार कहता है कि "मुझे ज्ञान है", "मैं इस विषय का ज्ञानी हूँ" इत्यादि। यह पहले भी कहा जा चुका है कि जिसे "मैं", "हम" इन शब्दों से पुकारा जाता है वह आत्मा है। ऐसी परिस्थिति में ज्ञान को आत्मा कैसे कहा जा सकता है ?

इस मत में उस आत्मभूत विज्ञान को क्षणिक अर्थात् क्षणमात्र-स्थायी, द्वितीय क्षण में ही नष्ट हो जाने वाला माना जाता है। तब तो पूर्ववत "शरीरात्मवाद" और "इन्द्रियात्मवाद" इन दोनों वादों में कहा गया "स्मरणानुपपत्ति" दोष इस मतवाद में भी दुरुद्धर हो जाता है। क्योंकि किसी भी वस्तु को देखनेवाला विज्ञान तो एक क्षण तक रहेगा, दूसरे क्षण में नष्ट हो जायगा, और बीच के करोड़ों विज्ञानों के नष्ट हो जाने के अनन्तर किसी भी अन्तिम विज्ञान को स्मरण होगा। परन्तु, यह असम्भव है। अभिप्राय यह कि अनुभविता और स्मर्त्ता दोनों एक होने चाहिए, वह इस मत में होता नहीं। अतः स्मरण कैसे हो सकेगा ?

तीसरी बात यह है कि यदि विज्ञान ही तत्त्व हो, और वही आत्मा हो, एवं बाह्य विषय का उसमें आरोप अर्थात् मिथ्याज्ञान माना जाय, तो विषय के आरोप से पहले उस आत्म-स्वरूप विज्ञान को विषयरहित मानना होगा, जो असंगत है। क्योंकि विना विषय का कोई ज्ञान किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता। सभी लोग इसी प्रकार का प्रयोग करते हैं कि "उन्हें इस विषय का ज्ञान है अन्य विषय का नहीं," अतः यह मतवाद कैसे संगत कहा जा सकता है। और भी ध्यान देने योग्य बात यह है कि यदि क्षणिक ज्ञान ही आत्मा हो और उसी में बाह्यता की कल्पना होने के कारण फल,

फूल, पेड़, पत्ते आदि दीखते हों, तो वह आत्मस्वरूप विज्ञान क्षणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि बाह्यता की कल्पना निराधार नहीं हो सकती। वह विज्ञान किसी कल्पना का आधार इसलिए नहीं हो सकता कि वह अपनी उत्पत्ति के पर क्षण में ही नष्ट मान लिया जाता है। फिर कल्पना का आधार बनने का समय ही उसे प्राप्त कहाँ होता है ? अतः यह मत स्वीकरणीय नहीं है।

अन्य कुछ लोगों का कहना है कि क्षणिक विज्ञान को आत्मा मानना संगत नहीं मालूम होता, किन्तु नित्य विज्ञान को आत्मा मानना चाहिए। इस पक्ष में पूर्वोक्त स्मरण की अनुपपत्ति रूप दोष भी नहीं रहने पाता, क्योंकि आत्मा नित्य होगा। अतः नित्य विज्ञान ही आत्मा है और वही केवल तात्त्विक वस्तु है, अन्य वस्तुएँ उसी तात्त्विक नित्य विज्ञान स्वरूप आत्मा में कल्पित एवं मिथ्या हैं। किन्तु यह मत भी अव्यवहित पूर्वोक्त युक्तियों से खण्डित हो जाता है, क्योंकि यहाँ भी वे ही बातें आयेंगी कि उस नित्य विज्ञान को निर्विषय माना नहीं जा सकता, क्योंकि ज्ञान कभी निर्विषय नहीं होता। उसे सविषयक मानने पर लोगों को ऐसा ज्ञान होना चाहिए था कि मैं "फूल का ज्ञान हूँ", किन्तु ऐसा न होकर इस प्रकार भान होता है कि "मुझे फूल का ज्ञान है", "मैं उसे जानता हूँ।" इसलिए आत्मा ज्ञानाश्रय ही होगा, ज्ञानस्वरूप नहीं। साथ ही जब कि सब प्रमाणों में श्रेष्ठ प्रत्यक्ष-प्रमाण से यह सिद्ध हो रहा है कि शरीर, घर, फल, फूल, पेड़, पत्ते आदि वस्तुएँ विद्यमान हैं, तो फिर यह कैसे मान लिया जाय कि वे सब-की-सब कल्पित, मिथ्या हैं; मरुमरीचिका में जल के समान उनका भानमात्र हो रहा है, तत्त्वतः हैं नहीं ? मिथ्या ज्ञान वह होता है जिसके अनन्तर, "बाध ज्ञान" होता है, जैसे मरुमरीचिका में पहले जल-ज्ञान होने के पश्चात् तुरत वहाँ जाने पर निश्चय हो जाता है कि "यह जल नहीं है, मुझे भ्रम हुआ था।" जब कि "ये सभी सांसारिक वस्तुएँ मिथ्या हैं", "मुझसे इन्हें सच मानने की भूल हुई", ऐसा नहीं समझा जा रहा है तब किसके आधार पर इन अनुभवसिद्ध पदार्थों का अभाव माना जाय ? यदि यह कहा जाय कि उक्त प्रकार का "बाध ज्ञान" मुझे नहीं होता है तो क्या; और किसी को होता होगा, अतः नित्य विज्ञान रूप आत्मा से अतिरिक्त पदार्थों को मिथ्या मानना चाहिए। तो इसका पर्यवसित अर्थ यही होगा कि किसी एक मनुष्य के निर्णय के आधार पर सभी लोग वस्तु-निर्णय करेंगे। फिर तो किसी पगले के इस निर्णय के आधार पर कि "अग्नि जल है", सभी लोग अग्नि को जल मान लेंगे। अतः मानना होगा कि प्रामाणिक बहुत से लोग जिसे जैसा समझते हैं वह पदार्थ वैसा ही होता है, अन्य लोगों को भी उसे वैसा ही मानना चाहिए। अतः "नित्य विज्ञान आत्मा है" यह मतवाद युक्ति-संगत नहीं माना जा सकता।

कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा शून्यरूप अर्थात् अभावरूप है। अभाव से ही भाव उत्पन्न होते हैं, अर्थात् उनकी कल्पना होती है। दृष्टान्त के लिए वे यह कहते हैं कि देखो; बीज से अंकुर की उत्पत्ति तब तक नहीं होती जब तक जल और भूतल के संयोग से बीज सड़ नहीं जाता, उसका अभाव नहीं हो जाता। किन्तु यह मत इसलिए संगत नहीं कि कोई भी बुद्धिमान् अपने को "मैं नहीं हूँ", "मैं अभाव हूँ" ऐसा नहीं समझता या वाक्य-प्रयोग नहीं करता है। और अभाव से यदि भाव की उत्पत्ति हो तो अभाव तो सब जगह रहता है, इसलिए सब जगह सब उत्पन्न होना चाहिए। बीज नष्ट होने पर भी बीजावयवरूप भाव तो रहता ही है। उन विलक्षण बीजावयवों से अंकुर उत्पन्न होता है, नहीं तो आटे से क्यों नहीं अंकुर होता? बीज का अभाव तो वहाँ भी है।

कुछ लोग यह कहते हैं कि आत्मा विज्ञान रूप नहीं है और तात्त्विक शरीर, इन्द्रिय आदि वस्तुओं से अतिरिक्त भी है, नित्य और अनेक तथा व्यापक भी है, किन्तु वह कर्त्ता नहीं है। क्रिया-शक्ति जड़ धर्म है, अतः करनेवाला त्रिगुणात्मक अन्तःकरण, अर्थात् मन है। कोई भी काम मन ही करता है, आत्मा नहीं। आत्मा उसका साक्षी रहता है। स्वयंप्रकाश होने के कारण वह तटस्थ भाव से सबका प्रकाशन करता है। वह तत्त्वतः कर्मफल का उपभोक्ता भी नहीं है, किन्तु जपापुष्प के पास रखे हुए स्फटिक में रक्तिमा के समान उसमें उपभोक्तृता का भान होता है, वह उपभोक्ता-सा मालूम होता है। किन्तु यह मत इसलिए संगत मालूम नहीं होता कि सभी लोग इस तरह का ज्ञान रखते एवं शब्द-प्रयोग किया करते हैं कि "मैं यह कर रहा हूँ", "मैं इस काम को करूँगा" इत्यादि। अतः यह मानना पड़ेगा कि जो "मैं" है वही करता है। "मैं" आत्मा है मन नहीं, यह बात पहले बतलायी जा चुकी है। अतः मानना होगा कि आत्मा द्रव्य है और यह नित्य, व्यापक तथा कर्त्ता है। इस आत्मारूप द्रव्य का प्रत्यक्ष चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से नहीं होता किन्तु मन से होता है। और जब कर्त्ता का प्रत्यक्ष होता है तो केवल आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता, ज्ञान-इच्छा सुख-दुःख आदि उसके असाधारण गुणों के आश्रय रूप में ही उसका प्रत्यक्ष होता है। जब कभी प्राणी अपने को समझता है, तो "मैं सुखी हूँ", "मैं दुःखी हूँ", "मैं जानता हूँ" इत्यादि रूप से ही अपने को प्रत्यक्ष करता है।

इससे यह मत भी आलोचित समझना चाहिए कि जैसे जड़ बीज से अंकुर पत्र काण्ड आदि किसी ज्ञाता और कर्त्ता आत्मा के विना ही होते हैं, उसी प्रकार गर्भस्थ बालशरीर एवं परवर्त्ती जीवन-यात्रा भी किसी ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता आत्मा के बिना सम्पन्न होती है, इत्यादि। क्योंकि आज के वैज्ञानिकों तक ने यह सिद्ध कर दिया

है कि वृक्ष आदि भी ज्ञाता, कर्त्ता तथा उपभोक्ता होते हैं। आत्मा न मानने का अर्थ होता है चेतना का अपलाप जो कि अति अनुभव-विरुद्ध है।

आत्मा के प्रभेद

आत्मा के जीव और परमेश्वर भेद से दो प्रकार हैं। जीव वह है जिसका ज्ञान, जिसकी इच्छा और जिसका यत्न अनित्य है। जीव सब समय सभी वस्तुओं को नहीं समझता है, सब विषयों में एक साथ प्रयत्न किया करता है, क्रम से विभिन्न विषयों को समझता है, एवं इच्छा करके प्रयत्न करता है। अतः जीव के प्रयत्न अनित्य हैं। जीवात्मा अनन्त हैं, क्योंकि सब शरीरों में एक जीवात्मा होने पर सुखी और दुखी का भेद नहीं बन सकेगा। एक के सुखी होने पर सबको सुखी होना पड़ेगा, किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। अतः मानना होगा कि जीव एक नहीं अनेक हैं। सुख-दुःख आदि आत्मा के धर्म नहीं, मन के धर्म हैं; यह बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि करणगत धर्म से कर्त्ता का कोई सम्बन्ध नहीं होता। जैसे दीप लेकर देखने वाला दीपक के समान प्रकाश-स्वभाव वाला नहीं हो जाता है। सुख-दुःख के समझने में साधन होने के कारण मन, करण होता है, सुख-दुःख मन के अन्दर रहने वाले मान लिये जायँ तो उनसे आत्मा अपने को सुखी-दुःखी नहीं समझ सकता। किन्तु "मैं सुखी हूँ", "मैं दुःखी हूँ" इस तरह वह अपने को सुखी-दुःखी समझता है। और, ज्ञान-सुख आदि को मन का धर्म मानने पर मन अणु होने के कारण "मैं सुखी हूँ" इत्यादि मानस प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, यह बात पहले भी लिखी जा चुकी है। अतः जीवों को एक नहीं माना जा सकता, वे अनन्त हैं। उनकी नित्यता एवं व्यापकता के सम्बन्ध में युक्तियाँ दी जा चुकी हैं। यद्यपि सुषुप्ति-काल एवं मुक्तिकाल में जीवात्मा में ज्ञान नहीं रहता, फिर भी वह "ज्ञानोपलक्षित" कहा जायगा। क्योंकि जागरण और स्वप्नकाल में उसमें ज्ञान होता है। जो कभी रहे और कभी नहीं; वह उपलक्षण कहलाता है, अतः ज्ञान आदि को जीवात्मा का उप-लक्षण और जीवात्माओं को उससे "उपलक्षित" कहा जा सकता है।

जीवात्मा के प्रभेद

जीव बद्ध और मुक्त भेद से दो प्रकार के होते हैं। बद्ध जीव वे हैं जिन्हें इष्ट और अनिष्ट का ज्ञान रहता है। शरीर होने के कारण विषयों के सम्पर्क से वे सुख-दुःख आदि का उपभोग किया करते हैं। विपरीत ज्ञान आत्मा के लिए बन्धनकारक है। क्योंकि जब तक स्थूल अथवा सूक्ष्म रूप से विपरीत-ज्ञान रहता है तब तक राग-द्वेष आदि से छुटकारा नहीं होता। उलटा समझने का नाम है विपरीत ज्ञान, जैसे शरीर आदि अनात्म वस्तु को आत्मा समझ बैठना। जब तक कोई जीव यथार्थ ज्ञान प्राप्त

न करके उलटी समझ रखता है तब तक वह जीवन की चरम सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। अतः विपरीत ज्ञानवान् अर्थात् मिथ्या ज्ञानी जीव बद्ध होते हैं। देव, मनुष्य आदि से लेकर कीट पतंग तक सभी दुःखोपभोग करने वाले प्राणी बद्ध हैं। यद्यपि गाढ़ सुषुप्ति की दशा में प्राणी को विपरीत ज्ञान नहीं रहता, क्योंकि सुषुप्ति-काल में कोई भी ज्ञान नहीं होता, तथापि जागरण होने पर तुरन्त विपरीत ज्ञान होने लगता है। अतः विपरीत ज्ञान का आत्यन्तिक नाश नहीं कहा जा सकता, इसलिए सुषुप्त प्राणी भी बद्ध कहलाता है। किसी औषध के प्रयोग से होनेवाली गाढ़ अज्ञानावस्था भी सुषुप्ति ही है, और अन्य मूर्च्छा जिसमें मुख आदि की विकृति देखी जाती है, उसमें दुःख के चिह्न मालूम होने के कारण वह विपरीत ज्ञान ही है, अर्थात् शरीर आदि को प्राणी (आत्मा) उस समय समझता ही रहता है, अतः वह बद्धावस्था ही कही जायगी।

मुक्त जीव वे हैं जिन्हें विपरीत ज्ञान न हो। मुक्त जीवों के दो विभाग हैं; जीवन्मुक्त और मृत-मुक्त। जीवन्मुक्त वे अमृत आत्मा कहलाते हैं जो अनेक जन्मों के सदाचरण से विपरीत ज्ञान पर विजय पा जाते हैं। अर्थात शरीर होते हुए भी शरीर और उसकी चेष्टाओं का जो प्राणी (आत्मा) नहीं अनुभव करते वे जीवन्मुक्त हैं। यद्यपि शास्त्र के पठन-पाठन-काल में अमुक्त प्राणी को भी "आत्मा शरीर नहीं है" ऐसा ज्ञान होता है, फिर भी उसे मुक्त इसलिए नहीं कहा जाता कि उसे वैसा ज्ञान सर्वदा नहीं रहता, कुछ समय बाद वह शरीर को आत्मा समझने लगता है। अतः इस तरह के आपात-ज्ञानी को मुक्त नहीं कहा जाता।

मृत-मुक्त जीव वे होते हैं, जो जीवन्मुक्त होने के बाद मरते हैं, अर्थात् जीवन्मुक्त जीव जब शरीर त्याग देते हैं तब वे मृत-मुक्त कहलाते हैं। इन्हें ही मुक्त, परम-मुक्त, निर्वाण-मुक्त आदि शब्दों से पुकारा जाता है। सारांश यह है कि सभी मिथ्या ज्ञानों से रहित होना "जीवन्मुक्ति" है और मिथ्या ज्ञान-रहित होकर शरीर-रहित हो जाना "परम मुक्ति" या "निर्वाणमुक्ति है।" कुछ लोगों का कहना है कि दुःखों का आत्यन्तिक विनाश ही मुक्ति कहलाता है। यह मुक्ति तभी हो सकती जब कि शरीर भी न रह जाय। क्योंकि मिथ्या ज्ञान-रहित महात्माओं के सुख दुःख भी तब तक बिल्कुल नहीं हटते, जब तक शरीर न छूट जाय। प्रारब्ध कर्म के अनुसार सुख और दुःख अन्तिम शरीर के नाश-काल तक होते रहते हैं। ऐसा यदि न हो तो मिथ्या ज्ञान के हटते ही ज्ञानी के शरीर का अन्त हो जाना चाहिए। किन्तु वीतराग महात्माओं का भी जीवन देखा जाता है, अतः इस मत में पूर्वोक्त रूप से मुक्ति दो भागों में विभक्त नहीं की जा सकती। अर्थात् इस पक्ष में 'निर्वाण' ही मुक्ति है, जीवन्मुक्ति नहीं।

जीवन्मुक्ति से लेकर परम मुक्ति तक पहुँचने की प्रक्रिया यह है कि पहले सदा-

चरणपूर्वक शास्त्रादि से पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होने पर उसके निरन्तर चिन्तन से विपरीत ज्ञान का, अर्थात् शरीर-इन्द्रिय आदि में आत्म-बुद्धि का अभाव होता है। मिथ्या ज्ञान हट जाने पर राग-द्वेष-मोह-रूप दोष नहीं रह जाते, क्योंकि मिथ्या ज्ञान ही उनका कारण है। कारण हट जाने से कार्य का न रहना स्वाभाविक है। राग-द्वेष आदि के नष्ट हो जाने पर पाप और पुण्य नहीं रह जाते, अतः चरम शरीर का अन्त होने पर पुनर्जन्म नहीं होता। जन्म के अभाव से शरीर न होने के कारण प्राणी आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक तीनों प्रकार के दुःखों से छुटकारा पा जाता है। यही जीवन की परम मुक्ति है। यों तो आत्मा के स्वरूप में एकमत न होने के कारण मुक्ति के स्वरूप में प्रायः दार्शनिकों में मतभेद देखा जाता है, परन्तु इन विषयों में सभी दार्शनिक एकमत पाये जाते हैं कि मुक्ति-काल में दुःख नहीं रहता, और प्राणी सच्चा मुक्त तभी होता है जब कि यह शरीर नहीं रह जाता। कुछ लोग जीव-आत्मा को भव्य एवं अभव्य भेदों में विभाजित करते हैं। भव्य उन्हें कहते हैं जो उक्त क्रम से कालान्तर में मुक्त होनेवाले हों, अभव्य उन्हें कहते हैं जो कभी मुक्त न होनेवाले हों, अर्थात् मुक्ति की स्वरूप-योग्यता जिनमें न हो। किन्तु यह मत इसलिए संगत नहीं मालूम होता कि सत्संग और सदाचरण से प्राणियों में ज्ञान का संचार कभी-न-कभी देखा जाता है। सुतरां वे मुक्ति के अधिकारी हो जाते हैं। इस मत के अनुसार तो कालान्तर में भी वे मुक्त न हो सकेंगे।

परमेश्वर

आत्मा प्रथमतः दो भेदों में विभक्त है, जैसे जीवात्मा और परमात्मा। इस द्वितीय भेद परमात्मा को ही ईश्वर, परमेश्वर आदि शब्दों से कहा जाता है। जीवात्मा से परमात्मा में विशेषता यह है कि जीव के ज्ञान, इच्छा आदि अनित्य होते हैं किन्तु परमेश्वर के ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न नित्य होते हैं। एवं जीव बहुत हैं, किन्तु परमात्मा एक ही है। आत्माओं के अन्दर ही एक होने के कारण उसे 'पुरुषोत्तम' कहा जाता है। पुरुषों में जो उत्तम हो, वही पुरुषोत्तम है। जो जिससे उत्तम होता है, वह तज्जातीय हुआ करता है। "पुरुष" पद को यहाँ आत्मवाचक समझना चाहिए, पुंस्त्वयुक्त व्यक्ति-अर्थक नहीं। परमेश्वर सर्वज्ञ है, क्योंकि वह सभी जन्य वस्तुओं का उत्पादक है। जैसे घड़े के उत्पादक कुम्भकार को उस मिट्टी की पहचान रहती है, जिससे घड़ा बन सकता है, एवं घड़ा बनाने की इच्छा भी उसे रहती है और उस उत्पाद के लिए वह प्रयत्न भी करता है। अतः कुम्भकार घड़े का उत्पादक, कर्त्ता होता है। ठीक इसी प्रकार परमेश्वर में चर, अचर सभी जन्यों के प्रथम उपादान कारण अतिसूक्ष्म परमाणु तक का ज्ञान, चर-अचर सभी को उत्पन्न करने की इच्छा एवं प्रयत्न होते हैं। अतः वह पर-

मेश्वर जगत का कर्त्ता है। अतिसूक्ष्म परमाणु तक का जिसे ज्ञान हो, उसमें अज्ञान भला क्यों रह सकता है ? अतः वह परमेश्वर सर्वज्ञ है।

जीवात्मा की अपेक्षा ईश्वर में एक विलक्षणता यह भी है कि उसका शरीर नहीं होता। यदि शरीर हो, तो जीवों के शरीर के समान ही हो सकता है। फिर वह सब जगह, सभी वस्तुओं का उत्पाद नहीं कर सकेगा। जैसे, प्राणी जहाँ रहता है , वहाँ ही कुछ कर सकता है, अन्यत्र नहीं। अतः ईश्वर को विना शरीर का मानना चाहिए। शरीर का धर्म है चेष्टा। चेष्टा शरीर में ही होती है। वह बहुत स्थानों में कर्त्ता होने के लिए अपेक्षित होती है अवश्य, जैसे कपड़े का कर्त्ता होने के लिए जुलाहे के शरीर में चेष्टा अपेक्षित होती है। चेष्टा न होने पर वह कपड़े का कर्त्ता नहीं होता। किन्तु जहाँ राजा की इच्छा से सेनाएँ युद्ध करती हैं, वहाँ राजा के शरीर में युद्धानुकूल चेष्टा न होने पर भी वह युद्ध का कर्त्ता होता है। अतएव "अमुक राजा युद्ध कर रहा है" इत्यादि ज्ञान और वाक्य-प्रयोग होता है। इसी प्रकार परमेश्वर शरीरधारी न होने के कारण चेष्टायुक्त न होने पर भी जगत का कर्त्ता होता है।

कुछ लोग भूतावेश-न्याय से ईश्वर का शरीर मानते हैं। अर्थात् प्रेतों को अपना पार्थिव शरीर न होने पर भी किसी प्राणी के पार्थिव शरीर को अपनाकर वे जैसे शरीरी बन जाते हैं, इसी प्रकार परमेश्वर भी प्राणि-शरीरों को अपनाकर शरीरी बन सकता है। किन्तु यह मत इसलिए संगत नहीं मालूम होता कि सृष्टि हो जाने पर तो उक्त प्रक्रिया संगत हो सकती है, प्राणी के शरीर को परमेश्वर अपने शरीररूप से ले सकता है, किन्तु भूतसृष्टि के आदि में तो कोई प्राणिशरीर रहता नहीं, फिर किसे अपनाकर परमेश्वर सृष्टि के अनुकूल चेष्टा-युक्त हो सकेगा और परमाणुओं को जोड़कर द्वयणुक बना सकेगा ?

अन्य कुछ लोगों का कहना है कि परमेश्वर का शरीर अवश्य है, क्योंकि बिना शरीर का कोई कर्त्ता नहीं हो सकता। किन्तु हम लोगों के शरीर के समान उसका शरीर नहीं है, अन्यथा पत्थरों के भीतर वह मेढ़क उत्पन्न नहीं कर सकेगा। इतना बड़ा शरीर निश्छिद्र पत्थर में कैसे पैठ सकेगा ? अतः यह मानना चाहिए कि पृथ्वी, जल, तेज और वायु इनके जितने भी परमाणु हैं, वे ही उस जगत्स्रष्टा के शरीर हैं। उनमें जब क्रियारूप चेष्टा उसकी इच्छा के अधीन होती है, जिस प्रकार हमारी इच्छा के अधीन प्रयत्न से हमारे शरीर में चेष्टा होती है, तब द्वय्णुक आदि पदार्थों की उत्पत्ति होती है।

परमात्मा को सुख या दुःख नहीं होता, क्योंकि ऐसा होने से वह भी जीवों के समान निजी सुख प्राप्ति और दुःख निवृत्ति के लिए हाय-हाय करने लगेगा, और जगत्

के संचालन में शिथिलता आ जायगी। परमेश्वर केवल जगत् की सृष्टि ही नहीं करता, उसकी रक्षा और अन्त में नाश भी करता है।

कुछ लोग परमेश्वर का अस्तित्व नहीं मानते। उनकी युक्तियाँ ये हैं––कोई भी बुद्धिमान् किसी कार्य को करने के लिए तभी प्रवृत्त होता है, जब उससे कोई लाभ उसे दिखाई देता हो, अथवा किसी को दुःखी देखकर उस दुःख से उसका उद्धार करना चाहता हो। परमेश्वर के जगत्-रचनास्थल में इन दोनों में से एक भी कारण लागू नहीं होता। प्रथम इसलिए नहीं कि जब परमेश्वर को सुख या दुःख होता ही नहीं, तब लाभ या अलाभ क्या हो सकता है? अतः अपने लाभ के लिए परमेश्वर सृष्टि रचना करता है––यह नहीं कहा जा सकता।

द्वितीय कारण इसलिए नहीं कि सृष्टि के आरम्भकाल में––जब कि कोई प्राणी था ही नहीं तब––किसे दुःखी देखकर उसे दया आयी, कि उससे उसे उद्धृत करने के लिए ईश्वर ने जगत की रचना की? यदि प्राणियों पर अनुकम्पा होने के कारण जगत् की उसने रचना की, तो सभी को उसे सुखी बनाना चाहिए था। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि अधिकतर प्राणी हाय-हाय करते हुए दुःखी ही पाये जाते हैं। अतः जगत की उत्पत्ति के लिए परमेश्वर माना जाय, यह नहीं कहा जा सकता, इत्यादि।

किन्तु यह कथन इसलिए नहीं जमता कि यदि ईश्वर जगत् की व्यवस्था करने वाला न हो, तो जगत का कार्यक्रम नियन्त्रित नहीं होना चाहिए। सूर्य कैसे प्रतिदिन ठीक नियत समय पर उदित होता है? चन्द्रमा की ह्रास-वृद्धि कैसे नियन्त्रित भाव से होती है? अन्य ग्रह और उपग्रह भी कैसे नियन्त्रित भाव से ठीक अपनी ही कक्षा में परिभ्रमण करते हैं? ऋतुओं का संचार कैसे ठीक समय पर ही होता है? विभिन्न फूल-फल आदि क्यों तत्तत् समय में ही हुआ करते हैं? कर्त्ता के बिना बीज से अंकुर कैसे उत्पन्न होता है? बिना किसी विधारक का यह भूगोल कैसे स्थिर है? गिरकर चूर्ण-विचूर्ण क्यों नहीं हो जाता? अनादि काल से प्रवृत्त वाच्य-वाचक-भाव का प्रवर्त्तन किसने किया? सर्वप्रथम उपदेष्टा कौन हुआ? सृष्टि के आदि में परमाणुओं से द्व्यणुक की रचना किसने की? जिसके अन्दर एक भी अंग निष्प्रयोजन नहीं देखा जाता एतादृश प्राणियों के शरीर-यन्त्र का आविष्कार किसने किया? इच्छा के विपरीत अतर्कित सुख-दुःख का विधान प्राणियों के लिए कौन करता है? घड़ा, कपड़ा आदि साधारण-से-साधारण कार्य भी जब कर्त्ता के बिना होते नहीं देखे जाते, तब इस विशाल विचित्र जगत् की रचना कर्त्ता के बिना यों ही कैसे हो गयी? मयूर के पंखों को किसने चित्रित किया? हंस को किसने शुभ्र वर्ण से वर्णित किया? बच्चों की उत्पत्ति के पहले ही माता के शरीर में दो दुग्ध-घटों की सृष्टि कौन करता है?

यदि यह कहा जाय कि इन सबका नियामक स्वभाव है। ये सारे कार्य स्वाभाविक हुआ करते हैं, तो यह जिज्ञासा उठ खड़ी होती है कि वह स्वभाव, जो कि नियन्ता है, चेतन है या अचेतन ? यदि चेतन हो, तब तो उसी का नामान्तर होगा "परमेश्वर", "महेश्वर", "ब्रह्म" आदि। अतः परमेश्वर मान ही लिया गया। यदि स्वभाव को अचेतन माना जाय, तो वह किसी एक चेतन के नियन्त्रण के बिना कुछ कर नहीं सकता। अतः मूल नियन्ता कोई चेतन मानना ही होगा।

आधुनिक वैज्ञानिक लोग प्राणि-सृष्टि के सम्वन्ध में जिस विकासवाद को अपनाते हैं, उसमें तो ईश्वर न मानने पर और भी काम नहीं चल सकता। वे कहते हैं कि पहले मेरुदण्ड-रहित प्राणियों की सष्टि हुई, फिर अदृढ़ मेरुदण्ड वाले प्राणि-शरीरों की। इस प्रकार होते होते सब के पीछे सभी उपयोगी अंगों से सम्पन्न मनुष्य-शरीर की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार विकासवादी लोग प्राणि-शरीरों की सृष्टि की प्रक्रिया मानते हैं। यह सृष्टि बुद्धिपूर्वक ही हो सकती है, क्योंकि जब तक पूर्व-पूर्व प्राणि-शरीरों में त्रुटि नहीं देखी जायगी, तब तक परवर्ती शरीर में उसका संशोधन कर पूर्णता नहीं लायी जा सकती। त्रुटि का दर्शन कोई चेतन ही कर सकता है, अचेतन नहीं; सुतरां जड़-स्वभाव भी ऐसा नहीं कर सकता। अतः मानना होगा कि बुद्धि पूर्वकारी कोई चेतन ही जगत् का कर्त्ता है।

रही बात सृष्टि करने में प्रवृत्ति की; परमेश्वर को जब स्वयं कोई स्वार्थ नहीं और अनुकम्पा भी नहीं, तब वह जगत् की रचना क्यों करता है ? इस सम्बन्ध में विचार करने पर यही बात स्थिर होती है कि यह प्रश्न तब हो सकता जब कि सृष्टि का कारण परमेश्वरमात्र ही होता। किन्तु ऐसी बात नहीं है, पूर्व सृष्टि के प्राणियों के भोगानुकूल शुभ और अशुभ संस्कार भी पर सृष्टि में कारण होता है। इसी संस्कार का अपर नाम है नियति, अदृष्ट इत्यादि। इसी के अनुरोध से स्वार्थ किंवा कारुण्य न होते हुए भी परमेश्वर जगत् की सृष्टि करता है। यदि यह कहा जाय कि फिर तो अदृष्ट को ही सब का नियामक मान लेना चाहिए, उसी से सारी व्यवस्थाएँ बन जायेंगी, परमेश्वर मानने का प्रयोजन क्या है ? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि अदृष्ट भी आखिर जड़ अर्थात् अचेतन है। अचेतन, चेतन से अधिष्ठित न होते हुए--किसी चेतन के नियन्त्रण में न आते हुए, किसी का उत्पादक नहीं हो सकता, यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है। अतः जड़ अदृष्ट के अधिष्ठातारूप से परमेश्वर का अस्तित्व मानना ही होगा। उसे अनेक न मानकर एक इसलिए माना जाता है कि एक ईश्वर से ही यदि सब का संचालन हो जाय, तो व्यर्थ अनेक ईश्वर क्यों माने जायँ ? दूसरी बात यह कि यदि ईश्वर को अनेक माना जाय, तो आपस में उनका मतभेद भी हो

सकेगा, और मतभेद होने पर व्यवस्था न हो सकेगी । तीसरी बात यह कि अनेक में समज्ञता नहीं पायी जाती । अर्थात् बहुत की तो बात क्या, कोई दो मनुष्य भी ऐसे उपस्थित नहीं किये जा सकते, जिनके ज्ञान समान हों । अत: उन अनेक ईश्वरों के ज्ञान भी समान न हो सकेंगे । वैषम्य अनिवार्य होने पर जिसका ज्ञान सबसे अधिक होगा, वही ईश्वर हो सकेगा । अत: ईश्वर एक ही है, ऐसा मानना होगा, अतएव वह सर्वज्ञ है ।

मन द्रव्य

स्पर्श गुण से रहित, परमाणु-परिमाण वाले द्रव्य का नाम मन है । मनुष्य अपने ज्ञान, इच्छा, यत्न आदि को समझता है, क्योंकि "मैं इस बात को समझता हूँ", "मुझे इस विषय का ज्ञान है" इस प्रकार ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोग प्राय: सभी लोग किया करते हैं। उक्त "समझता हूँ" यह ज्ञान, समझने को समझना है। अत: घट आदि बाह्य वस्तु को समझने के लिए जैसे आँख आदि बाह्य इन्द्रियों की आवश्यकता है, वैसे ही ज्ञान को समझने के लिए किसी इन्द्रिय की आवश्यकता स्वाभाविक है। ज्ञान के समान सभी सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि गुण एवं उनके आश्रय आत्मा के प्रत्यक्ष के लिए "मन" नामक द्रव्य की आवश्यकता होती है। इतना ही नहीं, मन यदि न माना जाय तो ज्ञान, इच्छा आदि की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती । क्योंकि "पुरीतत्" नाम की नाड़ी के बाहर किन्तु शरीर के भीतर जब आत्मा और मन का संयोग होता है तभी ज्ञान आदि आत्म-गुणों की उत्पत्ति होती है । प्राणियों को यदि मन न होता तो संसार की अवस्था प्राय: और ही कुछ होती । प्राणी जितने भी भले-बुरे कार्य करते हैं सब में मन का प्रधान रूप से हाथ है। मन में ही दोष आने पर प्राणी पागल हो जाता है। मन की स्वस्थता पर ही सद्विचार अवलम्बित होता है। मन की एकाग्रता के अभ्यास द्वारा इस पर अधिकार प्राप्त करने पर मनुष्य बहुत कुछ आश्चर्यजनक प्रदर्शन करता, एवं कर सकता है । जितने इन्द्रजाल आदि खेल दिखाये जाते हैं, सारे मन के आधार पर ही अवलम्बित होते हैं । स्वप्न-काल में तो मानो इसका साम्राज्य अति विस्तृत बन जाता है । यहाँ तक कि जिस बात को कभी प्राणी इस जन्म में देखता नहीं उसे भी यह मन स्वप्नरूप में उसके सामने उपस्थित कर देता है। इसे द्रव्य इसलिए माना जाता है कि अन्य द्रव्यों के साधारण गुण इसमें विद्यमान हैं । क्रिया तो मानो इसकी दासी है । यही कारण है कि एक शरीर में एक ही होने पर भी अति शीघ्रता से इसके समग्र कार्यों का सम्पादन होता है। बाह्य विषयों का निर्धारण, इच्छा, प्रयत्न आदि का सम्पादन तो यह करता ही है साथ ही "जीवनयोनि" नामक यत्न भी पैदा करता रहता है, जिससे श्वाश-प्रश्वास स्वरूप प्राण-संचार प्रतिक्षण हुआ करता है ।

कुछ लोग इसे स्वतन्त्र द्रव्य न मानकर सावयव, तेजरूप मानते हैं। कुछ लोग सावयव तो नहीं मानते हैं, किन्तु पृथ्वी, जल, तेज, वायु के परमाणु के अन्दर ही यह कोई एक होता है, ऐसा मानते हैं। कुछ लोग इसे अतिरिक्त द्रव्य तो मानते हैं किन्तु रबड़ के समान "संकोच-विकासशील" अर्थात् सिकुड़ने एवं फैलने वाला मानते हैं। जो लोग इसे सावयव तेज रूप मानते हैं, उनका कहना है कि यह आँख के रास्ते बाहर जाता, और जो द्रष्टव्य विषय सामने रहता है तदाकार, उसी प्रकार का बन जाता है। जैसे खेत यदि त्रिकोण होता है तो नाली के रास्ते गया हुआ जल वहाँ त्रिकोणाकार बन जाता है, और खेत यदि चतुष्कोण होता है तो जल चतुष्कोण हो जाता है। इसका यह द्रष्टव्य वस्तु के आकार के समान आकारवान् हो जाना ही द्रष्टव्य वस्तु का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान कहलाता है। किन्तु यह मत इसलिए उचित नहीं मालूम होता कि किसी द्रव्य के प्रत्यक्ष स्थल में तो यह बात बन जायगी, किन्तु जहाँ गुण, क्रिया, जाति या अभाव का प्रत्यक्ष होगा, वहाँ उन पदार्थों का कोई आकार न होने के कारण कैसे उनका आकार धारण रूप प्रत्यक्ष हो सकेगा? जो लोग भौतिक परमाणुओं में से किसी एक को "मन" मान लेते हैं, उनका कथन इसलिए संगत नहीं मालूम होता कि किसके परमाणु को मन माना जाय, यह निर्णय नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि सभी भौतिक परमाणुओं का स्वभाव है सजातीय परमाण्वन्तर से संयुक्त होकर द्व्यणुक द्रव्य का आरम्भ करना। फिर यह भौतिक परमाणु, जिसे कि मन स्वीकार किया जायगा, क्यों न अन्य परमाणु से संयुक्त होगा या द्व्यणुकारम्भ करेगा? यदि ऐसा होगा, और करेगा, तो वह फिर मन कैसे रह सकेगा? तीसरी बात यह है कि भौतिक कणों में यह स्वभाव भी पाया जाता है कि किसी और द्रव्य से संयुक्त होने पर वे बहुत दिन तक संयुक्त रह जाते हैं। मन इस स्वभाव का उल्लंघन क्यों करेगा? और यदि नहीं करेगा तो किसी शरीरावयव से संयुक्त होकर यदि कहीं कुछ रोज के लिए बैठ गया, तो सारा काम ठप हो जायगा। किन्तु ऐसा होता नहीं, अतः इसे भौतिक अणु से अतिरिक्त मानना ही उचित है। जो लोग रबड़ के समान इसे संकोच-विकासशील मानते हैं उनका कहना है कि कभी तो एक काल में एक ही ज्ञान उत्पन्न होता है, और कभी एक काल में ही बहुत ज्ञान उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे——जब कि एक बड़ी जलेबी लेकर कोई खाता है तो आँख से उसे देखता भी है, जिह्वा से रसास्वाद भी करता है और नाक से उसकी गन्ध भी सूँघता रहता है, अतः मानना होगा कि मन उस समय फैलकर तीनों इन्द्रियों से संयुक्त है। अतः उसे संकोच-विकासशील मानना चाहिए। परन्तु यह इसलिए उचित नहीं मालूम होता कि इसे संकोच-विकासशील मानने पर सावयव मानना पड़ेगा, और सावयव मानने पर पार्थिव या जलीय परमाणु, द्व्यणुक,

त्र्यणुक आदि के समान मानस-परमाणु, मानस द्व्यणुक, मानस त्र्यणुक आदि क्रम से नूतन द्रव्यारम्भ भी मानना होगा, जिससे व्यर्थ कल्पना-गौरव होगा। रही बात एक काल में अनेक ज्ञानोत्पत्तियों की, सो तत्त्वतः एक काल में अनेक ज्ञान नहीं उत्पन्न होते, किन्तु क्षण काल अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण विभिन्न क्षणों में होने वाले विभिन्न ज्ञानों में एक क्षणोत्पत्ति का भ्रम होता है। जैसे साधारणतया लोग यही समझते हैं कि सूर्य जिस क्षण में उदयाचल पर आता है उसी क्षण घर में प्रकाश आ जाता है, किन्तु तत्त्वतः बात ऐसी नहीं है। सूर्य की किरणों को बिम्बस्थल से लेकर घर तक आने में बहुत क्षण लग जाते हैं। एवं कमल के सैकड़ों पत्तों को नीचे-ऊपर क्रम से रखकर यदि तेज सुई से छेदा जाय तो मालूम यही होता कि एक क्षण में ही सारे पत्ते छेद दिये गये हैं, परन्तु तत्वतः उसमें पाँच सौ क्षण लगेंगे। क्योंकि क्रिया, विभाग, पूर्वसंयोग-नाश, उत्तर देश-संयोग, और क्रियानाश इतने कार्यों के लिए पाँच क्षण लगेंगे, और इतने क्षण प्रत्येक पत्तों के छेदन के लिए अपेक्षित होंगे। इसी तरह जहाँ अनेक ज्ञान एक क्षण में हुए मालूम होते हैं वहाँ भी क्षण विभिन्न ही होते हैं, केवल मालूम होता है कि एक क्षण में ज्ञान होते हैं। अतः मन को संकोच-विकासशील, सावयव मानने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। इसीलिए प्राच्य-पदार्थ-शास्त्रियों ने इसे निरवयव परमाणु-परिमाण वाला अतिरिक्त द्रव्य माना है।

अन्धकार

कुछ लोग पूर्वोक्त नौ द्रव्यों से अधिक अन्धकार को भी एक द्रव्य मानते हैं। उनका कहना है कि जब द्रव्य के लक्षण अन्धकार में पाये जाते हैं, एवं पृथ्वी आदि उक्त नौ द्रव्यों में उसका अन्तर्भाव नहीं होता, तब उसे एक स्वतन्त्र द्रव्य मानना ही पड़ेगा। जिसमें गुण हो वह द्रव्य है, यह बात पहले कही जा चुकी है। अन्धकार में नील रूप है यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है, फिर क्यों नहीं उसे द्रव्य माना जाय ? जिस पक्ष में क्रिया वाले को द्रव्य माना जाता है उस पक्ष में भी इसे द्रव्य मानना होगा। क्योंकि अन्धकार का चलना भी उस समय प्रतिभात होता है, जब दीप आदि किसी प्रकाशक को एक जगह से दूसरी जगह ले जाते हैं। उक्त पृथ्वी आदि नौ द्रव्यों में उसका अन्तर्भाव इसलिए नहीं किया जा सकता कि उनके स्वभाव से इसका स्वभाव कुछ और ही दिखाई देता है। पृथ्वी में अन्तर्भाव इसलिए नहीं कि उसमें गन्ध है, किन्तु अँधेरे में सुगन्ध या दुर्गन्ध कुछ नहीं है। जल और तेज में इसका अन्तर्भाव इसलिए नहीं कि इन दोनों के अन्दर किसी में नील रूप नहीं है, किन्तु अँधेरे में नील रूप है। वायु से लेकर मन तक में इसकी गतार्थता इसलिए नहीं कही जा सकती कि वे सब रूपहीन हैं और अँधेरा नीलरूप वाला है। अतः अँधेरे को स्वतन्त्र द्रव्य मानना ही उचित है। एतदतिरिक्त एक प्रबल युक्ति

यह भी है कि यह आवरक होता है। अँधेरे के अन्दर जो किसी वस्तु को कोई नहीं देख पाता, इसका कारण यह है कि यह उन पदार्थों को दीवार-कपड़े आदि द्रव्यों की भाँति ढक लेता है। ढकना किसी भौतिक द्रव्य का ही स्वभाव हो सकता है इत्यादि।

किन्तु यह इसलिए उचित नहीं मालूम पड़ता कि जिस द्रव्य में रूप होता है उसमें स्पर्श भी अवश्य पाया जाता है। अर्थात् रूपरहित स्पर्शवान् द्रव्य तो पाया जाता है, यथा वायु, किन्तु रूप वाला हो और उसमें स्पर्श न हो ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं पाया जाता। अँधेरे में कोई स्पर्श नहीं पाया जाता है। जहाँ व्यापक नहीं होता है वहाँ व्याप्य नहीं रह सकता, जैसे जो प्राणी नहीं है वह कभी मनुष्य नहीं हो सकता, क्योंकि प्राणित्व व्यापक है और मनुष्यत्व व्याप्य। इसलिए जहाँ प्राणित्व नहीं होता, उसका जहाँ अभाव होता है, वहाँ मनुष्यता का भी अभाव अनिवार्य हो जाता है। अधिक स्थानों में रहने वाला व्यापक कहलाता है और अल्प स्थान में रहने वाला व्याप्य। अतः जब कि व्यापक स्पर्श अन्धकार के अन्दर नहीं है, तो मानना ही होगा कि व्याप्य जो रूप वह भी नहीं है। रही बात प्रतीति की, अर्थात् नीलरूप उसमें प्रत्यक्ष देखा जाता है, फिर कैसे अँधेरे को रूप-रहित मान लिया जाय ? इसका उत्तर यह है कि सब प्रतीति यथार्थ ही नहीं होती, भ्रम-ज्ञान भी हुआ करता है। किसी वस्तु का अस्तित्व यथार्थ ज्ञान के आधार पर ही माना जाता है, न कि भ्रम-ज्ञान के आधार पर। अँधेरे में जो नील रूप देखा जाता है, वह देखना यथार्थ ज्ञान नहीं, अपितु सीप में चाँदी के भ्रम के समान मिथ्या ज्ञान है। यह कोई जरूरी नहीं है कि सभी मिथ्या ज्ञानों के अनन्तर बाध-निश्चय अर्थात् भ्रम के विपरीत यथार्थ-निश्चय होना ही चाहिए। जिसे किसी खास स्थान में "दिङ्-मोह" अर्थात् विपरीत दिशा का ज्ञान होता है, प्रायः वह जीवन भर उसे रह जाता है। अतः पर क्षण में "अँधेरा नीला नहीं है" इस बाध ज्ञान के न होने पर भी "अँधेरा नीला है" इस ज्ञान को मिथ्या-ज्ञान कहा जा सकता है। अतः नील-रूप तत्त्वतः अन्धकार में न होने के कारण, गुण के आश्रय होने के नाते जो उसे द्रव्य होने का दावा किया जाता था, वह नहीं किया जा सकता।

अब रही चलनरूप क्रिया की बात, सो भी उसे द्रव्य इसलिए नहीं सिद्ध कर सकती कि क्रिया अन्धकार में नहीं है, उसकी प्रतीति भी उसी तरह भ्रम है, जैसे किसी वेगवान् गाड़ी या नौका पर सवार होनेवाले को यह मालूम पड़ता है कि दोनों ओर के वृक्ष आदि पीछे भागे जा रहे हैं। दीप आदि के प्रकाश के चलने से मालूम पड़ता है कि अन्धकार चल रहा है, तत्त्वतः अँधेरा चलता नहीं। अतः उसे द्रव्य नहीं कहा जा सकता, सुतरां उसे अधिक द्रव्य भी नहीं कहा जा सकता। फिर वह है क्या ? इसके उत्तर में यह कहना है कि प्रौढ़-प्रकाशक तेज का अभाव

ही अन्धकार है। क्योंकि जहाँ दीपक आदि तेज नहीं होता वहीं उसका अस्तित्व मालूम होता है। वह पदार्थों का आवरण करता है यह बात भी नहीं है। अँधेरे में वस्तु का प्रत्यक्ष इसलिए नहीं होता कि आँख का सहायक बाह्य-प्रकाश वहाँ नहीं होता। अँधेरे को देखने के लिए आँख को बाह्य प्रकाश की आवश्यकता इसलिए नहीं होती कि वह अँधेरे का प्रतियोगी अर्थात् विरोधी होता है।

अन्धकार को प्रकाश का अभाव मानने में कल्पना-लाघव भी बहुत है, नहीं तो पार्थिव या जलीय परमाणु, द्व्यणुक आदि के समान अन्धकार का भी परमाणु, द्व्यणुक मानना पड़ता। कुछ लोगों का कहना है कि अन्धकार अभाव नहीं है किन्तु आरोपित नील रूप है। किन्तु इस मत में प्रश्न एक यह उठ खड़ा होता है कि "आरोपित नील रूप" का अभिप्राय क्या? यदि वह रूप हो तो उसके प्रत्यक्ष के लिए प्रकाश की आवश्यकता होनी चाहिए। क्योंकि स्फटिक में आरोपित जपापुष्पगत रक्तिमा को देखने के लिए भी तो प्रकाश की अपेक्षा होती है। यदि नील रूप का भ्रम होता है तो उसका अधिष्ठान क्या है? निरधिष्ठान, अर्थात् किसी आश्रय के विना, भ्रम नहीं होता। यदि कहें कि प्रकाशाभाव को आश्रय मानकर उसमें नील रूप का भ्रम होता है, पर ऐसा कहने से तो वही बात आयी कि प्रकाशाभाव अन्धकार है, और उस पर नील रूप का भ्रम होता है, जैसे आकाश में।

सुवर्ण

कुछ लोग सोने को स्वतन्त्र अर्थात् उक्त द्रव्यों से अधिक द्रव्य मानते हैं। उनका कहना है कि गुरुत्व अर्थात् भारीपन उसमें होने के कारण तेज आदि किसी द्रव्य में उसे गतार्थ नहीं किया जा सकता, और द्रवत्व अर्थात् पिघलना उसमें स्वाभाविक न होने के कारण उसे जल नहीं कहा जा सकता। और दीर्घकाल तक आग में जलाने पर भी उसका द्रवत्व अर्थात् तारल्य नष्ट न होने के कारण उसे पृथ्वी नहीं कहा जा सकता। अतः अगत्या उसे अतिरिक्त द्रव्य मानना चाहिए। किन्तु वह तेज के अन्दर गतार्थ हो जाता है, उसे अधिक द्रव्य नहीं मानना चाहिए। रही बात गुरुत्व की, वह सुवर्ण का नहीं है किन्तु उसमें मिले हुए पार्थिव भाग का है। अर्थात् जिसे हम लोग सोना कहते हैं वह पार्थिव और तैजस दोनों द्रव्यों का सम्मिलित रूप है। उसको सोना कहना गौण प्रयोग है। उसके अन्दर जो तैजस अंश है जिसमें अग्नि का संयोग होने से तरलता आती है और वह तरलता किसी अन्य जड़ी बूटी के सम्बन्ध के विना नष्ट नहीं होती, वही मुख्य सुवर्ण है।

सुवर्ण में पार्थिव भाग का संश्लेष इसलिए भी मानना पड़ता है कि पीलापन

पृथिवी द्रव्य को छोड़कर और किसी में नहीं पाया जाता। व्यावहारिक सोने का रूप पीला देखा ही जाता है, अतः उसमें पार्थिव भाग है और उसी भाग में भारीपन भी है और पीलापन भी। किन्तु तरलता उस पृथिवी-भाग की नहीं, वह तेजरूप सोने की है। क्योंकि वह यदि पृथिवी की होती तो अवश्य घृत आदि की तरलता के समान कुछ देर तक आग पर तपाने से नष्ट हो जाती। कुछ लोग इस तरह युक्ति लड़ाते हैं कि यदि वह पिघलनेवाला तेज रूप सुवर्ण, व्यावहारिक सुवर्ण-पिण्ड के अन्दर न बैठा होता, तो देखा जाने वाला पार्थिव-भाग का पीलापन अग्नि-संयोग से अवश्य नष्ट हो जाता, क्योंकि अन्य पार्थिव पदार्थों में यही बात देखी जाती है। अतः मानना होगा कि पीत रूप एवं गुरुत्व के आश्रयभूत पार्थिव भाग से अतिरिक्त उसके भीतर छिपा हुआ तेज है, जो पिघलकर अग्नि-संयोग होने पर भी उस पार्थिव पीलेपन को नष्ट नहीं होने देता, वही है वास्तविक सुवर्ण।

कुछ लोगों का कहना है कि सुवर्ण पार्थिव पदार्थ है वह तेज नहीं है। विलक्षणता तो परस्पर पार्थिव द्रव्यों में भी पायी ही जाती है। अतः यह एक विलक्षण पार्थिव द्रव्य हो सकता है। अन्य पार्थिवों का तारल्य अत्यन्त अग्नि-संयोग से उच्छिन्न होने पर भी इस सुवर्ण रूप पार्थिव द्रव्य का तारल्य उच्छिन्न नहीं भी हो सकता है। परन्तु यह मत इसलिए उचित नहीं मालूम होता कि सजातीय के साथ सजातीय का विरोध नहीं होना और विजातीय के साथ विरोध होना स्वाभाविक है। आग सुवर्ण को भस्म नहीं करती, उसके द्रवत्व को उच्छिन्न नहीं करती, यह इसलिए उचित होता है कि दोनों एकजातीय हैं। यदि वह पार्थिव होता तो विजातीय होने के कारण, उसके द्रवत्व को आग अवश्य नष्ट करती, जैसे घृत आदि के द्रवत्व को नष्ट करती है। अतः उसे तेज मानना ही उचित है। समानजातीयों में भी अवान्तर विजातीयता होती है सही, किन्तु इस प्रकार अत्यन्त वैजात्य नहीं होता। और इस प्रकार अति वैजात्य पाये जाने पर भी यदि एक में अपर को गतार्थ माना जाय तो फिर किसी पदार्थ का विभाजन नहीं बनेगा। अतएव सुवर्ण को पृथिवी नहीं मानना चाहिए।

द्रव्यारम्भ

उक्त नौ प्रकार के द्रव्यों में, आकाश आदि के परमाणु न होने के कारण उनमें द्रव्यारम्भ नहीं होता। अर्थात् आकाश प्रभृति द्रव्य अनेक अवयवों के संयोग से नहीं बनते हैं, और उनके संयोग से कोई नया द्रव्य उत्पन्न नहीं होता है। अतः आकाश प्रभृति द्रव्य न किसी द्रव्य के अवयव होते हैं और न जन्य अवयवी होते हैं। किन्तु पृथिवी, जल, तेज और वायु ये द्रव्य ऐसे नहीं होते हैं अर्थात् ये अवयव तथा अवयवी

दोनों प्रकार के होते हैं। जैसे दो पार्थिव परमाणुओं से एक द्व्यणुक नामक नूतन पार्थिव द्रव्य उत्पन्न होता है। तीन द्व्यणुकों के संयोग से एक त्र्यणुक नामक नूतन पार्थिव द्रव्य उत्पन्न होता है। इसी प्रकार बढ़ते-बढ़ते बहुत तन्तुओं से पट, दो कपालों से घट, बहुत ईंटों से एक मकान बनता है। तन्तु, कपाल, ईंटें आदि होते हैं "उपादान" और पट, घट, मकान आदि होते हैं "उपादेय" अर्थात् उपादानकारण के कार्य। उपादेय—द्रव्य अनेक उपादानों के संयोग से उत्पन्न होता है। उपादेय द्रव्यों को ही अवयवी भी कहा जाता है। कुछ लोगों का मत यह है कि अवयवी कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं होता। अर्थात् कोई नूतन अवयवी, जैसे उक्त घट, पट आदि शब्दों से कही जाने वाली कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती। परमाणु के समष्टि विशेष को ही लोग घट, पट आदि नामों से पुकारते हैं, तत्त्वतः कोई भी नूतन द्रव्य उत्पन्न नहीं होता। विलक्षण परमाणु-पुञ्ज से अतिरिक्त आखिर घट, पट आदि क्या हो सकता है? यदि विवेचना की जाय तो बहुसंख्यक तन्तुओं को छोड़कर पट नाम की कौन-सी वस्तु है, ईंटों को छोड़ कर मकान क्या वस्तु है? कुछ भी नहीं। इस प्रकार विवेचना को बढ़ाने पर अन्त में अवयवी कही जाने वाली वस्तु को एक-एक परमाणु-पुञ्ज ही मानना होगा।

किन्तु यह मत इसलिए संगत नहीं कि एक पिशाच जैसे नहीं देखा जाता है उसी प्रकार पिशाचों का पुञ्ज भी नहीं देखा जाता। तद्वत् एक परमाणु जब नहीं देखा जाता, तो परमाणु-पुञ्ज कैसे देखा जा सकता है? यदि यह कहा जाय कि दूर से एक केश नहीं देखा जाता किन्तु केशों का समुदाय देखा जाता है, उसी प्रकार एक परमाणु अप्रत्यक्ष होने पर भी उसके पुञ्जरूप घड़े आदि का प्रत्यक्ष हो सकेगा, तो यह कथन इसलिए संगत नहीं होता कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में समता नहीं होती। कारण एक केश भी निकट जाने पर देखा ही जाता है, वह अतीन्द्रिय नहीं है। किन्तु परमाणु तो पिशाच के समान अतीन्द्रिय है। यदि यह कहा जाय कि अदृश्य परमाणु के पुञ्ज से दृश्य परमाणु-पुञ्ज उत्पन्न होता है, तो फिर एक अवयवी की उत्पत्ति मान लेना ही उचित मालूम होता है। पुञ्जोत्पत्ति से कहीं अच्छा होगा कि एक स्वतन्त्र अवयवी मान लिया जाय। क्योंकि पुञ्जोत्पत्ति का पर्यवसित अर्थ होगा उतने परमाणुओं के करोड़ों परस्पर संयोगों का उत्पादन जो एक अवयवी मानने के लिए प्रस्तुत नहीं, वह करोड़ों संयोगों को मानकर क्या लाभ उठायेगा? इससे तो कहीं अच्छा यही होगा कि एक अवयवी की उत्पत्ति मान ली जाय।

अवयवी मानने के लिए प्रबल युक्ति यह भी है कि किसी भी द्रव्य को जो "एक" एवं "महान्" सभी लोग समझते तथा कहते हैं, वह पुञ्जवाद में नहीं बनता। क्योंकि

वृक्ष भी जब परमाणु-पुञ्ज ही है, तब उसको कैसे एक एवं महान् कहा जा सकता है ? परमाणु एक नहीं बहुत हैं, अतः उन्हें एक नहीं कहा जा सकता। एवं सब-के-सब परमाणु ही हैं अतः उन्हें महान् नहीं कहा जा सकता। किन्तु सभी लोग उसे एक और महान् कहते हैं, अतः वृक्ष को एक और महान् अवयवी मानना होगा। सभी लोग भ्रान्त हैं, सभी लोगों का वृक्ष को एक और महान् समझना भूल है; ऐसा नहीं कहा जा सकता।

यदि यह कहा जाय कि यहाँ भ्रम तो नहीं किन्तु वह ज्ञान एवं व्यवहार औपचारिक अवश्य है। अर्थात् जैसे किसी मनुष्य को सिंह से भिन्न समझते हुए भी सिंह के समान पराक्रम-युक्त होने के कारण लोग "यह मनुष्य सिंह है" इस प्रकार वाक्य प्रयोग करते हैं, एवं लोग उस वाक्य से ज्ञान भी प्राप्त किया करते हैं, उसी प्रकार एक वा महान् न होने पर भी वृक्ष को एक एवं महान् कह दिया जाता है। पर यह इसलिए उचित नहीं कहा जा सकता कि प्रयोग औपचारिक होने पर भी और औपचारिक नहीं होता। अर्थात् बोलने वाला या सुनने वाला कोई "यह मनुष्य सिंह है" इस वाक्य से यह नहीं समझता कि यह मनुष्य सचमुच सिंह है, किन्तु यही समझता है कि "यह मनुष्य सिंह के समान पराक्रमी है" किन्तु वृक्ष को सभी लोग एक एवं महान् समझते हैं, न कि केवल वाक्य-प्रयोग करते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि यदि कदाचित् यह भी मान लिया जाय कि किसी वस्तु को एक और महान् समझना लोगों की भूल है, फिर भी किसी-न-किसी द्रव्य में एकत्व और महत्त्व सच्चा मानना होगा, और पहले उसमें "यह एक और महान् है" इस प्रकार यथार्थ ज्ञान भी मान लेना होगा। क्योंकि जब तक किसी भी वस्तु का कहीं यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तब तक उसका मिथ्या ज्ञान भी नहीं होता। जो आदमी पहले चाँदी को चाँदी नहीं समझता वह पीछे सीप में "यह चाँदी है" ऐसा भ्रम-ज्ञान नहीं कर पाता। इसी तरह जब तक किसी द्रव्य में "यह एक है, यह महान् है" इस प्रकार यथार्थ ज्ञान नहीं हो लेगा, तब तक वृक्ष में "यह एक है, यह महान् है" इस तरह भ्रम-ज्ञान भी नहीं हो सकेगा। कहीं किसी द्रव्य में यदि "यह एक है, यह महान् है" इस प्रकार यथार्थ ज्ञान मान लिया जाय, तो वहीं परमाणु पुञ्जवाद भंग होकर अवयवी की उत्पत्ति मान लेनी पड़ेगी। फिर वृक्ष आदि का ही क्या अपराध है कि उसे एक स्वतन्त्र महान् अवयवी न माना जाय। किसी गुण में या क्रिया में एक विज्ञान को, एवं महत्त्व-ज्ञान को यथार्थ ज्ञान मानकर वृक्ष आदि में उसका भ्रम ज्ञान होता है, ऐसा ही नहीं कहा जा सकता। क्योंकि गुण, द्रव्य में ही रहता है। एकत्वरूप संख्या और महत्त्वस्वरूप परिमाण, ये भी गुण होने के कारण गुण में नहीं रह सकते।

वृक्ष आदि को परमाणु-पुञ्ज मानने पर प्रत्यक्ष मात्र का अभाव हो जायगा; क्योंकि द्रव्य परमाणु रूप हो जायेंगे, अतः उनका प्रत्यक्ष नहीं होगा। जब द्रव्य का ही प्रत्यक्ष नहीं होगा तो तदाश्रित गुण, क्रिया, जाति आदि का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। अतः स्वतन्त्र अवयवी मानना चाहिए। यदि अवयवी न मान कर परमाणु-पुञ्ज ही माना जाय तो पदार्थों के गुण-भेद अर्थात् प्रयोजन-भेद नहीं हो सकेंगे। जो काम तन्तु से होता है वह काम कपड़े से नहीं होता है। जो काम कपड़े से चलता है वह तन्तु से नहीं चलता। प्रत्येक वस्तु का कार्य अलग-अलग पाया जाता है। यह बात सभी द्रव्यों को परमाणु-पुञ्ज रूप मानने पर कभी नहीं हो सकती। क्योंकि परमाणुओं में कोई वैलक्षण्य नहीं होता, सभी पार्थिव परमाणु एक-से ही होते हैं। इतना ही नहीं, खाद्य-अखाद्य आदि का विधि-निषेध भी नहीं बनेगा। अर्थात् चिकित्सक लोग जो विभिन्न रोगों के लिए विभिन्न पथ्या-पथ्य की व्यवस्था देते हैं, और उससे लाभ-अलाभ देखा जाता है, वह नहीं हो सकेगा। ऐसा कोई मत नहीं जिसमें कुछ-न-कुछ खाद्याखाद्य का विचार किसी-न-किसी कारण से न किया गया हो। परन्तु अवयवी न मानने वाले के सिद्धान्त में वह गोबर कभी नहीं बन सकता। क्योंकि विष्ठा भी एक परमाणु-पुञ्ज रहेगा और मिष्टान्न भी वही। अतः अवयवी को स्वतन्त्र द्रव्य मानना ही चाहिए। फिर कोई दोष रहने नहीं पाता।

कारण

किसी भी जन्य वस्तु की उत्पत्ति किसी कारण से हुआ करती है, चाहे वह वस्तु द्रव्य हो या गुण अथवा कर्म। जिसके रहने पर जो कार्य उत्पन्न हो, और जिसके न रहने पर जो कार्य उत्पन्न न हो, वह उस कार्य के प्रति कारण होता है। जैसे अग्नि न होने पर किसी वस्तु को जलाया नहीं जा सकता है, अग्नि से जलाया जा सकता है, अतः अग्नि दाह के प्रति कारण होती है। इसी प्रकार तन्तुओं के होने पर कपड़े बनते हैं और उनके न होने पर नहीं बनते, अतः तन्तु कपड़े के प्रति कारण हैं। इसी तरह कपड़ा न होने पर उसमें रूप-रस आदि कोई गुण उत्पन्न नहीं होते, अतः उन गुणों के प्रति कपड़े को कारण मानना पड़ता है। इसी प्रकार शाखा न हो तो वायु के धक्के से वृक्ष में कम्पनस्वरूप कर्म नहीं पैदा हो सकता, क्योंकि विना आश्रय के किसी की भी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? अतः उस कम्पन के प्रति वह शाखा कारण है। कार्य के प्रति यदि कारण न माना जाय तो "कादाचित्क" न हो सकेगा, अर्थात् या तो कार्य सर्वदा होगा, या कभी नहीं होगा। अतः कार्य के प्रति कारण मानना ही होगा। सभी कार्य एक ही कारण से उत्पन्न नहीं

हो सकते । क्योंकि यदि ऐसा होता तो कार्यों की उत्पत्ति, जो एक के बाद दूसरे क्रम से होती है, यह बात नहीं हो पाती। कार्योत्पादक वह एक कारण सभी कार्यों की उत्पत्ति में विलम्ब क्यों करता ? अतः यह मानना पड़ेगा कि विभिन्न कार्यों के प्रति कारण भी विभिन्न हुआ करते हैं । एवं कोई भी कार्य एक ही कारण से उत्पन्न नहीं हो जाता । जैसे कपड़ा केवल तन्तु मात्र से नहीं उत्पन्न हो सकता, जब तक कि करघा और बुननेवाला आदि कई कारण नहीं जुट जाते । अतः मानना पड़ेगा कि कार्य की उत्पत्ति तब होती है जब कि कारणों की समष्टिरूप सामग्री जुट जाती है। परन्तु सामग्री के बीच प्रत्येक सदस्य को कारण माना जाता है, क्योंकि किसी भी एक के विघटन से कार्य उत्पन्न नहीं होने पाता।

कुछ लोग कार्य-कारण भाव नहीं मानते । उनका कहना है कि कोई भी वस्तु नयी नहीं उत्पन्न होती, अतः कारण किसके प्रति माना जायगा? हाँ "इसमें अभिव्यङ्ग्य-अभिव्यञ्जकभाव" रहता है । अर्थात् जिसे आरम्भवादी कारण कहा करते हैं, तत्त्वतः वह अभिव्यञ्जक है ,और जिसे कार्य कहते हैं वह अभिव्यङ्ग्य है। जो पहले से विद्यमान वस्तु को प्रकाशित करे अर्थात् लोगों को उसका ज्ञान करावे वह "अभिव्यञ्जक" है और उस अभिव्यञ्जक से जिसकी अभिव्यक्ति हो, अर्थात् उससे जो समझाया जाय, वह कहलाता है "अभिव्यङ्ग्य"। जैसे दीपक से विद्यमान वस्तुओं का ज्ञान होता है, वह वस्तुओं को समझाता है, अतः वह अभिव्यञ्जक है । वृक्ष, फल, फूल आदि पदार्थ जो अँधेरे में नहीं देखे जाते, दीपक के सहारे देखे जाते हैं, वे हैं अभिव्यङ्ग्य । इसी तरह मिट्टी से घड़ा, तन्तुओं से कपड़ा तत्त्वतः उत्पन्न नहीं होता, किन्तु पहले मिट्टी-तन्तु आदि रूप से वह विद्यमान ही रहता है, बाद को वह कुम्भकार, तन्तुवाय आदि अभिव्यञ्जकों से सम्बलित मृत्तिका और तन्तुस्वरूप अभिव्यञ्जक से अभिव्यक्त अर्थात् स्पष्ट रूप से प्रकाशित मात्र होता है। किन्तु यह मान्यता इसलिए युक्तियुक्त मालूम नहीं होती कि यदि उपादान में उपादेय छिपे रहते हैं; ऐसा माना जाय, जैसा कि वे लोग मानते हैं, तो बरगद के अति क्षुद्र एक बीज में असंख्य महावृक्षों की स्थिति माननी होगी । क्योंकि इस एक बीज से एक वृक्ष होकर उससे करोड़ों बीज और उनसे फिर करोड़ों महावृक्ष, और उनसे फिर असंख्य बीज; इस प्रकार अनन्त संसार में पश्चाद्भावी जितने भी उसकी सन्तान-धारा में महावृक्ष उत्पन्न होने वाले हैं, सब की अव्यक्त रूप से अवस्थिति इस मूल बीज में माननी होगी । परन्तु क्या उतने परमाणु इस बीज के अन्दर समा सकते हैं ? यदि नहीं, तो यह मानना कैसा उपहासास्पद होगा ? अतः यही उचित है कि पूर्व-पूर्व एक-एक बीज में पर-परवर्त्ती एक-एक वृक्ष की उत्पादन-सामर्थ्य रूप

कारणता विद्यमान है, जिससे बाद वाले महावृक्ष उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार सभी कार्यों के सम्बन्ध में समझना चाहिए। साथ ही इस मत के खण्डन में उन युक्तियों को भी ध्यान में रखना चाहिए, जिनका उल्लेख परमाणु-पुञ्जवाद के खण्डन में किया गया है। जैसे—यदि आरम्भवाद न माना जाय तो पदार्थों के परस्पर सम्मिश्रण से जो विभिन्न गुणों का आधान होता है वह नहीं होना चाहिए। क्योंकि नयी वस्तु तो इस मत में बन ही नहीं सकती। यदि यह कहा जाय कि सब में सब गुण रहते हैं, उनका प्रकाश संयोग से होता है, तो यह भी नहीं कहा जा सकेगा। क्योंकि संयोग भी तो उनमें नया नहीं माना जा सकता। क्योंकि फिर तो सर्वदा उससे वह लाभ या दोष होना चाहिए जो संयोग के अनन्तर पाया जाता है। साथ ही विधि-निषेध, खाद्याखाद्य, पथ्यापथ्य आदि की व्यवस्थाएँ चौपट हो जायेंगी। अतः आरम्भवाद मानना ही चाहिए, तब फिर कार्य-कारण भाव भी अनिवार्य स्वीकृत होगा।

कारण के प्रभेद

कारणों को प्रथमतः दो भागों में वर्गीकृत समझना चाहिए। जैसे उपादान-कारण और अनुपादान-कारण। उपादान-कारण उसे कहा जाता है जो उपादानाश्रित न होता हुआ कार्यान्वयी हो। जैसे पट के प्रति उपादान कारण तन्तु हैं, उन्हें कार्यान्वयी इसलिए कहा जाता है कि पट के अस्तित्वकाल में उसके अवयवरूप में उनका रहना अनिवार्य है। यद्यपि तन्तुओं के पारस्परिक संयोग भी, कार्यान्वयी होते हैं, क्योंकि जब तक पट का अस्तित्व है तब तक संयोग का भी रहना अनिवार्य है, तथापि वह उपादानाश्रित होने के कारण उपादान नहीं हो सकता। वह तन्तुस्वरूप पट के उपादान में ही आश्रित होता है। अतः वह उपादान नहीं होता। इसी प्रकार पट में होने वाले रूप-रस आदि गुणों के प्रति तथा किसी चलन स्वरूप कर्म के प्रति वह पट उपादान कारण होता है। अन्यत्र भी इसी तरह समझना चाहिए।

अनुपादान कारण भी दो भागों में विभक्त हैं। यथा, उपादानमात्राश्रित एवं उपादानानाश्रित। अर्थात् प्रकृत कार्य के उपादान में रहने वाला और उपादान में नहीं रहने वाला। जैसे तन्तुओं के परस्पर संयोग, पटकार्य के प्रति उपादानाश्रित कारण हैं। क्योंकि संयोग पट के उपादानकारण होने वाले तन्तुओं में ही होते हैं और रहते हैं। उपादानानाश्रित कारण पटकार्य के प्रति करघे, जुलाहे आदि अन्य सभी अपक्षित कारण हुआ करते हैं। इनका कार्यशरीर के अंदर प्रवेश नहीं होता, अतः ये कार्यान्वयी नहीं होते। करघे, जुलाहे आदि सभी कारण पट-शरीर से बाहर रहते हैं अतः पट उत्पन्न हो जाने के अनन्तर यदि इनका नाश भी हो जाय तो पट के

है। क्योंकि इन लोगों का कहना यह है कि पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति से सूर्यमण्डल इस लोक की ओर बराबर आकृष्ट हो रहा है। जब कि वह इस लोक के अति निकट आ जायगा तो यह पथिवी मनुष्यावास योग्य नहीं रह जायगी। केवल मनुष्य ही नहीं कोई भी प्राणी इस भू-भाग पर नहीं रह पायेगा। किन्तु पर-भाग अर्थात् जिधर से सूर्य इधर को खिसक रहा है उधर की ओर प्राणि-सृष्टि होगी। किन्तु एक बात यहाँ अवश्य ध्यान रखने की है कि इस तरह की परिस्थिति को खण्ड प्रलय भी नहीं कहा जा सकता। यह तो एक प्रकार प्राणि-प्रलय-सा होगा। खण्ड प्रलय में तो कोई जन्य महाभूत नहीं रह जाते।

महाप्रलय तब होता है जब कि जन्य द्रव्य तो नष्ट हो ही जाते हैं, साथ में परमाणु भी निष्क्रिय और जन्य गुण रहित हो जाते हैं। कम्पन और जन्य गुणों को परमाणुओं में रहने का प्रयोजन इसलिए नहीं होता कि पुनः सृष्टि होने वाली नहीं रह जाती। परन्तु यह महाप्रलय सर्ववादिसम्मत नहीं है। क्योंकि दो दिनों के बीच में आने वाली एक रात के ऊपर दृक्पात करने पर यह तो संगत मालूम पड़ता है कि खण्ड प्रलय अवश्य तब होता होगा, जब कि समस्त प्राणियों के भोग्यादृष्ट स्तब्ध हो जाते होंगे, और समग्र प्राणी भोगरहित हो जाते होंगे, और अदृष्ट स्तब्ध हो जाने के कारण जीवों के शरीर, इन्द्रिय आदि आध्यात्मिक साधन तथा बाह्य वस्तु स्वरूप आधिभौतिक साधन नष्ट हो जाते होंगे। किन्तु महाप्रलय असम्भव प्रतीत होता है। दूसरी बात यह है कि महाप्रलय तभी हो सकता है जब कि कीट-पतंग तक सारे प्राणी तत्त्वज्ञानी होकर मुक्त हो जायँ। नहीं तो जीवों का भोगादृष्ट शरीर आदि साधनों की उत्पत्ति कराये विना नहीं रह सकता।

कुछ लोग खण्ड प्रलय मानने में भी बहुत प्रतिबन्ध देखते हैं, उनका कहना है कि सजातीय से ही सजातीय की उत्पत्ति हुआ करती है। यदि खण्ड प्रलय हो जाय तो उसके बाद सर्वप्रथम मनुष्य किस मनुष्य से उत्पन्न होगा? इसके उत्तर में प्राच्य-पदार्थशास्त्रियों ने यह बतलाया है कि जैसे केले के पेड़ से केले का पेड़ उत्पन्न होता है, परन्तु कभी-कभी वनाग्नि-दग्ध-वेत्रबीज से वह उत्पन्न होता पाया जाता है। चौलाई के बीजों से चौलाई साग की उत्पत्ति होती है, पर कभी-कभी चावल धोकर फेंके गये पानी में मिले हुए कण से उसकी उत्पत्ति हो जाती है। उसी प्रकार अभी मनुष्य से मनुष्य, पशु से पशु, इस प्रकार से उत्पत्ति होने पर भी खण्ड प्रलय के बाद प्रथम मनुष्य की उत्पत्ति ईश्वर की इच्छा मात्र से हो सकती है।

जो लोग विकासवादी हैं उनके मत में भी प्रलय नहीं हो सकता। क्योंकि मनुष्य कुछ भी करता रहे उसका पतन जब नहीं हो सकता, विकास ही होगा, फिर

अशेष प्राणियों का विनाश क्यों हो जायगा ? एवं उनके उपभोगों के साधन अकस्मात् क्यों नष्ट हो जायेंगे ? जो लोग छोटा पतन स्वीकार नहीं करते वे लोग सर्वाधिक पतनरूप प्रलय भला कैसे मान सकते हैं ? परन्तु विकासवादियों से पूछना यह चाहिए कि जब मनुष्य का पतन नहीं हो सकता तो वे मरते क्यों हैं ? क्या मरना पतन नहीं है ? यदि नहीं तो सभी लोग उससे क्यों डरते हैं? सभी लोग उसे क्यों नहीं चाहते हैं ? मनुष्य की बात क्या, पैदा होने वाली वस्तुमात्र का विनाश देखा जाता है, क्या वह उन पदार्थों के पतन की पराकाष्ठा नहीं है ? साथ ही जब कि अनादि काल से विकास ही होता आ रहा है, तो आज भी इतने प्राणी दुखी क्यों पाये जाते हैं ? क्या मल-मूत्र के कीटाणु भी विकास प्राप्त जीवों के भीतर ही हैं ? क्या विकास-वादी उन्हें भी सुखी, विकासी जीव समझते हैं ? कभी नहीं । फिर यह सिद्धान्त कैसे संगत या हृदगत हो सकता है ? यदि यह कहा जाय कि विकास का अधिकारी मनुष्य ही होता है, तो यह पक्षपात क्यों ? अन्य प्राणियों का क्या अपराध है कि उनका विकास नहीं होता है ? और यह परस्पर विरुद्ध होने के कारण अपसिद्धान्त है, क्योंकि यह भी उन लोगों का सिद्धान्त है कि प्राणियों की सृष्टि क्रमिक विकास पद्धति से ही हुई है । पहले मेरुदण्डरहित प्राणियों की उत्पत्ति हुई । फिर अदृढ़-मेरुदण्डवाले उत्पन्न हुए और फिर दृढ़ मेरुदण्डवाले प्राणियों की उत्पत्ति हुई । फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि विकास के अधिकारी मनुष्य ही हैं अन्य जीव नहीं । यदि यह कहा जाय कि मनुष्य अपने अच्छे आचरणों से उन्नत हो सकते हैं, विकास प्राप्त कर सकते हैं, इतना ही विकासवादियों का अभिप्रेत है, तो फिर इस वाद में कोई महत्त्व नहीं रह जाता, कोई नवीनता नहीं रह जाती । क्योंकि अच्छे आचरणों से जैसे मनुष्य उत्थान प्राप्त कर सकते हैं, बुरे आचरणों से वे पतन भी पा सकते हैं, यह मानना होगा । फिर इस वाद को विकासवाद ही क्यों कहा जाय ? कुछ लोग इस युक्ति से इस वाद की पुष्टि करते हैं कि पहले रेल-तार-रेडियो-बिजली आदि वस्तुएँ नहीं थीं, क्रम से दिन-दिन आविष्कार हो रहा है अतः विकास मानना होगा। परन्तु यह निर्णय कैसे किया जा सकता है कि अनादि संसार में आज तक कभी ये पदार्थ नहीं हुए थे । जब कि यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि रात में अदृश्य होकर फिर वही सूर्य नवीनतया उदित हुआ-सा मालूम होता है । अमावस्या में अदृश्य होकर चन्द्रमा फिर प्रतिपदा से दृश्य होता है । प्रति वर्ष उन्हीं वसन्त, ग्रीष्म आदि ऋतुओं का संचार होता है, कोई नवीनता नहीं आती, फिर यह कैसे निर्णय कर लिया जाय कि ये आविष्कार बिल्कुल नवीन हैं । क्या ऐसा नहीं हो सकता कि बीच में ये सभी लुप्त हो गये थे, और पुनः उनका प्रकाशन हुआ । यदि

थोड़ी देर के लिए इन्हें बिल्कुल नूतन ही मान लिया जाय, फिर भी इसके आधार पर विकासवाद का स्वीकार उचित नहीं हो सकता, क्योंकि नवीन आविष्कार के समान अनेक प्राचीन महत्त्वपूर्ण विज्ञान परवर्ती काल में नष्ट भी हो जाया करते हैं। जैसे महाभारत से पूर्ववर्ती अनेक विज्ञान आजकल लुप्त हैं।

गुण-निरूपण

गुण लक्षण

गुण वह वस्तु है जिसे द्रव्य में रहने वाला एवं कर्म से भिन्न भाव-पदार्थ समझा जाता है। जैसे किसी भी नील, पीत आदि रूप को मनुष्य इस प्रकार समझते हैं कि यह अमुक वस्तु का रूप है, यह चलन (क्रिया) नहीं है। यह अभाव नहीं है। सामान्यतः गुण शब्द का प्रयोग लोग उस अर्थ में किया करते हैं जो अपने आश्रय को अपने द्वारा उत्कृष्ट समझाये। यहाँ भी रूप, रस आदि अर्थ में गुण शब्द का प्रयोग इसी अभिप्राय से होता है। क्योंकि रूप, रस आदि के उत्कर्ष से द्रव्यवस्तु की उत्कृष्टता समझी जाती है। गुण द्रव्य को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं रह सकता। जैसे सौन्दर्य द्रव्य में ही रह सकता है, सौन्दर्य में सौन्दर्य नहीं रह सकता, इसी प्रकार सारे गुण द्रव्य में ही रहते हैं, गुण आदि में नहीं। फूल का कोई रूप हो सकता है किन्तु रूप का रूप क्या हो सकेगा ? इसी प्रकार किसी भी फल और फूल में कोई माधुर्य आदि रस हो सकता है, किन्तु माधुर्य का क्या माधुर्य होगा ? अतः मानना होगा कि गुण द्रव्य में ही रहते हैं, गुणों में नहीं। इसी प्रकार कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव नामक पदार्थों में भी गुण नहीं रहते। किन्तु द्रव्य ऐसा कोई भी नहीं हो सकता जिसमें कभी-न-कभी गुण न हो। प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने गुण का लक्षण इस प्रकार बतलाया है कि जो द्रव्यों से एवं कर्मों से भिन्न होता हुआ जाति नामक पदार्थ का आश्रय हो, वही गुण है। उनका अभिप्राय यह है कि जाति नामक पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म इन तीन पदार्थों में ही रहता है। अतः द्रव्य और कर्म से भिन्न होता हुआ जो जातिमान् होगा वह गुण ही होगा। क्योंकि अपने में अपना भेद नहीं रहने के कारण द्रव्य और कर्म द्रव्य और कर्म से भिन्न नहीं हो सकते। सामान्य आदि पदार्थों में जाति रहती नहीं, फलतः ऐसा पदार्थ गुण ही होगा।

कुछ लोग गुण को स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते। उनका कहना है कि गुण और गुणी दोनों एक ही वस्तु होते हैं। फूल और उसके रूप को अलग-अलग नहीं देखा जा सकता। अतः दोनों को एक ही मानना उचित होगा। इसी प्रकार रस, गन्ध आदि गुणों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं

कि यदि रूप और फूल दोनों तत्त्वतः एक हों तो "रूप फूल है" "फूल रूप है" ऐसा लोग समझते या वाक्य-प्रयोग करते, किन्तु ऐसा न समझकर एवं वाक्य-प्रयोग न कर "फूल का यह रूप है", "फूल ऐसे रूपवाला है" इस प्रकार समझते एवं वाक्य-प्रयोग करते हैं, जिससे आश्रयाश्रित भाव स्पष्ट प्रतीत होता है। अर्थात् फूल आश्रय है और रूप उसमें रहने वाली उससे अतिरिक्त वस्तु है। आश्रयाश्रितभाव दो भिन्न पदार्थों में ही नियमतः हुआ करता है। जैसे रथ होता है आश्रय और रथी मनुष्य होता है उस पर आरूढ़, आश्रित। ये दोनों परस्पर एक-दूसरे से भिन्न ही तो हैं? रही सह-प्रत्यक्ष की बात, अर्थात् एक को छोड़कर पृथक् रूप से दूसरे का प्रत्यक्ष न होने की बात, सो आधाराधेयभाव मूलक भी हो सकती है। जब आसन पर बैठे हुए मनुष्य को कोई देखता है तो साथ ही आसन को भी देखता ही है, परन्तु इससे आसन और आसन पर बैठने वाले दोनों एक नहीं हो जाते। दोनों परस्पर भिन्न ही रहते हैं। इसी तरह आश्रयाश्रित भावापन्न द्रव्य एवं गुणों को एक न समझकर परस्पर भिन्न समझना चाहिए।

कुछ लोगों का कहना है कि गुण और गुणी अत्यन्त अभिन्न तो नहीं हैं अर्थात् दोनों बिल्कुल एक ही नहीं हैं, किन्तु परस्पर कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न हैं। अर्थात् इनमें "भेदाभेद" सम्बन्ध है। इनको अन्यन्त भिन्न इसलिए नहीं कहा जा सकता कि दोनों को परस्पर एक से अलग नहीं किया जा सकता और अत्यन्त अभिन्न अर्थात् दोनों को एक इसलिए नहीं माना जा सकता कि "फूल रूप है", "फूल रस है" इस तरह का ज्ञान या वाक्य-प्रयोग कोई नहीं करता। अतः गुण और गुणी द्रव्य को कथञ्चित् परस्पर भिन्न और कथञ्चित परस्पर अभिन्न मानना चाहिए। परन्तु यह इसलिए संगत नहीं मालूम होता कि भेद और अभेद अर्थात् दो होना और एक होना यह अत्यन्त विरुद्ध है। दो पदार्थ परस्पर संयुक्त सम्बद्ध भले ही हों परन्तु वे कभी एक नहीं हो सकते। जैसे परस्पर भिन्न होनेवाले अश्व और महिष कभी एक नहीं हो सकते। उसी प्रकार गुण और गुणी अर्थात् गुण और द्रव्य (जैसे नील, पीत आदि रूप और उसके आधार फूल, ये दोनों) कभी एक नहीं हो सकते। यदि आग्रह करके इन्हें एक माना जायगा तो फिर ये भिन्न नहीं हो सकते। अतः मानना होगा कि इन दोनों का "भेदाभेद" युक्तियुक्त, संगत नहीं कहा जा सकता। अभिन्न मात्र मानने से पूर्व प्रदर्शित भेद-प्रतीति नहीं बन सकती, अतः मानना होगा कि ये दोनों परस्पर भिन्न पदार्थ हैं। किन्तु आश्रय को छोड़ कर न रहना गुणों का स्वभाव है अतः उनका ज्ञान अनाश्रित रूप से नहीं होता।

गुण के प्रभेद

यों तो अवान्तर भेदों के ऊपर विचार करने पर गुण भी असंख्य होते हैं। क्योंकि उनके आश्रय अनन्त हैं, तथापि वर्गीकरण के आधार पर इनका परिगणन हो सकता है। मुख्यतया ये तेईस हैं। जैसे (१) रूप, (२) रस, (३) गन्ध, (४) स्पर्श, (५) संख्या, (६) परिणाम, (७) पृथक्त्व, (८) संयोग, (९) विभाग, (१०) परत्व, (११) अपरत्व, (१२) ज्ञान, (१३) सुख, (१४) दुःख, (१५) इच्छा, (१६) द्वेष, (१७) प्रयत्न, (१८) गुरुत्व, (१९) द्रवत्व, (२०) स्नेह, (२१) संस्कार, (२२) अदृष्ट और (२३) शब्द। कुछ लोगों का कहना है कि प्राचीन पदार्थशास्त्री प्रयत्न पर्यन्त केवल सत्रह गुण मानते थे। परवर्त्ती विद्वानों ने और छः अधिक गुणों का अस्तित्व मानकर इनकी संख्या तेईस कर दी। जो भी कुछ हो, विचार करने पर उक्त तेईस गुणों का अस्तित्व उचित ही जँचता है, जो आगे के विशेष विचार से स्पष्ट हो जायगा। कुछ लोग कठिनत्व, कोमलत्व आदि को भी स्वतन्त्र गुण मानना चाहते हैं। परन्तु यह इसलिए संगत नहीं कि उन्हें जब संयोगत धर्म मानकर निर्वाह हो सकता है, फिर संख्याधिक्य वाञ्छनीय नहीं कहा जा सकता। इसका विशेष विवेचन यथास्थान किया जायगा।

रूप गुण

रूप वह है जो केवल चक्षु से ज्ञात होने वाला गुण है। चक्षु से ज्ञात द्रव्य, कर्म आदि भी होते हैं परन्तु वे गुण नहीं हैं। यद्यपि संयोग का ज्ञान चक्षु से होता है एवं संयोग गुण भी है, तथापि वह केवल चक्षु से ही ज्ञात नहीं होता। क्योंकि दो द्रव्यों के संयोग को स्पर्श कर त्वचा से भी समझा जाता है। अतः केवल चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष किया जाने वाला गुण रूप ही है। कुछ लोग रूप शब्द से, आत्मा और वाचक शब्द इन दोनों से अतिरिक्त सभी वस्तुओं को ग्रहण करते हैं। परन्तु यहाँ उस परिभाषा का आदर नहीं समझना चाहिए। कारण, सर्वसाधारण लोग नील, पीत आदि को ही रूप कहते हैं।

रूप में यह विशेषता है कि वह जिस द्रव्य में होता है उस का भी किसी बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। जिस द्रव्य में रूप नहीं होता उसका बाह्य इन्द्रियों से अर्थात् चक्षु और त्वक् दोनों से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यही कारण है कि वायु का त्वगिन्द्रिय से भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। किन्तु त्वगिन्द्रिय से स्पर्श का प्रत्यक्ष होकर उससे वायु का अनुमान ही होता है। मानस प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। जिसमें रूप नहीं होता उसका भी मानस प्रत्यक्ष होता है। जैसे मन से

आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। मनुष्य "मैं सुखी हूँ" अथवा "मैं दुखी हूँ" इस प्रकार आत्मा में रूप न होने पर भी उसका प्रत्यक्ष करता है।

कुछ लोगों का कहना है कि रूप केवल द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष, अर्थात् आँख से होने वाले प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के प्रति ही कारण है, त्वगिन्द्रिय से होने वाले द्रव्य-प्रत्यक्ष के प्रति नहीं। वायु का स्पार्शन अर्थात् त्वक्-इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष होता है। किन्तु यह इसलिए प्रामाणिक नहीं मालूम होता कि "मुझे वायु का स्पर्श हो रहा है" इस प्रकार के वाक्य का अर्थ यही हो सकता है कि मुझे वायुगत स्पर्श का साक्षात्कार हो रहा है। क्योंकि स्पर्श तो वायुगत गुण होगा, वह मुझे क्या होगा ? हाँ उसका प्रत्यक्ष त्वगिन्द्रिय से हो सकता है या, स्पर्श अंश में वायु का विशेषण होने पर भी उसे दूर से होने वाले "यह चन्दन सुगन्ध-युक्त है" इस प्रकार के अलौकिक चाक्षुष प्रत्यक्ष स्थल के समान वायु-सम्बन्ध का अलौकिक भान भी माना जा सकता है। इसी प्रकार "मैं वायु का स्पर्श कर रहा हूँ" इस प्रकार के ज्ञान-स्थल में भी समझना चाहिए।

रूप के प्रभेद

रूप सात प्रकार का है--उजला, काला, पीला, लाल, हरा, मटमैला और चित्र। इन सात प्रकार के अन्दर उजले को छोड़ कर अन्य सभी प्रकार के रूप केवल किसी-न-किसी पृथिवी के होते हैं। उजलापन पृथिवी के अतिरिक्त जल और तेज में भी होता है। उजले को ही शुक्ल भी कहा जाता है। उसके दो भेद होते हैं, भास्वर शुक्ल और अभास्वर शुक्ल। प्रकाशक शुक्ल का नाम "भास्वर शुक्ल" और अप्रकाशक शुक्ल का "अभास्वर शुक्ल" है। भास्वर शुक्ल तेज में है क्योंकि उससे वस्तु का प्रकाशन होता है। किन्तु जल में अभास्वर शुक्ल है क्योंकि उससे समीपवर्ती वस्तु की बात क्या, अँधेरे में अपना प्रकाशन भी नहीं होता। वायु, आकाश आदि में कोई रूप नहीं है।

आकाश की ओर देखने पर जो नीलापन दिखाई देता है उसके सम्बन्ध में दो मत पाये जाते हैं। एक यह कि आँख की किरणें ऊपर जाते-जाते जब और ऊपर नहीं जा सकतीं नीचे को लौटती हैं तब उन्हें ही लोग देखते हैं। आँख की पुतली काली होने के कारण किरणें भी काली दिखाई दे सकती हैं। कुछ लोगों का कहना है कि जिनकी आँख की पुतली काली नहीं, भूरे रंग की होती है वे भी ऊपर नील रूप देखते हैं, अतएव उक्त मत ठीक नहीं। किन्तु सुमेरु के इन्द्रनील-मणिमय शिखर की छाया विस्तृत प्रभा-मण्डल पर पड़ती है, उसे ही लोग आकाश का नील रूप समझते हैं। जो भी कुछ हो, आकाश में कोई रूप नहीं है, यह सभी दार्शनिक मानते हैं।

अग्नि में यद्यपि लाल और सोने में पीला रूप देखने में आता है तथापि उसे औपाधिक समझना चाहिए। अर्थात् वह रूप तत्सम्पृक्त पृथिवी का है जो देखा जाता है। पके हुए जामुन-फल के रूप को काला, चम्पा पुष्प के रंग को पीला, खूब पके हुए बिम्बा-फल के रूप को लाल, कच्चे आम के रूप को हरा, बादाम के छिलके के रूप को धूसर कपिश, और विभिन्न रंगवाले अवयवों से बने हुए द्रव्य, जैसे गलीचे, सतरञ्जी आदि के रूप को चित्र कहा जाता है। यमुना-जल जो काला मालूम पड़ता है उसका कारण यह नहीं है कि उसमें नीलिमा है, किन्तु उस जल में काले पार्थिव-कण की मात्रा अधिक होने के कारण नीलापन दीख पड़ता है, जैसे गेरू की खान से निकलने वाला जल लाल मालूम पड़ता है। तत्त्वतः वह जल का अपना रूप नहीं होता।

कुछ लोग चित्र नामक स्वतन्त्र रूप नहीं मानते। उनका कहना है कि एक अवयवी के विभिन्न अवयवों में जो विभिन्न रूप हैं उन्हें ही लोग चित्र शब्द से पुकारते हैं। तत्त्वतः कोई चित्र नाम का रूप नहीं है। किंतु यह इसलिए माननीय नहीं हो सकता कि यदि अवयवी अर्थात् कम्बल, सतरञ्जी आदि में रूप न माना जायगा, उनके अवयवों में ही रूप माना जायगा तो उन का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। क्योंकि जिस द्रव्य में रूप नहीं होता उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि उक्त अवयवी में ही विभिन्न तत्तत् रूप मान लेंगे, तो यह भी कठिन है। क्योंकि रूप कभी अव्याप्यवृत्ति अर्थात् एक देश में रहनेवाला नहीं पाया जाता। जहाँ रहेगा अपने पूरे आश्रय में रहेगा, ऐसा नहीं कि एक ओर रहे और एक ओर नहीं। अतः एक ही आधार में तत्तत् रूप रहेंगे भी और न भी रहेंगे यह नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि जैसे मनुष्य को स्थान अधिक मिल जाता है तो वह पाँव फैलाकर बैठता है और कम स्थान मिलने पर सिकुड़ कर भी बैठता है। उसी प्रकार अन्यत्र एक-एक रूप पूरे आश्रय को भले ही व्याप्त करके बैठे, किन्तु उक्त-चित्र रूप प्रतीति स्थल में नाना रूपों का सिकुड़कर एक जगह बैठना इसलिए संगत नहीं होगा कि किसी वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वतन्त्र बुद्धि के आधार पर माना जाता है। चित्र रूप वाली वस्तु के साथ चक्षुःसंयोग होते ही यह "चित्र वर्ण" है इस प्रकार ज्ञान होता है। ऐसा नहीं होता कि यह लाल भी है और काली भी। अतः चित्र रूप को स्वतन्त्र मानना ही उचित है। और भी एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि जब यह "चित्र वर्ण नहीं है" इस प्रकार का ज्ञान किसी को होता है, तो "यह चित्र वर्ण है" इस प्रकार का ज्ञान नहीं होता, यह बात सभी लोग जानते हैं। विना चित्र रूप माने ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि "यह चित्र नहीं है" इस ज्ञान से "यह

काला है", "यह पीला है" इत्यादि ज्ञान नहीं रोके जा सकते। अतः चित्र रूप स्वतन्त्र मानना ही उचित है।

उक्त सात प्रकार के रूपों को उद्भूत, अद्भूत और अभिभूत इन तीन भागों में विभक्त समझना चाहिए। उद्भूत का अर्थ है प्रकट, अद्भूत का अर्थ है अप्रकट और अभिभूत का अर्थ है तिरोहित। यद्यपि अभिभूत भी अप्रकट होता है तथापि अनुद्भूत वह होगा जो स्वतः अप्रकट होगा और अभिभूत वह कहलायेगा जो पर-सम्पर्क-प्रयुक्त अप्रकट होगा। फूल, फल आदि सभी द्रव्यों में देखे जानेवाले नील, पीत आदि रूप उद्भूत हैं। आँख, कान आदि में रहने वाले रूप हैं अनुद्भूत। सुवर्ण आदि के रूप अभिभूत हैं। क्योंकि किसी सजातीय के दीखने के कारण न देखा जाना ही अभिभव है। पृथिवी का पीत रूप देखे जाने के कारण ही उसके भीतर छिपे हुए तेज-स्वरूप सुवर्ण का रूप नहीं देखा जाता। दिन में सूर्य से अतिरिक्त ग्रह, नक्षत्र आदि का रूप भी इसीलिए नहीं देखा जाता कि वह अभिभूत रहता है। क्योंकि प्रबल सूर्य-प्रकाश के देखे जाने के कारण नक्षत्र-प्रकाश नहीं देखा जाता।

इस रीति से रूप इक्कीस प्रकार के होते हैं, जैसे उद्भूत शुक्ल, अनुद्भूत शुक्ल, अभिभूत शुक्ल, उद्भूत नील, अनुद्भूत नील, अभिभूत नील इत्यादि। पृथिवी में भी अग्नि-संयोग से नील, पीत आदि विभिन्न रूप क्रम से उत्पन्न होते हैं। इस तरह रूप का परिवर्तन कुछ लोग परमाणु मात्र में ही मानते हैं, द्वयणुक आदि अवयवी में नहीं। उनका कहना है कि अग्नि के भीतर घट आदि रखने पर वेगवान् अग्नि के संयोग से उस घट के सारे परमाणु विशकलित हो जाते हैं। फिर परमाणुओं में ही पूर्व रूप का नाश होकर नूतन रूप उत्पन्न होता है। कुछ अन्य लोगों का कहना है कि अवयवी में भी अग्नि-संयोग से रूप बदलता है। अग्नि-संयोग के समान सूर्य-किरण के संयोग से भी रूप का परिवर्तन होता है। स्थलकमल का एक भेद ऐसा पाया जाता है जिसकी कली तो सफेद होती है परन्तु सूर्य-किरणों के प्रभाव से वह धीरे-धीरे लाल हो जाता है। सूर्य-किरण का मृदु प्रभाव इस पर इतना पड़ता है कि घर में तोड़ कर रखने पर भी धीरे-धीरे यह लाल हो जाता है। फल का रूप-परिवर्तन तो अति स्पष्ट है। जलीय और तैजस परमाणुओं के रूप नित्य होते हैं और अन्य तदीय रूप अनित्य होते हैं।

रस गुण

जिस गुण का प्रत्यक्ष जिह्वा से होता है वह रस है। जिह्वा से यद्यपि रस में रहने वाली "रसत्व" जाति का भी प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि जो वस्तु जिस इन्द्रिय से

प्रत्यक्ष की जाती है उसमें रहनेवाली जाति भी उसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होती है। जैसे रूप और उसमें रहने वाली रूपत्व नाम की जाति ये दोनों ही आँख से प्रत्यक्ष होते हैं। तथापि रसत्व जाति गुण नहीं है। गुण तो रूप, गन्ध आदि भी हैं, किन्तु वे जिह्वा से प्रत्यक्ष नहीं होते। अतः जिह्वा से प्रत्यक्ष होने वाले गुण को रस कहना सर्वथा उचित है। रस पृथिवी और जल इन दो द्रव्यों में रहता है। तेज, वायु आदि द्रव्यों में कोई भी रस नहीं है। रस शब्द, इच्छा अर्थ में भी प्रयुक्त होता पाया जाता है किन्तु यहाँ उसे नहीं समझना चाहिए। "इक्षुरस" "गोरस" आदि शब्द यद्यपि द्रव्य अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं, तथापि वहाँ का रस शब्द रस युक्त द्रव्य अर्थ में गौण रूप से प्रयुक्त होता है। तत्तत् खाद्य पदार्थ जो खाये जाने पर शरीर में उपकार वा अपकार पहुँचाते हैं उसका प्रधान कारण रस ही है।

रस के प्रभेद

रस छः प्रकार के होते हैं। जैसे (१) मधुर, (२) अम्ल, (३) लवण, (४) कटु, (५) कषाय और (६) तिक्त। मधुर का मीठा और अम्ल का खट्टा, लवण का नमकीन, कटु का कड़वा, कषाय का कसैला और तिक्त का तीता अर्थ समझना चाहिए। इक्षु, गुड़, द्राक्षा आदि में मधुर, नीबू आदि में अम्ल, नोन में लवण, लाल और काली मिर्च में कटु, हरीतकी आमलकी आदि में कषाय और करेला, नीम, चिरायता आदि में तिक्त रस समझना चाहिए। देश-भेद से कुछ लोग लाल या काली मिर्च आदि के रस को तिक्त (तीता) और नीम के रस को कटु (कड़वा) कहते हैं, परन्तु यह उचित नहीं है। क्योंकि सरसों के तेल को "कड़ुआ तेल" प्रायः सभी लोग कहते हैं, किन्तु इसमें नीम के समान रस नहीं होता। मिर्च के समान झाल उसमें अवश्य होता है। संस्कृत में "तिक्तं कारवेल्लजलम्" अर्थात् करेले का रस तीता होता है ऐसा प्रयोग पाया जाता है, अतः मानना होगा कि नीम का रस कटु नहीं है किन्तु मिर्च का है। पाक से रस का परिवर्तन पार्थिव पदार्थ में उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार रूप का।

मधुर आदि रसों को भी उद्भूत, अनुद्भूत और अभिभूत इन तीन भागों में विभक्त समझना चाहिए। तदनुसार रस के भेद अठारह होंगे। गुड़ आदि के रस को उद्भूत, जिह्वा के रस को अनुद्भूत और नीबू आदि मिले हुए रस को अभिभूत समझना चाहिए। अम्ल रस पृथिवी में ही होने के कारण, मानना होगा कि नीबू निचोड़े हुए जल में उपलब्ध होने वाला खट्टापन उसमें मिले हुए पृथिवी भाग का है, उससे अभिभूत होने के कारण जल का रस वहाँ उपलब्ध नहीं होता है। पृथिवी और जल इन दोनों में ही रस रहते हैं, जिनमें जल में केवल मधुर रस माना जाता

है। यद्यपि जल में मधुर रस यों स्पष्टत: उपलब्ध नहीं होता तथापि किसी कषाय रसवाले आमलकी, हरीतकी फल आदि खाने के अनन्तर जल का मधुर रस उपलब्ध होता है। ऐसा होने का कारण यह है कि जिह्वा के ऊपर एक प्रकार का पित्तद्रव्य का ऐसा लेप पड़ा रहता है, जिससे जल में अस्पष्ट रूप से विद्यमान मधुर रस का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। जबकि हरीतकी आदि कषाय रसवाले द्रव्य के संयोग से वह लेप नष्ट हो जाता है तो शुद्ध जिह्वा से उस जल के मधुर रस का साक्षात्कार होता है। यदि कहा जाय कि जल और मुँह की गरमी के सम्पर्क से हरीतकी में ही मधुर रस की उत्पत्ति क्यों न मान ली जाय? तो यह इसलिए उचित नहीं होगा कि जब पानी के साथ विना हरीतकी में मधुर रस उपलब्ध नहीं होता तो वहाँ मधुर रस मान कर एक आधार में दो प्रकार का रस मानने की अपेक्षा दो विभिन्न रस मानना, अर्थात् हरीतकी में कषाय और जल में मधुर मानना ही उचित होगा। कुछ अनुभवियों का इस सम्बन्ध में कहना है कि किसी चाँदी के पात्र को यदि ऊँचाई पर आकाश में रखा जाय और उसमें मेघ-जल गिरे तो उसे पीने से उसकी मधुरिमा स्पष्ट प्रतीत होती है।

कुछ लोग जल को नीरस मानते हैं, उनका कहना है कि जैसे जल का कोई खास आकार नहीं होता, आधार के आकार से ही वह आकारवान् होता है, उसी प्रकार जल में कोई अपना रस नहीं है, वह जिस रस वाले द्रव्य से मिलता है, उसी के रस से रसवाला हो जाता है। परन्तु यह इसलिए समुचित प्रतीत नहीं होता है कि रस प्रधान पोषक तत्त्व है, वह यदि जल में न होता तो उससे शरीर का पोषण नहीं होता। तृषा की शान्ति कभी नहीं हो पाती। अत: जल में रस मानना चाहिए और उसे पूर्वोक्त युक्तियों के आधार पर मधुर ही मानना चाहिए। जिस पत्थर आदि पृथिवी-खंड में रस का सुस्पष्ट भान नहीं होता है उसमें अनुत्कट गन्ध के समान अनुत्कट रस मानना चाहिए। रस नित्य एवं अनित्य दो भागों में विभक्त है। नित्य रस जलीय परमाणु में होता है, अन्यत्र सब जगह अनित्य रस रहता है।

गन्ध गुण

जिस गुण का प्रत्यक्ष घ्राण से होता है वह गन्ध है। घ्राण से गन्धत्व जाति का भी प्रत्यक्ष होता है। किन्तु वह गुण नहीं है। गुण तो रूप, रस आदि भी हैं, किन्तु उनका घ्राण से प्रत्यक्ष नहीं होता। गन्ध केवल पृथिवी में ही होती है, जल-तेज आदि में नहीं। पाक से अर्थात् तेज के संयोग से पृथिवी में रूप, रस आदि के समान गन्ध का भी परिवर्तन होता है। कोई फल कच्ची अवस्था में जैसी गन्धवाला होता है पकने पर उसकी गन्ध उससे अन्य प्रकार की हो जाती है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है।

जहाँ दूरवर्त्ती किसी पुष्प आदि की गन्ध प्रत्यक्ष की जाती है वहाँ यह माना जाता है कि वायु के झकोरे से पुष्प आदि गन्धशील पार्थिव-द्रव्य के त्र्यणुक उड़कर घ्राण के पास आते हैं। घ्राण के साथ उस रेणु का संयोग होने पर उसमें घ्रात होने वाली गन्ध के साथ भी उसका सम्पर्क हो जाता है। अतः घ्राण से उस गन्ध का प्रत्यक्ष होता है।

गन्ध के प्रभेद

गन्ध दो प्रकार की होती है, सुगन्ध और दुर्गन्ध। वाञ्छनीय गन्ध का नाम सुगन्ध और अवाञ्छनीय गन्ध का नाम दुर्गन्ध है। गुलाब आदि में रहनेवाली स्पृहणीय गन्ध सुगन्ध कहलाती है और किसी सड़ी हुई वस्तु या मल-मूत्र आदि की गन्ध दुर्गन्ध होती है। गन्ध को भी उद्भूत, अनुद्भूत और अभिभूत भेद से विभक्त समझना चाहिए। तदनुसार उद्भूत सुगन्ध, अनुद्भूत सुगन्ध, अभिभूत सुगन्ध इत्यादि भेद से उसे छः प्रकार का समझना चाहिए। यद्यपि प्राच्य-पदार्थशास्त्रियों ने इसी प्रकार का विभाग बतलाया है, परन्तु "सु" और "कु" के सम्पर्क से जिस किसी का उत्कृष्ट-अपकृष्ट रूप में भेद किया जाता है, उसका एक मध्यवर्ती तृतीय भेद भी होता है। जैसे सुरूप और कुरूप के बीच साधारण रूप का भी एक भेद होता है। अतः गन्ध का तृतीय भेद भी मानना चाहिए, जैसे कच्चे "कटहल" आदि की गन्ध होती है। इसे भी उद्भूत, अनुद्भूत, अभिभूत तीन भेदों में विभक्त करने पर गन्ध नौ प्रकार की हो जायगी।

वस्तुतः गन्ध के सुगन्ध-दुर्गन्ध भेद से भी तात्त्विक विभाग करना कठिन है, क्योंकि जो एक प्राणी के लिए सुगन्ध होती है वही अपर के लिए दुर्गन्ध हो जाती है और जो उसके लिए दुर्गन्ध होती है वही इसके लिए सुगन्ध होती है। ऐसी परिस्थिति से इस विभाग को तात्त्विक नहीं कहा जा सकता। किन्तु सभी की दृष्टि में कोई गन्ध वाञ्छनीय और कोई अवाञ्छनीय होती है, इसी विचार से यहाँ सुगन्ध-दुर्गन्ध का विभाग किया गया है। यद्यपि वायु का नाम "गन्धवाह" है किन्तु तत्त्वतः उसमें गन्ध नहीं होती अपितु उससे उड़ायी गयी पार्थिव रेणुओं में सुगन्ध या दुर्गन्ध हुआ करती है, जिसका घ्राणज प्रत्यक्ष प्राणियों को होता है। फलतः गन्ध-गुणयुक्त पार्थिव द्रव्यों के सम्पर्क से ही वायु को "गन्धवाह" कहा जाता है। गन्ध नित्य-अनित्य रूप में विभक्त नहीं की जा सकती। क्योंकि पार्थिव परमाणुओं में भी पाक से उसका परिवर्तन होता है।

स्पर्श गुण

जिस गुण का प्रत्यक्ष केवल त्वक् इन्द्रिय से हो, वह है स्पर्श। त्वगिन्द्रिय से

स्पर्शत्व जाति का भी प्रत्यक्ष होता है, किन्तु वह गुण नहीं है। गुण तो रूप, रस आदि भी हैं किन्तु वे त्वक् इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने वाले नहीं हैं। संयोग, विभाग आदि गुण भी हैं और त्वगिन्द्रिय-ग्राह्य भी, किन्तु केवल त्वक् से उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है। क्योंकि जैसे त्वक् से उनका प्रत्यक्ष किया जाता है, उसी प्रकार चक्षु से भी किया जाता है। दो द्रव्यों में होने वाले संयोग को जैसे कोई अन्धा टटोलकर समझता है, आँखवाले उसे देखते भी हैं, अतः संयोग-विभाग आदि को केवल त्वक् से ग्राह्य नहीं कहा जा सकता। स्पर्श पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार द्रव्यों में रहता है। आकाश आदि में यह इसलिए नहीं माना जा सकता कि उनमें स्पर्श का किसी को अनुभव नहीं होता। यह स्पर्श पार्थिव, जलीय आदि परमाणु तक में रहता है, किन्तु उसका प्रत्यक्ष इसलिए नहीं होता कि परमाणु और द्व्यणुक में महत्त्व नहीं होता। गुण के प्रत्यक्ष के लिए आश्रयभूत द्रव्य में महत्त्व का होना अपेक्षित है। केवल स्पर्श के लिए ही ऐसी बात नहीं, रूप आदि के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। जो लोग वायु का "स्पार्शन" प्रत्यक्ष मानते हैं उनके मत में त्वगिन्द्रिय से होनेवाले द्रव्य-प्रत्यक्ष में उद्भूत स्पर्श कारण माना जाता है। अतः वायु में रूप के न होने पर भी स्पर्श होने के कारण उसका त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है।

स्पर्श के प्रभेद

स्पर्श को तीन भागों में विभक्त समझना चाहिए। जैसे उष्ण स्पर्श, शीत स्पर्श और अनुष्णाशीत स्पर्श। गरमी का नाम है उष्ण स्पर्श, और ठण्डक को कहते हैं शीतल स्पर्श अथवा शीत स्पर्श। अनुष्णाशीत वह स्पर्श है जिसे न तो गरम कहा सकता है और न ठण्डा। पृथिवी और वायु में अनुष्णाशीत स्पर्श रहता है। जल में शीतल और तेज में उष्ण। चन्द्रमा की किरणों में जो शीतल स्पर्श का भान होता है उसका कारण यह है कि वह मण्डल हिम-बहुल है, अतः जल के शीतल स्पर्श से चन्द्र के तेज का उष्ण स्पर्श अभिभूत हो जाता है। सुवर्ण में पार्थिव स्पर्श से तेज का स्पर्श अभिभूत हो जाने के कारण ही उष्ण स्पर्श का भान नहीं होता। जल में जो उष्ण-स्पर्श का भान होता है वह तेज के संयोग से ही होता है, यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है। वायु में जो ठण्डक अथवा गरमी मालूम होती है वह भी जल और तेज का सम्पर्क होने पर ही होती है। स्पर्श को पाकज और अपाकज दो भेदों में विभक्त किया जा सकता है। पाकज स्पर्श वह है जो अग्नि अथवा सूर्य आदि के संयोग से उत्पन्न होता है। अपाकज वह है जो उक्त प्रकार के तेज के संयोग के विना होता है। जैसे अग्नि में पकाने पर जो घड़े का स्पर्श होता है वह "पाकज" है और विना पकाये घड़े में जो स्पर्श होता है वह अपाकज है। कपड़े आदि में सर्वथा अपाकज

ही स्पर्श होता है। कठिन स्पर्श, कोमल स्पर्श और अकठिन-कोमल स्पर्श इन तीन भागों में भी यह विभक्त किया जा सकता है। कठिन और कोमल स्पर्श पृथिवीमात्र में होते हैं और तृतीय प्रकार का स्पर्श जल, तेज और वायु में। पत्थर आदि का स्पर्श कठिन और धुनी हुई रूई आदि का स्पर्श कोमल होता है।

कुछ लोग कठिनता और कोमलता को स्पर्श का धर्म अर्थात् स्वभाव न मानकर संयोगगत धर्म मानते हैं। अर्थात् उनका कहना है कि कठिन संयोग और कोमल-संयोग इस प्रकार के भेद संयोग के हुआ करते हैं, स्पर्श के नहीं। किन्तु यह बात उचित इसलिए प्रतीत नहीं होती कि संयोग यदि कठिन और कोमल हुआ करे तो छूने के विना भी केवल आँख से कठिनता और कोमलता का प्रत्यक्ष होना चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं। लोई या कम्बल में कितनी कोमलता है इसका परिचय लोग उसमें हाथ लगाकर ही करते हैं, दूर से नहीं। यदि वे संयोग के धर्म हों, तो उन्हें आँख से समझना चाहिए, क्योंकि संयोग आँख से देखा जाता है। स्पर्श को रूप रस आदि के समान नित्य और अनित्य दो प्रभेदों में भी विभक्त समझना चाहिए। जल, तेज और वायु के परमाणुओं में रहने वाले स्पर्श को नित्य, और समस्त पृथिवी तथा जन्य जल, तेज और वायु में उसे अनित्य समझना चाहिए।

संख्या गुण

"यह एक है, ये दो हैं, ये तीन हैं" इस प्रकार का जो ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोग होता है, वह जिस गुण के आधार पर होता है, उस गुण का नाम संख्या है। अर्थात् जिस गुण के आधार पर किसी द्रव्य को गिना जा सके, वह संख्या है। संख्या पृथिवी से लेकर मन तक सब में रहती है। यद्यपि "एक रूप", "दो रस" इस तरह का ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोग होता है, जिसके आधार पर मालूम होता है कि संख्या केवल द्रव्य में रहनेवाला गुण नहीं है, किन्तु वह द्रव्य से लेकर अभाव तक में रहनेवाली स्वतन्त्र वस्तु अर्थात् पदार्थ है। तथापि प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने उसे द्रव्यमात्र का गुण इसलिए माना है कि यदि उक्त ज्ञान या वाक्य-प्रयोग के आधार पर संख्या को आठवाँ पदार्थ माना जाय तो फिर पदार्थ-संख्या असीम माननी पड़ेगी। क्योंकि संख्या को आठवाँ पदार्थ तब कहा जायगा जब कि संख्या को भी सात से अधिक एक पदार्थ माना जाय। ऐसा मानने पर संख्या-स्वरूप आधार और उसमें रहनेवाली एकत्व नाम की संख्या को दो पदार्थ मानना होगा। क्योंकि आधार और आधेय एक नहीं हो सकते, फिर पदार्थ नौ हो जायेंगे। इस तरह संख्या बढ़ती जायगी। अनवस्था हो जायगी। अतः संख्या को अतिरिक्त पदार्थ न मानकर द्रव्यमात्र में रहनेवाला एक गुण मान लेना समीचीन है। रही बात यह कि गुण आदि पदार्थों में संख्या का व्यवहार कैसे होता

है ? इसका उत्तर यह है कि द्रव्य में ही अन्य गुण, क्रिया आदि पदार्थ भी रहते हैं और संख्या भी रहती है, अतः एक जगह दोनों के रहने के कारण संख्या का भान उन गुण आदि पदार्थों में हो जाया करता है। जैसे किसी फूल में एकत्व संख्या भी रहती है और उसी फूल में रूप, रस आदि गुण भी रहते हैं अतः पुष्पगत एकत्व का भान रूप, रस आदि में हो जाने के कारण "यह एक रूप है" "यह एक रस है" इत्यादि वाक्य-प्रयोग होने में कोई बाधा नहीं होती।

यहाँ एक प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि संख्या में भी रूप, रस आदि का ज्ञान एवं तदनुरूप वाक्य-प्रयोग क्यों नहीं होता ? अर्थात् "एक रूप, एक रस" इस प्रकार के वाक्य-प्रयोग के समान "एकत्व का रूप' एकत्व का रस" इस तरह का वाक्य-प्रयोग क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि "सामानाधिकरण्य" अर्थात् दोनों का एक में होना समान होने पर भी संख्या में रहने वाले रूप, रस आदि के "सामानाधिकरण्य" को प्रतीति-नियामक एवं प्रयोग-नियामक सम्बन्ध नहीं माना जायगा। क्योंकि कल्पना फल के अनुसार हुआ करती है, "एक रूप, एक रस," इस तरह के भान एवं वाक्य-प्रयोग रूप-रस में होते चले आ रहे हैं, किन्तु "संख्या का रूप, एकत्व का रस" इस प्रकार भान या वाक्य-प्रयोग नहीं होते हैं। अतः सम्बन्ध की कल्पना भी तदनुसार ही होगी।

यद्यपि "चौबीस गुण हैं", "पाँच कर्म हैं" इत्यादि ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोग में फिर भी कठिनाई है, क्योंकि नौ द्रव्यों में जो चौबीस गुण रहते हैं उन गुणों में यदि द्रव्य-गत संख्या को लेकर संख्या का भान या वाक्य-प्रयोग करें तो गुणों को भी नौ ही कहना चाहिए। क्योंकि द्रव्य तो नौ हैं, चौबीस नहीं। यदि यह कहा जाय कि अवान्तर प्रकार के अनुसार द्रव्य नौ से अधिक हो जायेंगे, तो फिर भी गुणों को चौबीस कहना कठिन होगा। क्योंकि फिर तो द्रव्य असंख्य होंगे और उनमें रहने-वाले गुणों में असंख्यता का ही भान एवं तदनुरूप वाक्य-प्रयोग उचित होगा। तथापि चौबीस गुण विभाजन का तात्पर्य यह है कि असंख्य द्रव्यों का रूप आदि गुणयुक्त होने के आधार पर वर्गीकरण करने पर उनकी संख्या चौबीस हो सकेगी और उस संख्या को लेकर गुणों को भी चौबीस कहा जा सकेगा, ऐसा अगत्या समझना चाहिए। कुछ लोगों का कहना है कि गुण आदि में जिस संख्या का भान या वाक्य-प्रयोग होता है वह तत्त्वतः गुणरूप संख्या नहीं है, किन्तु "अपेक्षाबुद्धिविषयता" अर्थात् "यह एक है, यह एक है" इस प्रकार होने वाली अपेक्षाबुद्धि नामक ज्ञान की विषयता है। परन्तु यह कहना इसलिए कठिन है कि गुण आदि में "यह एक है, यह एक है, इस प्रकार का ज्ञान ही पहले कैसे होगा ? यदि भ्रम मान कर उसमें विषयता

लायी जाय, तो सभी को भ्रान्त मानना होगा, क्योंकि ऐसा प्रयोग सभी करते हैं। फिर तो संख्या का ही भान एवं प्रयोग गौण रूप में क्यों न मान लिया जाय, व्यर्थ उक्त विषयतास्वरूप संख्या मानने का प्रयोजन क्या है ? तब तो उसके बारे में भी प्रश्न उठेगा कि वह क्या वस्तु है। कुछ लोग "स्वरूप" नामक खास सम्बन्ध से संख्या का अस्तित्व सभी पदार्थों में मानते हैं और उसी के आधार पर उक्त प्रयोग का सम्पादन करते हैं।

संख्या के प्रभेद

यों तो संख्या में संख्या न होने के कारण संख्या का प्रभेद नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रभेद संख्या के आधार पर ही कहा जा सकता है। तथापि उक्त रीति से गौण भावों से संख्या में संख्या रह सकती है। अतः प्रभेद भी कथञ्चित् कहा जा सकता है। एकत्व, द्वित्व से लेकर परार्ध पर्यन्त संख्या होती है, फलतः संख्या को भी परार्धसंख्यक समझना चाहिए। कुछ लोगों का कहना है कि एक को ही द्विगुणित करने पर दो होते हैं और इस प्रकार दशगुणित करने पर दशत्व हो जाता है। दशत्व में वैलक्षण्य स्फुट हो आता है अतः दशत्व स्वतन्त्र संख्या है। इसी प्रकार दश को दशगुणित कर देने पर "शतत्व" नाम की स्वतन्त्र संख्या होती है। बीच की संख्याएँ स्वतन्त्र नहीं हैं, अतः एकत्व, दशत्व, शतत्व, सहस्रत्व, अयुतत्व, लक्षत्व, नियुतत्व, कोटित्व, अर्बुदत्व, वृन्दत्व, खर्वत्व, निखर्वत्व, शंखत्व, पद्मत्व, सागरत्व, अन्त्यत्व, मध्यत्व और परार्धत्व इस तरह संख्या के अठारह प्रभेद समझने चाहिए। परन्तु ये भेद इसलिए संगत नहीं मालूम होते कि जब "ये दो हैं, ये तीन हैं" इस प्रकार द्वित्व-त्रित्व आदि विषयक ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोग उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार "ये दश हैं" यह ज्ञान या वाक्य-प्रयोग होता है, फिर क्या कारण बतलाया जा सकता है कि दशत्व तो स्वतन्त्र संख्या है और द्वित्व आदि स्वतन्त्र संख्या नहीं ?

कुछ लोगों का कहना है कि संख्या केवल नौ हैं, यही कारण है कि "अंक" शब्द से नौ संख्या का बोध हुआ करता है। किन्तु यह भी उचित इसलिए नहीं है कि दस, ग्यारह आदि कहने से तुरत तत्संख्यक द्रव्य को श्रोता समझा जाता है। नौ और एक, नौ और दो, इस प्रकार का ज्ञान, कोई समझदार इससे नहीं करता। कुछ लोगों का कहना है कि संख्या का कोई भेद नहीं है, वह केवल एकत्व रूप है। द्वित्व का अर्थ होता है दो एकत्व; इसी प्रकार त्रित्व, चतुष्ट्व आदि परार्धत्व पर्यन्त समझना चाहिए। किन्तु यह इसलिए संगत नहीं कि "ये दो हैं" ऐसा कहने से दोनों ही द्रव्यों में एक दण्डायमान द्वित्व प्रतीत होता है। यदि दो एकत्व ही द्वित्व हो तो वह अलग-अलग एक में ही प्रतीत हो सकेगा, मिलित में नहीं, अतः दोनों आश्रयों

में अनुगत होकर रहने वाला द्वित्व मानना चाहिए। इसी प्रकार त्रित्व, चतुष्ट्व आदि के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

हाँ, एक बात जरूर है कि जब तक द्रष्टा को दोनों आश्रयों में प्रत्येक के लिए "यह एक है" और "यह एक है", इस प्रकार एकत्व का "अपेक्षाबुद्धि" नामक ज्ञान नहीं हो लेता, तब तक उन दो आश्रयों में द्वित्व संख्या की उत्पत्ति नहीं होती। इसी प्रकार त्रित्व आदि स्थलों में भी होता है। यह इसलिए कि और व्यक्ति की तो बात क्या? जो पहले उक्त अपेक्षाबुद्धि के सहारे दो वस्तुओं को "ये दो हैं" इस प्रकार देखे रहता है, वह भी तब तक उन्हें दो नहीं समझता है जब तक दोनों को एक-एक करके फिर देख नहीं लेता, अतः अपेक्षाबुद्धि, द्वित्व आदि संख्याओं की उत्पत्ति में कारण है और उसके नष्ट होने पर द्वित्व आदि का भी नाश हो जाता है। यदि फिर उनमें द्वित्व की उत्पत्ति करके "ये दो हैं" इस प्रकार समझना हो तो अपेक्षाबुद्धि करनी चाहिए, तब द्वित्व उत्पन्न होगा। यही प्रक्रिया त्रित्व, चतुष्ट्व से लेकर परार्धत्व पर्यन्त के लिए समझनी चाहिए। कुछ लोगों का कहना है कि पर-पर संख्या की उत्पत्ति में पूर्व-पूर्व संख्या भी कारण है। जैसे त्रित्व की उत्पत्ति तब होगी जबकि पहले द्वित्व की उत्पत्ति हो लेगी। इसी प्रकार आगे-आगे भी होता है। इसका अभिप्राय यह है कि "दो एक तीन" और "तीन एक चार" इस प्रकार परवर्ती संख्याओं का ज्ञान होता है अतः अव्यवहितपूर्ववर्त्ती संख्या को भी परवर्ती संख्या की उत्पत्ति का कारण मानना चाहिए, परन्तु ऐसा होने पर अपेक्षा-बुद्धि के आकार में सब जगह भेद मानना पड़ेगा। जैसे द्वित्व की उत्पत्ति के लिए "यह एक है और यह एक है" इस प्रकार और त्रित्व के उत्पत्तिस्थल में "ये दो हैं और यह एक है" इस प्रकार विलक्षण-विलक्षण आकार के ज्ञान को कारण और उसके नाश से द्वित्व आदि का नाश मानना होगा। अपेक्षाबुद्धि की अनुगत व्याख्या कठिन हो जायगी, फिर उसे कैसे कारण माना जा सकेगा?

कुछ लोग उक्त संख्याओं से अतिरिक्त बहुत्व नाम की संख्या मानते हैं। उनका कहना है कि जहाँ कोई भी वस्तु अधिक संख्या में एकत्र होती है वहाँ "ये बहुत हैं" इस प्रकार बहुत्व नामक संख्या को विषय करने वाली प्रतीति होती है, एवं तदनु-रूप वाक्य-प्रयोग भी होता है। अतः मानना होगा कि बहुत्व नाम की कोई संख्या अतिरिक्त है। अतिरिक्त इसलिए कि वैसे स्थल में शतत्व, सहस्रत्व आदि की प्रतीति न होने पर भी बहुत्व की प्रतीति होती है। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि बहुत्व संख्या तो है किन्तु अतिरिक्त नहीं। अर्थात् त्रित्व से लेकर परार्धत्व पर्यन्त संख्याएँ सभी बहुत्व रूप हैं। इसीलिए संस्कृत-वैयाकरण एकवचन, द्विवचन और बहुवचन तीन

ही वचन मानते हैं। अर्थात् तीन से लेकर जितनी भी ज्ञातव्य किंवा वक्तव्य वस्तुएँ हों, उन्हें "बहुत" इस प्रकार समझते एवं बोलते हैं। इस सम्बन्ध में प्रबल युक्ति यह है कि बहुतों में भी अपेक्षाकृत उत्कर्षापकर्ष बतलाने के लिए "बहु", "बहुतम" इस प्रकार के प्रयोग पाये जाते हैं। स्वतन्त्र संख्याओं में यह बात नहीं होती। कभी कोई त्रि, त्रितर, त्रितम, ऐसा प्रयोग नहीं करता है। उसी प्रकार यदि बहुत्व भी स्वतन्त्र संख्या होती तो "तर" और "तम" लगाकर बहुत्व उत्कर्षापकर्ष नहीं बतलाया जा सकता। किन्तु संस्कृत में ही नहीं हिन्दी में भी बहुत और "बहुतेरे" इस प्रकार तारतम्यबोधक प्रयोग होते हैं। अतः मानना होगा कि बहुत्व कोई स्वतन्त्र संख्या नहीं है, किन्तु त्रित्व से लेकर परार्द्धत्व पर्यन्त संख्या रूप ही वह है। अतः एक सौ को यदि बहुत कहेंगे तो उससे अधिक को बहुतर कह सकेंगे।

कुछ लोग केवल एकत्व मात्र ही संख्या मानते हैं। उनका कहना है कि दो एकत्व का नाम द्वित्व और तीन एकत्व का नाम त्रित्व होता है। इसी प्रकार आगे भी है। परन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि एक-एक समझने के अनन्तर जब कि "ये दो हैं" इस प्रकार स्वतन्त्रबुद्धि होती है और वैसा व्यवहार होता है, फिर उस द्वित्व को कैसे स्वतन्त्र संख्या न मानेंगे? दूसरी बात यह भी है कि द्वित्व आदि यदि स्वतन्त्र संख्याएँ नहीं, तो "दो एकत्व" ही कैसे कहा जा सकेगा? गौण प्रयोग कभी मुख्य प्रयोग के विना नहीं हो सकता। यह पहले भी बतलाया गया है।

परिमाण गुण

"यह इतना है", "यह इतना बड़ा है", "यह इतना छोटा है" इस प्रकार का ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोग जिस गुण के आधार पर हो उस का नाम परिमाण है। सार यह है कि इयत्ता अर्थात् "इतनापन" का ही नाम है परिमाण। "पाँच हाथ के कपड़े, दस हाथ के कपड़े" इत्यादि ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोग-स्थल में "पाँच हाथ, दस हाथ" इसके द्वारा परिमाण समझा जाता है। यह परिमाण पृथिवी से लेकर मन पर्यन्त नौ द्रव्यों में रहता है। क्योंकि कोई-न-कोई परिमाण सब द्रव्यों में पाया जाता है। परिमाण में यह विशेषता है कि इसका नाश तब तक नहीं होता जब तक आश्रय-द्रव्य नष्ट नहीं हो जाता है। जैसे घड़ा जब तक रहेगा तब तक उसका परिमाण भी उसमें बना ही रहेगा, बदलेगा नहीं। यदि घड़े से कुछ रेणुओं को अलग कर दिया जाय तो मानना होगा कि वह घड़ा अब नहीं रह गया जो कि पहले था। अतः उसका परिमाण बदलने पर भी उक्त नियम में कोई बाधा नहीं। यदि यह कहा जाय कि जहाँ पहले एक मंजिल का घर था, कुछ रोज बाद दूसरी मंजिल का निर्माण हुआ, वहाँ पूर्व घर के रहते हुए ही परिमाण कैसे बदल जाता है? वह घर बड़ा

और ऊँचा कैसे हो जाता है ? इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि अब यह वह मकान नहीं है जिसका परिमाण बढ़ गया है, यह तो उससे दूसरा हो गया है इस लिए परिमाण बदलना भी स्वाभाविक है । वह पहला घर इस बड़े घर का एक अवयव बन गया, जिसमें अन्य ईंटें आदि अवयवों को जोड़ कर यह अन्य अवयवी निर्मित हुआ है । इसके परिमाण को उसका परिमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह परिमाण उस परिमाण का कार्य होता है । कार्य और कारण को एक नहीं कहा जा सकता ।

यदि कहें कि जहाँ छोटे पट में और तन्तु जोड़ कर पूर्वापेक्षया बड़ा पट बनता है वहाँ तो पूर्ववर्ती छोटे पट के रहते हुए ही पट का परिमाण बदल जाता है; वह बड़ा हो जाता है । फिर कैसे यह माना जाय कि पूर्वद्रव्य का नाश और द्रव्यान्तर के उत्पन्न हुए विना परिमाण नहीं बदलता है ? इस प्रश्न का उत्तर है कि अधिक तन्तु जोड़कर पट-निर्माण करने के समय, तन्तुओं को बैठाने के लिए "वेमा" से आघात किया ही जायगा, उससे पूर्ववर्ती पट के अवयवभूत तन्तुओं में क्रिया अवश्य होगी, फिर तो विभाग और पूर्वसंयोग का नाश उन तन्तुओं में मानना ही पड़ेगा । जब कि संयोग का नाश होगा तो उस असमवायिकारण के नाश से पूर्वपट का नाश मानना पड़ेगा । अतः वहाँ भी पूर्वपट का नाश और पटान्तर का उत्पादन होकर ही उस परवर्त्ती पट में पूर्वपट के परिमाण से अन्य परिमाण होता है, ऐसा मानना चाहिए । किन्तु यह उत्तर सब जगह लागू नहीं हो सकेगा, जैसे, पहले दिये हुए मकान रूप दृष्टान्त-स्थल में ; क्योंकि वहाँ पूर्ववर्त्ती-मकान के अवयवों में क्रिया की उत्पत्ति न होते हुए भी आगन्तुक अवयव के साथ "नोदन" नामक संयोग होकर बड़े मकान बन सकते हैं । इसमें अभिघात की अपेक्षा नहीं होगी, अतः एतादृश परिस्थिति में पूर्वोक्त समाधान ही अवलम्बनीय होगा ।

परिमाण के प्रभेद

परिमाण के चार प्रभेद हैं । यथा (१) अणुत्व, (२) दीर्घत्व, (३) महत्त्व और (४) ह्रस्वत्व । इनमें अणुत्व और महत्त्व एवं ह्रस्वत्व और दीर्घत्व परस्पर विरोधी होते हैं । अणुत्व के दो भेद हैं, परमाणुत्व और मध्यमाणुत्व । परमाणुत्व उस द्रव्य में माना जाता है जो कि निरवयव होने के कारण सर्वथा अविभाज्य होता है । जिसकी निरवयवता और नित्यता आदि का विचार द्रव्य-ग्रन्थ में पृथ्वी के विचार-स्थल पर हो चुका है । मध्यमाणुत्व दो परमाणुओं के संयोग से बने हुए द्रव्यों में होता है । त्र्यणुक, चतुरणुक आदि में अणुत्व तत्त्वतः नहीं रहता है । वहाँ पञ्चाणुक की अपेक्षा से चतुरणुक को और चतुरणुक की अपेक्षा से त्र्यणुक को जो अणु कहा

जाता है, सो औपचारिक रूप में अपकृष्ट-महत्त्व को ही अणुत्व कह दिया जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। महत्त्व भी दो प्रकार का है। परम-महत्त्व और मध्यम-महत्त्व। परममहत्त्व आकाश, काल, दिक् और आत्मा में रहा करता है। मध्यम-महत्त्व अर्थात् अपकृष्ट महत्त्व महापृथिवी आदि से लेकर त्र्यणुक तक में रहता है।

ह्रस्वत्व भी उत्कृष्ट और अपकृष्ट भेद से दो प्रकार का है। उत्कृष्ट ह्रस्वत्व वहीं रहता है जहाँ परमाणुत्व रहता है, अर्थात् उत्कृष्ट ह्रस्व भी परमाणु ही हुआ करता है। अपकृष्ट ह्रस्वत्व द्व्यणुक में रहता है, जहाँ अपकृष्ट अणुत्व रहता है। दीर्घत्व भी उत्कृष्ट और अपकृष्ट भेद से दो प्रकार का है। उत्कृष्ट परम-महत्त्व के साथ रहता है और अपकृष्ट अपकृष्ट-महत्त्व के साथ। कुछ लोगों का कहना है कि जब ह्रस्वत्व और अणुत्व समान अधिकरण में ही रहते हैं एवं दीर्घत्व और महत्त्व भी समान अधिकरण में रहते हैं, तब चार परिमाण मानने का प्रयोजन क्या है ? दो ही परिमाण मानने चाहिये, जैसे कि अणुत्व और महत्त्व, अथवा दीर्घत्व और ह्रस्वत्व। परन्तु यह इसलिए माननीय नहीं कि महत्त्व प्रत्यक्ष के प्रति कारण है। किन्तु दीर्घत्व प्रत्यक्ष के प्रति कारण नहीं, क्योंकि अतिदीर्घ होने पर भी कुछ दूर से "लूतातन्तु" (मकड़ी का सूत्र) नहीं देखा जा सकता है। किन्तु तादृश महत्त्व न होने पर भी एक मटर आदि देखा जा सकता है। अतः समानाधिकरण होने पर भी महत्त्व और दीर्घत्व में कुछ विलक्षणता है, ऐसा मानना होगा। महत्त्व और दीर्घत्व में यह अन्तर होने पर भी अणुत्व और ह्रस्वत्व को अलग परिमाण क्यों माना जाय ? तीन ही परिमाण मानने चाहिये, यह कथन भी इसलिए उचित नहीं प्रतीत होता कि महत्त्व मानने पर जैसे उसका विपरीत अणुत्व माना जाता है, उसी प्रकार जब दीर्घत्व स्वतन्त्र परिमाण होगा तो उसके विपरीत ह्रस्वत्व भी मानना ही होगा। परिमाण की उत्पत्ति संख्या, परिमाण तथा प्रचय इन विभिन्न कारणों से विभिन्न स्थानों में होती है। त्र्यणुकगत अणुत्व परमाणुगत द्वित्वसंख्या से और द्व्यणुकगत महत्त्व द्व्यणुकगत त्रित्व संख्या से उत्पन्न होता है। कपाल के परिमाण से घट में परिमाण उत्पन्न होता है। रूई को धुनने पर जो उसमें महत्त्व उत्पन्न होता है, वह प्रचयजन्य है।

त्र्यणुकगत महत्त्व को द्व्यणुक परिमाण से जन्य मानने पर वह महत्त्व न होकर "अणुतरत्व" हो जायगा। अर्थात् त्र्यणुक महान् न होकर "अणुतर" हो जायगा। क्योंकि परिमाणजन्य परिमाण का कारण सजातीय हुआ करता है। कपाल दीर्घ होते हैं, तो घट दीर्घतर होता है। फलतः द्व्यणुक जब कि अणु है तो त्र्यणुक अणुतर

हो जायगा। महत्त्व, अणुत्व सजातीय उत्कृष्ट परिमाण नहीं हैं । यदि त्र्यणुक महान् नहीं होगा तो उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा । अतः मानना पड़ता है कि त्र्यणुक का परिमाण परिमाणजन्य नहीं है किन्तु संख्याजन्य है, अर्थात् यतः तीन द्व्यणुकों से त्र्यणुक बनता है । अतः वह महान् होता है । द्व्यणुकगत त्रित्वसंख्या त्र्यणुकगत महत्त्व को पैदा करती है । घट, पट आदि के परिमाणों में यह बात नहीं है । वहाँ कपाल, तन्तु आदि के परिमाणों के अनुरूप घट आदि में परिमाण उत्पन्न होता है, यह सर्वप्रत्यक्ष सिद्ध है। "शिथिल" संयोग का अपर नाम है, "प्रचय", धुनी हुई रूई में उससे परिमाण की उत्पत्ति प्रत्यक्ष-सिद्ध है । पहले उस तूल-पिण्ड की इयत्ता जितनी होती है उससे अतिविलक्षण इयत्ता धुनने पर दृष्टिगोचर होती है, अतः वहाँ पर प्रचय को परिमाण का उत्पादक मानना आवश्यक है ।

पृथक्त्व

"घट, पट से पृथक् है," "मनुष्य मकान से पृथक् है" इस प्रकार का ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोग जिस गुण के आधार पर होते हैं उसी का नाम पृथक्त्व है । कुछ लोगों का कहना है कि पृथक्त्व कोई स्वतन्त्र गुण नहीं है, वह विभाग ही है । किन्तु यह इसलिए संगत नहीं कहा जा सकता कि विभाग नियमतः संयोगपूर्वक हुआ करता है, किन्तु पृथक्त्व में यह बात नहीं है, वह उन दो पदार्थों में भी रह सकता है जो कभी संयुक्त नहीं हुए हैं । जैसे, सूर्य से चन्द्रमा को एवं चन्द्रमा से सूर्य को पृथक् कहा जा सकता है, किन्तु विभक्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये दोनों कभी संयुक्त नहीं थे, जो कि आज विभक्त होंगे या "विभक्त" कहे जायेंगे । अतः पृथक्त्व को संयोगाभाव भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि संयोगाभाव का अर्थ यदि संयोग का ध्वंस हो तो वही दोष रह जायगा जो कि पृथक्त्व को विभाग रूप मानने में दिया गया है । विभाग के समान संयोग का ध्वंस भी विना संयोग के नहीं हो सकता । यदि संयोगात्यन्ताभाव रूप उसे माना जाय तो "घट का रूप घट से पृथक् है" यह भी ज्ञान एवं एतादृश वाक्य-प्रयोग होने लगेगा, जो उचित नहीं । संयोग अवयवा-वयविभाव रहित अनेक द्रव्यों में ही हो सकता है । रूप और घट का संयोग नहीं हो सकता , सुतरां संयोगाभाव रह जायगा । कुछ लोगों का मत है कि पृथक्त्व को भेद-स्वरूप अर्थात् अन्योन्याभावरूप मान लेना चाहिए, अलग गुणस्वरूप नहीं । परन्तु यह इसलिए उचित नहीं कहा जा सकता कि "घड़े का रूप घड़ा नहीं है किन्तु उससे अन्य है" ऐसा ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोग होता है, किन्तु "घड़े का रूप घड़े से पृथक् है" ऐसा ज्ञान किंवा वाक्य-प्रयोग नहीं होता । दोनों को एक मानने पर दोनों ज्ञान एवं दोनों ही प्रकार के वाक्य-प्रयोग अनिवार्य हो जायेंगे । अतः पृथक्त्व एक स्वतन्त्र

गुण है, यह मानना ही होगा ।

पृथक्त्व के प्रभेद

पृथक्त्व के भी उतने ही प्रकार होते हैं, जितने संख्या के प्रकार होते हैं । अर्थात् जैसे एकत्व से लेकर परार्द्धपर्यन्त संख्या के प्रभेद होते हैं, उसी प्रकार एक पृथक्त्व से लेकर परार्द्ध पृथक्त्व तक पृथक्त्व के प्रभेद होते हैं । एकत्व जिस प्रकार नित्य और अनित्य दो तरह का है, उसी प्रकार एक पृथक्त्व भी आकाश आदि नित्यगत होने से नित्य, और घट आदि अनित्यगत होने पर अनित्य होता है । द्विपृथक्त्व, त्रिपृथक्त्व आदि द्वित्व, त्रित्व आदि के समान अनित्य होते हैं । दो पदार्थों में जो अन्य की अपेक्षा पृथक्त्व रहता है उसका नाम है द्विपृथक्त्व और तीन में रहने वाले पृथक्त्व का नाम होता है त्रिपृथक्त्व । इसी प्रकार परार्द्धपर्यन्त समझना चाहिए । यदि कहा जाय कि एक पृथक्त्व माना जाय, वही जब द्वित्व का समानाधिकरण हो जायगा तो उसका नाम द्विपृथक्त्व हो जायगा । इसी तरह त्रिपृथक्त्व आदि स्थल में भी समझना चाहिए । परन्तु यह इसलिए नहीं हो सकता कि एक पृथक्त्व द्वित्व आदि का समानाधिकरण हो नहीं सकता । क्योंकि द्वित्व दो में ही रहेगा और एक पृथक्त्व दो के अन्दर एक-एक में रहेगा । यदि यह कहा जाय कि पृथक्त्व का भेद मानना ही नहीं चाहिए, वह अखण्ड है । वह जब एक में प्रतीत होगा तो एक-पृथक्त्व रूप से और दो में प्रतीत होगा तो द्विपृथक्त्व रूप से । तो फिर इसे संयोग, विभाग आदि के समान अभिनवोत्पन्न मानना होगा । अर्थात् यह नित्य द्रव्यों में भी अवस्थित नहीं माना जा सकेगा । परन्तु यह अनुभव विरुद्ध है कि परमाणु रहे किन्तु उसमें एक पृथक्त्व नहीं रहे । अतः संख्या के समान एक पृथक्त्व, द्विपृथक्त्व आदि प्रभेद स्वीकरणीय ही होगा ।

संयोग गुण

जन्य द्रव्य के प्रति फलाऽयोगरहित कारण का नाम संयोग है । तन्तुओं के संयोग से पट, कपालों के संयोग से घट बनता है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है । तन्तु-संयोग होने पर पट की उत्पत्ति को कोई रोक नहीं सकता । कपालों का संयोग होने पर घटोत्पत्ति को कोई रोक नहीं सकता, अतः संयोग तत्तत् द्रव्य के प्रति फलाऽयोगरहित कारण होता है । अर्थात् अवयवों का संयोग होने के अनन्तर कार्य का अयोग नहीं हो सकता । अतः संयोग फलायोग रहित कारण होता है । यद्यपि ऐसे भी बहुतेरे संयोग हैं जिनसे द्रव्योत्पत्ति नहीं होती फिर भी उन संयोगों के साथ "एकजातीयता" उनमें भी है जो द्रव्योत्पादक होते हैं । अथवा "ये दोनों संयुक्त हैं" इस प्रकार का ज्ञान

एवं वाक्य-प्रयोग जिस गुण के सहारे हो वही संयोग है। संयोग गुण यदि न होता तो संसार की रचना ही नहीं हो पाती। क्योंकि जब तक दो परमाणुओं में परस्पर संयोग न होता तब तक द्वचणुक ही बन न पाता, फिर त्र्यणुक, चतुरणुक आदि क्रम से महापृथिवी, जल आदि की सृष्टि कैसे हो पाती? पुरातन काल से लेकर आधुनिक काल तक नव-नव द्रव्यों के जितने भी आविष्कार हो रहे हैं सभी को संयोगसापेक्ष मानना पड़ेगा। अतः संयोग एक अति महत्त्वपूर्ण गुण है। संयोग गुण अव्याप्यवृत्ति होता है। अर्थात् जिस अधिकरण में संयोग रहता है उस अधिकरण में भी उसका अभाव रहता है। जैसे वृक्ष में शाखा-देश को लेकर कपिसंयोग रहता है, और मूल-देश को लेकर उसमें कपिसंयोग का अभाव रहता है। अभिप्राय यह कि संयोग कभी पूरे आश्रय को व्याप्त नहीं कर पाता है। कुछ लोग संयोग को व्याप्य-वृत्ति मानते हैं। उनका कहना है कि संयोग अवयवगत ही होता है, अवयवविगत नहीं, अतः वह अव्याप्यवृत्ति क्यों होगा?

संयोग के प्रभेद

संयोग को प्रथमतः तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) एक-कर्मज, (२) उभयकर्मज एवं (३) संयोगज। मकान पर यदि कोई पक्षी आ बैठे तो वहाँ उन दोनों का संयोग एक कर्मज होगा। क्योंकि मकान में कोई चलन नहीं, केवल पक्षी में चलन होता है, जिससे पक्षी और मकान दोनों में संयोग गुण उत्पन्न हो जाता है। उभयकर्मज संयोग वहाँ होता है जहाँ संयुक्त होनेवाले दोनों द्रव्यों में क्रिया हुई हो। जैसे दो पक्षी उड़कर यदि परस्पर संयुक्त हों, तो उन दोनों का संयोग उभयकर्मज होगा। क्योंकि कर्म दोनों पक्षियों में हुआ है। संयोगज-संयोग वहाँ होता है जहाँ किसी अवयवी के एक अवयव के साथ किसी द्रव्य का संयोग होता है, फिर उस अवयवी के साथ उस द्रव्य का संयोग होता है। जैसे हाथ से पुस्तक का संयोग होने पर शरीर में जो पुस्तक का संयोग होता है वह होता है संयोगज संयोग। इसे संयोगज इसलिए माना जाता है कि क्रिया तो हाथ में होती है और संयोग शरीर रूप पूरे अवयवी में, अतः क्रिया के साथ एकाधिकरणता नहीं बनती। और अन्य अधिकरण में होनेवाली क्रिया से यदि अन्य आश्रय में संयोग की उत्पत्ति मानी जाय तो कोई व्यवस्था नहीं रहेगी। फिर तो किसी एक वस्तु में क्रिया होने पर अन्य सारे द्रव्य संयुक्त हो जाया करेंगे। अतः मानना होगा कि शरीर-पुस्तक-संयोग कर्मज नहीं है, हस्त-पुस्तक-संयोग से उत्पन्न होने के कारण संयोगज है।

संयोगज संयोग भी दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, जैसे "कारणाकारण-संयोगज" और "कारणकारण-संयोगज"। कारणाकारण-संयोगज संयोग वहाँ होता है

जहाँ एक निरवयव पदार्थ का किसी सावयव पदार्थ से संयोग होता है। जैसे—एक परमाणु किसी द्व्यणुक के अवयवभूत अन्य परमाणु से आकर जुट जाय तो उस परमाणु के साथ होनेवाला द्व्यणुक संयोग कारणाकारणसंयोगज संयोग होगा। क्योंकि स्वतन्त्र परमाणु है अकारण और द्व्यणुकावयव परमाणु है द्व्यणुक का कारण। दो अवयवियों के अवयवों में परस्पर संयोग होने पर दोनों अवयवियों का जो संयोग होता है वह "कारणकारणसंयोगज" संयोग है। क्योंकि प्राथमिक संयोग जिन दोनों में होता है, वे परवर्त्ती संयोग के आधारभूत दोनों अवयवियों के कारणीभूत अवयव होते हैं। यद्यपि संयोगज संयोग का इस प्रकार विभाजन प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने नहीं किया है, किन्तु यह विभाजन उचित प्रतीत होता है। एक नयी बात यहाँ ध्यान देने योग्य यह है कि अधिकतर स्थलों में संयोगज संयोग को संयोग-परम्परा जन्य मानना होगा। जैसे किसी वृक्ष की शाखा के अवयवावयव के अन्तर्गत किसी भाग में यदि कोई पक्षी बैठा है तो यह नहीं कहा जा सकता कि उस पक्षी का वृक्ष से संयोग नहीं है। किन्तु यह भी कहना कठिन है कि वृक्ष में असंयोगज संयोग है, क्योंकि एक देश के साथ संयोग होने के कारण ही पूरे वृक्ष के साथ संयोग माना जाता है। परन्तु संयोगज संयोग मानना भी इसलिए कठिन है कि अवयवों के उपचय या अपचय से जब आपरमाण्वन्त भंग होने पर नवीन वृक्ष की उत्पत्ति होती है, तब उस पक्षिसंयोग के आश्रयभूत भाग को वृक्ष का अवयव नहीं माना जा सकता, किन्तु उसकी अवयव-धारा के अन्तर्गत किसी अवयव का अवयव मानना होगा। अवयवसंयोग से जो अवयवी का संयोग होता है उसका नाम है संयोगज संयोग। जब कि वह भाग जिसमें पक्षी का संयोग होता है, वृक्ष का अवयव ही नहीं हो सका, फिर वृक्ष के साथ होनेवाले पक्षिसंयोग को कैसे संयोगज संयोग कहा जा सकता है? अतः कहना होगा कि एतादृश स्थल में संयोग का एक प्रवाह चल पड़ता है, जिसका विश्राम पक्षि-वृक्ष-संयोग में आकर होता है। ऐसा मानने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं देख पड़ता।

पाक भी संयोग ही है जिसके सहारे रूप, रस आदि का परिवर्त्तन द्रव्यों में हुआ करता है। क्योंकि रूप, रस आदि के परावर्त्तक तेजःसंयोग का ही दूसरा नाम पाक है। इसके सम्बन्ध में प्राच्य पदार्थशास्त्रियों का बड़ा ही गहरा मतभेद पाया जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि यह रूपादि का परावर्त्तक तेजःसंयोग परमाणुओं में ही हुआ करता है, घट आदि अन्त्यावयवी द्रव्यों में नहीं। जैसे घट आदि किसी पाच्य द्रव्य को जब प्रबल अग्नि के अन्दर रखते हैं तो प्रथमतः उस घड़े के साथ अग्नि का "रूपा-परावर्त्तक" संयोग ही होता है। अनन्तर उस वेगवान् अग्नि के साथ परमाणु का भी संयोग होने के कारण परमाणु में क्रिया उत्पन्न हो जाती है। फिर परमाणुओं में परस्पर

विभाग होने पर पूर्ववर्त्ती परमाणुद्वय-संयोग का नाश होता है, जिससे कच्चे द्वयणुक का नाश हो जाता है। द्वयणुक नष्ट होने पर त्र्यणुक का और त्र्यणुक नष्ट होने पर चतुरणुक का, एवं क्रमेण पूरे अपक्व घट तक का नाश हो जाने पर पूरे परमाणु विशृंखल, स्वतन्त्र हो जाते हैं। तब जो उसमें अग्नि-संयोग होता है, वह रूप, रस आदि का परावर्त्तक होता है, अतः वही 'पाक' शब्द का अर्थ है। फिर परमाणुओं में रूप, रस आदि की परावृत्ति हो जाने पर नूतन रूप-रस-सम्पन्न अतएव पक्व परमाणुद्वय से पक्व द्वयणुक की सृष्टि होती है, और फिर त्र्यणुक आदि के उत्पादन क्रम से पक्व घट की उत्पत्ति होती है। केवल घट का ही नहीं, जहाँ भी कहीं जिस किसी भी तेज के संयोग से किसी द्रव्य में रूप, रस आदि की परावृत्ति प्रतीत होती है वहाँ सर्वत्र इसी प्रकार समझना चाहिए। जैसे सूर्य-किरण के सम्पर्क से यदि पेड़ में आम पकेगा तो वहाँ भी ऐसी ही प्रक्रिया समझनी होगी।

कुछ लोगों का कहना है कि सर्वत्र पाकस्थल में परमाणु पर्यन्त घट-भंग नहीं होता। क्योंकि नियमतः ऐसा होने से "यह वही घट है" इस प्रकार जो प्रत्यभिज्ञा होती है वह न हो सकेगी। अतः जहाँ प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है और आकृति भिन्न हो जाती है, वहाँ अवयवी का नाश मानने पर भी प्रत्यभिज्ञा स्थल में इस प्रकार पाक की प्रक्रिया माननी चाहिए कि, प्रत्येक सावयव द्रव्य सच्छिद्र हुआ करता है; वेगवान् तेज का संयोग उस छिद्र-द्वार से भीतर तक हो जाता है, अतः पूरा अवयवी यथापूर्व अवस्थित होता हुआ भी पक जाता है, उसमें रूप, रस आदि की परावृत्ति हो जाती है। यदि ऐसा न हो तो जहाँ कच्चे घड़े में कोई नाम या चित्र खोद देते हैं वहाँ पकने के बाद वह चित्र या नाम उपलब्ध नहीं होना चाहिए, मिट जाना चाहिए। क्योंकि पूर्वोक्त मतानुसार परमाणुपर्यन्त भंग के अनन्तर तो नूतन ही घट उत्पन्न होता है, उसमें नाम कैसे आ जाता है। परन्तु परमाण्वन्त-भंगवादी इसके उत्तर में कहते हैं कि पाकातिरिक्त स्थल में, जहाँ कि पूर्व घड़े में नाम आदि अंकित था और उस घड़े से सुई आदि के द्वारा कुछ रेणुओं को अलग कर दिया गया, तादृश स्थल में यह सभी को मानना पड़ेगा कि पूर्व-घट का नाश होकर नूतन खण्डघट की सृष्टि हुई है। फिर वहाँ क्यों नहीं यह प्रश्न उठ खड़ा होता कि वह खुदा हुआ नाम कैसे अक्षुण्ण रह जाता है। अतः उभयस्थल में अद्भुत कारण-शक्ति के सहारे समान रूप से उक्त शंका का निराकरण करना होगा। पाक वस्तुतः संयोग नहीं किन्तु क्रिया है यह बात आगे क्रिया-विवेचन-स्थल में बतलायी जायेगी।

विभाग गुण

जिस गुण से संयोग का नाश हो, वह विभाग है। प्रथम क्षण में द्रव्य में क्रिया उत्पन्न

होती है। द्वितीय क्षण में विभाग उत्पन्न होता है। उसके पर-क्षण में पूर्व संयोग का नाश होता है। अतः द्वितीय क्षण में होने वाला विभाग संयोगनाशक भी है, और गुण भी है, इसलिए वह विभाग कहलाता है। जैसे वृक्ष में लटकते हुए फल, पत्ते आदि में प्रथमतः वेगवान् वायु के संयोग से क्रिया उत्पन्न होती है, अर्थात् फल, पत्ते आदि जोरों से हिलने लगते हैं। फिर उनमें शाखा के साथ विभाग-गुण उत्पन्न होता है, जिससे शाखा के साथ होने वाले फल, पत्ते आदि का संयोग नष्ट हो जाता है, जिससे वे फल, पत्ते आदि गिरते हैं। अथवा यों समझना चाहिए कि जो गुण, क्रिया के अव्यवहित पर क्षण में नियमतः उत्पन्न हो, उसका नाम विभाग है। क्योंकि क्रिया उत्पन्न होने पर विभाग अनिवार्य होता है।

इसे संयोगाभाव नहीं कहा जा सकता। क्योंकि संयोगाभाव तो चन्द्र और सूर्य इन दोनों में भी है किन्तु इन दोनों को विभक्त नहीं कहा जा सकता है। यतः विभाग नियमतः संयोगपूर्वक होता है, चन्द्र-सूर्य में कभी संयोग नहीं था। अतः विभाग भी नहीं कहा जा सकता। इसे संयोगनाश भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह संयोगनाश का कारण है। कारण और कार्य दोनों एक नहीं होते। साथ ही यह भी बात है कि "दोनों विभक्त हुए" इस प्रकार ज्ञान वा व्यवहार-स्थल में नाश प्रतीत नहीं होता। इसे "पृथक्त्व" इसलिए नहीं माना जा सकता कि पृथक्त्व तो उन दो पदार्थों का भी होता है, जिनमें कभी संयोग नहीं होता। किन्तु विभाग उन दोनों का नहीं हो सकता। जैसे सूर्य और चन्द्रमा का। अन्योन्याभाव इसे इसलिए नहीं कहा जा सकता कि वह तो संयुक्त दो पदार्थों में भी होता है, किन्तु विभाग संयुक्तावस्था में नहीं होता। जब घट और पट परस्पर संयुक्त होते हैं तब उन्हें विभक्त नहीं कहा जाता किन्तु परस्पर भिन्न कहा जाता है। अतः विभाग एक स्वतन्त्र गुण है।

विभाग के प्रभेद

विभाग भी संयोग के समान तीन प्रकार का है। एक-कर्मज, उभय-कर्मज और विभागज। एक द्रव्य में ही क्रिया की उत्पत्ति होकर यदि दो द्रव्यों में परस्पर विभाग हो, तो वह एक-कर्मज होता है। जैसे—एक मकान से पक्षी के उड़ने पर मकान और पक्षी इन दोनों का जो विभाग होता है वह एक-कर्मज है। जहाँ दोनों संयुक्त पक्षियों में क्रिया होने के कारण दोनों विभक्त होते हैं वहाँ विभाग उभय-कर्मज होता है। पुस्तक से हाथ हटने पर जो शरीर और पुस्तक में विभाग होता है वह विभाग जविभाग है। उसे कर्मज न मानकर विभागज मानने में युक्ति वही है जो संयोगजसंयोग मानने में है। अर्थात् हाथ की क्रिया पूरे शरीर की क्रिया नहीं, क्योंकि समग्र अवयवों में कम्पन होने पर ही अवयवी में कम्पन माना जाता है। कम्पन होगा दूसरे में और विभाग हो

जायगा किसी दूसरे का, ऐसा माना नहीं जा सकता। अतः जब कि कम्पन शरीर में नहीं, शरीर के अवयव हाथ में हुआ है, तब शरीर-पुस्तक विभाग को कर्मज नहीं कहा जा सकता। अगत्या उसे "हस्त-पुस्तक-विभागज" मानना होगा।

विभागज-विभाग भी दो प्रकार का है, जैसे कारण-मात्र विभागज और कारणाकारण विभागज। एक कपाल से अपर कपाल का विभाग होने पर जो कपालाकाश विभाग होता है वह होता है, कारणमात्र विभागज। क्योंकि दोनों कपाल एक घट के प्रति कारण होते हैं, अतः कपालद्वय का विभाग होता है कारणमात्र विभाग और उससे उत्पन्न कपालाकाश-विभाग कहलाता है कारणमात्र विभागज। कारणाकारण विभागज का उदाहरण काय-पुस्तक-विभाग आदि समझना चाहिए। क्योंकि वहाँ प्रथम विभाग कारण और अकारणों का होता है। हाथ है शरीर का कारण और पुस्तक है अकारण। कपालों में परस्पर विभाग होने पर तज्जन्य रूप से अभिमत कपालाकाश-विभाग को एवं तत्समान अन्य विभागों को कर्मज न मानकर विभागज मानने में यह युक्ति है कि कपालों का परस्पर विभाग होता है आरम्भक-संयोग का विरोधी विभाग, और कपाल आकाश का विभाग होता है अनारम्भक संयोग का विरोधी विभाग, क्योंकि दो कपालों में परस्पर विभाग होने पर घटारम्भक कपाल-द्वय का संयोग नष्ट होता है। कपाल के साथ आकाश का विभाग होने पर जिस कपालाकाश संयोग का नाश होता है वह किसी द्रव्य का आरम्भक नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में एक क्रिया इन दो विभागों को नहीं उत्पन्न कर सकती।

यदि फिर भी ऐसा मानने का आग्रह किया जाय तो कमल-कली के खिलने के समय ही उसका नाश होने लगेगा। क्योंकि कमल-दल में दो प्रकार के संयोग रहते हैं, एक नाल के ऊपर कली के निम्नभाग में और दूसरा फूल के अग्रभाग में। सूर्योदय के अनन्तर किरण-सम्पर्क से कमल-दलों के अग्रभाग में क्रिया होने पर अग्रदेश में विभाग होता है किन्तु नीचे के देश में विभाग नहीं होता है, क्योंकि ऊपर होनेवाला विभाग है अनारम्भक-संयोग-विरोधी, और नीचे का विभाग होगा आरम्भक-संयोग-विरोधी, यदि एक ही क्रिया दोनों विभागों को उत्पन्न करे तो दोनों स्थानों में साथ ही विभाग हो जाने के कारण दलों के दोनों संयोग नष्ट हो जायँगे। जिससे विकास के बदले उसका विनाश अनिवार्य हो जायेगा। अतः कपालद्वयविभाग और कपालाकाशविभाग इन दोनों की उत्पत्ति एक क्रिया से नहीं मानी जा सकती। सुतरां कपालाकाश विभाग को कर्मज न मानकर विभागज मानना ही होगा। यह ध्यान रखने की बात है कि अनारम्भवादियों के मत में संयोगज संयोग या विभागज विभाग मानने का कोई प्रयोजन भी नहीं रहता, और इन दोनों की सम्भावना भी नहीं रहती।

परत्व गुण

यह वस्तु इस वस्तु से "पर" है इस प्रकार का ज्ञान या वाक्य-प्रयोग जिस गुण के सहारे होता है, अर्थात् जो गुण उक्त ज्ञान किंवा वाक्य-प्रयोग के प्रति असाधारण कारण होता है उसका नाम है "परत्व"। पर शब्द का प्रयोग उत्कृष्ट अर्थ में होता है, तदनुसार उत्कृष्टत्व भी परत्व समझा जा सकता है, परन्तु प्रकृत "पर" और "परत्व" वह नहीं है, क्योंकि यह परत्व अपकृष्ट में भी रह सकता है। कहीं-कहीं "पर" शब्द का प्रयोग भिन्न या अन्य अर्थ में भी होता है, किन्तु प्रकृत में वह भी अभिप्रेत नहीं। क्योंकि भिन्नत्वरूप परत्व तो अन्योन्याभाव होता है और यह अभाव नहीं गुण है। कहीं-कहीं "पर" शब्द शत्रु अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, जैसे "स्व-पर" इत्यादि, तदनुसार परत्व का अर्थ शत्रुता भी समझा जा सकता है, किन्तु प्रकृत-विवेचनीय वह भी नहीं है। क्योंकि यह परत्व मित्र में भी रहता है। यह सापेक्ष होता है, क्योंकि किसी वस्तु को अपर समझकर ही तदपेक्षया किसी को पर कहा जाता है। द्वित्व, त्रित्व आदि संख्याओं की उत्पत्ति के समान परत्व की उत्पत्ति में भी अपेक्षाबुद्धि नामक ज्ञान अर्थात् "यह एक वस्तु है और यह एक अन्य वस्तु है" ऐसा ज्ञान कारण होता है, और उसके नष्ट हो जाने पर यह नष्ट हो जाता है। यही कारण है कि एक बार परत्वबुद्धि होने पर भी कुछ समय बाद फिर यदि उस वस्तु को पर समझना होता है, तो फिर अपेक्षाबुद्धि कर लेनी पड़ती है, तब यह वस्तु इस वस्तु की अपेक्षा से "पर" है, ऐसा बोध होता है।

परत्व के प्रभेद

परत्व दो प्रकार का है—एक कालिक और दूसरा दैशिक। ज्येष्ठत्व है कालिक परत्व और दूरत्व है दैशिक परत्व। कालिक-परत्वस्वरूप ज्येष्ठत्व है अधिक सूर्योदयक-कालस्थितिकत्व। अर्थात् जिस वस्तु के अस्तित्वकाल में जितने अधिक बार सूर्योदय हुआ रहता है, वह उतनी ही ज्येष्ठ कहलाती है। इस दृष्टि से संसार की अनादिता और वस्तु की असंख्यता से यह ज्येष्ठत्व नामक परत्व असंख्य होता है। दैशिक परत्वरूप दूरत्व है अधिकमूर्तद्रव्य-व्यवहितत्व। अर्थात् जिस वस्तु के स्थिति-देश तक जितने अधिक परिच्छिन्न मूर्त्त द्रव्य होते हैं वह उतनी ही अधिक दूर कहलाती है। वस्तुतः जिस वस्तु तक पहुँचने में जितना अधिक गमन अपेक्षित होगा वह उतनी अधिक दूर कहलायेगी। अन्यथा समान भूभागव्यवधान वाली दो वस्तुओं के अन्दर यदि एक के बीच कुछ अधिक पार्थिव-रेणु रख दी जाय, तो वह दूर कहलाने लगेगी। क्योंकि अधिक मूर्त्तान्तिरितत्व हो जायगा। यदि यह कहा

जाय कि अधिकगमन-सापेक्ष परत्व मानने पर अनुल्लंघ्य अत्युन्नत-पर्वतव्यवहित निकट देश को दूरत्वापत्ति होगी, तो यही उत्तर होगा कि तादृश स्थल में तब तक दूरत्व माना ही जाता है, जब तक अल्पकालसापेक्ष सुलभ मार्ग नहीं बन जाता।

किन्तु यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि, इस विवेचन में हमारे कुछ प्राचीन पदार्थशास्त्रियों के विवेचन से सूक्ष्म अन्तर पड़ता है। क्योंकि वे ज्येष्ठत्वस्वरूप कालिक परत्व को अधिक सूर्योदयकालस्थितिकत्व-रूप बहुतरसूर्य-परिस्पन्दान्तरितत्वात्मक न मानकर उसके ज्ञान से उत्पन्न होने वाला मानते हैं। दूरत्वस्वरूप दैशिक परत्व को भी बहुतर मूर्त्तान्तरितत्वस्वरूप न मानकर बहुतरमूर्त्तसंयोगान्तरितत्व के ज्ञान से उसकी उत्पत्ति मानते हैं। सम्भव है उन लोगों को ऐसा कहने में यह भय हुआ हो कि तब तो वह कोई सखण्ड धर्ममात्र होकर ही रह जायगा, परत्व स्वतन्त्र गुण नहीं रह सकेगा। परन्तु यह कोई दोष नहीं, क्योंकि "जातिभिन्न चक्षुर्मात्रग्राह्य रूप है" ऐसा कहने पर क्या रूप का गुणत्व खण्डित हो जाता है? इस ग्रन्थ के लेखक ने जो कुछ यहाँ विचार-स्वातन्त्र्य का अवलम्बन किया है, इसका कारण यह है कि यदि वस्तु क्रियाशील हो तो दूरवर्त्ती पदार्थ भी निकटवर्त्ती हो सकता है, अतः दूरत्वरूप परत्व को तो नियत नहीं माना जा सकता। परन्तु ज्येष्ठत्व-स्वरूप परत्व के सम्बन्ध में यह बात नहीं है, वह नियत ही रहता है, बड़ा भाई कभी छोटे भाई से छोटा नहीं होता है। यदि "बहुतरसूर्य-परिस्पन्दान्तरितत्व" के ज्ञान से ज्येष्ठत्वरूप परत्व की उत्पत्ति मानी जाय, तो जबकि बड़े भाई में अधिक सूर्योदयान्तरितत्व का ज्ञान किसी को नहीं रहेगा तो वह ज्येष्ठत्व से रहित हो जायगा, जो अनुभव के बाहर की बात है। इतना ही नहीं, यदि किसी भ्रान्त मनुष्य को छोटे भाई के बारे में "बहुतरसूर्योदयान्तरितत्व" का ज्ञान होगा तो तत्त्वतः उसमें ज्येष्ठत्वस्वरूप परत्व की उत्पत्ति हो जायगी और वह ज्येष्ठ कहा जायगा। यदि इस नवीन विचार में कोई सार हो तो कहना होगा कि अपेक्षाबुद्धि की कारणता केवल दूरत्वरूप परत्व के प्रति है, ज्येष्ठत्वरूप परत्व के प्रति नहीं।

अपरत्व

"यह इससे अपर है" इस प्रकार का ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोग जिस गुण के आधार पर होता है वह अपरत्व है। अपरत्व परत्वसापेक्ष हुआ करता है। अर्थात् किसी को "पर" समझ कर उसकी अपेक्षा से किसी को "अपर" समझा अथवा कहा जा सकता है। अतः यह भी परत्व के समान "यह एक है और यह एक" इस प्रकार होने वाली अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होता है। "अपर" शब्द का अधिकतर प्रयोग लोग "अन्य" अर्थ में किया करते हैं, किन्तु यहाँ उसका विवेचन नहीं हो रहा है।

यह एक गुण पदार्थ है और अन्यत्व, भेद, भिन्नता आदि अभावस्वरूप हैं। अतएव अपर में "अ" का अर्थ अभाव मान कर उसका परत्वाभाव अर्थ नहीं समझना चाहिए। प्राचीन-आचार्य पूर्वोक्त परत्वगुण के समान इसे भी अपेक्षाबुद्धि के नाश होने के परक्षण में नष्ट होनेवाला मानते हैं। इसमें भी युक्ति वही है जो परत्वनाश के लिए कही गयी है। अर्थात् यदि अपरत्व रूप, रस आदि के समान द्रव्य में स्थायीरूप से रहता तो फिर उस वस्तु को देखते ही यह "अपर है" ऐसा ज्ञान हो जाना चाहिए था। किन्तु ऐसा होता नहीं। "यह एक है और यह एक" इस प्रकार अपेक्षाबुद्धि-पूर्वक किसी को पर समझकर उसकी अपेक्षा से प्रकृत वस्तु को "अपर" कहा जाता है।

अपरत्व के प्रभेद

अपरत्व के भी दो प्रभेद हैं, कनिष्ठत्व और निकटत्व। कनिष्ठत्व है वय की (उम्र की) न्यूनता। यही कारण है कि छोटा भाई कनिष्ट कहलाता है। इस अर्थ में लोक में "अपर" शब्द का प्रयोग "कवि अपर ब्रह्मा होता है" इत्यादि समझना चाहिए। इस "अपर" शब्द को "अन्य-वाचक" भी माना जा सकता है; यह कथन संगत नहीं मालूम होता, क्योंकि तब अपर शब्द के प्रयोग-स्थल में जो उस वस्तु की पश्चादुत्पत्ति का भान होता है वह नहीं हो सकेगा। जैसे यह कहा जाय कि "ये अपर कालिदास हैं" तो इस प्रशंसनीय व्यक्ति में मूल कालिदास की अपेक्षा से पश्चात्कालीनता एवं गुणगत किञ्चिन्न्यूनता भी प्रतीत होती है। अपर को केवल अन्यार्थक मानने पर उन अर्थों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। परत्व के प्रकरण में कहे गये नवीन विचार के अनुसार यहाँ भी कनिष्ठत्वस्वरूप अपरत्व को अल्प-सूर्योदयिकजीवनकालता" स्वरूप कहा जा सकता है। अर्थात् जिसके जीवनकाल के बीच में होने वाले सूर्योदय की संख्या कम होगी वह, जिसके जीवनकाल में सूर्योदय की संख्या अधिक होगी, उसकी अपेक्षा कनिष्ठ, अपर, छोटा आदि शब्द से पुकारा जायगा। सूर्योदय शब्द से सूर्य की क्रियामात्र अभिप्रेत है, अन्यथा एक दिन के अन्दर उत्पन्न होने वाली दो वस्तुओं में ज्येष्ठ-कनिष्ठभाव नहीं हो सकेगा।

यहाँ एक बात विचारणीय है, यदि कनिष्ठत्वस्वरूप अपरत्व को सूर्यपरिस्पन्द की अल्पता के आधार पर स्थायी माना जायगा, तो रूप, रस आदि के समान उसे अपेक्षाबुद्धि के विना भी ज्ञात होना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि कनिष्ठता के ज्ञान के प्रति अपेक्षाबुद्धिज्ञान को कारण मान लिया जायगा, अतः उसके विना एवं किसी को "पर" समझे विना किसी भी वस्तु में कनिष्ठत्वस्वरूप अपरत्व का ज्ञान सम्पन्न नहीं होगा। इसी कनिष्टत्वस्वरूप अपरत्व को कालिक अपरत्व कहा

जाता है ।

दूसरा है दैशिक अपरत्व, जिसे निकटत्व कहा जाता है । व्यवहर्त्ता एवं "अपर" रूप से व्यवहार्य वस्तु के बीच यदि परिच्छिन्न पार्थिव, जलीय आदि द्रव्यों की संख्या कम होगी तो वह वस्तु, उस वस्तु की अपेक्षा से "अपर", "निकट" आदि कहलायेगी, जिसके एवं व्यवहर्त्ता के बीच उन मूर्त्त द्रव्यों की संख्या अधिक होगी । जैसे काशी में विद्यमान मनुष्य यह कह सकता है कि कलकत्ते की अपेक्षा से पटना निकट है । क्योंकि काशी स्थित उस व्यक्ति से लेकर कलकत्ते के बीच तक जितनी पार्थिव, जलीय आदि परिच्छिन्न वस्तुएँ हैं, काशी से पटने तक में उनसे कम हैं । परन्तु यह ध्यान रखने की बात है कि परत्व किंवा अपरत्व रूप से व्यवहार्य वस्तु के स्थानान्तरण--स्थल में वह वस्तु दूर भी हो जा सकती है जो कि पहले निकट थी !

ज्ञान

जिस गुण के सहारे प्राणियों की समस्त जीवन-चेष्टा सम्पन्न हो वही है बुद्धि, ज्ञान । स्वस्थ-चित्त मानव की तो बात क्या, पागल भी जो कुछ करता है, कुछ-न-कुछ समझ कर ही करता है । भले ही उसका समझना गलत हो । मनुष्य ही नहीं, कीट-पतंग तक सभी प्राणी जो कुछ करते हैं, कुछ-न-कुछ समझ कर ही करते हैं । उसी समझने का नाम बुद्धि, ज्ञान इत्यादि है। कुछ लोग "बुद्धयते अनया इति बुद्धिः" इस व्याख्या के अनुसार अन्तःकरण को बुद्धि कहते हैं। परन्तु यहाँ वह विवक्षित नहीं है, क्योंकि अन्तःकरण द्रव्य है, गुण नहीं । किन्तु "बोधो बुद्धिः" इसके अनुसार वह ज्ञानात्मक गुण है । प्राचीन पदार्थशास्त्रियों ने इसे आत्मा का गुण माना है । इस सम्बन्ध में उन लोगों की युक्ति यह है कि जो किसी भी वस्तु को समझता है उसे उस विषय में इच्छा होती है, फिर भीतर-ही-भीतर प्रयत्न होता है, अनन्तर उसके सहारे बाहर शरीर में चेष्टा होती है । इच्छा, यत्न आदि आत्मा के गुण हैं, अतः ज्ञान भी उसी को होना चाहिए ।

कुछ लोगों का मत है कि ज्ञान आदि आत्मा के गुण नहीं हैं, अन्तःकरण के धर्म हैं । किन्तु यह समुचित इसलिए नहीं कि किसी भी वस्तु का स्वरूप प्रतीति और वाक्य-प्रयोग के आधार पर निर्णीत होता है । "मैं इस बात को जानता हूँ", "मैं इसे नहीं जानता" इस प्रकार का ज्ञान तथा वाक्य-प्रयोग सभी लोग किया करते हैं । "मैं" अपने को अर्थात् आत्मा को ही कहा जाता है । मन, यानी अन्तःकरण के लिए तो "मेरा मन", "मेरा अन्तःकरण" इसी प्रकार का ज्ञान तथा वाक्य-प्रयोग पाये जाते हैं । जब कि "मैं जानता हूँ" इसी प्रकार का ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोग होता है तो मानना पड़ेगा कि ज्ञान "मुझे", अर्थात् आत्मा को होता है । एतदतिरिक्त

प्राचीनों ने इस सम्बन्ध में यह भी युक्ति बतलायी है कि एक काल में बहुत-से ज्ञान न होने के कारण मन या अन्तःकरण अति क्षुद्र, अणु-परिमाण है, यह मानना होगा। गुण वही प्रत्यक्ष किया जा सकता है जिसके आधार में महत्त्व हो। यही कारण है कि पार्थिव परमाणु का रूप नहीं देखा जा सकता, किन्तु घड़े का रूप देखा जाता है। अब यदि ज्ञान अन्तःकरण का गुण हो तो उसका कोई प्रत्यक्ष नहीं कर पायेगा। किन्तु सभी लोग ऐसा समझते हैं कि "मैं समझता हूँ, मैं जानता हूँ" इत्यादि। अतः ज्ञान आत्मा का ही गुण है।

शरीर के अन्दर "पुरीतत्" नामक नाड़ी से बाहर जब मन आत्मा से जुटता है तो ज्ञान गुण उत्पन्न होता है, क्योंकि ज्ञानमात्र के प्रति आत्ममनः-संयोग एवं त्वङ्मनः-संयोग कारण होते हैं। यही कारण है कि गाढ़ निद्रास्वरूप सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान नहीं उत्पन्न होता है। क्योंकि "पुरीतत्" नामक नाड़ी त्वक् से रहित होती है। सुषुप्तिकाल में ज्ञान इसलिए नहीं माना जाता कि ज्ञान कभी निर्विषयक नहीं होता। यदि सुषुप्ति में ज्ञान होता तो सोकर उठने के बाद लोग विषय का स्मरण करते, किन्तु करते नहीं, अतः मानना होगा कि सुषुप्तिकाल में ज्ञान नहीं होता। कुछ लोगों का कहना है कि "मैं खूब सोया" इस प्रकार स्मरणात्मक ज्ञान लोगों को होता है, और स्मरण अनुभव के बिना नहीं होता, अतः मानना होगा कि सुषुप्तिकाल में अन्य विषयों का अनुभव भले ही न हो, किन्तु सुषुप्तिस्वरूप अवस्था का अनुभव अवश्य होता है। किन्तु यह बात इसलिए सही नहीं है कि मनुष्य जागने पर "मैं खूब सोया" इसके साथ "कुछ नहीं समझा" यह भी समझता एवं कहता है। यदि सुषुप्त व्यक्ति को समझ होती तो "मैं कुछ नहीं समझा" इस प्रकार पीछे वह कैसे समझता? रही बात यह कि "मैं खूब सोया" यह स्मरण कैसे होता है, क्योंकि बिना अनुभव का स्मरण तो होता नहीं। इसका उत्तर यह है कि जागरण-काल में जो "मैं खूब सोया" यह ज्ञान होता है वह स्मरण नहीं, अपितु अपनी शारीरिक एवं मानसिक अवस्था को देखकर उसके आधार पर वह अनुमान किया जाता है। अनुमान में विशिष्ट रूप से पूर्वानुभव की आवश्यकता नहीं होती।

ज्ञान की स्थिति के सम्बन्ध में प्राच्य-पदार्थशास्त्रियों का यह मत है कि ज्ञान जिस क्षण में उत्पन्न होता है उससे तीसरे क्षण में वह नष्ट हो जाता है। अतः यदि उसके उत्पत्ति-क्षण को भी उसका अस्तित्व-क्षण माना जाय तो वह दो क्षण रह कर तीसरे क्षण में नष्ट हो जाता है। और केवल स्थिति देखी जाय तो वह मध्य में एक क्षणमात्र रहता है। किन्तु इसके अपवाद-स्वरूप "अपेक्षाबुद्धि" नामक ज्ञान चतुर्थ क्षण में नष्ट होने वाला माना जाता है। इसका कारण यह कि ऐसा न मानने

पर "ये दो हैं" इस प्रकार दो द्रव्यों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि प्रथम क्षण में "यह एक है और यह एक" इस प्रकार अपेक्षाबुद्धि होगी, द्वितीय क्षण में उन दो वस्तुओं में द्वित्व नाम की संख्या उत्पन्न होगी, तृतीय क्षण में द्वित्व के धर्म द्वित्वत्व का ज्ञान होगा और अपेक्षाबुद्धि नष्ट होगी। इसका फल यह होगा कि द्वित्व के ज्ञानकाल में ही द्वित्व मर जायगा, फिर पर क्षण में "ये दो हैं" इस प्रकार द्वित्व-विशिष्ट द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष कभी अवर्त्तमान वस्तु का नहीं होता। चतुर्थ क्षण में अपेक्षाबुद्धि का नाश मानने पर कथंचित द्वित्वनाश-क्षण में उक्त प्रकार से द्वित्वयुक्त द्रव्य का प्रत्यक्ष हो सकेगा।

कुछ लोग, जो कि वस्तुमात्र को क्षणभंगुर मानते हैं किंवा वस्तुमात्र को क्षणिक ज्ञानस्वरूप मानते हैं, वे ज्ञान को अस्थिर मानते हैं। अर्थात् उनका कहना है कि ज्ञान उत्पन्न होने के परक्षण में ही नष्ट हो जाता है। परन्तु यह इसलिए युक्तियुक्त नहीं मालूम होता कि ऐसा होने से विषयों का प्रकाशन अर्थात् विषयीकरण नहीं हो सकता। दीप यदि जलाते ही नष्ट हो जाय तो क्या वह घट, पट आदि विषयों को दिखला सकेगा? कभी नहीं। यदि कहा जाय कि बिजली के चमकने पर पदार्थ-प्रकाशन कैसे होता है? तो इसका उत्तर यह है कि क्षणकाल अति सूक्ष्म है, विद्युत्-प्रकाश एक क्षण में ही नष्ट नहीं हो जाता है। अतः ज्ञान को तृतीयक्षण-विनाश्य मानना चाहिए।

कुछ लोगों का कहना है कि जहाँ दीर्घकाल तक एकटक किसी एक वस्तु को देखा जाता है, या उसकी चिन्ता की जाती है, ऐसे स्थल में ज्ञान को तब तक स्थायी मानना चाहिए जब तक विषय का विषयीकरण होता रहे। अर्थात् ज्ञान ऐसे मौके पर तृतीय क्षणनाश्य नहीं माना जा सकता। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है, क्योंकि ऐसे स्थल में ज्ञान की धारा होती है। अर्थात् दीप की शिखा जैसे तत्त्वतः दीर्घकाल तक एक ही नहीं रहती, किन्तु अव्यवहित उत्पादन के कारण, लोग उसे दीर्घकालस्थायी समझते हैं। इसी प्रकार कहीं-कहीं धारावाहिक कारण से धारावाहिक ज्ञानोत्पादन होता है, जिसे लोग एक ही ज्ञान मान बैठते हैं।

ज्ञान का नाश कैसे होता है? उसका नाशक कौन है? इसका यह उत्तर है कि आत्मा और आकाश के विशेष गुणों का यह स्वभाव है कि अपने अव्यवहित-परवर्त्ती योग्य विशेष गुण से उनका नाश होता है। अर्थात् किसी आत्मा में एक ज्ञान के बाद जो भी कोई ज्ञान, इच्छा या प्रयत्न गुण उत्पन्न होता है, वही उस ज्ञान का नाशक होता है। जैसे किसी को फूल का ज्ञान हुआ और उसके ठीक पर क्षण में यदि उसको इच्छा उत्पन्न हुई तो उस इच्छा से वह पूर्ववर्ती ज्ञान नष्ट होता जाता है। फिर

इच्छा के पर क्षण में जब उसे पाने के लिए प्रयत्न उत्पन्न होता है तो उस प्रयत्न से वह इच्छा मारी जाती है। उसी प्रकार यत्न के अनन्तर जो ज्ञान, इच्छा आदि कोई योग्य आत्मविशेषगुण उत्पन्न होता है, उससे वह यत्न मर जाता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए। योग्य विशेष गुण कहने का अभिप्राय यह है कि अदृष्ट और भावना (संस्कार) गुण न तो ज्ञानादि के नाशक होते हैं और न ज्ञानादि के नाश्य ही होते हैं, क्योंकि वे योग्य नहीं माने जाते।

ज्ञान गुण में यही विशेषता है कि यह भोग और मोक्ष दोनों का देने वाला होता है। क्या नास्तिक और क्या आस्तिक, सभी दार्शनिक इस गुण की महत्ता का वर्णन बड़े ही उत्साह से करते हैं। सम्यक ज्ञान के द्वारा अल्प सांसारिक अभ्युदय से लेकर बड़े-से-बड़े फल, परमनिर्वाण रूप मोक्ष पर्यन्त मिलते हैं, और असम्यक् ज्ञान से पतन की पराकाष्ठा तक प्राप्त होती है, इस बात को सभी लोग एकस्वर से मानते हैं।

ज्ञान के प्रभेद

ज्ञान का विभाजन अनेक प्रकार से होता है, जिसमें एक प्रकार इस तरह है कि ज्ञान के दो प्रभेद हैं—सविकल्पक और निर्विकल्पक। जिस ज्ञान में कोई वस्तु विशेष्य, विशेषण किंवा दोनों से सम्बद्ध विषयरूप से नहीं प्रतीत हो, वह ज्ञान निर्विकल्पक होता है। ऐसे ज्ञान का मन से भी प्रत्यक्ष नहीं किया जाता है, अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता, वह केवल अनुमेय होता है। सविकल्पक ज्ञान के द्वारा इसका यह अनुमान किया जाता है कि इसके अव्यवहित पूर्व में निर्विकल्पक ज्ञान भी हुआ है। निर्विकल्पक ज्ञान मानने की युक्ति यह है कि विशिष्ट ज्ञान का ही दूसरा नाम है सविकल्पक ज्ञान। विशिष्ट ज्ञान तब तक कभी नहीं हो सकता जब तक विशेषण को स्वतन्त्र रूप से न समझ लिया जाय। जैसे नील रूप को जब तक स्वतन्त्र रूप से न समझ लिया जाय तब तक "यह नीली साड़ी है" यह ज्ञान कभी नहीं होता। अतः "नीली साड़ी है" इस ज्ञान से पहले नील का ज्ञान आवश्यक होगा।

यदि उस नील ज्ञान को भी सविकल्पक माना जायगा, तो उस नील में विशेषण होने वाले "नीलत्व" का भी ज्ञान अपेक्षित होगा। और फिर नीलत्वज्ञान भी यदि सविकल्पक अर्थात् सविशेषणक होगा तो उस विशेषण का भी ज्ञान अपेक्षित होगा। इस प्रकार अनवस्था हो जायगी और उद्देश्य "यह नील साड़ी है" यह ज्ञान होना बहुत ही दूर हो जायगा। अतः सविकल्पक ज्ञान के कारणीभूत विशेषण-ज्ञान को निर्विकल्पक मानना चाहिए। जैसे "नीली साड़ी है" इस ज्ञान के अव्यव-

हित पूर्व में होने वाला ज्ञान नीलत्वस्वरूप विशेषण से रहित रूप में होता है। अर्थात् केवल नील (रूप) और साड़ी इन दोनों का स्वतन्त्र रूप से ज्ञान होता है, उसमें विशेषण का विषयीकरण नहीं होता है, जिससे यह प्रश्न उठेगा कि उसके विशेषण का ज्ञान कैसे होता है। अतः स्वतन्त्र भाव से "नीलत्व, नील और साड़ी" इस प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान के पर क्षण में "यह नीली साड़ी है" ऐसा ज्ञान होता है। अतः निर्विकल्पक ज्ञान मानना चाहिए ।

यदि "यह नीली साड़ी है" इस ज्ञान को विशिष्ट ज्ञान न मानकर "विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही" अर्थात् विशेषण के विशेषण तक को विषय करने वाला ज्ञान माना जाय तो सविकल्पक का सरल उदाहरण "नील" यह ज्ञान समझना चाहिए। किन्तु उक्त प्रत्यक्ष ज्ञान को भी विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही" मानने पर सविकल्पक के अव्यवहित पूर्व में निर्विकल्पक ज्ञान आवश्यक है, यह नियम खण्डित हो जाता है। क्योंकि विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान के अव्यवहित पहले निर्विकल्पक नहीं, किन्तु "विशिष्ट बुद्धि" स्वरूप सविकल्पक ज्ञान होता है।

बौद्ध दार्शनिक केवल इसे ही यथार्थ ज्ञान मानते हैं। उनका कहना है कि सविकल्पक ज्ञान में मिथ्या (असत्) विशेषण, विशेष्य और सम्बन्ध तथा शब्द आदि का विषयीकरण होता है, अतः यह यथार्थ नहीं हो सकता। किन्तु निर्विकल्पक में केवल शुद्ध वस्तु मात्र विषय होती है , अतः वह यथार्थ ज्ञान होता है। बौद्ध दार्शनिक लोग प्रत्यक्ष और अनुमिति दो प्रकार का प्रमाज्ञान मानते हैं, एवं निर्विकल्पक को ही प्रमा मानते हैं। इस दृष्टि से निर्विकल्पक को सामान्यतः ज्ञान का भेद माना जायगा। किन्तु आस्तिक दार्शनिकों के मत में इसे प्रत्यक्ष ज्ञान का भेद समझना चाहिए। युक्तियुक्त भी यही मत मालूम होता है, क्योंकि अनुमिति आदि प्रमा कभी निर्विकल्पक हो ही नहीं सकती। पक्षस्वरूप धर्मी (उद्देश्य) में साध्यस्वरूप विधेय के ज्ञान का नाम अनुमिति है, उसे भला निर्विशेष्य-विशेषण-संसर्गक कैसे माना जा सकता है ?

अद्वैत-वेदान्ती लोग प्रत्यभिज्ञा अर्थात् "यह वही मनुष्य है" इत्यादि ज्ञान को भी निर्विकल्पक मानते हैं। उनका कहना है कि उक्त ज्ञान में केवल अखण्ड मनुष्य व्यक्ति का ही विषयीकरण होता है, "वह" और "इस" अर्थात् तत्ता और इदन्ता का विषयीकरण नहीं होता। क्योंकि "वह" कहने से अतीत काल का और "यह" कहने से वर्तमान काल का भान होता है, और दोनों कालों का सम्बन्ध एक काल में कभी नहीं हो सकता। अतः विरुद्धांश को छोड़ कर केवल मनुष्य व्यक्ति का विषयीकरण मानना होगा। सुतरां "यह वही है" इस ज्ञान में विशेषण, विशेष्य और सम्बन्ध

विषय नहीं होने के कारण, इसे निर्विकल्पक मानना होगा। किन्तु अन्य दार्शनिक ऐसा नहीं मानते, वे इसे सविकल्पक ही मानते हैं। उनका कहना है कि "उसे" और "इसे" दोनों को जब अभिन्न समझा जा रहा है, तो मानना ही होगा कि उक्त ज्ञान में "अभेद" सम्बन्ध का विषयीकरण होता है, अतः उस ज्ञान को केवल वस्तु-विषयक नहीं कहा जा सकता। सविकल्पक वह ज्ञान होता है जिसमें विशेषण, विशेष्य और सम्बन्ध; इनका विषयीकरण हो। जैसे "यह नीली साड़ी है" इत्यादि।

सविकल्पक ज्ञान दो भागों में बाँटा जा सकता है, जैसे "व्यवसाय" और "अनुव्यवसाय"। व्यवसाय-ज्ञान वह है जिसमें ज्ञान-रहित वस्तु का भान होता है। अनुव्यवसाय वह होता है जिसमें ज्ञान-सहित वस्तु का विषयीकरण होता है। जैसे "यह मैं जानता हूँ कि यह नीली साड़ी है", "यह मुझे मालूम है कि यह नीली साड़ी है" इत्यादि। कुछ दार्शनिक अनुव्यवसायात्मक ज्ञान नहीं मानते हैं। कुछ लोग व्यवसाय और अनुव्यवसाय दोनों को मिला कर एक ही ज्ञान मानते हैं।

ज्ञान के अन्य प्रभेद

ज्ञान को प्रथमतः अनुभव और स्मरण इन दो भागों में विभक्त समझना चाहिए। अनुभव वह ज्ञान होता है जो संस्कार के द्वारा स्मरण-ज्ञान को उत्पन्न करता है। अनुभव-ज्ञान को प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द इन चार भागों में विभक्त समझना चाहिए। प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो किसी भी इन्द्रिय से वस्तु का सन्निकर्ष होने पर उत्पन्न होता है। जैसे फूल के साथ चक्षु के जुटने पर "यह फूल है" ऐसा जो चक्षु से ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। कुछ लोग विषय के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्षस्थल में शब्द से भी प्रत्यक्षज्ञान मानते हैं, जैसे यदि कोई अपने पास विद्यमान वस्तु को अविद्यमान समझ बैठता है, और अन्य कोई उससे यह कहता है कि यह वस्तु तो तुम्हारे पास ही है। इसके अनन्तर जो वह भ्रान्त मनुष्य उस वस्तु को अपने पास समझता है, वह प्रत्यक्षज्ञान शब्द से होता है। परन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि जहाँ विषय सन्निकृष्ट नहीं है वहाँ के शब्दजन्य ज्ञान से इस ज्ञान में कोई वैलक्षण्य नहीं दिखाई देता। यह बात और है कि विषय-सन्निकर्षस्थल में कहीं शाब्दबोध के अनन्तर प्रत्यक्ष भी हो जाता है, किन्तु शब्द से ही प्रत्यक्ष हो जाता है यह युक्ति-संगत नहीं।

प्रत्यक्ष ज्ञान को छः भेदों में विभक्त समझना चाहिये, जैसे घ्राणज, रासन, चाक्षुष, त्वाच, श्रावण और मानस। क्योंकि घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र और मन ये छः इन्द्रियाँ हैं। "यह सुगन्ध है", "यह दुर्गन्ध है" यह ज्ञान घ्राणज प्रत्यक्ष है, क्योंकि घ्राण के पास गन्धवाली वस्तु के जुटने पर घ्राण से उस गन्ध का प्रत्यक्ष

होता है। "यह मीठा है, यह खट्टा है" यह प्रत्यक्ष ज्ञान रासन-प्रत्यक्ष है, क्योंकि रसन (जिह्वा) से मधुर आदि रसयुक्त वस्तु का संयोग होने पर रसन से उक्त प्रकार का प्रत्यक्ष होता है। "यह नीली साड़ी है" ऐसा ज्ञान चाक्षुष प्रत्यक्ष है, क्योंकि रश्मिरूप से जाकर चक्षु जब उस नीली साड़ी से जुटती है तब यह ज्ञान उत्पन्न होता है।

प्राचीन नास्तिकों एवं आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि चक्षु विषय के पास नहीं जाती, किन्तु आँख में ही विषय का प्रतिफलन होने से उसका प्रत्यक्ष होता है। किन्तु यह मत इसलिए उचित नहीं मालूम होता कि आँख में पीलिया रोग होने पर जो सफेद वस्तु पीली मालूम पड़ती है, उसका उपपादन नहीं हो सकेगा। क्योंकि बिम्ब सफेद होने से प्रतिफलन भी तदनुरूप ही होगा। यदि यह कहा जाय कि पीतिमाक्रान्त चक्षुगोलकरूप आधार में प्रतिफलन होने के कारण ऐसा होता है। तो यह इसलिए समुचित नहीं होगा कि स्फटिक के निकट जपापुष्प रखने से प्रतिबिम्ब का आधार स्फटिक ही जपापुष्पस्वरूप बिम्ब के रूप से प्रभावित होता है, अर्थात् स्फटिक ही लाल मालूम पड़ता है, जपापुष्प सफेद नहीं मालूम पड़ता। तदनुसार पीतिमाक्रान्त चक्षुगोलक ही सफेद भासित हो जाना चाहिए। शंख आदि शुक्ल पदार्थ पीला नहीं भासित होना चाहिए। एतदतिरिक्त अन्य भी अनेक युक्तियाँ हैं जिनका उल्लेख यहाँ नहीं हो रहा है।

चाक्षुष प्रत्यक्ष द्रव्य, गुण, कर्म एवं जाति तथा अभाव इन सब का होता है। त्वाच प्रत्यक्ष भी इसी प्रकार उक्त अनतीन्द्रिय द्रव्य, गुण आदि सब का होता है। त्वक् इन्द्रिय शरीर से बाहर विषय के समीप उस प्रकार नहीं जाती जिस प्रकार चक्षु जाती है। त्वक् के समीप विषय के आने पर उसका त्वाच प्रत्यक्ष होता है। अन्धे लोग छू कर द्रव्यों का परिचय प्राप्त करते हैं। शीत, उष्ण आदि स्पर्शों का प्रत्यक्ष सभी लोग त्वक् इन्द्रिय से करते हैं। कम्पन भी स्पर्श करने से मालूम होता है। जिस इन्द्रिय से जिस द्रव्य, गुण या कर्म का प्रत्यक्ष होता है, तद्गत जाति का भी प्रत्यक्ष उसी इन्द्रिय से होता है। अतः स्पर्शत्व जाति आदि का भी प्रत्यक्ष त्वक् इन्द्रिय से होता है।

कुछ लोगों का कहना है, जब कि त्वक् समग्र शरीर में व्याप्त है, तो केवल उसे ही इन्द्रिय मानना चाहिए, स्वतन्त्र चक्षु आदि का प्रयोजन क्या है? किन्तु यह उचित इसलिए नहीं कि तब तो अन्धे को भी रूप का प्रत्यक्ष होने लगेगा। क्योंकि त्वक् इन्द्रिय उसमें भी रहेगी। यदि यह कहा जाय कि घ्राण आदि त्वक् के ही अवयव हैं और उन विभिन्न अवयवों से रूप आदि विभिन्न विषयों का प्रत्यक्ष

होता है, तो यह कथन इसलिए निस्तत्व है कि यदि अवयव विभिन्न होंगे फिर तो इन्द्रियाँ विभिन्न हो जायँगी। अवयव और अवयवी को एक नहीं माना जा सकता, अतः त्वक् और उसके अवयव चक्षु आदि इन्द्रियाँ विभिन्न ही होंगी। विभिन्न कभी एक नहीं होते, अतः चक्षु आदि को भी एक नहीं कहा जा सकता।

श्रावण प्रत्यक्ष श्रोत्र से होता है। इससे केवल शब्द और शब्दत्व का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में दार्शनिकों में मतभेद देखा जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि शब्द जहाँ उत्पन्न होता है, परिच्छिन्न कान स्थित श्रोत्रेन्द्रिय वहाँ जाकर उस शब्द का प्रत्यक्ष कराती है। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि शब्द ही तरंग-परम्परा-क्रम से उत्पन्न होता हुआ कान तक आकर उत्पन्न होता है, फिर कान में उत्पन्न इस शब्द का श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। विज्ञान ने तो और भी इस बात को स्पष्ट कर दिया है। क्योंकि अति दूरवर्त्ती शब्द भी रेडियो-यन्त्र से सुने जाते हैं।

शब्द तरंगप-रम्परा-क्रम से आकाश में उत्पन्न होते हैं। अतः कर्णच्छिद्रान्तर्गत आकाश में उत्पन्न शब्द का प्रत्यक्ष अनायास हो जाता है। पूर्वोक्त नियम के अनुसार शब्द में रहनेवाली "शब्दत्व" जाति भी श्रोत्र से ही प्रत्यक्ष की जाती है। मानस प्रत्यक्ष वह है जो मन-इन्द्रिय से होता है। आत्मा और उसके गुण ज्ञान, सुख, दुःख आदि का मानस प्रत्यक्ष होता है। "मैं सुखी हूँ" "मैं दुखी हूँ" इत्यादि प्रत्यक्ष सभी प्राणियों को होता है, उसमें चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों का कोई प्रयोजन नहीं होता, केवल मन से वह होता है, अतः उसे मानस प्रत्यक्ष समझना चाहिए।

इन सभी प्रत्यक्षों को लौकिक सन्निकर्षज, अलौकिक सन्निकर्षज और योगज इन तीन भागों में विभक्त समझना चाहिए। लौकिक सन्निकर्षज प्रत्यक्ष उसे समझना चाहिए, जहाँ कि विषय के साथ इन्द्रियों के सम्बन्धरूप से संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय एवं विशेषण-विशेष्यभाव इनके अन्दर कोई एक सन्निकर्ष होता है। किसी भी द्रव्य का प्रत्यक्ष किसी इन्द्रिय से करने पर उस द्रव्य के साथ इन्द्रियों का संयोग नामक सम्बन्ध होता है। क्योंकि अवयवा-वयविभागरहित द्रव्य होने के कारण इन्द्रिय का उस द्रव्य के साथ संयोग सम्बन्ध होता है। जैसे पुस्तक को यदि चक्षु से देखें तो संयोग नामक सम्बन्ध (सन्निकर्ष) होता है। क्योंकि चक्षु जब पुस्तक से जुटती है तब उस पुस्तक का प्रत्यक्ष होता है। चक्षु, त्वक् और मन से सभी द्रव्यों का प्रत्यक्ष होता है, अतः इन इन्द्रियों से द्रव्यों के प्रत्यक्ष में संयोग नामक सम्बन्ध (सन्निकर्ष) कारण होता है। द्रव्य में रहने वाले गुण, कर्म या जाति के प्रत्यक्ष में संयुक्त-समवाय नामक सम्बन्ध (सन्निकर्ष) होता है। जैसे पुस्तक में नील, पीत आदि गुण और क्रिया तथा जातियों का प्रत्यक्ष संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष

से होता है, क्योंकि इन्द्रिय से संयुक्त पुस्तक है और उसके साथ अर्थात् उसमें गुण, कर्म, जातियों का समवाय नामक सम्बन्ध है। गुण या कर्म में रहनेवाली किसी जाति का प्रत्यक्ष किया जाय तो संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध (सन्निकर्ष) होता है। जैसे पुस्तक में रहने वाले रूप में रूपत्व जाति का चाक्षुष प्रत्यक्ष करना हो तो उक्त सन्निकर्ष होता है। क्योंकि चक्षु से संयुक्त है पुस्तक, उसमें समवाय सम्बन्ध है रूप का, अतः समवेत हुआ रूप, उसमें रूपत्व का समवाय सम्बन्ध है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। शब्द का प्रत्यक्ष समवाय सन्निकर्ष से होता है। क्योंकि श्रोत्र आकाश है और शब्द (गुण) उसमें समवाय सम्बन्ध से रहता है। शब्दत्व के प्रत्यक्ष में श्रोत्र का उसके साथ समवेत-समवाय सन्निकर्ष है। क्योंकि श्रोत्ररूप आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहने के कारण शब्द समवेत होता है, और उसमें समवाय नामक सम्बन्ध से शब्दत्व रहता है।

किसी भी अभाव के प्रत्यक्ष में "विशेष्यविशेषणभाव" सन्निकर्ष कारण होता है। विशेष्य-विशेषण भाव को दो भागों में विभक्त समझना चाहिए, जैसे विशेष्यभाव और विशेषणभाव। विशेष्य-भाव का अर्थ है विशेष्यता और विशेषणभाव का अर्थ है विशेषणता। इन दोनों को भी छः-छः भागों में विभक्त समझना चाहिए। जैसे संयुक्तविशेषणता, संयुक्तसमवेत-विशेषणता, संयुक्तसमवेत-समवेतविशेषणता, श्रोत्रविशेषणता, समवेतविशेषणता, समवेत-समवेत विशेषणता। संयुक्तविशेष्यता, संयुक्तसमवेतविशेष्यता, संयुक्तसमवेतसमवेतविशेष्यता, श्रोत्रविशेष्यता, समवेत-विशेष्यता, समवेतसमवेतविशेष्यता। किसी द्रव्य में यदि किसी अभाव का प्रत्यक्ष होगा तो उसके लिए संयुक्तविशेषणता सन्निकर्ष की अपेक्षा होगी। जैसे घर में यदि पुस्तक का अभाव देखा जाय तो संयुक्तविशेषणता सन्निकर्ष की अपेक्षा होगी, क्योंकि आँख से संयुक्त घर में पुस्तक का अभाव विशेषण है। यदि घर में रहनेवाले किसी गुण, कर्म या जाति में किसी अभाव का प्रत्यक्ष करना हो तो संयुक्तसमवेतविशेषणता की अपेक्षा होगी। जैसे यह ज्ञान किया जाय कि "गृह का रूप पुस्तकाभाववाला है" तो यहाँ संयुक्तसमवेतविशेषणता सन्निकर्ष होगा। क्योंकि आँख से संयुक्त है गृह, उसमें उसका रूप समवेत है, उसमें विशेषण होगा पुस्तकाभाव, विशेषणता जायगी पुस्तकाभाव में। यदि गृह के रूप में रहनेवाले रूपत्व में पुस्तकाभाव को विशेषण बनाकर ज्ञान किया जाय, जैसे "गृह-रूपत्व पुस्तकाभाववाला है", तो यहाँ संयुक्तसमवेत-समवेत-विशेषणता सन्निकर्ष होगा। क्योंकि आँख से संयुक्त गृह, उसमें समवेत रूप, उसमें समवेत उसका रूपत्व, उसमें विशेषण होगा पुस्तकाभाव, विशेषणता जायगी पुस्तकाभाव में। यदि शब्द के अभाव का प्रत्यक्ष करना हो तो श्रोत्र-विशेषणता सन्नि-

कर्ष होगा। क्योंकि श्रोत्र है कर्णच्छिद्रवर्त्ती आकाश, उसमें विशेषण होगा शब्दाभाव। यदि शब्द में किसी वस्तु के अभाव का प्रत्यक्ष करना हो, तो समवेतविशेषणता नामक सन्निकर्ष होगा। क्योंकि श्रोत्र में समवेत अर्थात् समवायसम्बन्ध से रहनेवाला होगा शब्द, उसमें विशेषण होगा वह अभाव। यदि शब्दत्व में किसी के अभाव को विशेषण बनाकर उसका प्रत्यक्ष किया जाय तो समवेतसमवेतविशेषणता नामक सन्निकर्ष होगा। क्योंकि श्रोत्र में समवेत होगा शब्द, उसमें समवेत होगा शब्दत्व, उसमें विशेषण होगा वह अभाव। इसका उदाहरण "शब्दत्व पुस्तकाभाववाला है" ऐसे ज्ञान को समझना चाहिए।

यदि अभाव को विशेषण के बदले विशेष्य बनाकर प्रत्यक्ष किया जाय तो 'विशेष्यता' सन्निकर्ष होगा। जैसे "घर में घटाभाव है" इस प्रत्यक्ष में संयुक्तविशेष्यता नामक सन्निकर्ष होगा, क्योंकि यहाँ चक्षुसंयुक्त होगा घर, जो कि विशेषण है, और उसका विशेष्य होगा घटाभाव। इसी प्रकार "गृह-रूप में घटाभाव है" एतादृश ज्ञान में संयुक्तसमवेतविशेष्यता, "गृहरूपत्व में घटाभाव है" एतादृश ज्ञान में संयुक्तसमवेतसमवेतविशेष्यता, "श्रोत्र में शब्द नहीं है" यहाँ श्रोत्र विशेष्यता, "शब्द में रूप नहीं है" इस ज्ञान में श्रोत्रसमवेतविशेष्यता, "शब्दत्व में रूप नहीं है" इस ज्ञान में श्रोत्रसमवेतसमवेतविशेष्यता सन्निकर्ष कारण होंगे। यहाँ द्रव्य में अभावों का ज्ञान सर्व साधारण को होता ही है। तदपेक्षया अल्प मात्रा में गुण और कर्म का आश्रय मान कर भी लोगों को अभाव का प्रत्यक्ष होता है। जाति आदि को आश्रय बनाकर अभाव का प्रत्यक्ष तो पदार्थविवेचन-रसिक ही करते हैं। प्राचीन आचार्यों ने कहा है कि अभाव को अधिकरण बनाकर यदि अभावान्तर का प्रत्यक्ष किया जाय तो विशेषणता एवं विशेष्यताओं के प्रभेद अनन्त होंगे। जैसे "घर में रहनेवाला घटाभाव पटाभाववाला है" ऐसा यदि प्रत्यक्ष किया जाय तो "चक्षु-संयुक्त विशेषण-विशेषणता" सन्निकर्ष कारण होगा। इसी प्रकार और भी बढ़ाकर सन्निकर्षों की रचना की जा सकती है।

संयोग, संयुक्तसमवाय आदि सन्निकर्षों के बीच संयोग केवल चक्षु, त्वक्, मन इन तीनों से होनेवाले प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष होता है। संयुक्तसमवाय और संयुक्तसमवेतसमवाय ये दोनों सन्निकर्ष श्रोत्र को छोड़कर अन्य सभी इन्द्रियों से होनेवाले प्रत्यक्ष में अपेक्षित होते हैं। समवाय और समवेतसमवाय ये दोनों श्रोत्र-प्रत्यक्षस्थल में सन्निकर्ष होते हैं। विशेष्यविशेषणभाव के अन्दर श्रोत्र-विशेषणता, समवेतविशेषणता, समवेतसमवेतविशेषणता, एवं इसी प्रकार की तीन विशेष्यताएँ केवल श्रोत्र से होनेवाले प्रत्यक्ष में अपेक्षित होती हैं। अन्य सभी विशेषणताएँ एवं विशेष्यताएँ श्रोत्र से अति-

रिक्त किसी भी इन्द्रिय के प्रत्यक्ष में अपेक्षित हो सकती हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि उक्त प्रकार की विशेषणताएँ एवं विशेष्यताएँ अत्यन्त परम्परासम्बन्धस्वरूप होने के कारण सन्निकर्ष नहीं हैं। किसी भी अभाव का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं होता। अभाव का ज्ञान आनुपलब्धिक होता है। अर्थात् जिस वस्तु का अभाव ज्ञानविषय होता है उसकी अनुपलब्धि से ही उस अभाव का ज्ञान होता है। अतः अनुपलब्धि एक स्वतन्त्र प्रमाण है। उसीके सहारे किसी भी अभाव को समझा जाता है। जैसे घर में जब घड़ा नहीं देखते हैं तब घड़े के अभाव का ज्ञान होता है। मनुष्य इस प्रकार सोचता है कि "घर में यदि घड़ा होता तो मैं उसे देखता, नहीं देख रहा हूँ, अतः घर में घड़े का अभाव है।" इस प्रकार अनुपलब्धि स्वतन्त्र प्रमाण है। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि इन्द्रियों से ही अभाव का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हो सके, तो उस अभाव-ज्ञान को एक स्वतन्त्र "आनुपलब्धिक" नामक प्रमा-ज्ञान क्यों माना जाय। और उसके लिए अनुपलब्धि नामक प्रमाण भी अतिरिक्त क्यों माना जाय। हाँ, अभाव-प्रत्यक्ष-स्थल में उक्त प्रकार की अनुपलब्धि को इन्द्रियों का सहायक मानना चाहिए। क्योंकि अनुभव का अपलाप नहीं किया जा सकता। अभाव-ज्ञान केवल प्रत्यक्षरूप नहीं होता, अनुमिति और शाब्दबोधस्वरूप भी होता है। क्योंकि अतीन्द्रिय वस्तु के अभाव को इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता।

कुछ लोगों का कहना है कि प्रत्यक्ष को शब्दज और अशब्दज इन दो भागों में भी विभक्त करना चाहिए। जहाँ पदार्थ सन्निकृष्ट होता है और कोई वक्ता उसे कहता है कि "यहाँ यह वस्तु है", ऐसे स्थल में होनेवाला प्रत्यक्ष शब्दज होता है। परन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। वहाँ केवल शब्द से वस्तु की विशृंखल-रूप से उपस्थितिमात्र होकर रह जाती है, वाक्यार्थबोध नहीं होता। यही कारण है कि "इसे मैं देख रहा हूँ" इसी प्रकार का ज्ञान होता है, "इसे मैं सुन रहा हूँ" इस प्रकार का अनुभव नहीं होता। शब्द सुनने के अनन्तर जैसे "मैं सुन रहा हूँ" यह अनुभव होता है, शाब्दबोध के अनन्तर भी उसी प्रकार होता है। अतः यदि चक्षु आदि इन्द्रियों के साथ विषयसन्निकर्षस्थल में भी शाब्दबोध होता, तो अवश्य ही "मैं सुन रहा हूँ" ऐसा अनुभव होता, किन्तु ऐसा होता नहीं है।

प्रत्यक्ष को नित्य और अनित्य दो भागों में भी विभक्त किया जा सकता है। ईश्वर जो सर्वदा प्रत्येक वस्तु को देखता रहता है, वह उसका देखना नित्य-प्रत्यक्ष है। अन्य कोई भी प्राणी किसी इन्द्रिय से वस्तु को जो देखता है, वह देखना अनित्य-प्रत्यक्ष है। इस विभाजन के अनुसार सामान्यतया, जिस ज्ञान के प्रति इन्द्रियों को छोड़कर अन्य कोई करण अर्थात् असाधारण कारण न हो, वह ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। उक्त नित्य

प्रत्यक्ष के प्रति कोई करण नहीं होता, अतः उसके प्रति इन्द्रियाँ भी करण नहीं हैं। अनित्य प्रत्यक्ष में इन्द्रियाँ ही करण होती हैं। प्रत्यक्ष के प्रति शब्द करण नहीं हो सकता, यह बात बतलायी जा चुकी है। इस प्रकार से विभाजन के वर्ग में उक्त घ्राणज, रासन, चाक्षुष आदि प्रत्यक्ष अनित्य-प्रत्यक्ष के प्रभेद होंगे।

अन्य प्रकार से प्रत्यक्ष का विभाजन यह है कि लौकिक-प्रत्यक्ष और अलौकिक प्रत्यक्ष इस रूप से प्रत्यक्ष के दो प्रकार हैं। लौकिक-प्रत्यक्ष उसको कहा जायगा, जिसमें उक्त संयोग, संयुक्तसमवाय आदि सन्निकर्षों की अपेक्षा हो। जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है। अलौकिक-प्रत्यक्ष उसे कहा जायगा जो कि उक्त संयोग आदि सन्निकर्षों से उत्पन्न नहीं होता। अलौकिक प्रत्यक्ष को फिर तीन भागों में विभक्त समझना चाहिए। जैसे (१) धर्मप्रत्यक्षमूलक धर्मविशिष्ट धर्मी-समुदाय का प्रत्यक्ष, (२) विशेषणस्मरणमूलक विशिष्टप्रत्यक्ष और (३) योगज। प्रथम प्रकार के प्रत्यक्ष को "सामान्यलक्षणाजन्य" और द्वितीय प्रकार के प्रत्यक्ष को "ज्ञानलक्षणाजन्य" कहा जाता है। किसी घड़े को देखकर जो भावी एवं अतीत, दूरवर्ती एवं निकटवर्ती सभी घड़ों का समूहात्मक ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष प्रथम प्रकार का है। क्योंकि एक घड़े के साथ आँख जुटने पर जो घटत्व उस घड़े में देखा जाता है वही संसार के समग्र घटों में रहता है। अतः घटत्व-स्वरूप सामान्य का अर्थात् सकलघटसाधारण-धर्म का जब ज्ञान होता है, तो वही ज्ञान असाधारण-कारण बनकर स्वविषय घटकत्व के आश्रयीभूत समग्र घटों का प्रत्यक्ष करा देता है। द्वितीय प्रकार का प्रत्यक्ष वह है, जहाँ कोई दूर से चन्दन-काष्ठ ले जाता है तो दूरता-प्रयुक्त घ्राण के साथ सम्बन्ध न होने पर आँख से ही वहाँ "यह चन्दन सुगन्धित है" इस प्रकार से प्रत्यक्ष होता है, वहाँ सुगन्ध का स्मरण ही सुगन्ध विशिष्ट चन्दन के प्रत्यक्ष में करण अर्थात् असाधारण-कारण हो जाता है। तृतीय अलौकिक-प्रत्यक्ष वह है जिसमें योगियों को अबाधितरूप से पदार्थों का साक्षात्कार होता है। कुछ लोगों ने "प्रातिभ" नामक भी एक प्रकार का प्रत्यक्ष माना है। वस्तुतः उसे 'योगज' के अन्तर्गत ही मानना चाहिए। क्योंकि छोटे बच्चों को जो भावी पदार्थों का ज्ञान होता है, जैसे, पूछने पर छोटी बच्ची कहती है कि "भाई आज आयेगा" और ठीक आता भी है, वहाँ मानना होगा कि विशुद्ध-अन्तः-करण-गत संस्कार ही असाधारण कारण होता है। और योगजस्थल में भी यही बात होती है। क्योंकि योग से योगियों का अन्तःकरण विशुद्ध होने पर ही तद्गत संस्कार के सहारे योगज-प्रत्यक्ष होता है। उक्त अलौकिक-प्रत्यक्षों के अन्दर प्रथम है सामान्य-लक्षणाजन्य-प्रत्यक्ष और द्वितीय ज्ञानलक्षणाजन्य-प्रत्यक्ष। विशिष्ट-प्रत्यक्ष के लिए विशेषण का ज्ञान सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष कहा जाता है, और विशेषण प्रत्यक्ष के लिए

विशेषण का स्मरण ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष कहलाता है ।

अनुमिति-ज्ञान

लोकव्यवहार में प्रत्यक्ष ज्ञान से कहीं अधिक अनुमिति-ज्ञान की अपेक्षा होती है । क्योंकि जो भी कुछ भावी कार्यक्रम स्थिर किया जाता है वह अनुमितिरूप ही होता है । क्योंकि वर्तमान वस्तु का ही प्रत्यक्ष होता है, भावी-वस्तुओं का नहीं। किसी कार्य में प्रवृत्ति भावी फल के निर्णयपूर्वक ही होती है । कुछ दार्शनिकों का मत है कि किसी भावी फल के लिए लोगों की प्रवृत्ति सम्भावना-मात्र से होती है, अत: प्रत्यक्ष से अतिरिक्त अनुमिति नामक अनुभवात्मक ज्ञान नहीं मानना चाहिए । किन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि सम्भावना आखिर क्या होगी ? सन्देह को ही दूसरे शब्दो में सम्भावना कहते हैं । किसी धर्मी में विद्यमान एवं अविद्यमान विरोधी अनेक वस्तुओं के ज्ञान का नाम सन्देह है । अनेक विरोधी वस्तुएँ, जो कि सन्देह में विशेषण रूप से विषय होती हैं, अन्यत्र अवश्य देखी हुई होती हैं । उनका प्रकृत धर्मी में भान होता है । जो इस प्रकार का सन्देह मानेगा, (जिसे भले ही सम्भावना नाम से क्यों न पुकारे) उसे अनुमिति मानने में भी बाधा नहीं होनी चाहिए । क्योंकि अनुमिति-स्थल में भी यही होता है कि, पहले कभी देखे गये किसी पदार्थ को विशेषण बनाकर प्रकृत धर्मी में उसका भान किया जाता है । एक बात यह भी है कि यह सन्देह, जिसे सम्भावना कहा गया है, अवश्य ही प्रत्यक्ष होगा, किन्तु वह प्रत्यक्ष क्या चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से होगा या अन्तरिन्द्रिय मन से ? कुछ भी कहना, अनुमिति नहीं माननेवाले के लिए कठिन होगा । क्योंकि किस प्रमाण के आधार पर पहले बाह्य किंवा आन्तर इन्द्रियों का अस्तित्व मानेंगे ? चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियाँ या मन सभी तो अतीन्द्रिय हैं । इन्हें प्रत्यक्ष प्रमाण से कैसे देखा जा सकेगा ? यदि नहीं, तो वे इन्द्रियाँ ही असिद्ध हो जायँगी, फिर उनसे भावी वस्तु की संभावना और उससे प्राणियों की प्रवृत्ति, उससे फिर अभिमत फल का लाभ ये सभी बातें दूर चली जाती हैं ।

इतना ही नहीं, कोई भी प्रबुद्ध व्यक्ति यदि किसी को उपदेश देता है, तो उसके पहले उपदेष्टव्य व्यक्ति की मनोगति का ज्ञान कर लेता है कि इसके हृदय की परिस्थिति क्या है ? यह क्या समझना चाहता है ? इत्यादि । यह प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता कि दूसरा क्या चाहता है ? उपदेष्टव्य की मानसिक परिस्थिति को न समझकर उपदेश देने पर अनभिमत पदार्थ का भी उपदेश होने लगेगा । परिणाम यह होगा कि श्रोता कुछ समझ ही न सकेगा, बुद्धि-विकास का मार्ग ही अवरुद्ध हो जायगा । अत: अनुमिति नामक अनुभव-ज्ञान मानना होगा ।

अनुमिति-ज्ञान की प्रक्रिया यह है—पहले अनुमाता व्यक्ति दो वस्तुओं को अव्यभिचरित रूप से अर्थात् नियत रूप से सहचरित देखता है, यानी एक आश्रय में विद्यमान देखता है। अनन्तर उन दो वस्तुओं में से एक को किसी अन्य आश्रय में देखकर द्वितीय तत्सहचरित वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान करता है। यही अनुमिति है। यद्यपि अनुमिति ज्ञान की प्रक्रिया स्मृति की प्रक्रिया से मिलती-जुलती मालूम पड़ती है, फिर भी अनुमिति को स्मृति इसलिए नहीं कहा जा सकता कि स्मरण केवल अतीत विषय का हुआ करता है, किन्तु अनुमिति के अतीत, अनागत एवं वर्तमान तीनों विषय होते हैं। अग्निसहचरित धूम को देखकर धूमसहचरित अकेली अग्नि का स्मरण होने पर भी "अग्नि पर्वत में है", "पर्वत अग्निवाला है" इस प्रकार से पर्वतसम्बद्ध अग्निविषयक स्मरण नहीं हो सकता, क्योंकि अग्नि के साथ होनेवाले पर्वतसम्बन्ध का पूर्व-अनुभव है नहीं, अननुभूत पदार्थ का कभी स्मरण नहीं होता।

अनुमिति के प्रभेद

यों तो विभिन्न प्राचीन दार्शनिकों के अनुमिति-विभाजन में कोई मौलिक अन्तर नहीं दीख पड़ता, फिर भी आपाततः कुछ अन्तर प्रतीत होता है। जैसे कुछ दार्शनिकों का कहना है कि अनुमिति दो प्रकार की है; वीत और अवीत। अवीत अनुमिति को ही शेषवत् अनुमिति, परिशेषानुमिति इन नामों से कहा जाता है। वीत अनुमिति को पूर्ववत् अनुमिति, सामान्यतो दृष्ट अनुमिति इन दो भागों में विभक्त किया जाता है।

परिशेषानुमिति वह होती है, जहाँ सम्भावित इतर की व्यावृत्ति के द्वारा परिशिष्ट वस्तु अनुमेय होती है; जैसे शब्द पृथिवी-जल-तेज-वायु-काल-दिक्-आत्मा और मन का गुण नहीं हो सकता, अतः उसका आश्रय कोई स्वतन्त्र द्रव्य है; इस-प्रकार से जो आकाश द्रव्य की अनुमिति होती है, वह परिशेषानुमिति है।

'पूर्ववत्' अनुमिति वह होती है जहाँ अनुमेय और अनुमापक अनुमिति के पहले किसी आश्रय में देखे हुए होते हैं। जैसे रसोईघर में धूम और अग्नि को पहले देखकर पीछे दूर पर्वत से उठती हुई धूम-शिखा को देखने पर पर्वत में अग्नि की अनुमिति होती है। इसे "पूर्ववत्" इसलिए कहा जाता है कि अनुमाता "जैसे पूर्व अर्थात् रसोईघर धूमवाला था, तो अग्निवाला भी था, तद्वत् यह पर्वत भी धूमवाला है तो अग्निवाला अवश्य है", इस प्रकार भान करता है।

'सामान्यतो दृष्ट' वह अनुमिति कहलाती है जहाँ प्रकृत अनुमिति के पहले साध्य का विशेषतः अर्थात् विशेष धर्मयुक्त रूप से भान नहीं रहता है, किन्तु सामान्य-

रूप से कथंचित् उसका भान रहता है। चक्षु आदि अतीन्द्रिय वस्तुओं की अनुमिति "सामान्यतो दृष्ट" अनुमिति कहलाती है। क्योंकि अनुमिति के पहले चक्षुष्ट्व किंवा इन्द्रियत्व आदि विशेष धर्मयुक्त रूप से इन्द्रिय का भान नहीं रहता, अपितु इन्द्रिय एवं कुठारआदि साधारण "करणत्व" जैसे सामान्य धर्म रूप से इन्द्रियों का ज्ञान पहले रहता है। चक्षु आदि इन्द्रियों की अनुमिति इस तरह होती है—"रूप-रस आदि गुणों का ज्ञान किसी न किसी करण से होता है, क्योंकि ज्ञान भी छेदन आदि क्रिया के समान धात्वर्थ-रूप क्रिया है।" इस अनुमिति द्वारा करणरूप से चक्षु आदि इन्द्रियों की सिद्धि सामान्यत: होती है; चक्षुष्ट्व, इन्द्रियत्व आदि विशेष धर्म युक्त रूप से नहीं। अत: ऐसी अनुमिति "सामान्यतो दृष्ट" कहलाती है।

गौतम एवं वात्स्यायन प्रभृति प्राचीन नैयायिकों ने "वीत" और "अवीत" की चर्चा नहीं की है, "पूर्ववत्", "शेषवत्" और "सामान्यतोदृष्ट" इन भेदों से अनुमिति विभाजन किया है। इन लोगों के मत में 'पूर्ववत्' का अर्थ है 'कारणलिंगक अनुमिति', 'शेषवत्' का अर्थ है 'कार्यलिंगक अनुमिति' और 'सामान्यतोदृष्ट' का अर्थ है 'अनुभयलिंगक अनुमिति।' अचानक नदी की बाढ़ देखकर "कहीं वृष्टि हुई है" ऐसी भूतपूर्व वृष्टि की अनुमिति होती है कार्यलिंगक, क्योंकि वृष्टि है कारण और नदी-वृद्धि है कार्य। कार्य को ही लिंग अर्थात् अनुमापक हेतु बनाकर कारणीभूत मेघ को देखकर भावी वृष्टि की "वृष्टि होगी" इस प्रकार होनेवाली अनुमिति कहलाती है शेषवत् अनुमिति, क्योंकि कारण के अनन्तर होने से कार्य कहलाता है "शेष", और वही होता है उक्त अनुमिति में ज्ञापक हेतु। "सामान्यतोदृष्ट" अनुमिति वह कहलाती है जहाँ अनुमेय और अनुमापक कार्यकारणभावापन्न नहीं होते। जैसे, सींग देखकर उससे "यह पशु है" इस प्रकार पशुत्व की अनुमिति होती है। क्योंकि यहाँ ज्ञापक शृंगित्व एवं ज्ञाप्य पशुत्व के अन्दर कोई किसी का कार्य या कारण नहीं है, अत: यह अनुमिति अनुभयलिंगक या सामान्यतो दृष्ट कहलाती है।

यहाँ नव्य नैयायिकों की व्याख्या कुछ और ही है। उनका कहना है कि "पूर्ववत्" का अर्थ है "केवलान्वयी", "शेषवत्" का अर्थ है "केवलव्यतिरेकी" और "सामान्यतोदृष्ट" का अर्थ है "अन्वयव्यतिरेकी"। इस प्रकार अनुमिति तीन तरह की है; "केवलान्वय्यनुमिति", "केवलव्यतिरेक्यनुमिति" और "अन्वयव्यतिरेक्यनुमिति"। केवलान्वय्यनुमिति वह होती है जहाँ अनुमेय और अनुमापक दोनों का या केवल अनुमेय का अथवा केवल अनुमापक का अभाव न मिलने के कारण व्यतिरेकव्याप्ति-ज्ञान न हो, सिर्फ अन्वयव्याप्ति का ज्ञान हो और इसी से परामर्श ज्ञान होकर अनुमिति होती हो। जैसे "यह घट अभिधेय है, क्योंकि प्रमेय है।" यहाँ पर "यह घट अभिधेय है" यह

अनुमति केवलान्वय्यनुमिति है। क्योंकि संसार की सभी वस्तुएँ अभिधान-योग्य अर्थात् कथनयोग्य होने के कारण, अभिधेय हैं। अतः यहाँ व्यतिरेकव्याप्ति-ज्ञान नहीं हो सकता, केवल अन्वयव्याप्तिज्ञान होता है।

अनुमापक में अनुमेय का अव्यभिचरित-साहचर्य ही है अन्वयव्याप्ति, जिसकी चर्चा पहले कर चुके हैं। अनुमेय के अभाव में अनुमापक के अभाव का अव्यभिचरित साहचर्य होना "व्यतिरेक व्याप्ति" है। जैसे "पर्वत वह्निवाला है, क्योंकि धूम-शिखा उठ रही है"। यहाँ पर "जहाँ-जहाँ अग्नि का अभाव होगा वहाँ-वहाँ धूम का भी अभाव होगा, अतः अग्नि के अभाव में धूम के अभाव का अव्यभिचरित साहचर्य है", यही है "व्यतिरेकव्याप्ति"। किन्तु प्रकृत "पर्वत अग्निवाला है" यह अनुमिति केवल—व्यतिरेक्यनुमिति नहीं है। यहाँ व्यतिरेकव्याप्ति के समान अन्वयव्याप्ति भी अक्षुण्ण है। क्योंकि जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है, यह अनुमापक-धूमगत अनुमेय अग्नि का अव्यभिचरित सहचार का ज्ञान भी अबाधित है। अतः "पर्वत अग्निवाला है क्योंकि इससे धूम-शिखा उठ रही है" यहाँ पर 'पर्वत अग्निवाला है" यह केवल-व्यतिरेक्यनुमिति नहीं, अपितु अन्वयव्यतिरेक्यनुमिति है। जहाँ अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति दोनों पायी जाती हैं वह अनुमिति अन्वयव्यतिरेक्यनुमिति होती है।

यदि किसी भी धर्मी में अपने से भिन्न सारी वस्तुओं के भेद की अनुमिति की जाय, तो वह केवलव्यतिरेक्यनुमिति होगी। जैसे "घट वस्तु घट-भिन्न वस्तुओं से भिन्न है क्योंकि विलक्षण आकार वाली है", यहाँ "घट घट-भिन्न से भिन्न है" यह अनुमिति होगी केवलव्यतिरेक्यनुमिति। क्योंकि घट-भिन्न भेद केवल घट में ही होने के कारण विलक्षण आकाररूप अनुमापक में उसका अव्यभिचरित-साहचर्य रूप उसकी अन्वय-व्याप्ति कहीं दिखलायी नहीं जा सकती, उसका ज्ञान नहीं हो सकता। अनुमिति के पहले घट में उस अनुमेय "घट-भिन्न भेद" का निर्णय नहीं रहता, जिससे कि वहाँ अन्वय-सहचार का ज्ञान किया जा सके। क्योंकि प्रकृत धर्मी में प्रकृत अनुमेय का निश्चय प्रकृत अनुमिति के प्रति बाधक होता है, उस निश्चय का अभाव उस अनुमिति के प्रति कारण होता है, जिसे नव्यनैयायिक "पक्षता" नाम से पुकारते हैं। अतः उक्त "घट घट-भिन्न-भिन्न है" यह अनुमिति अन्वय्यनुमिति न होकर केवल-व्यतिरेक्यनुमिति होगी। क्योंकि पट-मठ आदि में जहाँ-जहाँ घट-भेद होने के कारण घट-भिन्न-भेद नहीं है, वहाँ-वहाँ विलक्षण घटगत आकार भी नहीं है; इस प्रकार व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान होता है और उससे उक्त अनुमिति होती है।

उक्त तीन प्रकार की अनुमितियों के अव्यवहित-पूर्व उत्पन्न होनेवाला एवं इन अनुमितियों के प्रति कारणीभूत परामर्श ज्ञान तीन प्रकार का है। अन्वयपरामर्श,

व्यतिरेक-परामर्श और अन्वय-व्यतिरेक-परामर्श। परामर्श को अनुमिति के प्रति कारण इसलिए माना जाता है कि अनुमेय के व्याप्य होने वाले अनुमापक को प्रकृत धर्मी में समझने के कारण ही प्रकृत धर्मी में अनुमेयस्वरूप व्यापक वस्तु की निश्चयात्मक अनुमिति होती है। क्योंकि जहाँ व्याप्य वस्तु रहती है वहाँ व्यापक वस्तु अवश्य रहती है। "अनुमेय के प्रति व्याप्य होनेवाला अनुमापक प्रकृत धर्मी में है" इसी ज्ञान का नाम है परामर्श। कुछ लोग एक अखण्ड ज्ञानरूप से परामर्श को अनुमिति के प्रति कारण नहीं मानते, किन्तु "अनुमापक प्रकृत अनुमेय का व्याप्य है" और "वह व्याप्यभूत अनुमापक प्रकृत धर्मी में रहता है" इस प्रकार ज्ञान की अपेक्षा अनुमिति के प्रति वे भी मानते हैं।

यह ध्यान रखना चाहिए कि पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ये अनुमिति के प्रभेद उन्हीं लोगों के मत में होते हैं, जो "अर्थापत्ति" को अतिरिक्त प्रमा नहीं मानते। क्योंकि शेषवत् अनुमिति का ही अपर नाम अर्थापत्ति है। भाव यह है कि कुछ लोग केवल "अन्वयव्यतिरेक्यनुमिति" नामक एक ही अनुमिति मानते हैं। परन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि जब अनुमिति के भीतर ही अर्थापत्ति की गतार्थता हो सकती है, फिर अतिरिक्त "प्रमिति" और उसके लिए अर्थापत्ति नामक स्वतन्त्र प्रमाण मानने का कोई प्रयोजन नहीं है।

अनुमिति के अन्य प्रभेद

अन्य प्रकार से अनुमिति का विभाजन करें तो अनुमिति दो प्रकार होती है; स्वार्थानुमिति और परार्थानुमिति। स्वार्थानुमिति वह है जहाँ उपदेश्य-उपदेशक-भाव का प्रयोजन नहीं होता है. अनुमाता अनुमापक हेतु को प्रकृत धर्मी में देखकर स्वयं अनुमेय की अनुमिति उस धर्मी में कर लेता है। जैसे कोई मनुष्य पर्वत से उठनेवाली धूम-शिखा को देखकर "यह पर्वत अग्निवाला है" इस प्रकार अनुमिति करता है। ऐसी अनुमिति "स्वार्थानुमिति" कहलाती है। "स्वार्थ" और "परार्थ" यहाँ पर 'अर्थ' शब्द का मतलब है अर्थित, फलत: स्वार्थित अनुमिति होती है स्वार्थानुमिति और परार्थित अनुमिति होती है परार्थानुमिति।

द्वितीय परार्थ अनुमिति इस प्रकार होती है कि कोई मनुष्य अनुमापक से प्रकृत अनुमेय की अनुमिति करके दूसरे को अनुमिति कराने के लिए वाक्य-प्रयोग करता है। ऐसे वाक्य को दार्शनिक लोग "न्याय" कहते हैं। किसी से न्याय-वाक्य सुनने पर श्रोता को परामर्श होकर जो अनुमिति हो, वही परार्थानुमिति है। जितने वाक्यों को सुनने से श्रोता को परामर्श होकर अनुमिति होती है, उतने वाक्यों का ही अन्य नाम "न्याय" है। जैसे कोई मनुष्य धूम-शिखा से पर्वत में स्वयं अग्नि का निश्चय करके दूसरे

के प्रति कहता है--

(१) पर्वत अग्निवाला है, (२) क्योंकि इससे धूम-शिखा उठ रही है, (३) जो-जो धूमवाला होता है, वह अग्निवाला अवश्य होता है, जैसे पाकगृह, (४) यह पर्वत भी धूमवाला है, (५) अतः अग्निवाला है। यही है न्याय, यह पाँच वाक्य-खण्डों का समुदाय होता है। अतः इसके अवयव अर्थात् अंश पाँच होते हैं। इनमें प्रथम वाक्य को "प्रतिज्ञा" कहते हैं, दूसरे को "हेतु", तीसरे को "उदाहरण", चौथे को "उपनय" और पाँचवें को "निगमन" वाक्य कहते हैं।

कुछ दार्शनिकों का कहना है कि (१) प्रतिज्ञा, (२) हेतु और (३) उदाहरण इन तीन वाक्यों से, किंवा (१) उदाहरण, (२) उपनय और (३) निगमन इन तीन वाक्यों से ही श्रोता को अनुमेयनिश्चयात्मक अनुमिति हो जाती है। अतः तीन ही अवयव मानकर, उतने वाक्य-समुदाय को "न्याय" कहना चाहिए, पञ्चावयव-वाक्य को नहीं। कुछ लोग केवल प्रतिज्ञा-वाक्य और हेतु-वाक्य दो को ही न्यायावयव मानते हैं।

अति प्राचीन कुछ दार्शनिक दशावयववादी थे, अर्थात् इन पाँच वाक्यात्मक अवयवों के अतिरिक्त अवाक्यात्मक भी पाँच अवयव मानते थे। उन अवाक्यात्मक अवयवों को वे (१) जिज्ञासा, (२) संशय, (३) प्रयोजन, (४) शक्यप्राप्ति और (५) संशयव्युदास कहते थे। किन्तु परवर्ती पञ्चावयववादी दार्शनिकों ने अनुमापक वाक्य किंवा उसके अंश न होने के कारण, उन्हें न्यायावयव नहीं माना। कुछ भी हो, अवयवों की संख्या में विप्रतिपत्ति होने पर भी न्यायसाध्य परार्थानुमिति के सम्बन्ध में प्रत्यक्षमात्र-प्रामाण्यवादी को छोड़कर सभी दार्शनिक सहमत हैं।

ध्यान रखना चाहिए कि "अर्थापत्ति" स्वतन्त्र प्रमिति नहीं है, अनुमिति के अन्दर उसका अन्तर्भाव हो जाता है। उसी प्रकार "साम्भविक" ज्ञान भी अनुमिति है, स्वतन्त्र प्रमिति नहीं, अतएव "सम्भव" भी स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। साम्भविक ज्ञान यह कहलाता है जैसे—कोई यह समझता है कि "ये एक हजार आम हैं", तब अनायास वह यह भी समझ लेता है कि "तब इनके अन्दर सौ आम जरूर हैं।" यह सौ संख्या का निश्चय साम्भविक ज्ञान है। अर्थापत्ति ज्ञान वह है जैसे—किसी ने कहा कि "वह मोटा है किन्तु दिन में खाता नहीं।" अनायास यहाँ निश्चय हो जाता है कि "वह रात को खाता है।" यह निश्चय अर्थापत्ति है। उक्त साम्भविक एवं यह अर्थापत्ति दोनों तत्त्वतः अनुमापक से होने वाली अनुमेय-निश्चयात्मक अनुमिति हैं। क्योंकि सहस्र-संख्या, सौ संख्या के बिना नहीं हो सकती, और मोटापन भी खाये बिना नहीं हो सकता; जैसे अग्नि के बिना धूम नहीं हो सकता। अतः धूम से जिस प्रकार अग्नि की अनुमिति

होती है उसी प्रकार सहस्र संख्या से सौ संख्या की एवं दिनभोजन-रहित मोटेपन से रात्रि-भोजन की अनुमिति होने में कोई बाधा नहीं है।

कुछ आक्षेपक यह कहकर अनुमिति को स्वतन्त्र प्रमिति होने से रोकना चाहते थे कि अनुमिति कहीं-कहीं मिथ्या होती है, अतः उसे प्रमिति नहीं मानना चाहिए। इसके उत्तर में दार्शनिकों ने यह कहकर उसे प्रमिति सिद्ध किया कि कोई मनुष्य चोर हो तो इससे सब मनुष्यों को चोर नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार किसी अनुमिति के मिथ्या होने से सभी अनुमितियाँ मिथ्या नहीं हो सकतीं। जो मिथ्या नहीं, उन्हें "प्रमिति" पद से नहीं हटाया जा सकता, अतः अनुमिति स्वतन्त्र प्रमिति है। अतएव अनुमान स्वतन्त्र प्रमाण है।

न्याय-वाक्य प्रयोक्ताओं की परिभाषा है कि जिस धर्मी अर्थात् आश्रय में अनुमेय का निश्चय किया जाता है उसे "पक्ष", जो अनुमेय होता है उसे "साध्य" और जिस अनुमापक से निश्चयात्मक अनुमिति होती है उसे "हेतु" अथवा "लिंग" कहा जाता है। जैसे—"पर्वत, अग्निवाला है, क्योंकि उसमें धूम है" यहाँ पर्वत पक्ष है, अग्नि साध्य है और धूम हेतु है।

अनुमापक हेतु को सत् (अच्छा) हेतु और असत् (बुरा) हेतु इस प्रकार दो भागों में बाँटा जाता है। पक्ष और सपक्ष में रहते हुए विपक्ष में न रहना एवं अबाधित तथा असत्प्रतिपक्षित होना, यह अनुमापक हेतु की सत्ता (अच्छापन) और इसमें आंशिक भी विघटन प्राप्त होना असत्ता (बुरापन) है। जिसमें अनुमेय का निश्चय पहले से हो वह सपक्ष है और पहले से जिसमें अनुमेय का अभाव निश्चित हो वह विपक्ष है। जिस अनुमापक हेतु का अनुमेय पक्ष में नहीं रहता वह बाधित होता है और वैसा न होने वाला अनुमापक हेतु होता है "अबाधित"। पक्ष में प्रकृत अनुमेय के अभाव की सिद्धि के लिए यदि कोई अप्रकृत हेतु प्रतिपक्ष रूप से उपस्थित हो जाय तो प्रकृत हेतु होता है सत्प्रतिपक्षित, और वैसा न होनेवाला होता है असत्प्रतिपक्षित। प्रकृत अनुमापक को "सत्" (अच्छा) होने के लिए "व्याप्ति" और "पक्षधर्मता" (पक्ष में रहना) में रहने के साथ ही "अबाधित" और "असत्प्रतिपक्षित" होना भी आवश्यक है। "पक्ष-सत्त्व" और "विपक्ष-सत्त्व" में कोई एक न भी हो तो अनुमिति में बाधा नहीं होती।

उपमिति-ज्ञान

प्रत्यक्ष और अनुमिति के समान उपमिति भी एक स्वतन्त्र प्रमिति है। इसकी प्रक्रिया यह है, जैसे किसी ने किसी से कहा कि "विषहरणी बूटी के पौधे मूँग के पौधे के समान होते हैं।" कभी उस श्रोता को दवाई के लिए विषहरणी बूटी की जरूरत हुई तो जंगल में जाकर ढूँढ़ने लगा। उसने कहीं मूँग के पौधे के समान पौधा देखकर

निश्चय किया कि "यह विषहरणी है।" यही निश्चय उपमिति ज्ञान कहलाता है॥ इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। सार यह कि नाम और नामी, दोनों में होने वाले "नाम-नामिभाव" सम्बन्ध का निश्चय ही उपमिति है।

ऐसे निश्चय को प्रत्यक्ष इसलिए नहीं कहा जा सकता कि वह इन्द्रियसन्निकर्ष-मात्र से नहीं होता है; उसमें उपदेश तथा तत्स्मरण की भी अपेक्षा होती है। प्रत्यक्ष में यह बात नहीं है। ऐसे निश्चय को अनुमिति इसलिए नहीं कहा जा सकता कि कोई अनुमापक हेतु उपस्थित नहीं है, एवं उसमें प्रकृत अनुमेय "नाम-नामिभाव" सम्बन्ध के साथ अव्यभिचरित साहचर्य आदि व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता है। फिर उसके बिना अनुमिति की सम्भावना कहाँ रह जाती है? अतः उपमिति स्वतन्त्र प्रमिति है।

कुछ लोगों का कहना है कि "नामनामिभाव का निश्चय" उपमिति नहीं है किन्तु "विपरीत सादृश्य निश्चय" उपमिति है। अर्थात् उपदेश सुनने के अनन्तर जंगल में ढूंढने पर उस विषहरणी के पौधे में मूँग के पौधे के सादृश्य का तो प्रत्यक्ष होता है, कि यह पौधा मूँग के पौधे के समान है, परन्तु वहाँ अविद्यमान मूँग के पौधे में विषहरणी के पौधे के सादृश्य का भी निश्चय होता है, उसे प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। क्योंकि दूरवर्त्ती मूँग के पौधे के साथ चक्षु का सम्बन्ध नहीं है, अतः "मूँग के पौधे इस विषहरणी पौध के सदृश हैं" ऐसा निश्चय उपमिति है। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं मालूम होता कि एक में अपर का सादृश्य प्रत्यक्ष होने पर अपर में उस एक के सादृश्य की अनुमिति ही होगी। क्योंकि सादृश्य दोनों में परस्पर हुआ करता है। दूसरी बात यह है कि विषहरणी में तो मूँग के सादृश्य का निश्चय अपेक्षित होता है, क्योंकि उसके ज्ञान के बिना अपेक्षित विषहरणी बूटी का निश्चय नहीं हो सकता। किन्तु मूँग में विषहरणी के सादृश्य का निश्चय अपेक्षित नहीं, और उसे "उपमिति" मानकर उसके लिए स्वतन्त्र उपमान प्रमाण मानना आवश्यक नहीं।

कुछ लोग उपमिति नामक स्वतन्त्र प्रमिति नहीं मानते, अतएव उपमान-प्रमाण भी नहीं मानते। उनका कहना है कि यदि सादृश्य निश्चय को उपमिति कहा जाय तो यह इसलिए संगत नहीं होगा कि सादृश्य का तो प्रत्यक्ष होता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि विषहरणीगत मूँग के सादृश्य का प्रत्यक्ष होने पर भी दूरवर्त्ती मूँग के पौधे में सादृश्य का प्रत्यक्ष नहीं होता। क्योंकि उभयगत समान धर्म ही सादृश्य होता है, वह यदि एकगत प्रत्यक्ष हुआ तो अपरगत प्रत्यक्ष भी हो गया, सुतरां उसका भी प्रत्यक्ष हो जाने से उपमिति का प्रयोजन नहीं।

यदि यह कहा जाय कि "नामनामिभाव" स्वरूप "वाच्य-वाचकभाव" का निश्चय

उपमिति रूप होगा, तो यह भी युक्तिसंगत नहीं। क्योंकि उसे अनुमिति रूप ही माना जा सकता है। सादृश्य को अनुमापक हेतु बनाकर "यह विषहरणी है क्योंकि मूँग के पौधे के समान है," इस प्रकार अनुमिति अनायास हो सकती है, इत्यादि।

यहाँ सादृश्य का प्रत्यक्ष हो जाता है, यह प्रथम अंश ठीक होने पर भी सादृश्य को अनुमापक हेतु बनाकर "नामनामिभाव" की अनुमिति हो जायगी, यह द्वितीय अंश ठीक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सादृश्य उभयगत होने के कारण मूँग के पौधे में भी है, किन्तु वहाँ विषहरणी शब्द की वाच्यता नहीं, विषहरणी उसका नाम नहीं है, अतः सादृश्य हेतु व्यभिचारी होता है। उसमें जब कि अनुमेय "नामिता" का अव्यभिचरित सामानाधिकरण्य नहीं, फिर वह कैसे अनुमापक हो सकता है? सबसे बड़ी बात यह है कि किसी भी ज्ञान के स्वरूप का परिचय उसके परवर्ती साक्षात्कार से होता है। प्रकृत में यदि उपमिति न होकर अनुमिति होती, तो "यह विषहरणी है" इस निश्चय के अव्यवहित उत्तरकाल में "मुझे अनुमिति हुई" एतादृश निश्चयात्मक अनुव्यवसाय होता, जो कि होता नहीं। अतः उपमिति नामक स्वतन्त्र प्रमिति माननी चाहिए।

उपमिति के प्रभेद

उपमिति दो प्रकार की होती है—(१) साधर्म्योपमिति और (२) वैधर्म्योपमिति। साधर्म्योपमिति उसे कहते हैं जो सादृश्य-निश्चयमूलक होती है, जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है। वैधर्म्योपमिति इस प्रकार होती है, जैसे ऊँट से अपरिचित किसी मनुष्य से किसी ऊँट जानने वाले ने कहा कि "क्या तुम ऊँट को नहीं पहचानते?" उसकी आकृति अन्य पशुओं से अतिविलक्षण होती है, उसके ओठ लम्बे होते हैं, गरदन खूब लम्बी होती है, वह काँटे बड़े ही प्रेम से खाता है, नीम को भी चबाकर खूब स्वाद लेता है।" अनन्तर श्रोता मारवाड़ जाकर ऊँट को पूर्व उपदेश के अनुसार अन्य पशुओं से विलक्षण देखता है, तो यह निश्चय करता है "यही पशु ऊँट है।" यह "वैधर्म्योपमिति" होती है। क्योंकि पश्वन्तर के साथ विसदृशता के दर्शन से उक्त निश्चय होता है। अन्य समग्र विचार यहाँ भी "साधर्म्योपमिति" के समान होंगे।

शब्दज ज्ञान (शाब्दबोध)

प्रत्यक्ष, अनुमिति और उपमिति के समान शाब्दबोध भी एक स्वतन्त्र प्रमिति-ज्ञान है। शब्द सुनने के अनन्तर उससे होने वाले बोध का अपलाप नहीं किया जा सकता, और शब्द श्रवण के अनन्तर उत्पन्न होने के कारण इसे प्रत्यक्ष, अनुमिति या उपमिति भी नहीं कहा जा सकता। इसकी प्रक्रिया यह है कि वक्ता के वाक्योच्चारण के अनन्तर श्रोता उसे सुनता है, अर्थात् कान से इन शब्दों का साक्षात्कार करता है, उसके अगले

क्षण में तत्तत्पदजन्य तत्तत्पदार्थों का ज्ञान (स्मरण) होता है। फिर सब पदार्थों का सम्बद्ध रूप से बोध होता है। इसे ही वाक्यार्थबोध, अन्वयबोध, शाब्दबोध आदि कहा जाता है।

वाक्य सुनने पर सभी को समान रूप से वाक्यार्थबोध नहीं होता है। संस्कृतभाषानभिज्ञ व्यक्ति संस्कृत वाक्यों से बोध नहीं कर पाता। अन्य भाषा के वाक्यों को सुन कर भिन्न भाषाभाषी कुछ नहीं समझता। अतः शब्द श्रवण के अनन्तर और शाब्दबोध के पूर्व, उसके लिए तत्तत्पदार्थों के स्मरण की अपेक्षा माननी पड़ती है। तत्तत्पदार्थों का स्मरण उसे ही होता है जिसे पद अर्थात् वाचक शब्द और उसके अर्थ इन दोनों के सम्बन्ध का ज्ञान रहता है। एक-भाषाभिज्ञ को अपर भाषागत शब्द के अर्थों के साथ होने वाले उन शब्दों के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं रहता, इसीलिए पद सुनने पर भी पदार्थ का स्मरण नहीं होता। अतएव उसे वाक्यार्थबोध स्वरूप शाब्दबोध भी नहीं होता। उदाहरण यह है कि राम श्याम से कहता है--"श्याम ! तुम कहाँ जा रहे हो।" तो इसमें श्याम को (१) श्याम, (२) तुम, (३) कहाँ, (४) जा रहे हो, इन चारों पदों से चारों पदार्थों की उपस्थिति अनन्वित (असंबद्ध) रूप से होती है। फिर अन्वित रूप से चारों पदार्थों का बोध स्वरूप यह वाक्यार्थबोध होता है कि "राम मुझ से यह पूछ रहा है कि तुम्हारा कहाँ जाना हो रहा है ?"

जैसे माला में गुँथे हुए पुष्प पहले अलग-अलग उपस्थित रहते हैं, फिर एक सूत्र में आबद्ध होकर एक "पुष्पमाला" के रूप में देखे जाते हैं। उसी प्रकार वाक्यार्थबोध के पहले तत्तत्पदार्थ स्वतन्त्र रूप से उपस्थित होते हैं, फिर परस्पर अन्वित रूप में समझे जाते हैं। इसी समझने के अन्य नाम हैं अन्वयबोध, वाक्यार्थबोध, शाब्दबोध इत्यादि।

यहाँ एक जटिल प्रश्न उपस्थित होता है, माला-ग्रथन के अव्यवहित पूर्व जैसे पुष्प उपस्थित रहते हैं, अन्वयबोध के अव्यवहित पूर्व उसी प्रकार सभी प्रकृत पदार्थों की उपस्थिति होनी चाहिए, जो कि असम्भव है। असम्भव इसलिए कि शब्द अनित्य, तृतीय क्षण-विनाशी है जिसका विवेचन शब्द-विचार-स्थल में किया जायगा। वाक्य के अन्दर एक शब्द बोलने के बाद अपर शब्द का उच्चारण होते ही उससे पहले वाला शब्द नष्ट होता जायगा। उसी प्रकार के क्रम से पदार्थोपस्थितियाँ भी नष्ट हो जायेंगी। अन्तिम उदाहरण--जैसे राम ने श्याम से कहा--"श्याम ! तुम कहाँ जा रहे हो, इधर आओ सुन लो तो जाना", यहाँ "जाना" इस अंतिम पद के अर्थ गमन के उपस्थिति-काल में (१) श्याम, (२) तुम, (२) कहाँ इत्यादि पूर्व-पूर्व पदों के अर्थों की उपस्थितियाँ नष्ट हो जाने के कारण एक काल में नहीं रहेंगी। फिर परस्पर पदार्थों का अन्वयबोधरूप शाब्दबोध कैसे हो सकेगा ?

वाच्यार्थ का त्याग न होने के कारण कैसे जहल्लक्षणा कही जायगी ? अतः इस स्थल में अजहल्लक्षणा माननी चाहिए। जहाँ "इसके घर खाना मत खाओ" यह समझाने के लिए वक्ता कहता है कि "इसके घर जाकर विष खाओ", वहाँ जहल्लक्षणा होगी। क्योंकि "विष खाओ" इस शब्द का वाच्य अर्थ यह नहीं है कि मत खाओ। अतः वाच्य अर्थ का पूर्ण त्याग होने के कारण जहल्लक्षणा होगी।

अजहल्लक्षणा उस वाच्य-सम्बन्ध को कहते हैं जो प्रकृत शब्द के वाच्य एवं अवाच्य उभयगत रूप से विवक्षित होता है। जैसे—"कौआ-बिल्ली-कुत्ते सभी से दही को बचाओ, कोई खाने न पाये" इस अर्थ को समझाने के लिए वक्ता यह वाक्य प्रयोग करता है "कौए से दही को बचाओ", यहाँ अजहल्लक्षणा होती है। क्योंकि यहाँ कौआ शब्द से जैसे उसके अवाच्य बिल्ली-कुत्ते आदि दही के भक्षक विवक्षित होते हैं, वैसे ही उसके वाच्य अर्थ कौए भी विवक्षित होते हैं। "कौए से दही को बचाओ" इस वाक्य के वक्ता का अभिप्राय यह होता है कि सभी भक्षक जन्तुओं से दही को बचाओ। अतः "दधि भक्षकत्व" सम्बन्धस्वरूप लक्षणा वाच्यार्थ कौए एवं अवाच्यार्थ बिल्ली आदि सभी में है। सुतरां वाच्य और अवाच्य उभय वस्तुगत रूप से विवक्षित होने के कारण दधिभक्षकत्व सम्बन्ध ही अजहल्लक्षणा कही जाती है, ।

जहदजहल्लक्षणा वहाँ होती है जहाँ वाच्य अर्थ के सम्बन्ध का आश्रय रूप से पूरा वाच्य अर्थ विवक्षित न होकर कुछ अंश विवक्षित होता है। जैसे—पहले देखी हुई वस्तु के लिए जब वक्ता यह कहता है कि "यह वही है", तो वहाँ जहदजहल्लक्षणा ज्ञान के सहारे ही श्रोता पदार्थ का स्मरण कर शाब्दबोध करता है। क्योंकि "वह" शब्द का वाच्य अर्थ होता है अतीत काल में होने वाला, और "यह" का अर्थ इस काल में होने वाला। दोनों कालों में भेद होने के कारण उन विशेषणों से विशिष्ट दोनों का ऐक्य बाधित है, जो कि वक्ता को विवक्षित रहता है। अतः काल अंश को अलग करके वस्तुमात्र अंश को लेकर श्रोता ऐक्य समझता है। सार यह है कि विवक्षित वस्तु में होने वाला वाच्यार्थ का "अंशता" नामक सम्बन्ध ही "जहदजहल्लक्षणा" होती है।

लक्षित लक्षणा परम्परासम्बन्ध रूप होती है। जैसे "द्विरेफ मधुपान कर रहा है" ऐसे वाक्य-प्रयोग में श्रोता को जो "द्विरेफ" पद से भ्रमर जन्तु का बोध होता है, वह लक्षित लक्षणा से होता है। क्योंकि "द्विरेफ" शब्द का वाच्य अर्थ है केवल दो रेफ, अर्थात् दो "र"। अतः दो रेफ जिस नाम में हों वह है "द्विरेफ", इस बहुव्रीहि-समास से रेफद्वयघटित "भ्रमर" शब्द की प्रथमतः प्राप्ति की जाती है, फिर उसकी वाच्यता भ्रमर जन्तु में आती है। इस प्रकार "द्विरेफ" पद का "स्ववाच्य-रेफद्वयघटित-पद-वाच्यता" स्वरूप परम्परा सम्बन्ध भ्रमरजन्तु में आता है। यही लक्षित लक्षणा है।

सार यह कि जहाँ लक्षणागर्भ लक्षणा होती है, अर्थात् एक वाच्यार्थ सम्बन्ध को भीतर रखकर जब प्रकृत अर्थ का बोध किया जाता है, तब प्रकृत अर्थ में प्रकृत पद की परम्परा-सम्बन्ध स्वरूप "लक्षितलक्षणा" होती है। इस प्रकार के विचारानुसार लक्षणा दो प्रकार की है (१) अलक्षितलक्षणा और (२) लक्षितलक्षणा। अलक्षितलक्षणा भी तीन प्रकार की होती है--(१) जहल्लक्षणा, (२) अजहल्लक्षणा और (३) जहदजहल्लक्षणा, जिसका विवेचन किया जा चुका है।

वाच्य अर्थगत गुण के योग से जहाँ अन्यवाचक शब्द का अन्य अर्थ में प्रयोग होता है और उससे अर्थ बोध होता है, वहाँ भी शब्द और अर्थ का सम्बन्ध लक्षणास्वरूप ही होता है। जैसे--किसी मनुष्य के लिए कहा जाय कि "यह तो आग है", "इससे खेलना आग से खेलना है" इत्यादि, यहाँ लक्षणा के सहारे ही बोध होता है। क्योंकि वह मनुष्य अग्नि नहीं होता जिसे आग शब्द से कहा जाता है, किन्तु अग्नि के समान तेजस्वी होने के कारण मनुष्य में अग्निशब्द-वाच्य वास्तविक अग्नि के सादृश्य सम्बन्धस्वरूप लक्षणा होती है, जिसे समझकर उक्त प्रकार के वाक्यों से श्रोता अर्थबोध करता है। यह लक्षणा "गौणी" कहलाती है, अतः "गौणी" भी लक्षणा ही है, स्वतन्त्र कोई शब्दार्थ-सम्बन्ध नहीं, सुतरां "गौण्यर्थबोध" नामक शाब्दबोध का कोई स्वतन्त्र-प्रभेद नहीं। यों तो लक्षणा के और भी प्रभेद एवं उसके सहारे लक्ष्यार्थ बोध के भी बहुत अवान्तर भेद किये जा सकते हैं, जैसा कि कुछ लोगों ने किया है, परन्तु मुख्य प्रभेद ये ही हैं, जो ऊपर बतलाये गये हैं।

रसाद्वैतवादी (आलंकारिक) लोग शब्द और अर्थ के बीच शक्ति और लक्षणा के अतिरिक्त "व्यञ्जना" नामक एक सम्बन्ध भी मानते हैं। अतः शाब्दबोध का एक स्वतन्त्र प्रभेद व्यङ्ग्यार्थबोध भी होता है। व्यञ्जना को वे लोग "व्यक्ति", "ध्वनि" इत्यादि नामों से भी पुकारते हैं, और शब्दशक्तिमूल, अर्थशक्तिमूल आदि रूप से उसका विभाजन करते हैं। उनका कहना है कि व्यञ्जना का काम शक्ति और लक्षणा से इसलिए नहीं चलता कि शक्ति-सम्बन्ध और लक्षणा-सम्बन्ध जब अर्थबोध कराकर निर्व्यापार हो जाते हैं, उसके पश्चात् व्यञ्जना अर्थबोध कराती है। यदि वह स्वतन्त्र वृत्ति न होती, और व्यङ्ग्यार्थ बोध स्वतन्त्र बोध न होता, तो वाच्यार्थ-बोध या लक्ष्यार्थबोध के साथ ही व्यङ्ग्यार्थ का बोध भी हो जाता। किन्तु ऐसा होता नहीं। उदाहरण, जैसे किसी वक्ता ने कहा "पटना देरी लखनऊ कासमीर सुख देत" तो श्रोता प्रथमतः इसका यह अर्थ समझता है कि पटना दिल्ली लखनऊ और काश्मीर ये सुख देते हैं। इस साधारण अर्थ का बोध श्रोता को तुरत हो जाता है किन्तु फिर उक्त वाक्य के ऊपर विशेष मनोयोग करने पर बाद में यह अर्थ समझा जाता है कि

"अरी ! कपड़ा न दे, देख, पवन कैसा सुख दे रहा है"। जब कि यह द्वितीय बोध विलम्ब से होता है, तो मानना ही होगा कि "शक्ति" से अतिरिक्त कोई सम्बन्ध, अर्थ में शब्द का है, जिसे समझकर श्रोता ने द्वितीय अर्थ का बोध किया है। यह तो कहा नहीं जा सकता कि शक्ति ही कुछ ठहर कर द्वितीय अर्थ-बोध करा देती है। क्योंकि जैसे बाण जितना वेधन करना होता है एक ही बार कर डालता है, ठहर-ठहर कर नहीं करता, उसी प्रकार शब्द एवं क्रिया, ये विरत हो होकर, ठहर-ठहर कर, कुछ काम नहीं करते।

यह नहीं कहा जा सकता कि, उक्त "पटना-देरी-लखनऊ---" इत्यादि वाक्य-प्रयोग-स्थल में द्वितीय अर्थ का बोध लक्षणा से होता है। क्योंकि लक्षणा से बोध वहाँ होता है जहाँ शक्ति से बोध होने में बाधा पहुँचती है, वक्ता का तात्पर्य अनुपपन्न होता है। उक्त स्थल में यह परिस्थिति नहीं है। श्रोता अनायास प्रथम अर्थ का बोध करता है। अतः लक्षणा का अवकाश यहाँ नहीं है। सुतरा "व्यञ्जना" को स्वतन्त्र वृत्ति एवं "व्यंगचार्थ बोध" को शाब्दबोध का एक स्वतन्त्र प्रभेद मानना चाहिए। बहुत युक्तियों के अन्दर एक युक्ति यह भी है कि शक्यार्थबोध और लक्ष्यार्थ बोध आपामरसाधरण सभी को होता है, किन्तु व्यंगचार्थबोध तो विरल, सहृदय, पवित्रान्तःकरण व्यक्ति को ही होता है।

लक्षणा से बोध हो जाने पर व्यञ्जना द्वारा अर्थबोध का उदाहरण--जैसे, किसी वक्ता ने "यह भवन गंगा के किनारे है" यह समझाने के अभिप्राय से इस तरह कहा कि "यह भवन तो गंगा में ही है।" श्रोता यहाँ वाच्यार्थ का बोध असम्भव देखकर गंगापद के वाच्यार्थ जलप्रवाह के "सामीप्य" सम्बन्धरूप-लक्षणा का ज्ञान कर समीपवर्त्ती तट का स्मरण करके प्रथमतः "यह भवन गंगातट पर है" इस प्रकार लक्ष्यार्थ-बोध करता है। अनन्तर व्यञ्जनावृत्ति के सहारे "यह भवन शीतल तथा पवित्र है" इस प्रकार व्यंगचार्थबोध होता है। अतः व्यञ्जना वृत्ति भी माननी चाहिए।

परन्तु यह इसलिए उचित नहीं प्रतीत होता कि जिस प्रकार सुख आदि का मानस प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार वाच्यार्थबोध एवं लक्ष्यार्थबोध के अनन्तर व्यंग्यतया अभिमत अर्थ का मानस-प्रत्यक्ष हो जायगा। इस परवर्त्ती बोध को शाब्दबोध नहीं कहा जा सकता, अतः व्यंजना एवं व्यंग्यार्थबोध मानने का कोई प्रयोजन नहीं है। "उक्त परवर्त्ती-बोध सबको नहीं होता, किसी-किसी को ही होता है, अतः व्यंजना माननी चाहिए" इस युक्ति का कोई महत्त्व नहीं। क्योंकि सभी प्रकार के बोध सबको नहीं

होने, विभिन्न प्राणियों को विभिन्न प्रकार के बोध होते हैं, इसमें कोई विलक्षण बात नहीं दीख पड़ती।

इस प्रकार शक्ति और लक्षणा के आधार पर प्रथमत: पद को शक्त और लक्षक, दो भेदों में विभक्त करना चाहिए। फिर शक्त को (१) यौगिक, (२) रूढ़, (३) योगरूढ़ और (४) यौगिकरूढ़—चार भेदों में विभक्त समझना चाहिए। इसी प्रकार 'लक्षक' पद को (१) जहल्लक्षक, (२) अजहल्लक्षक और (३) जहदजहल्लक्षक भेदों में विभक्त समझना चाहिए।

कुछ लोग लक्षक पद को "अनुभावक" अर्थात् शाब्दबोध का जनक नहीं मानते, केवल शक्त पद को शाब्दबोध का जनक मानते हैं। भाव यह कि शब्दगत शक्ति दो प्रकार की होती है—(१) स्मारिका और (२) बोधिका। शक्त पद में ये दोनों शक्तियाँ रहती हैं, किन्तु लक्षक पद में केवल स्मारिका शक्ति होती है। जिस वाक्य के अन्दर 'लक्षक' पद रहता है, उसके पूरे अर्थबोध के प्रति उस वाक्य के अन्दर आनेवाला शक्त पद ही कारण होता है, लक्षक पद से केवल लक्ष्य अर्थ का स्मरण होकर रह जाता है। किन्तु यह मान्यता इसलिए उचित नहीं कि जहाँ वाक्य के सभी पद लक्षक होंगे वहाँ पूरा शाब्दबोध कौन करायेगा ? वाक्य में शक्त पद तो रहेगा ही नहीं।

शाब्दबोध के अन्य प्रभेद

शाब्दबोध को अन्य प्रकार से भी विभक्त किया जा सकता है। जैसे—(१) खण्डवाक्यार्थबोध और (२) महावाक्यार्थबोध। महावाक्यार्थबोध वह कहलाता है जहाँ अनेक अवान्तर वाक्य अपने में एकवाक्यता प्राप्त करते हैं और उससे अर्थ का बोध होता है। जैसे "राम वहाँ बैठा है, उसे बुला लो और यह पुस्तक दे दो" इतने बड़े वाक्य से जो श्रोता को अर्थबोध होता है, वह महावाक्यार्थबोध है। क्योंकि उक्त पूरा वाक्य तीन खण्डों का समष्टिरूप है। प्रत्येक वाक्य का अर्थबोध जब अलग-अलग हो चुकता है, तब तीनों वाक्य एक महावाक्य का रूप धारण करते हैं, और वह महावाक्य महावाक्यार्थ-बोध का सम्पादन करता है। एक एक अवान्तर वाक्य से जो अवान्तर बोध होता है, वह खण्ड वाक्यार्थबोध है। यह विभाजन तभी संगत होता है जब कि "खले कपोत" न्याय से इकट्ठा बोध नहीं माना जाता। क्योंकि इस पक्ष में वाक्य के अन्दर आनेवाले प्रत्येक पद से अलग-अलग अर्थों का स्मरण होता है। उक्त न्यायानुसार सभी पदों से सभी पदार्थों का स्मरण होने पर युगपत् (एक ही समय) योग्यता के अनुसार विशेषण-विशेष्य-भावापन्नरूप से सब अर्थ अन्वित हो जाते हैं, अर्थात् एक साथ पूरे वाक्य का अर्थबोध हो जाता है, पहले अवान्तर वाक्यार्थ-बोध नहीं होता। अवान्तर वाक्य के अर्थबोध-स्थल में तो यह प्रक्रिया सही जँचती है,

किन्तु वाक्य-राशि की एकवाक्यता से होनेवाले महावाक्यस्थल में सही नहीं जँचती। वहाँ अवान्तर बोध न होकर एकदा ही महाबोध हो जाता है; इसे मन नहीं मानता, अतः शाब्दबोध का उक्त विभाजन ठीक ही है।

शाब्दबोध की प्रक्रिया में दार्शनिकों का बड़ा मतभेद देखा जाता है। कुछ लोग "अन्विताभिधानवाद" के अनुयायी देखे जाते हैं, अन्य कुछ लोग "अभिहितान्वय-वाद" के अनुयायी। अन्विताभिधानवाद में शाब्दबोध की प्रक्रिया यह होती कि शक्ति ज्ञान के सहारे वाक्य में आनेवाले प्रत्येक पद के अर्थ का, अर्थात् शाब्दबोध में विषय होनेवाले सम्बन्ध एवं सम्बन्धी वस्तुओं का, स्मरण होता है। अनन्तर उससे समग्र वाक्य के उन अर्थों का अनुभवस्वरूप शाब्दबोध होता है। शक्तिज्ञान के सहारे पदों से अर्थों के सम्बन्ध का स्मरण इसलिए होता है कि इस मत में पदों की शक्ति केवल अर्थों में नहीं मानी जाती, अपितु अन्य अर्थ से अन्वित अर्थात् सम्बद्ध अर्थ में मानी जाती है। जैसे "श्याम जाता है" इस प्रयोग-स्थल में "श्याम" पद का अर्थ केवल तन्नामक व्यक्ति नहीं, अपितु "जाता है" इस पद के अर्थ जाना स्वरूप क्रिया से सम्बद्ध "श्याम" नामक व्यक्ति होता है। इसी तरह "जाता है" इस पद का अर्थ केवल वर्तमानकाल में होनेवाला गमनस्वरूप जाना नहीं, अपितु "श्याम" नामक व्यक्ति से सम्बद्ध जाना है। यह इसलिए कि जो किसी पद का अर्थ नहीं होता, वह कभी वाक्यार्थबोध में याने शाब्दबोध में विषय नहीं बन सकता। अन्यथा "श्याम जाता है" इस वाक्य से श्रोता कभी "राम जाता है" यह भी समझ बैठेगा, "राम" व्यक्ति "श्याम" नाम का अर्थ न होने पर भी शाब्दबोध का विषय हो जायगा। अतः यदि दो पदार्थों के बीच होने-वाले सम्बन्ध में पद की शक्ति न हो, तो वह भी शाब्दबोध का विषय नहीं होता। सार यह है कि शाब्दबोध के प्रति पद साधकतम "करण" होते हैं और उससे होनेवाला सारे विषयों का स्मरण शाब्दबोध के प्रति मध्यवर्ती "व्यापार" होता है। उसके अनन्तर शाब्दबोध होता है "फल"। जैसे प्रत्यक्ष स्थल में चक्षु आदि इन्द्रियाँ साधकतम "करण" हैं, विषय के साथ उनके संयोग आदि सन्निकर्ष "व्यापार" हैं और वस्तु का साक्षात्कार "फल" है।

अभिहितान्वयवाद में पद सुनने के बाद अन्वित होते हैं, अर्थात् इस पक्ष में पर-स्पर-सम्बद्ध वस्तुओं का स्मरण नहीं होता; अपितु अन्वय रहित अर्थात् परस्पर सम्बन्ध रहित बोधविषयक वस्तुओं का "अभिधान" होता है, स्मरण नहीं; किन्तु स्मरण के समान अनुभवात्मक बोध होता है। जिसके कारण सम्बन्ध-रहित उक्त सब पदार्थ "अभिहित" हो जाते हैं। इन अभिहित पदार्थों से परस्पर सम्बन्ध सम्पन्न सब पदार्थों का बोधस्वरूप शाब्दबोध होता है। इस मत में पदशक्ति-ज्ञान अन्वित

अर्थों में या स्वतन्त्रतया अन्वय में अर्थात् सम्बन्ध में नहीं होता, किन्तु पद शक्ति के सहारे अन्तिम फल शाब्दबोध में सम्बन्ध का विषयीकरण होता है। भाव यह कि इस पक्ष में वाक्यघटक पदों को सुनने के बाद पदार्थों का स्मरण नहीं, किन्तु अनुभव होता है, और वह भी परस्पर सम्बद्ध अर्थों का नहीं, अपितु सम्बन्धरहित अर्थों का। एवं यहाँ पदार्थों का स्मरण मध्यवर्ती व्यापार नहीं बनता, किन्तु उक्त प्रकार से "अभिहित" होनेवाले अनुभवों का विषय प्रत्येक पदार्थ "व्यापार" होता है। यहाँ सम्बन्ध शक्तिज्ञान का विषय नहीं होता, पदशक्ति के सहारे ही वह शाब्दबोध का विषय होता है। जैसे--"श्याम जाता है" इस वाक्य-स्थल में प्रथमतः शब्द का श्रवण होता है, अनन्तर श्याम नामक व्यक्ति और वर्तमान गमन इन पदार्थों के अनुभव होते हैं, अर्थात् अज्ञात पद-सामर्थ्य के प्रभाव से ही अनुभवात्मक अभिधान हो जाते हैं, जिससे उनके विषय श्याम नामक व्यक्ति और उसका जाना ये दोनों विषय अभिहित अर्थ हो जाते हैं, और उनसे "श्याम जाता है" ऐसा श्यामकर्तृक गमन का बोध हो जाता है। यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि, इस मत में पदशक्तिज्ञान की बिल्कुल अपेक्षा नहीं रहती। पदगत अज्ञातशक्तिरूप सामर्थ्य से अभिधानरूप प्रत्येक पदार्थ का अनुभव तथा अभिहित पदार्थों का परस्पर अन्वयबोधस्वरूप वाक्यार्थबोध ये दोनों सम्पन्न हो जाते हैं।

यहाँ जो शाब्दबोध की प्रक्रिया सिद्धान्तरूप से पहले लिखी गयी है, वह इन दो वादों की अनुयायिनी नहीं है। क्योंकि गम्भीर विचार करने पर ये वाद संगत मालूम नहीं होते। पहले अन्विताभिधान को ही लिया जाय--अन्विताभिधानवादी अन्वय अर्थात् सम्बन्ध में भी पदशक्ति और उसके ज्ञान की अपेक्षा मानते हैं। यहाँ उनसे पूछना चाहिए कि अन्वय में पद की स्वतन्त्र कोई शक्ति मानते हैं या अन्वित वस्तु में पद की वाच्यतारूप शक्ति मानते हैं? प्रथम पक्ष इसलिए समीचीन नहीं कि "श्याम" नामक व्यक्ति और गमन के साथ होनेवाला उसका सम्बन्ध दोनों स्वतन्त्ररूप से उपस्थित होंगे, फिर उस स्वतन्त्र उपस्थित सम्बन्ध के साथ श्याम व्यक्ति का एक और सम्बन्ध अपेक्षित होगा, क्योंकि स्वतन्त्र दो वस्तुओं को विशिष्ट करने के लिए एक सम्बन्ध की आवश्यकता होती है। अन्यथा "जाता है" इसके अर्थ "जाना" क्रिया के साथ सम्बन्ध की क्या आवश्यकता रह जाती है? तब इस वाद का महत्त्व ही क्या रह जाता है?

यदि श्याम पद के स्वतन्त्र अर्थ-सम्बन्ध के साथ श्याम को जोड़ने के लिए एक और स्वतन्त्र सम्बन्ध की, और उसमें श्याम पद की शक्ति की एवं उस शक्ति के ज्ञान की अपेक्षा मानी जाय, तो इसी प्रकार सम्बन्ध की, उसमें शक्ति की, और शक्तिज्ञान

की अनन्त धारा चल पड़ेगी, जिसका अन्त न होने के कारण अभीष्ट-बोध नहीं होगा। इस प्रकार किसी वाक्य से बोध नहीं हो सकेगा। किन्तु वाक्यों से बोध होना सबको प्रत्यक्ष है।

द्वितीय पक्ष इसलिए संगत नहीं कि अन्वित वस्तु में यदि पद की वाच्यता शक्ति मानी जायगी और उसके ज्ञान की अपेक्षा रखी जायगी तो अन्वित वस्तु को विशेष्य और पद-शक्ति को उसका विशेषण बनाने से वह ज्ञान विशिष्ट-ज्ञान-स्वरूप मानना होगा। जब तक अन्वित वस्तु को, जैसे उक्त वाक्य-प्रयोग-स्थल में गमन से अन्वित श्याम को, समझ न लिया जायगा, तब तक उसमें पदशक्तिस्वरूप विशेषण का ज्ञान नहीं किया जा सकेगा। अतः मान लेना पड़ेगा कि शक्ति-ज्ञान से पहले ही गमन रूप क्रिया से अन्वित श्याम का ज्ञान श्रोता को था। और जब ऐसा ज्ञान पहले ही था तो श्रोता शक्ति का ज्ञान करके फिर शाब्दबोध रूप अनुभव करने क्यों जायगा ? क्योंकि गमन से अन्वित श्याम, और श्याम से अन्वित गमन, इसको विषय करने वाला "श्याम जाता है" यह बोध तो श्रोता को शक्ति-ज्ञान होने से पहले ही हो गया, ऐसा बोध ही परवर्ती शाब्दबोध कहलाता है।

दूसरी बात यह कि उक्त वाक्य-स्थल में यदि गमन से अन्वित श्याम नामक व्यक्ति में "श्याम" पद की शक्ति मानी जायगी, तो ऐसी युक्ति से "जाता है" इस पद की भी शक्ति श्याम से अन्वित वर्तमान गमन अर्थ में माननी होंगी। फिर तो अन्वयांश में अनेक शक्तियाँ माननी पड़ेंगी। इतना ही नहीं, जैसे "श्याम" पद के साथ "जाता है" इस पद को जोड़कर "श्याम जाता है" ऐसा प्रयोग होता है, उसी प्रकार "राम", "काम" आदि करोड़ों नामों के साथ "जाता है" इसे जोड़कर "राम जाता है", "काम जाता है" इत्यादि करोड़ों प्रयोग होते हैं। अतः करोड़ों राम आदि नामार्थों से अन्वित गमन अर्थ में "जाता है" इस पद की करोड़ों शक्तियाँ माननी होंगी। इसी प्रकार "जाता है" इस क्रिया-पद को बदल कर "आता है", "खाता है" आदि क्रिया-पद जोड़कर करोड़ों वाक्य-प्रयोग होंगे। सर्वत्र बोध संपादन के लिए आना खाना आदि करोड़ों क्रियाओं से अन्वित श्याम व्यक्ति में एक श्याम पद की करोड़ों शक्तियाँ माननी होंगी। यदि एक ही शक्ति मानी जाय तो "श्याम जाता है" इस वाक्य से श्याम का जाना, खाना आदि करोड़ों क्रियाएँ समझी जायँगी और साथ ही राम, काम आदि करोड़ों प्राणी जाते हुए समझे जायेंगे, जैसा कि होता नहीं, अतः अन्विताभिधानवाद माननीय नहीं। यदि अन्वय या अन्वित में पद-शक्ति मानने का आग्रह छोड़कर वस्तुमात्र में पद की शक्ति मान ली जाय, तो फिर और अंश में कोई विप्रतिपत्ति नहीं रह जाती, इसकी प्रक्रिया फलतः सिद्धान्त रूप से लिखित प्रक्रिया ही हो जाती है। तब यह वाद अन्विता-

भिधानवाद ही नहीं रह जाता ।

अभिहितान्वयवाद इसलिए संगत नहीं कि शाब्दबोध से पहले पदगत अज्ञात शक्ति के प्रभाव से पदार्थों का अभिधान नामक अनुभव होता है, अतः पदार्थ अभिहित हो जाते हैं, यह बात नहीं मानी जा सकती । यदि प्रकृत शाब्दबोध के पहले और उस अभिधान रूप पदार्थानुभव के अनन्तर मध्य में अनुव्यवसाय होता कि "मुझे इन पदार्थों का स्वतन्त्र रूप से अनुभव हुआ है" तो ऐसा माना जा सकता, परन्तु ऐसा होता नहीं । विषय का प्रकाशन ज्ञान से ही होता है; अतः पूववर्ती व्यवसाय नामक ज्ञान का स्वरूप-परिचय अव्यवहित-परवर्त्ती अनुव्यवसाय ज्ञान से ही मिल सकता है । जैसे "यह पुस्तक है" यहाँ इस पुस्तक के ज्ञान का परिचय "मैंने इस पुस्तक को जाना" इस ज्ञान से होता है । दूसरी बात यह कि इस मतवाद में जब शक्ति-ज्ञान का कोई प्रयोजन नहीं माना जाता, अज्ञात पदशक्ति से ही चरम बोध तक मान लिया जाता है, तब तो सब वक्ताओं के वाक्यों से सब श्रोताओं को बोध हो जाना चाहिए, विभिन्न भाषा की शिक्षा का कोई प्रयोजन न होना चाहिए । शब्दगत शक्ति तो सब के लिए समान ही रहेगी, फिर किसी को बोध होगा तो अन्य को क्यों नहीं होगा ? तत्तद् भाषाओं के पदों की शक्तियों का तत्तद्-वस्तु में ज्ञानार्जन ही तो है तत्तद्-भाषा की शिक्षा-प्राप्ति ! जब पद-शक्ति-ज्ञान की कोई अपेक्षा ही न रहेगी, तो फिर भाषा-शिक्षा क्या, और क्यों वह ली जायगी ? तीसरी बात यह कि, इस पक्ष में अर्थ-स्मरण को व्यापार न मान कर "अभिहित" अर्थ को, याने वस्तु को मध्यवर्त्ती व्यापार माना जाता है । व्यापार के बिना कहीं कार्य होता नहीं, और बोधविषय वस्तुस्वरूप व्यापार शाब्दबोध-स्थल में रहता नहीं । यदि वह रहता तो शाब्दबोधस्वरूप परोक्ष-बोध क्यों होता ? साक्षात्कारात्मक अपरोक्ष बोध ही होता । जब अर्थस्वरूप व्यापार नहीं रहा तो शाब्दबोधस्वरूप कार्य कैसे हो सकेगा ? अतः यह वाद सर्वथा ही अवाञ्च्छनीय है ।

उपर्युक्त विवेचन में शक्ति-शब्द का प्रयोग "वाच्यता" अर्थ में किया गया है। इस शक्ति के रूढ़ि, योगरूढ़ि आदि प्रभेदों की चर्चा पहले की जा चुकी है । तदनुसार रूढ़, योगरूढ़ आदि शक्त पदों के प्रभेदों और जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था आदि प्रदर्शित लक्षणा-भेदों के अनुसार लक्षक पदों के प्रभेद ज्ञातव्य हैं । पद के स्वरूप में मतभेद पाया जाता है । कुछ लोग सुबन्त और तिङन्त को पद कहते हैं, कुछ अन्य लोग "सुप्" एवं "तिङ्" को स्वतन्त्र "प्रत्यय" पद और उनके अव्यवहित पूर्व में श्रूयमाण को स्वतन्त्र "प्रकृति" पद मानते हैं । जैसे—"श्याम को राम देख रहा है" इस वाक्य में "श्याम" इतने को स्वतन्त्र 'प्रकृति'-पद और "को" इतने को स्वतन्त्र प्रत्यय-पद मानते हैं । इसी प्रकार "जाता है" इसे कुछ लोग एक पद मानते हैं और कुछ लोग इसके अन्दर

"धातु" और "प्रत्यय" इन दोनों को पृथक् पद मानते हैं। कुछ लोग पद के समान पूरे वाक्य की भी शक्ति (वाच्यता) वस्तु में मानते हैं। इस मत में लक्षणा भी वाक्य की मानी जाती है। क्योंकि शक्यसम्बन्ध लक्षणा होती है, इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। कुछ वादी वाक्य की शक्ति न मानते हुए भी उसकी लक्षणा मानते हैं। वे लोग "शक्यसम्बन्ध" को लक्षणा न कहकर "बोध्यसम्बन्ध" को लक्षणा मानते हैं। वाक्यलक्षणा "उसके घर विष खाओ" इत्यादि प्रयोगों में समझनी चाहिए। क्योंकि इस पूरे वाक्य से यह लक्षित होता है कि "उसके घर मत खाओ"।

शक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में भी मतभेद पाया जाता है। कुछ लोग उसे एक स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं, उनका कहना है कि जैसे अग्नि की दाहकशक्ति स्वतन्त्र वस्तु है, उसी प्रकार शब्द-शक्ति को संकेतस्वरूप अर्थात् वक्ता की इच्छास्वरूप मान लेना श्रेयस्कर है। किन्तु अग्नि की दाहकशक्ति कोई अग्नि से अतिरिक्त स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, यह द्रव्य-ग्रन्थ में बतलाया जा चुका है। इस शक्ति को दो भागों में विभक्त समझना चाहिए, (१) वाचकता और (२) वाच्यता। वाचकता शक्ति शब्द में और वाच्यता शक्ति अर्थ में रहती है। जैसे—"श्याम" इस नाम में वाचकता रहती है, क्योंकि वह नाम वाचक है। "श्याम" नाम वाले मनुष्य में वाच्यता रहती है, क्योंकि वह मनुष्य "श्याम" नाम का वाच्य है। कुछ लोग वाचकता को शब्द में रहने वाली बोध-कारणतास्वरूप मानते हैं और वाच्यता को शाब्दबोध की विषयतास्वरूप मानते हैं, अर्थात् इस मत के अनुसार शाब्दबोध में रहने वाली जो जन्यता है, उसके आश्रयभूत शाब्दबोध का विषय होता है वाच्य, उसमें रहती है वाच्यता।

शक्ति-ज्ञान के उपाय

शब्द सुनने के अनन्तर शक्ति-ज्ञान के सहारे अर्थ का स्मरण होता है, क्योंकि किसी सम्बन्ध के एक सम्बन्धी का ज्ञान होने पर अनायास अपर सम्बन्धी का स्मरण हो आता है। किसी की पुस्तक देखकर पुस्तक वाले की याद आ जाती है, क्योंकि पुस्तक और पुस्तकवाला दोनों एक "स्वत्व" सम्बन्ध के सम्बन्धी होते हैं। ये बातें पहले बतलायी जा चुकी हैं। शक्ति-ज्ञान के प्रति विकल्पस्वरूप में छः प्रकार के कारण होते हैं—जैसे (१) व्याकरण, (२) उपमान, (३) कोष, (४) आप्तवाक्य, (५) व्यवहार और (६) प्रसिद्ध पद का सामीप्य। व्याकरण से पद-शक्ति का ज्ञान वहाँ होता है, जहाँ वाक्य में यौगिक-पदों का समावेश होता है। क्योंकि "धातु" का क्या अर्थ है, "प्रत्यय" किस अर्थ में हुआ है, इसका परिचय व्याकरणशास्त्र से मिलता है। वस्तुतः इसे स्वतन्त्र कारण न मानकर आप्तोपदेश में गतार्थ किया जा सकता है। क्योंकि प्रयोग के अनुसार उसके निष्पादक नियमों के उपदेश का नाम ही व्याकरण होता है।

उपमान से नाम और नामी इन दोनों में होने वाले "वाच्य-वाचकभाव" की ज्ञानरूप उपमिति होती है, यह बात पहले बतलायी जा चुकी है। अतः वहाँ प्रदर्शित उदाहरण को यहाँ भी समझ लेना चाहिए। कोष से शक्ति का ज्ञान वहाँ होता है जहाँ वाक्य में "रूढ़" पद का समावेश होता है। यौगिक-शब्द भी कुछ शताब्दी के बाद अपने अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं, और कोष के अन्दर निबद्ध हो जाने पर तो वे रूढ़तर हो जाते हैं। जैसे "विष्णु" शब्द का यौगिक अर्थ है व्यापक, किन्तु "विष्णुर्नारायणः कृष्णः" इस रूप से कोष में परिगणित होने के कारण वह शब्द चतुर्भुज लक्ष्मीपति को समझाता है, उस अर्थ में पूर्ण "रूढ़" हो गया है। इसी प्रकार कोष में आ जाने वाले शब्द उस कोष-प्रतिपादित अर्थ में "रूढ़" हो जाया करते हैं, अतः कोष से भी पद-शक्ति का ज्ञान होता है। वस्तुतः कोष लोकव्यवहार के अनुरूप आप्तवाक्य ही होता है, अतः इसे स्वतन्त्र शक्ति-ग्राहक मानने का कोई प्रयोजन नहीं देखा जाता। आप्त पुरुष के वाक्य से पद-शक्ति का ज्ञान होता है, यह तो स्पष्ट ही है, क्योंकि जिस शब्द का अर्थ खुद मालूम नहीं होता उसे गुरु से पूछ कर लोग समझते हैं। व्यवहार से शक्ति का ज्ञान बच्चों को पहले-पहल हुआ करता है—जैसे एक वृद्ध के पास बच्चा बैठा है, वृद्ध ने किसी एक युवक से कहा—"गैया ले आओ", श्रोता युवक गैया ले आया। यह परि-स्थिति देखकर बैठा हुआ बच्चा समझता है कि इस वृद्ध के "गैया ले आओ" इस वाक्य का माने है ऐसे जन्तु को उधर से इधर करना। अनन्तर वृद्ध ने युवक से कहा—"गैया ले जाओ", इस आदेश के अनुसार युवक गैया ले गया। बच्चे ने इसे देखकर समझ लिया कि "गैया ले जाओ" इसका माने होता है इस जन्तु को इधर से उधर करना। फिर बच्चा यह सोचता है कि "गैया" शब्द पहले भी कहा गया और फिर दूसरी बार भी, और यह जन्तु भी पहले तथा पीछे क्रियाशील रूप में देखा गया है। अतः "गैया" इसी जन्तु को कहते हैं, और "ले आओ" जब कहा था, तब इस जन्तु को उधर से इधर किया गया, अतः "ले आओ" का अर्थ है उधर से इधर करना। तथा "ले जाओ" कहने पर इस जन्तु को इधर से उधर किया गया है, अतः 'ले जाओ" का अर्थ है इधर से उधर करना। इस प्रकार से बालक "वाच्यवाचकभाव" का निश्चय करता है। इसी प्रकार अन्य वाक्य-प्रयोगस्थल में भी समझना चाहिए। यह कोई नियम नहीं है कि व्यवहार से पद-शक्ति का ज्ञान बच्चों को ही होता है, वयस्क लोग भी अन्य भाषा-भाषी प्रान्त में जाने पर उक्त बालक के समान अन्य भाषागत पदों की शक्ति का ज्ञान व्यवहार से करते हैं।

अगल-बगल विद्यमान प्रसिद्ध पदों के बीच आनेवाले अप्रसिद्ध पदों का अर्थ-निर्णय प्रसिद्ध पद के नैकट्य से होता है—जैसे "आम पर पिक कूजते हैं" इस वाक्य-प्रयोग

में "पिक" शब्द का अर्थ अज्ञात होने पर प्रबुद्ध लोग "आम पर" और "कूजते" इन अगल-बगल के शब्दों का सान्निध्य समझ कर इस निर्णय पर पहुँच जाते हैं कि "पिक" कोकिल का नाम है। कोकिल उस शब्द का वाच्य अर्थ है। कुछ लोग वाक्यशेष तथा विवरण इन दोनों को स्वतन्त्र शक्ति-ग्राहक मानते हैं। "वाक्यशेष" उस वाक्य को कहते हैं, जो एक वाक्यगत अज्ञात-शक्तिक-पद का अर्थ समझाने के लिए अन्यत्र प्रयुक्त होता है। "विवरण" उस वाक्य को कहते हैं, जो प्रथम बार वाक्य-प्रयोग से श्रोता को बोध न होने पर दुबारा तदर्थक अन्य वाक्य प्रयुक्त होता है। जैसे—"पाक करता है" इसका विवरण है "रसोई कर रहा है।" इन दोनों की आप्तवाक्यों में गतार्थता स्पष्ट है, अतः इनका विशेष उल्लेख नहीं किया। तत्त्वतः (१) उपमान, (२) आप्तवाक्य, (३) व्यवहार और (४) प्रसिद्ध पद की सन्निधि, ये चार ही पद-शक्ति के निर्णायक हैं। कुछ दार्शनिक इनमें केवल व्यवहार को शक्ति का निर्णायक मानते हैं। परन्तु यह बात संगत नहीं, क्योंकि उक्त अन्य कारणों से भी पद-शक्ति का निर्णय लोगों को होता है, इसमें कोई प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। यह बात ठीक है कि बालकों को पद-शक्ति का निर्णय केवल उक्त प्रकार के व्यवहार से ही होता है।

कुछ लोग "शाब्दबोध" को स्वतन्त्र "प्रमिति" अर्थात् अनुभवात्मक ज्ञान का स्वतन्त्र भेद नहीं मानना चाहते। उनका कहना है कि जैसे प्रत्यक्ष धूम से अप्रत्यक्ष अग्नि की अनुमिति हो जाती है, उसी प्रकार श्रावण प्रत्यक्ष-विषय शब्द से अर्थ की अनुमिति हो जाती है। ऐसा मान कर निर्वाह हो सकता है, तब शाब्दबोध को स्वतन्त्र अनुभव नहीं मानना चाहिए। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि अनुमिति-स्थल में "अनुमेय" और "अनुमापक" दोनों के सामानाधिकरण्य का निश्चय अपेक्षित होता है, यह बात शाब्दबोध-स्थल में दिखलायी जा चुकी है, किन्तु सर्वत्र इसकी सम्भावना नहीं रहती। जैसे—किसी अभिनव कवि के काव्य-श्रवण से जो वाक्यार्थ-बोध होता है, उससे पहले न तो वह काव्य कभी सुना रहता है और न वह विलक्षण अर्थ ही मालूम रहता है, जब कि अनुमेय रूप से अभिमत अर्थ और अनुमापक रूप से अभिमत काव्य दोनों ही अत्यन्त अपरिचित होते हैं। फिर कैसे एक से अपर की अनुमिति होती है, यह कहा जा सकता है ? अतः शाब्दबोध को एक स्वतन्त्र अनुभव मानना ही चाहिए।

कुछ लोग किसी स्थल में वाक्य से शाब्दबोध न मानकर अर्थ को प्रत्यक्ष मान लेते हैं। उनका कहना है कि वाक्य का प्रतिपाद्य विषय जहाँ इन्द्रिय से सन्निकृष्ट होता है वहाँ वाक्य से भी प्रत्यक्ष होता है। जैसे—माला गले में लटक रही है, किन्तु मन की अव्यवस्था से यह समझ कर कि माला कहीं खो गयी, कोई उद्विग्न हो उठा। इसे देख-

कर किसी पार्श्ववर्ती ने उससे कहा कि "माला तो गले में ही है।" यह सुनता हुआ मालाधारी माला की ओर नजर फेर कर "माला गले में ही है" इस प्रकार का प्रत्यक्ष करता है। यह प्रत्यक्ष उस पार्श्ववर्त्ती वक्ता के वाक्य से होता है, अतः उसे वाक्यज प्रत्यक्ष मानना चाहिए! परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। उक्त प्रत्यक्ष, वाक्य से नहीं इन्द्रिय से होता है। वाक्य से प्रत्यक्ष का विषय माला की ओर मालाधारी की अभिमुखता मात्र होती है। यदि यह बात नहीं, तो वे लोग केवल सन्निकृष्ट विषयक स्थल में ही ऐसा क्यों मानते हैं, असन्निकृष्ट विषयक स्थल में भी वाक्यजन्य बोध को प्रत्यक्ष क्यों नहीं मान लेते? इससे स्पष्ट है कि उक्त प्रकार का ज्ञान इन्द्रिय-सन्निकर्षजन्य ही होता है, वाक्यजन्य नहीं। वाक्य से केवल आभिमुख्य होता है।

जहाँ वाक्य का उच्चारण नहीं होता, वहाँ चेष्टा अर्थात् इशारे से बोध होता है, किंवा चुपचाप अक्षरों को देखने से होता है, वहाँ भी शाब्दबोध ही होता है। इशारे से या लिपि से वाचक शब्दों का स्मरणात्मक ज्ञान होता है, उससे वाच्य अर्थों का स्मरण होता है, उससे शाब्दबोध हो जाता है। यही कारण है कि परवर्त्ती दार्शनिकों ने शाब्द-बोध के प्रति शब्द को साधकतम माना है। उक्त स्थलों में वाचक-शब्द प्रयुक्त न होने पर भी इशारे या लिपि से उसका ज्ञान हो जाता है। किंवदन्ती से होने वाले बोध को भी कुछ लोग स्वतन्त्र अनुभव मानते हैं। जैसे—"इस बरगद पर यक्ष बसता है" इस परम्परा-प्राप्त प्रवाद से लोगों को निश्चय होता है कि "इस पेड़ पर यक्ष रहता है।" परन्तु इस किंवदन्ती में श्रोता को "आप्तपुरुष-वाक्यता" का निर्णय हो जाय तब तो उक्त वाक्य से शाब्दबोध ही होगा। यदि उस वाक्य में "आप्तोक्तता" का निश्चय न होगा तो अर्थ निश्चयात्मक बोध भी न होगा, फिर उसे अतिरिक्त "प्रमा" अनुभव मानने की बात ही नहीं रह जाती। "आनुपलब्धिक" बोध कोई स्वतन्त्र अनुभव नहीं है, इसका विवेचन प्रत्यक्ष ज्ञान के विचारस्थल में किया जा चुका है। अर्थात् अभाव का भी प्रत्यक्ष ही होता है।

स्मृति-ज्ञान

स्मृति, स्मरण, उपस्थिति ये शब्द पर्याय हैं। स्मृति-ज्ञान उसे कहते हैं जो प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति या शाब्दबोध इनमें से किसी एक अनुभव के होने पर उत्पन्न हुए "भावना" नामक संस्कार से उत्पन्न होता है। जैसे—कोई युवक पहले एक नाटक देखता है। इस प्रत्यक्षात्मक अनुभव से युवक को नाटक के विषय में एक "भावना" नामक वासना उत्पन्न होती है, जो उस युवक-आत्मा में छिपी रहती है। किसी उद्-बोधक के जुटने पर जब-जब वह नाटक-विषयक वासना उद्बुद्ध होती है, तब-तब उस युवक को वह दृश्य याद आया करता है। इसी याद आने का नाम स्मरण, स्मृति आदि

है। सार, यह कि इन्द्रिय आदि प्रमाणों की अपेक्षा न कर भावना से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह स्मरण है। जहाँ किसी वस्तु को अपेक्षाभरी दृष्टि से देखा, और देखने से "भावना" नामक वासना बनी, जिसके उद्रिक्त होने से बीच-बीच में वह दृश्य याद आता रहा। फिर द्वितीय बार उसे देखने का अवसर मिला, तब प्रत्यभिज्ञा नामक प्रत्यक्ष हुआ कि "यह वही है", यह प्रत्यभिज्ञा वाला प्रत्यक्ष यद्यपि भावना से उत्पन्न होता है, किन्तु वहाँ इन्द्रिय यानी चक्षु की भी अपेक्षा रहती है। प्रमाण की सहायता के बिना वह प्रत्यभिज्ञा नहीं उत्पन्न होती, अतः वह स्मरण नहीं कहलाती।

कुछ लोग प्रत्यभिज्ञा को एक ही ज्ञान नहीं मानते। उनका कहना है कि "वही" इतना स्मरणात्मक एक ज्ञान होता है, और "यह है" यह दूसरा ज्ञान प्रत्यक्ष है। इन दोनों ज्ञानों को मिलाकर लोग प्रत्यभिज्ञा शब्द से पुकारते हैं। परन्तु यह इसलिए उचित नहीं मालूम होता कि "यह वही है" इस ज्ञान में "वही" यह बीच में पड़ जाता है; "यह" और "है" ये दोनों अगल-बगल पड़ जाते हैं। निरवयव प्रत्यक्ष-ज्ञान के बीच निरवयव स्मरण ज्ञान कैसे प्रविष्ट हो जायगा? अतः यह उत्तर ठीक नहीं कि स्मरण अंश भावना से उत्पन्न होता, और प्रत्यक्ष अंश इन्द्रिय से।

कुछ लोग स्मरण को स्वतन्त्र ज्ञान नहीं मानते। उनका कहना है कि अनुभव ही मध्य-व्यवहित होने पर उत्तरकाल में स्मरण कहलाता है। परन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि "मध्य-व्यवहित" का अभिप्रायः क्या? यदि यह कि बीच में वृत्त्यन्तर का भी उदय होता है, तो यह सम्भव नहीं। क्योंकि ज्ञान, इच्छा, यत्न आदि वृत्तियाँ युगपत् नहीं होतीं, जिससे अनुभव भी विद्यमान रहे और इच्छा आदि अन्य वृत्तियाँ भी विद्यमान रहें। यदि अनुभव और स्मरण को एक माना जायगा तो फिर क्रमिक उत्पन्न होने वाले ज्ञान, इच्छा, यत्न आदि को एक न मानने में क्या युक्ति दी जा सकेगी? यदि इन सब को एक मान लिया जाय तो कार्यभेद नहीं बन सकेगा। जैसे ज्ञान के अनन्तर इच्छा होती है, किन्तु इच्छा हुए बिना ज्ञान से प्रवृत्ति नहीं होती, प्रवृत्ति यानी प्रयत्न से बाह्य चेष्टा होती है किन्तु केवल ज्ञान से नहीं होती। इच्छा से प्रवृत्ति होती है किन्तु प्रवृत्ति से इच्छा नहीं होती। ये सब बातें नहीं बन सकेंगी, सब के अव्यवहित पश्चात् सब अबाधित रूप से होने लगेंगे, किन्तु होते नहीं। अनुभव और स्मरण के एक होने की बात तो दूर रहे, एक आत्मा में एक ही वस्तु को विषय करने वाले विभिन्न-कालिक स्मरण भी एक नहीं हो सकते। स्वप्न-ज्ञान भी स्मरणरूप ही होता है। जिन विषयों का अनुभव प्राणी जागरणकाल में करते हैं अधिकतर उन्हीं विषयों को स्वप्नावस्था में देखते हैं। यदि कोई ऐसा स्वप्न होता है कि उसका विषय इस जन्म में अनुभूत नहीं रहता, तो वहाँ जन्मान्तरीय तद्विषयक अनुभव मानना चाहिए।

यह नहीं कहा जा सकता कि जन्मान्तरीय अनुभव-जनित वासना के सहारे जन्मान्तर में तद्विषयक स्मरण नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसा मानने पर शिशु की प्राथमिक दुग्धपान में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। जब तक प्राणी जिसे इष्ट का साधन नहीं समझ लेता, अभिप्रेत फल का उपाय नहीं समझता, तब तक उस विषय में उसकी प्रवृत्ति कभी नहीं होती। अतः मानना होगा कि शिशु, प्राथमिक दुग्धपान से अव्यवहित पूर्व में उस दुग्धपान को जीवन का साधन, शरीर-रक्षा का उपाय समझता है। किन्तु यह उसका समझना अनुभवस्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि सद्योजात शिशु कार्यक्षम इन्द्रिय आदि अनुभव-साधनों से तब तक सम्पन्न नहीं रहता। अतः "दुग्धपान इष्ट का साधन है, जीवनोपाय है" इस ज्ञान को स्मरण मानना होगा, स्मरण पूर्वानुभव के बिना नहीं होता, और इस जन्म में इससे पहले उसे अनुभव हुआ नहीं रहता। अतः यह मानना पड़ता है कि "दुग्धपान इष्ट का साधन है" यह पूर्व-जन्मजात अनुभव ही स्वजन्य भावना के सहारे सद्योजात शिशु को स्मरण करा देता है। इसी प्रकार कभी जन्मान्तर के अनुभव से जन्मान्तर में स्वप्न भी हो सकता है। जिस स्वप्न में जन्मान्तर में भी समान विषयक अनुभव की सम्भावना नहीं, उसमें अनेक अनुभव-समुत्थ विभिन्न संस्कारों के मिलन से स्वप्न-स्मरण की उपपत्ति करनी चाहिए। जैसे द्रष्टा कभी स्वप्न में देखता है कि "मेरा सिर कट गया है", तो यहाँ ऐसा अनुभव जन्मान्तर में भी असम्भव मालूम होता है। किन्तु अपना अनुभव और किसी अन्य का सिर कटने का अनुभव; इन दो अनुभवों से होनेवाले दो संस्कार (भावना) मिलकर उक्त प्रकार का स्मरण करा सकते हैं। वस्तुतः अनुमिति और शाब्दबोध इन दोनों के भी अनुभव-रूप होने के कारण स्वकीय सिर कटने की अनुमिति या शाब्दबोध अनायास इस जन्म या जन्मान्तर में हो सकता है। उससे उत्पन्न भावना के सहारे उक्त स्वप्न के भी होने में कोई बाधा नहीं दीख पड़ती।

स्वप्न में अविद्या से विषयों की उत्पत्ति होती है, वहाँ का विषय प्रातिभासिक होता है। इस मत की समीक्षा अनिर्वचनीय ख्याति के विचारावसर पर की जायगी। वस्तुतः स्वप्न-ज्ञान को भ्रमात्मक मानस प्रत्यक्ष मानना चाहिए। क्योंकि स्मरण में विषय की अतीतता का भी विषयीकरण होता है, किन्तु स्वप्न में विषय वर्तमान रूप से भासता है।

ज्ञान के अन्य प्रभेद

ज्ञान का विभाजन "प्रमा" और "अप्रमा" दो भागों में भी होता है। यथार्थ ज्ञान का नाम है प्रमा और अयथार्थ ज्ञान का नाम है अप्रमा। जो वस्तु जहाँ और जैसी हो उस वस्तु को वहाँ और वैसी ही समझना, यह यथार्थ ज्ञान है। जैसे—चाँदी को "यह

चाँदी है" इस प्रकार समझा जाय तो यह ज्ञान यथार्थ होता है। क्योंकि तत्त्वतः वही चाँदी वहाँ है जिसे चाँदी समझा जा रहा है। कुछ दार्शनिकों का कहना है कि जिस ज्ञान का विषय बाधित नहीं होता, वह ज्ञान यथार्थ कहलाता है। जब चाँदी को "यह चाँदी है" ऐसा समझा जाता है, उसके अनन्तर "यह चाँदी नहीं है" इस प्रकार बाधज्ञान नहीं होता, तब पूर्ववर्त्ती "यह चाँदी है" यह ज्ञान यथार्थ होता है। जहाँ "सीप" को यह समझा जाता है कि "यह चाँदी है", वहाँ यह बात नहीं होती; वहाँ का विषय बाधित होता है। क्योंकि जब द्रष्टा उस चमकती हुई वस्तु (सीप) के पास पहुँच कर उसे उठाता है तो "यह चाँदी नहीं है" इस प्रकार बाध-निश्चय यानी चाँदी का अभाव निश्चय होने के कारण पूर्ववर्ती "यह चाँदी है" इस ज्ञान का विषय—चाँदी—बाधित हो जाता है। विषय बाधित होने के कारण "यह चाँदी है" यह प्राथमिक-ज्ञान अयथार्थ होता है।

परन्तु यह व्याख्या इसलिए उचित नहीं मालूम होती कि दिग्भ्रम आदि स्थलों में कहीं-कहीं आजीवन अयथार्थ ज्ञान बना रह जाता है, विपरीत निश्चय-स्वरूप बाध-निश्चय कभी नहीं होता। जैसे—कोई व्यक्ति पूर्व को ऐसा समझ गया कि "यह दक्षिण है" पश्चात् उसे "यह दक्षिण नहीं पूर्व है" ऐसा ज्ञान कभी नहीं हुआ, तो इस दशा में पूर्ववर्त्ती "यह दक्षिण है" इस ज्ञान का विषय अबाधित ही रह जाता है। ऐसी परिस्थिति में "यह दक्षिण है" यह भ्रमज्ञान भी अबाधित विषयक होने के कारण यथार्थ हो जायगा। एवं यहाँ पूर्ववर्त्ती ज्ञान तो यथार्थ हुआ, किन्तु उसके अनन्तर भ्रमात्मक बाध-निश्चय हो गया, तब वहाँ पूर्ववर्ती यथार्थ ज्ञान भी अयथार्थ ज्ञान कहलाने लगेगा। क्योंकि परक्षण में बाध-निश्चय होने के कारण पूर्ववर्त्ती यथार्थ ज्ञान का विषय भी बाधित कहला सकता है। यदि यह कहा जाय कि परवर्त्ती बाध-निश्चय भी यथार्थ-ज्ञानस्वरूप होना चाहिए, तो यथार्थ ज्ञान होने में यथार्थ ज्ञान की अपेक्षा हो जायगी, जिससे आत्माश्रय होगा। किसी वस्तु में उसी वस्तु की अपेक्षा असंगत है।

ज्ञान के उत्पादक कारणों में जब "गुण" का समावेश होता है तब ज्ञान "प्रमा" होता है। प्रत्यक्ष को प्रमा होने के लिए विशेषणयुक्त-विशेष्य के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष रूपी "गुण" आवश्यक है। रजत को रजत समझने से पूर्व रजतत्व (चाँदीपन) स्वरूप विशेषण से युक्त रजत-खण्ड के साथ चक्षु का संयोग सन्निकर्ष होने के कारण चाँदी को "यह चाँदी है" ऐसा समझ लेना यथार्थ प्रत्यक्षज्ञान है। सीप को चाँदी समझते समय यह बात नहीं होती, वहाँ "यह चाँदी है" इस अप्रमा प्रत्यक्ष से पूर्व रजतत्व विशेषण से युक्त विशेष्य के साथ चक्षु नहीं जुटता, किन्तु शुक्तित्व से युक्त सीप के साथ जुटता है। यही कारण है कि सीप को "यह चाँदी है" ऐसा समझना अयथार्थ-प्रत्यक्ष

होता है ।

अनुमिति प्रमा-स्थल में अनुमेय से युक्त पक्ष में परामर्श होना "गुण" कहलाता है। जैसे—"वह्निव्याप्य धूम पर्वत में है" यह परामर्श होने के कारण "पर्वत वह्निमान् है" (अग्निवाला है) यह यथार्थ अनुमिति होती है। क्योंकि अनुमेय अग्नि से युक्त पर्वत में ही उक्त परामर्श-ज्ञान अनुमिति के पूर्व होता है। यदि "वह्निव्याप्य धूम जल में है" इस प्रकार अनुमेय अग्नि से तत्त्वतः रहित जल में धूम का परामर्श हो, तो उससे होने वाली "जल में अग्नि है" यह अनुमिति यथार्थ नहीं होती। क्योंकि जल अनुमेय अग्नि से युक्त नहीं, जिसमें वह्निव्याप्य धूम को पहले समझ लिया था। अतः अनुमिति के लिए साध्ययुक्त धर्मी में परामर्श होना "गुण" कहलाता है। वन में विषहरणी बूटी को देखकर "यह मूँग के पत्ते के समान पत्तेवाली है" इस प्रकार उपमाता सादृश्यज्ञान करता है, तब "यह विषहरणी बूटी है" इस प्रकार यथार्थ उपमिति होती है। किन्तु यदि किसी अन्य बूटी में उक्त प्रकार का सादृश्य-ज्ञान उपमाता को हो जाय तो "यह विषहरणी बूटी है" ऐसी उपमिति यथार्थ नहीं होती। क्योंकि वह कोई अन्य बूटी होती है, जिसे विषहरणी समझा जाता है। अतः प्रकृत वाच्यार्थ में सादृश्य का ज्ञान होना उपमिति के लिए "गुण" है।

शाब्दबोध के लिए विशेष्य में विशेषण का यथार्थ ज्ञानस्वरूप योग्यता-ज्ञान "गुण" कहलाता है, क्योंकि इसके अभाव में शाब्दबोध अयथार्थ हो जाता है। यही कारण है कि "अग्नि से सींचो" इस वाक्य से यथार्थ शाब्दबोध नहीं होता, क्योंकि सींचने के साथ तत्त्वतः अग्नि का सम्बन्ध नहीं हो सकता।

यथार्थ ज्ञान के प्रति कारण कहे जाने वाले इन नियमों को "गुण" इसलिए कहा जाता है कि साधारणतया किसी में उत्कर्ष की आधायक वस्तु को लोग "गुण" शब्द से पुकारते हैं। प्रकृत में इन प्रदर्शित कारणों के सहारे ज्ञान में "याथार्थ्य" स्वरूप उत्कर्ष का आधान होता है। कुछ लोग इन गुणों को यथार्थ ज्ञान के प्रति कारण नहीं मानते। उनका कहना है कि "दोष" अयथार्थ ज्ञान यानी मिथ्या ज्ञान के प्रति कारण होता है। अतः दोषों का अभाव ही यथार्थ ज्ञान के प्रति कारण है। जैसे—आँख में पीलिया रोग हो जाने पर शंख आदि सफेद पदार्थ पीले नजर आते हैं और "शंख पीला है" इत्यादि अयथार्थ ज्ञान होता है। पीलिया रोग के हट जाने पर "शंख पीला है" ऐसा भ्रमज्ञान न होकर "शंख उजला है" इस प्रकार से यथार्थ ज्ञान होता है। जब कि पीलिया रोगस्वरूप दोष के होने पर अयथार्थ ज्ञान और उसके हट जाने पर यथार्थ ज्ञान होता है, तब दोष के अभाव को ही यथार्थ ज्ञान के प्रति कारण मानना चाहिए, इत्यादि।

किन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि यदि "दोषाभाव" को ही ज्ञान की यथार्थता

का नियामक मानें, तो "शंख पीला है" इस ज्ञान के अन्तर्गत "यह शंख है" इस अंश में भी यथार्थता नहीं हो सकेगी। क्योंकि पीलिया रोगवाला दोष विद्यमान है, दोष का अभाव नहीं। इसलिए यह उचित नहीं। क्योंकि "यह शंख पीला है" यहाँ "पीला है" ऐसा भ्रम होने पर भी "यह शंख है" इतना ज्ञान यथार्थ ही है, अयथार्थ नहीं। दूसरी युक्ति यह भी है कि किसी वस्तु में केवल दोष न होने से ही उसका उत्कर्ष नहीं समझा जाता है, दोषाभाव के साथ यदि गुण भी हो तो उत्कर्ष समझा जाता है। यथार्थ ज्ञान को दूसरे शब्दों में प्रमा भी कहते हैं, यहाँ "प्र" शब्द प्रकर्ष का सूचन करता है, वह केवल दोष के अभाव को ही कैसे कह सकता है? अतः यथार्थ ज्ञान होने में उसके गुण की अपेक्षा माननी चाहिए।

कुछ लोग यथार्थ-विषयक होने पर भी स्मरण को यथार्थ ज्ञान नहीं मानते। उन्हें यह आशंका होती है कि स्मरण को प्रमा मानने पर उसके प्रति साधकतम (करण) होने वाले को अधिक प्रमाण मानना होगा। अतः वे कहते हैं कि जिस ज्ञान का विषय पहले कभी ज्ञात न हो और उत्तर काल में जिसका बाध न होता हो वह यथार्थ ज्ञान होता है। परन्तु सच्ची घटना के स्मरण को अयथार्थ मानना युक्तिसिद्ध नहीं मालूम होता। उत्तर काल में बाधनिश्चय सर्वत्र भ्रमस्थल में नहीं होता, यह बात पहले बतलायी जा चुकी है। रही अधिक प्रमाण की बात, इसके समाधान में यह भी कहा जा सकता है कि "स्मरण से अन्य प्रमा के प्रति साधकतम (करण) होने वाला प्रमाण है।" इस प्रकार कहने पर स्मरण के प्रति साधकतम होने वाला प्रमाण नहीं कहलायेगा, क्योंकि स्मरण स्मरण से अन्य नहीं।

अप्रमा ज्ञान

"अप्रमा" और "अयथार्थ ज्ञान" ये दोनों शब्द पर्याय हैं। जहाँ जो वस्तु न हो वहाँ उसे समझना, और जो जैसा न हो उसे वैसा समझना अयथार्थ ज्ञान है। जैसे—'सीप' को "यह चाँदी है" इस प्रकार चाँदी समझना अयथार्थ ज्ञान है। ज्ञान के कारण-कलाप में जब दोष का प्रवेश होता है तब ज्ञान अयथार्थ होता है। दोष भले ही इन्द्रियगत हो या विषयगत। इन्द्रियगत दोष से अप्रमा होने का उदाहरण पूर्वोक्त "शंख पीला है" यह ज्ञान समझना चाहिए। विषयगत दोष से होने वाले भ्रम का उदाहरण वहाँ कहा जा सकता है जहाँ सीप को "यह चाँदी है" इस प्रकार चाँदी समझा जाता है। क्योंकि वहाँ आँखों में कोई दोष नहीं है, किन्तु सीप में "चाकचक्य" (चकमकाहट) दोष है, इसी कारण से उक्त ज्ञान अप्रमाज्ञान होता है।

यह नहीं कहा जा सकता कि यथार्थ ज्ञान के प्रति उक्त प्रकार के "गुण" कारण होते हैं तो उन गुणों के अभाव को ही अयथार्थ ज्ञान के प्रति कारण मानना चाहिए,

दोष को नहीं । क्योंकि पदार्थ में गुण (प्रकर्ष) न होना कोई अपराध नहीं, किन्तु दोष होना अपराध है । अप्रमा ज्ञान के मूल में दोष होने से ही वह अपकृष्ट या अवाञ्छनीय होता है, जिसकी सूचना "अप्रमा" इस नाम के अन्दर आने वाले "अप्र" शब्द से होती है । अतः दोष को अप्रमा-ज्ञान के प्रति कारण मानना ही होगा । यह ध्यान रखना चाहिए कि जैसे, जो जैसा नहीं है उसे वैसा समझना अप्रमा ज्ञान है, उसी प्रकार जो जैसा है उसे वैसा न समझते हुए उसका ज्ञान करना भी अप्रमा ज्ञान है । अतः "यह क्या है" यह संशयात्मक ज्ञान भी अप्रमा ज्ञान कहलाता है ।

अप्रमा ज्ञान के प्रभेद

"अप्रमा ज्ञान" के तीन प्रभेद हैं, जैसे (१) संशय, (२) विपर्यय, (३) तर्क । संशय उस ज्ञान को कहते हैं जिससे जिज्ञासा अर्थात् किसी वस्तु को जानने की इच्छा उत्पन्न हो । जिस विषय में संशय होता है, उसे लोग समझ लेना चाहते हैं । समझ लेने की इच्छा का ही नाम जिज्ञासा है । विषय के निर्णय हो जाने पर उसे समझ लेने की इच्छा कभी किसी निर्णेता को नहीं होती है । अतः जिज्ञासा के प्रति कारण होने वाले ज्ञान को "संशय" कहा जा सकता है । "यह अमुक वस्तु है या नहीं?" इत्यादि ज्ञान संशय है। क्योंकि इसके अनन्तर प्राणी उपाय करके यह निश्चय करता है कि "यह अमुक वस्तु है", "यह अमुक वस्तु नहीं है", "यहाँ अमुक वस्तु है", "यहाँ अमुक वस्तु नहीं है" ।

कुछ लोगों का कहना है कि किसी धर्म अर्थात् आश्रय में परस्पर विरुद्ध भाव एवं अभाव दोनों को विशेषण बनाकर ज्ञान किया जाय तो वह ज्ञान संशय कहलाता है । जैसे—"यह धनी है या नहीं", "फूल सुगन्धवाला है या नहीं" इत्यादि ज्ञान संशय कहे जा सकते हैं । क्योंकि "इस" व्यक्ति रूप आश्रय में धन और धन का अभाव इन दोनों विरुद्ध पदार्थों को विशेषण बनाकर, एवं फूलस्वरूप आश्रय में सुगन्ध और उसका अभाव इन विरुद्ध दो वस्तुओं को विशेषण बनाकर उक्त ज्ञान किया जाता है । परन्तु यह इसलिए उचित नहीं मालूम होता कि इस प्रकार से संशय-ज्ञान का निर्वचन करने पर "यह क्या है" इस तरह का ज्ञान संशय नहीं कहला सकेगा । क्योंकि इस ज्ञान में भाव और अभाव दोनों विरुद्ध पदार्थ विशेषण नहीं होते हैं । यदि कहा जाय कि "यह क्या है" यह ज्ञान संशय नहीं, किन्तु एक स्वतन्त्र "अनध्यवसाय" नामक ज्ञान है, तो यह इसलिए उचित नहीं होगा कि प्राचीन तथा नवीन दोनों पदार्थशास्त्रियों ने असाधारण धर्म-ज्ञान को भी संशय के प्रति कारण माना है । यह अनुभवसिद्ध भी है कि किसी व्यक्ति का असाधारण स्वभाव देखने पर निश्चय नहीं हो पाता है कि "यह अमुक है", किन्तु ऐसा ज्ञान होता है कि "यह

क्या है", "यह कौन है"—इत्यादि । जैसे—द्रष्टा किसी मनुष्य की असाधारण आकृति देखता है; किसी देश-विशेष के मनुष्य की आकृति से मिलती-जुलती आकृति नहीं देखता है, तो उसे यह अनिश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होता कि "यह किस देश का है" । इसी प्रकार किसी भी वस्तु की अपरिचित आकृति देखने पर उस द्रष्टा को अनिश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है कि "यह क्या वस्तु है" । अतः उक्त प्रकार के अनध्यवसाय ज्ञान के प्रति असाधारण धर्म का, यानी अन्यत्र अपरिचित स्वभाव का ज्ञान कारण होता है; यह मानना ही होगा । एवं असाधारण धर्म का ज्ञान संशय के प्रति कारण है, यह भी माना जाता है । फिर उक्त प्रकार के अनध्यवसायों को एक स्वतन्त्र प्रमा और अप्रमा से भिन्न ज्ञान कैसे माना जा सकता है ?

अध्यवसाय यानी निश्चय का अभाव अनध्यवसाय है, अतः "अनध्यवसाय" अभाव पदार्थ में अन्तर्भुक्त हो जाता है, उसे संशय नहीं मानना चाहिए । परन्तु यह कथन इसलिए संगत नहीं कि फिर तो सोते हुए व्यक्ति को भी "यह क्या है" ऐसा अनध्यवसाय होना चाहिए । क्योंकि निश्चय न होने के कारण निश्चय का अभावात्मक अनध्यवसाय सोने वाले को भी रहता ही है, किन्तु "यह क्या है" इत्यादि प्रदर्शित ज्ञान उसे नहीं होता है । अतः मानना होगा कि "अनध्यवसाय" शब्द निश्चयाभाव मात्र का वाचक यौगिक नहीं है, अपितु निश्चयाभाव सहकृत विलक्षण ज्ञान अर्थ में रूढ़ है । सुतरां अनध्यवसाय को अभाव में अन्तर्भुक्त करके समस्या नहीं सुलझायी जा सकती । अतः अनध्यवसाय ज्ञान को संशय मानना ही होगा । इस दशा में संशय का निर्वचन नहीं किया जा सकता कि किसी एक आश्रय में विरुद्ध भाव एवं अभाव दोनों को विशेषण बना कर किया जाने वाला ज्ञान संशय होता है ।

कुछ लोग कहते हैं कि संशय के विषयों में "कोटिता" नाम की एक विषयता होती है, अतः कोटितासंपन्न विषयक ज्ञान को संशय कहा जा सकता है । जैसे "यह धनी है या नहीं" यहाँ इस व्यक्ति में विशेषणीभूत (१) धन और (२) धन का अभाव ये दोनों अलग-अलग "कोटि" होते हैं । इनमें "कोटिता" रहती है; जैसे मनुष्य में मनुष्यता । अतः धन और उसका अभाव ये दोनों कोटितासंपन्न अर्थात् कोटिता से युक्त विषय होते हैं, और कोटिताविषयक होने के कारण "यह धनी है या नहीं" यह ज्ञान संशय कहलाता है । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए । किन्तु यह कथन इसलिए मान्य नहीं कि "यह क्या है" इत्यादि ज्ञान फिर भी संशय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'पक्षे प्राप्ति' का ही अन्य नाम कोटिता होता है । "यह धनी है या नहीं" यहाँ एक पक्ष में धन की और अपर पक्ष में उसके अभाव की प्राप्ति होती है, अतः धन और धनाभाव ये दोनों "कोटि" कहलाते हैं, उनमें

कोटिता रहती है। "यह अमुक वस्तु भी नहीं, और अमुक वस्तु भी नहीं फिर क्या है ?" इस अनध्यवसाय-स्थल में किसी भी विषय को पक्षे-प्राप्ति नहीं होती, अतः इसे कोटितासंपन्न विषयक कैसे कहा जा सकता है ?

एक बात और ध्यान रखने की है कि जहाँ संशय सकोटिक होता है वहाँ यह कोई नियम नहीं कि भाव एवं अभाव दोनों ही कोटि हों। ऐसा भी संशय पाया जाता है जहाँ अनेक भाव "कोटि" होते हैं। जैसे "यह स्थाणु है या मनुष्य ?" यहाँ स्थाणुत्व और मनुष्यत्व दोनों कोटि या भाव हैं, इनमें एक भी अभाव नहीं। यदि कहा जाय कि "यह स्थाणु है या मनुष्य ?" इसका मतलब यही है कि "यह स्थाणु है या नहीं ?", "यह मनुष्य है या नहीं ?" ऐसा होने पर एक कोटि भाव और अपर कोटि अभाव हो जाती है। क्योंकि स्थाणुत्व है भाव और स्थाणुत्व का अभाव है अभाव। इसी प्रकार उक्त द्वितीय संशय में मनुष्यत्व कोटि है भाव और उसका अभाव कोटि है अभाव। तो यह कथन इसलिए संगत नहीं कि यहाँ कथंचित् संशयद्वय मानकर समाधान मिलने पर भी सब जगह ऐसा समाधान नहीं किया जा सकेगा। जैसे—"यह चन्द्र है या कमल ?" इस प्रकार के संशयस्थल में यह नहीं कहा जा सकता कि यहाँ "यह चन्द्र है या नहीं ?", "यह कमल है या नहीं ?" इस प्रकार के "दो" संशय हैं। क्योंकि "यह चन्द्र है या कमल ? ' यहाँ प्रत्येक कोटि में जो सुन्दरता व्यक्त होती है, उक्त प्रकार के दो संशय मान लेने पर उसकी रक्षा नहीं हो पाती। अभाव कोटि में सौन्दर्य नहीं व्यक्त होता।

साथ ही यह भी कोई नियम नहीं कि सकोटिक संशय द्विकोटिक ही होते हैं। "यह चंद्र है, या कमल है, या दर्पण है या तरुणीमुख?" इत्यादि बहु कोटिक संशय भी पाया जाता है। हाँ, यह बात जरूर है कि कोई भी संशय एक कोटिक नहीं होता, एकाधिक कोटिक या निष्कोटिक ही होता है।

विपर्यय

जहाँ जो वस्तु नहीं हो वहाँ उसका निश्चयात्मकज्ञान, एवं जो जैसा नहीं है उस का वैसा निश्चय करना ही विपर्यय है। जैसे—सीप को "यह चाँदी है" ऐसा निश्चय करना है विपर्यय। विपर्यय के सम्बन्ध में दार्शनिकों का परस्पर बड़ा मतभेद पाया जाता है। बौद्ध दार्शनिकों के वर्ग में आन्तर क्षणिक विज्ञान से अतिरिक्त बाह्य दृश्य वस्तु की भी सत्ता मानने वाले "सौत्रान्तिक" और "वैभाषिक" लोगों का कहना है कि बाहर तत्त्वतः विद्यमान सीप में क्षणिक विज्ञान की आकारभूत अतएव आन्तर चाँदी का आरोप होता है। वही "यह चाँदी है" एतदाकार विपर्यय है जिसे भ्रम, भ्रान्ति, विपर्यास आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है।

क्षणिक-विज्ञान मात्र को तात्त्विक सत्पदार्थ माननेवाले "योगाचार" विद्वानों का कहना है कि जैसे फेन, बुलबुले आदि जल के ही विशेष आकार होते हैं, जल से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं होते। उसी प्रकार समस्त दृश्य वस्तुएँ क्षणिक विज्ञान-स्वरूप आत्मा के ही आकार हैं, अतिरिक्त नहीं। अतएव "यह चाँदी है" इत्यादि भ्रमस्थल में यह मानना चाहिए कि आन्तर क्षणिक विज्ञानस्वरूप आत्मा की आकार-भूत चाँदी में "यह" इस प्रकार से इदन्ता का अर्थात् बाहरीपन का आरोप होता है, न कि इसमें अर्थात् सीप में चाँदी का आरोप होता है।

शून्याद्वैतवादी माध्यमिक आचार्यों का कहना है कि शून्य ही तत्त्व है; सभी दृश्य अलीक हैं; फिर भी प्रतीत होते हैं। अतः "यह चाँदी है" इस ज्ञान में भी अलीक चाँदी की प्रतीति होती है।

ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्तियों का कहना है कि सीप में जहाँ "यह चाँदी है" ऐसा ज्ञान होता है, वहाँ तत्कालोत्पन्न आविद्यक चाँदी का विषयीकरण होता है। सीप का अज्ञान ही कुछ देर के लिए चाँदीरूप में परिणत हो जाता है। प्रभाकर मीमांसक लोगों का कहना है कि विपर्यय नामक कोई भ्रम-ज्ञान होता ही नहीं। सभी ज्ञान यथार्थ होते हैं। सीप में होने वाला "यह चाँदी है" ज्ञान भी यथार्थ है, अयथार्थ नहीं। सीप में "यह चाँदी है" ऐसा एक ज्ञान नहीं है, दो ज्ञान हैं। "यह है" इतना एक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है, और "चाँदी" यह स्मरणात्मक ज्ञान है। "यह" यानी सीप तत्त्वतः सामने विद्यमान है, अतः "यह है" यह ज्ञान ठीक है, यथार्थ ही है, अयथार्थ क्यों होगा? एवं "चाँदी" यह स्मरणात्मक ज्ञान यथार्थ इसलिए है कि अन्यत्र विद्य-मान तात्त्विक चाँदी को यह विषय कर रहा है। चाँदी चाहनेवाला व्यक्ति उस चक-मकाती हुई सीप की ओर लेने के लिए इसलिए दौड़ता है कि उक्त "यह है" इस अनुभव और "चाँदी" इस स्मरण को, एवं इन दोनों ज्ञानों के विषयस्थल इस (सीप) को एवं अन्यत्र विद्यमान चाँदी को वह द्रष्टा भिन्न नहीं समझ रहा है। इस प्रकार स्वरूपतः तथा विषयतः दोनों को भिन्न नहीं समझने के कारण वह सीप की ओर दौड़ता है।

परन्तु एक-एक करके समीक्षा करने पर ये प्रदर्शित मत युक्तियुक्त नहीं जँचते। सौत्रान्तिक और वैभाषिकों का मत इसलिए संगत नहीं कि जब बाह्य वास्तविक चाँदी कहीं इस "इस" पदार्थ के समान विद्यमान है, तो फिर उसी का आरोप क्यों नहीं इस वास्तविक "इस" (सीप) में मान लिया जाय? आन्तर स्वतन्त्र विज्ञान की आकारभूत चाँदी मानने का प्रयोजन क्या रह जाता है? सभी चीजों में किसी-न-किसी का आरोप कभी-न-कभी हुआ करेगा, एवं किसी-न-किसी में सभी का

आरोप कभी होगा। अतः तुल्ययुक्त्या जितने बाह्य पदार्थ होंगे उनमें आन्तर विज्ञानाकारभूत पदार्थ भी व्यर्थ मानने होंगे । इससे लाभ क्या होगा ?

क्षणिक विज्ञान को सत्पदार्थ मानने वाले योगाचार विद्वानों का मत इसलिए उचित नहीं मालूम होता कि जब विज्ञान ही सत् है, और सभी उसके आकार हैं, तब तो बाह्य वस्तु कोई है ही नहीं, फिर बाह्यता कहाँ से आयेगी ? बाह्यता ही इदन्ता है जिसे "यह", "इस" आदि शब्दों से कहा जाता है। जब इदन्ता कोई वस्तु नहीं तो आन्तर विज्ञान में उसका आरोप कैसे हो सकेगा ? यदि कहा जाय कि अन्य समग्र पदार्थों के समान बाह्यता भी विज्ञान का आकार है अतएव आरोपित है, तो अभिप्राय यह होगा कि विज्ञान में आरोपित तदाकार चाँदी के अन्दर विज्ञान में आरोपित तदाकार बाह्यता का आरोप होता है। ऐसा कहने पर बाजारू चाँदी में होनेवाले "यह चाँदी है" इस ज्ञान से सीप में होने वाले "यह चाँदी है" इस ज्ञान में कोई भेद नहीं रह जाता। क्योंकि वहाँ भी बाजारू चाँदी एवं "इदन्ता" ये दो विज्ञान के ही आकार होते हैं। दूसरी बात यह है कि आरोप का अधिष्ठान सत् पदार्थ ही होता है, दीवार के विना उस पर चित्र-कल्पना नहीं होती। फिर असत् वैज्ञानिक चाँदी में "इदन्ता" का आरोप कैसे हो सकता है ? एक बात यह भी है कि आरोप असत् पदार्थ का कभी नहीं होता। गगनकमल, कूर्मरोम, शशविषाण आदि का कोई कहीं आरोप नहीं करता। अतः इदन्तास्वरूप बाह्यता का आरोप विज्ञानाकार चाँदी में तभी हो सकता है जब उसे सत् पदार्थ मान लिया जाय। और यदि ऐसा माना जाय तो अन्य पदार्थों का क्या अपराध है कि वे सत् नहीं होंगे ? यदि सभी सत् होंगे तो बाजारू चाँदी भी सत् होगी, और उसी का विषयीकरण सीप में होनेवाले "यह चाँदी है" इस ज्ञान में हो जायगा। तब व्यर्थ उक्त अनुभव-विरुद्ध मत मानने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

यह भी ध्यान देना चाहिए कि चाँदी को जो विज्ञान का आकार माना जाता है, वहाँ आकार, आकारी-विज्ञान से भिन्न वस्तु है या नहीं ? यदि भिन्न है तब तो विज्ञानबाह्य आकारात्मक "सत्" मानने से अपसिद्धान्त हो आता है। भिन्न नहीं मानने पर "विज्ञान का आकार" ऐसा बोलना भी संभव नहीं होता। क्योंकि "का" इस षष्ठी विभक्ति का अर्थ होता है सम्बन्ध, और सम्बन्ध किसी भिन्न वस्तु का उससे भिन्न वस्तु से हुआ करता है। जैसे "श्याम का वस्त्र" इस वाक्य में श्याम और उसका वस्त्र ये दोनों भिन्न हैं, अतः बीच में "का" शब्द देकर दोनों का "स्वस्वामिभाव" सम्बन्ध प्रतिपादित होता है। कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य "श्याम का श्याम", "राम का राम" इत्यादि वाक्य-प्रयोग नहीं करता। अभिप्राय यह है कि "विज्ञान का

आकार" मानने वालों को अपनी इच्छा के विरुद्ध बाह्य वस्तु की सत्ता माननी ही होगी, फिर उनका "आत्मख्यातिवाद" टिक नहीं सकेगा। क्योंकि विज्ञानस्वरूप आत्ममात्र "सत्" तत्त्व नहीं रहेगा, जिससे सर्वत्र केवल उसी की ख्याति (ज्ञान) होने के कारण उक्त मत संगत नहीं रह सकता।

असत् (शून्य) ख्यातिवादी माध्यमिक बौद्ध विद्वानों का मत इसलिए उचित नहीं मालूम पड़ता कि यदि अलीक "असत्" ही दृश्य पदार्थ प्रतीत होते हैं, तो गगनकुसुम-कूर्मरोम-शशविषाण आदि भी क्यों नहीं प्रतीत होते? एवं दृश्यों की प्रतीति यदि "अलीक" को ही विषय करती है, तो बाजार की चाँदी को विषय करनेवाली "यह चाँदी है" यह प्रतीति और सीप में होने वाली "यह चाँदी है" यह प्रतीति, दोनों में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। बाजार की चाँदी को "यह चाँदी है" ऐसा समझ कर उसके लिए प्रवृत्त होनेवाले व्यक्ति की प्रवृत्ति निष्फल नहीं किन्तु सफल होती है। वहाँ वह चाँदी पा जाता है, उससे (चाँदी से) होने वाले कार्यों का सम्पादन करता है। किन्तु सीप को "यह चाँदी है" ऐसा समझ कर प्रवृत्त होने वाले मनुष्य की प्रवृत्ति सफल नहीं, निष्फल होती है। सीप के पास जा कर वह चाँदी नहीं पा सकता, न उसे चाँदी से सम्पन्न होने वाले कार्यों का अवसर ही मिलता है। अर्थात् असत्-ख्यातिवाद में ये बातें नहीं बनतीं। इस अलीक ख्याति वाले मत में गगनकुसुम-कूर्मरोम आदि की ख्याति का निराकरण यह कहकर नहीं हो सकता कि अनादि काल से गगनकुसुम आदि की प्रतीति नहीं हो रही, अतः न तो तदनुरूप वासनाएँ बनती हैं और न परवर्त्ती काल में उनकी प्रतीति होती है, किन्तु अन्य दृश्यों के अलीक होने पर भी अनादि काल से उनकी प्रतीति होने के कारण तदनुरूप वासनाएँ बनी रहती हैं अतः परवर्त्ती काल में अन्य दृश्यों की प्रतीति हुआ करती है, इत्यादि। परन्तु ऐसा मानने पर तो घर, कपड़े, शरीर आदि अलीक दृश्यों की प्रतीति के लिए तदनुरूप स्थायी वासना माननी पड़ती है जो स्वयं "अनलीक" है, अतः यह सिद्धान्तः गलत हो जाता है। यदि कहा जाय कि वह वासना अलीक ही होती है, तो यह इसलिए संगत नहीं कि फिर परवर्ती काल में उसमें प्रतीति-जनन की सामर्थ्य नहीं रह सकती। अलीक कभी कुछ कर नहीं सकता, अतः अलीक वासना कैसे अलीक-दृश्यों की प्रतीति करा सकेगी? यदि वह प्रतीति नहीं करा सकती तो कोई विशेषता न होने के कारण गगनकुसुम आदि अलीकों की भी प्रतीति क्यों नहीं होती? इसका कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता।

यद्यपि माध्यमिक लोग "चतुष्कोटिविनिर्मुक्ति" को शून्यता कहते हैं, अतः अपने को असत्ख्यातिवादी नहीं मानते। परन्तु युक्ति के बिना केवल कहने से कुछ सिद्ध

नहीं हो सकता। "सत्त्व" और "असत्त्व" दोनों के परस्पर अतिविरुद्ध होने के कारण कोई वस्तु दो कोटियों से आगे नहीं बढ़ सकती। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद या प्रतीत्य-समुत्पन्न जब "सत्" नहीं तो "असत्" ही होगा, सुतरां अनिच्छा से भी इन्हें अपने को "असत्ख्यातिवादी" ही मानना होगा।

अनिर्वचनीय ख्यातिवादी अद्वैतवेदान्तियों का उक्त मत इसलिए उचित प्रतीत नहीं होता है कि वे लोग सीप में प्रतीत चाँदी को अनिर्वचनीय मानते हैं। वे कहते हैं कि उस चाँदी को "सत्" इसलिए नहीं माना जा सकता कि बाजार की चाँदी के समान उसे उपयोग में लाया नहीं जा सकता। "असत्" इसलिए नहीं कह सकते कि "यह चाँदी है" इस प्रकार उसकी प्रतीति होती है। गगनकुसुम के समान अलीक, असत् होने पर उसकी प्रतीति नहीं हो सकती। उसे सत् और असत् दोनों भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सत् होना और असत् होना ये अतिविरुद्ध हैं। कोई भी वस्तु सत् और असत् दो प्रकार की नहीं हो सकती। अतः सीप वाली चाँदी अनिर्वचनीय है। यहाँ उनसे पूछना चाहिए कि जब यह निश्चय कर लिया गया कि वह केवल "सत्" एवं केवल "असत्" तथा मिलित "सदसत्" इन तीनों से भिन्न अनिर्वचनीय चाँदी है, तब क्या यह उसका निर्वचन नहीं हो गया? अनिर्वचनीय तो वह तब कहलाती, जब कि उसके स्वरूप के बारे में सन्देह रह जाता, ऐसा तो है नहीं; निश्चय कर डाला गया कि वह उक्त त्रिकोटि-विनिर्मुक्त अनिर्वचनीय है। जब कि अनिर्वचनीय रूप से उसका निर्वचन हुआ फिर उसे "अनिर्वचनीय" कहना "वदतो व्याहत" होता है।

एक बात यह भी है कि सीप में चाँदी का अवयव (भाग) न होने के कारण उसमें चाँदी की उत्पत्ति वे लोग अज्ञान से मानते हैं। किन्तु यह बात बिल्कुल नहीं जँचती, क्योंकि अन्धकारतुल्य अज्ञान से तेजस्वरूप चाँदी कैसे उत्पन्न हो सकती है। और अज्ञान से यदि भावात्मक वस्त्वन्तर उत्पन्न हो, तो करोड़ों वस्तुविषयक अज्ञान सभी को सर्वदा विद्यमान रहने के कारण, उक्त "प्रातिभासिक" चाँदी के समान करोड़ों पदार्थों की उत्पत्ति सदा होनी चाहिए, जो होती नहीं। जब प्राणी सोया रहता है तब भी करोड़ों विषयों का अज्ञान रहता है, फिर उस समय करोड़ों अद्भुत अनिर्वचनीय वस्तुओं की उत्पत्ति एवं उनकी प्रतीति क्यों नहीं होती? अतः यह कल्पना युक्तिबाह्य होने के कारण ग्राह्य नहीं हो सकती। यद्यपि अनिर्वचनीयता-वादी लोग अधिष्ठानविषयक अज्ञान के अतिरिक्त विषयगत एवं इन्द्रियगत दोष तथा आरोप्य विषयक प्राचीन संस्कार को सहायक मानकर इस दोष के उद्धार का प्रयत्न करते हैं, किन्तु इस प्रयत्न को सफल इसलिए नहीं कहा जा सकता कि, कोई

भी सहायक, समर्थ का साहाय्य कर सकता है, अति असमर्थ का नहीं। हजारों सहायक जुटने पर भी अन्धकार प्रकाशरूप में परिणत नहीं हो सकता, उसी प्रकार अन्य प्रकार के सहायक की कल्पना करके सीप आदि के अज्ञान से चाँदी के उत्पादन का समर्थन नहीं किया जा सकता।

अख्यातिवादी मीमांसकों का कथन इसलिए उचित नहीं कहा जा सकता कि जहाँ सीप में "यह चाँदी है" यह ज्ञान उत्पन्न होता है, वहाँ "यह" इसे प्रत्यक्ष और "चाँदी" है इसे स्मरण नहीं माना जा सकता। क्योंकि "चाँदी है" इस प्रकार बाजार की चाँदी का स्मरण करके यदि चाँदी चाहनेवाले की प्रवृत्ति हो तो स्मर्ता को बाजार की ओर जाना चाहिए, किन्तु होता ऐसा नहीं। सीप की ओर ही चाँदी चाहने-वाले की प्रवृत्ति देखी जाती है। दूसरी बात यह भी है कि यदि चाँदी का स्मरण हो तो प्रतीति का आकार "चाँदी थी" ऐसा होना चाहिये, क्योंकि स्मरण में भूतकाल भी विषय होता है। परन्तु प्रतीति होती है "यह चाँदी है"। "है" यह आकार कहीं भी स्मरण का नहीं होता। अन्य एक बात यह भी है कि सीप को दूर से "यह चाँदी है" ऐसा समझने के अनन्तर जब कि समझने वाला सीप के पास जाता है तब उसे यह निषेध-ज्ञान होता है कि "यह चाँदी नहीं"। यदि पहले इस सीप को चाँदी न समझा जाता, तो यहाँ चाँदी का निषेध न होकर बाजार की चाँदी का निषेध होता, फिर उसमें "यह" इस प्रकार अँगुली के इशारे के साथ "चाँदी नहीं है" इस प्रकार निषेध-ज्ञान द्रष्टा नहीं करता। यह सही है कि वहाँ इस सीप को और चाँदी को द्रष्टा भिन्न नहीं समझता, दोनों में होने वाले परस्पर भेद का भान उसे उस समय नहीं होता। परन्तु केवल भेद न समझने से ही, चाँदी चाहनेवाला सीप की ओर दौड़ पड़ता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऐसा मानने पर गाढ़ निद्रा में सोते हुए मनुष्य को भी प्रवृत्ति होनी चाहिए। उस समय उसे कोई ज्ञान न रहने के कारण भेद का भी ज्ञान नहीं रहता, अतः भेद का अज्ञान रहता ही है। इसलिए यह मानना होगा कि भेद के अज्ञान के साथ समीपवर्ती सीप में अपेक्षित चाँदी का ऐक्य-ज्ञान होने पर ही चाँदी चाहने वाले की प्रवृत्ति सीप की ओर होती है।

इस प्रकार प्रदर्शित वादों की समीक्षा करके प्राचीन पदार्थ शास्त्रियों ने भ्रम को "अन्यथाख्याति" माना है। "अन्यथा" का अर्थ है अन्य रूप से, और "ख्याति" का अर्थ है "ज्ञान"। सारांश यह है कि सीप को "यह चाँदी है" इस प्रकार क्या समझा जाता है। निकटवर्ती सीप को तात्त्विक चाँदी समझा जाता है, अर्थात् सीपरूप से विद्यमान वस्तु को चाँदीरूप से देखा जाता है। अतः "यह चाँदी है" इस प्रत्यक्ष का विषय वास्तविक चाँदी है आविद्यक नहीं। अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है

कि चाँदी का प्रत्यक्ष तो तब हो जब चक्षु का संयोग चाँदी के साथ हो, ऐसा तो है नहीं, चक्षु का संयोग सीप के साथ है, फिर "यह चाँदी है" इस प्रत्यक्ष में वास्तविक चाँदी कैसे विषय हो सकती है ? यह चाँदी का प्रत्यक्ष कैसे कहला सकता है ? व्यवहितदूरवर्त्ती वास्तविक चाँदी के साथ चक्षु संयोग होना असम्भव है। इसके उत्तर में अन्यथा-ख्यातिवादियों का कथन है कि अन्यथाख्याति के अव्यवहित पूर्वकाल में वास्तविक चाँदी के साथ चक्षु का संयोग न होने पर भी पहले कभी चाँदी और चक्षुका संयोग हुआ रहता है। उससे होने वाले चाँदी के अभ्रान्त अनुभव से उत्पन्न-तत्संस्कार द्वारा चाँदी का स्मरण बाद को होता है। यही "ज्ञानलक्षणा" नामक एक प्रकार का अलौकिक सन्निकर्ष हो जाता है। सीप के साथ तो चक्षु का संयोग संनिकर्ष होता है। इन लौकिक एवं अलौकिक दो सन्निकर्षों से भ्रान्त द्रष्टा सीप को "यह चाँदी है" इस प्रकार देखता है, यानी सीप को ही चाँदी रूप से देखता है। अन्य भ्रमस्थल में भी इसी प्रकार की प्रक्रिया समझनी चाहिए।

यद्यपि इस पर अनिर्वचनीय-ख्यातिवादियों ने यह आपत्ति की है कि ज्ञानलक्षणा को सन्निकर्ष मानने पर पर्वत से उठते हुए धूम को देखकर जो "पर्वत अग्निवाला है" इस प्रकार का अनुमितिज्ञान होता है, वह अनुमिति के बदले प्रत्यक्ष कहा जायगा। क्योंकि पर्वत के साथ चक्षु का संयोग ही सन्निकर्ष है, फिर धूम को देखकर अग्नि का स्मरण होने के कारण अग्नि के साथ ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष हो जायगा। परन्तु अन्यथाख्यातिवादी कह सकते हैं कि "व्याप्ति सम्बन्ध-ज्ञान के अधीन होनेवाला स्मरण ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष नहीं है, उसके अनधीन स्मरण को ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष माना जाता है। धूम को देखकर जो अग्नि का स्मरण होता है, वह धूम में विद्यमान अग्नि के साथ अव्यभिचरित-सामानाधिकरण्यरूप व्याप्तिसम्बन्ध का ज्ञान होने के कारण होता है। अतः अनुमितिस्थलीय अग्नि आदि "साध्य" का स्मरण "ज्ञानलक्षणा" सन्निकर्ष नहीं होता। इस प्रकार अग्नि का प्रत्यक्ष न हो सकने के कारण उसकी अनुमिति होती है। पूर्वोक्त भ्रमस्थल में चाँदी का स्मरण व्याप्तिसम्बन्ध-ज्ञान के अधीन नहीं होता, अतः वहीं ज्ञान लक्षणासन्निकर्ष हो जाता है और उससे अन्यत्र विद्यमान चाँदी का प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं होती। यह ध्यान देने योग्य है कि जहाँ आरोप्य और आरोपाधिष्ठान दोनों ही इन्द्रिय से सन्निकृष्ट होते हैं वहाँ अनिर्वचनीय-ख्यातिवादी लोग भी "अन्यथाख्याति" मानते हैं। जैसे जपापुष्प और स्फटिक-खण्ड ये दोनों अगल-बगल रखे हुए हों तो स्फटिक में लाल रंग का भान अन्यथाख्याति है। इसमें यह आवश्यक है कि जपा और स्फटिक दोनों से चक्षु का सन्निकर्ष हो। जब कि अनिर्वचनीय-ख्यातिवादी को भी ऐसी परिस्थिति में अन्यथाख्याति माननी पड़ती है,

फिर उक्त सीप में ही चाँदी के ज्ञान को अन्यथाख्याति न मानकर अनिर्वचनीय ख्याति क्यों माना जाय ? इसी प्रकार जहाँ राँगा और चाँदी दोनों के दो टुकड़े पड़े हों, वहाँ विपरीत भाव से चाँदी को राँगा और राँगे को चाँदी समझा जाय, तो यह "समझना" अन्यथाख्याति होगा ही। क्योंकि वहाँ यह बात नहीं कही जा सकती कि इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं है, दोनों के साथ चक्षु जुड़ा हुआ है। अतः सर्वत्र विभ्रमस्थल में अन्यथाख्याति ही स्वीकार करनी चाहिए।

प्रमात्व-निश्चय

प्रसंगवश यह विचार कर लेना भी अच्छा है कि "मेरा ज्ञान यथार्थ है" इस प्रकार के अपने ज्ञान में याथार्थ्यस्वरूप प्रमात्व का निश्चय ज्ञानोत्पत्ति के उत्तर क्षण में ज्ञान-ज्ञान के साथ ही ज्ञान-ज्ञापक कारणों से हो जाता है या व्यवहित उत्तर-काल में किसी अनुमापक हेतु से यह निश्चय किया जाता है कि "मुझे वह ज्ञान यथार्थ हुआ था।" कुछ लोगों का कहना है कि ज्ञान प्रमा हो या अप्रमा किन्तु उसकी उत्पत्ति के उत्तर क्षण में ही ज्ञान-ज्ञापक-कारणों से उस ज्ञान का और उस ज्ञान में यथार्थतास्वरूप प्रमात्व का निश्चय हो जाता है। यह इसलिए कि ज्ञान यथार्थ हुआ हो या अयथार्थ, परन्तु उसके अनन्तर प्राणी बहुत शीघ्र ज्ञात विषय की ओर प्रवृत्त या उससे निवृत्त होता हुआ दिखाई देता है। यदि तुरंत अपने ज्ञान में उसे यथार्थता का विश्वास न हो कि "मेरा ज्ञान सही है", तो फूल-फल आदि स्पृहणीय वस्तु देखकर उसकी निष्कम्प प्रवृत्ति न होगी। एवं सर्प आदि परिहार्य वस्तु देखकर उधर से निवृत्ति न हो सकेगी। इसी प्रकार किसी उपेक्षणीय वस्तु को देखकर उपेक्षा न हो सकेगी। अतः मानना चाहिए कि किसी भी ज्ञान में यथार्थता का निश्चय उस ज्ञान के ज्ञापक कारणों से ज्ञान-ज्ञान के साथ ही हो जाता है।

इस "स्वतः प्रामाण्यवाद" के पक्षपातियों में अवान्तर मतभेद भी पाया जाता है। कोई "ज्ञान-ज्ञापक कारण" उसी ज्ञान को मान लेता है, जिसमें प्रमात्व का निश्चय करणीय है। जैसे "यह फूल है" यह ज्ञान हुआ, इसमें "यह प्रमा है" इस प्रकार प्रमात्व (यथार्थता) का निश्चय करना है। यहाँ "यह फूल है" यह ज्ञान ही स्वयं को एवं अपने प्रमात्व को समझानेवाला मानना होगा। क्योंकि दीपक की तरह ज्ञान "स्व प्रकाश" अर्थात् अपने से ही प्रकाशित होनेवाला होता है। जैसे दीप को देखने के लिए अन्य दीप की अपेक्षा नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञान को समझने के लिए यानी उसे विषय बनाने के लिए अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। अतः "यह फूल है" यह ज्ञान स्वयं ही अपने को एवं अपने प्रमात्व अर्थात् यथार्थता को समझाता है। प्रमात्व को समझाने के लिए अन्य सामग्री की अपेक्षा नहीं होती। इस प्रकार यह वाद एक प्रकार का

"स्वतः प्रामाण्यवाद" कहलाता है।

द्वितीय अवान्तर मत यह है कि ज्ञान "अतीन्द्रिय" अर्थात् अप्रत्यक्ष वस्तु है, उसे प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। किन्तु ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर विषय में "ज्ञातता" नाम की एक वस्तु पैदा होती है, जिसे अपर शब्द में "प्राकट्य" भी कहते हैं। यही कारण है कि ज्ञान के अनन्तर प्राणी यह भान करता है कि "यह विषय मुझ से ज्ञात हुआ", "यह विषय मेरे समक्ष प्रकट हुआ" इत्यादि। इसी "ज्ञातता" से यह अनुमान किया जाता है कि "मुझे अमुक विषयक ज्ञान उत्पन्न हुआ", "मैंने अमुक वस्तु को समझा" और "मैंने सही समझा", "मेरा समझना बिलकुल सही हुआ है" इत्यादि। भाव यह है कि विषय में उत्पन्न होनेवाली "ज्ञातता" से ज्ञान की अनुमिति होती है, और साथ ही उस ज्ञान में प्रमात्व की भी अनुमिति हो जाती है। प्रमात्व को समझने के लिए ज्ञान-ज्ञापक कारण से अतिरिक्त कारण की अपेक्षा नहीं होती, अतः यह वाद भी "स्वतः प्रामाण्यवाद" कहा जाता है।

तृतीय अवान्तर मत यह है कि जैसे घट-पट आदि विषयों से अलग रहनेवाले उनके ज्ञान से घट-पट आदि विषयों का प्रकाशन (साक्षात्करण) होता है, उसी प्रकार "यह घट है", "यह पट है", "यह फूल है" और "यह फल है" इन ज्ञानों का प्रकाशन इन ज्ञानों के अनन्तर होनेवाले "मैं इस घड़े को जानता हूँ", "मैं इस कपड़े को जानता हूँ", "मैं इस फूल को जानता हूँ" और "मैं इस फल को जानता हूँ" इत्यादि स्वतन्त्र "अनुव्यवसाय" नामक ज्ञानों से होता है। ज्ञान प्रकाशन के साथ ही "घट है" इत्यादि व्यवसाय-ज्ञान में "यह ज्ञान यथार्थ है, प्रमा है" इत्यादि प्रमात्व-निश्चय भी, उसी परवर्ती "मैं जानता हूँ" इस अनुव्यवसाय ज्ञान से हो जाता है। इसमें अतिरिक्त कारण की अपेक्षा नहीं होती। अतः इस वाद को भी "स्वतः प्रामाण्यवाद" कहते हैं। स्वतःप्रमात्व निश्चयस्वरूप स्वतःप्रामाण्यवाद मानने की युक्ति यही है कि ज्ञान होने के पश्चात् शीघ्र ही प्रवृत्ति होने लगती है और ज्ञान-ज्ञान के साथ ही ज्ञान में प्रमात्व अर्थात् यथार्थत्व भी ज्ञात हो जाता है, उसमें साधनान्तर की अपेक्षा नहीं होती।

कुछ लोगों का कहना है कि ज्ञान के अनन्तर तुरंत प्रवृत्ति होने से ही यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान-ज्ञान के साथ ही उसमें प्रमात्व का भी निर्णय हो जाता है। क्योंकि कहीं-कहीं प्रवृत्त होने पर भी मन डोलता है, प्रवृत्त पुरुष को यह सन्देह होता है कि "मैंने ठीक समझा है या नहीं'। जैसे—अज्ञात स्थान में किसी ने दूर से देखा कि "वहाँ जल है"। जलार्थी होने पर वह उस ओर चल तो पड़ता है किन्तु सोचता जाता है कि मैंने ठीक समझा है या नहीं, कहीं ऐसा तो नहीं कि मुझे भ्रम हुआ हो? वहाँ जाने पर जल मिले या नहीं? वह जब जाकर जल पा जाता है तब "वहाँ जल

है" इस ज्ञान को यथार्थ मानता है, और यदि वह जल नहीं पाता तब अपने ज्ञान को अयथार्थ समझता है। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि ज्ञान उत्पन्न होने पर तुरन्त उसमें प्रमात्व का निश्चय नहीं होता है, प्रवृत्ति की सफलता देखकर बाद को ज्ञान में प्रमात्व का निश्चय होता है। अतः "प्रमात्व का ज्ञान स्वतः होता है" यह वाद ठीक नहीं, किन्तु परतः प्रमात्व-ज्ञान मानना चाहिए।

वस्तुतः इस विषय में अनेकान्तवाद का आश्रयण अनुभवसिद्ध और युक्तियुक्त मालूम होता है। क्योंकि चिरपरिचित वस्तु के ज्ञात होने पर तद्विषयक ज्ञान में प्रमात्व का सन्देह किसी को नहीं होता कि "मेरा ज्ञान यथार्थ हुआ या अयथार्थ"। अतः ऐसे स्थलों में ज्ञानगत प्रमात्व का ज्ञान स्वतः अर्थात् ज्ञान-ज्ञापक कारणों से हो जाता है, अतिरिक्त कारण की अपेक्षा नहीं होती। जहाँ अपरिचित पदार्थ का ज्ञान होता है जैसा कि ऊपर जल ज्ञान का उदाहरण दिया गया है, वैसे स्थल में यह सन्देह होता है, कि "मेरा ज्ञान ठीक है या नहीं ? अतः वहाँ ज्ञानगत-प्रमात्व का ज्ञान परतः अर्थात् प्रवृत्ति की सफलता से होता है।

सर्वसम्मति से ज्ञान में अप्रमात्व का निश्चय स्वतः न होकर परतः ही होता है, अर्थात् ज्ञान से इच्छा के बाद प्रवृत्त होकर जब ज्ञाता अपनी प्रवृत्ति को निष्फल देखता है, तब "मेरा ज्ञान अयथार्थ अप्रमास्वरूप हुआ, इस प्रकार अपने ज्ञान में अप्रमात्व का वह निर्णय करता है। अन्यथा, ज्ञान उत्पन्न होने ही उस ज्ञान को ज्ञाता अयथार्थ अप्रमा समझ लेगा। ऐसा होने पर किसी को कभी किसी काम में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी, किन्तु प्रवृत्ति होती है। अतः ज्ञान में अप्रमात्व का निश्चय सभी दार्शनिक एकमत से परतः मानते हैं।

तृतीय प्रकार का तर्क-ज्ञान वह है जो कि आरोपात्मक होकर प्रकृत अनुमापक में अनुमेय की उक्त प्रकार व्याप्ति का निश्चय कराता है। जैसे "यह पर्वत यदि आग-वाला नहीं हो, तो धूमवाला भी इसे नहीं होना चाहिए"। यह तर्क उपस्थापित होकर अनुमापक धूम में आग के अव्यभिचरित सम्बन्ध का निर्णय कराता है, जिससे हेतु, व्याप्ति-सम्पन्न सबल होकर अनुमेय की अनुमिति कराने में सर्वथा क्षम होता है। आरोपात्मक होने के कारण इसे संशय और विपर्यय किंवा प्रमा ज्ञान में गतार्थ नहीं किया जा सकता।

सुख-गुण

सुख को कौन नहीं जानता ? कीट-पतंग तक सभी प्राणी सुख के लिए लालायित रहते हैं, अनवरत सचेष्ट रहते हैं। सुख उस गुण को कहते हैं जिसके उत्पन्न होते ही हृत्कमल और मुखकमल खिल उठते हैं, दृष्टि स्निग्ध हो उठती है, प्राणी "मैं सुखी

हूँ" इस प्रकार भान करता है। कुछ लोग कहते हैं कि सुख कोई आत्मगत गुण नहीं, वह तो दुःख का अभाव है, अर्थात् दुःख के अभाव को सुख कहते हैं, वह स्वतन्त्र गुण नहीं है। परन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि तब तुल्ययुक्ति से सुख के अभाव को ही दुःख क्यों नहीं कहा जा सकता? यदि कहा जाय हाँ, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि "अन्योन्याश्रय' दोष हो जायगा। जबतक सुख स्थिर नहीं होगा तबतक उसके अभाव-रूप दुःख को नहीं समझा जा सकता, वह स्थिर नहीं होगा। और जब तक दुःख स्थिर नहीं होगा तब तक उसके अभावस्वरूप सुख को नहीं समझा जा सकता, वह स्थिर नहीं हो सकेगा। अतः या तो सुख और दुःख दोनों स्वतन्त्र गुण सिद्ध होंगे या दोनों ही असिद्ध हो जायँगे। इसलिए सुख को दुःख के समान स्वतन्त्र गुण मानना चाहिए, दुःखाभाव-स्वरूप नहीं। सुख यदि भावस्वरूप न होकर दुःख का अभावस्वरूप हो, तो सुषुप्ति-काल में भी प्राणी को सुख होगा, उस समय प्राणी अपने को "मैं सुखी हूँ" इस प्रकार सुखी समझने लगेगा, किन्तु ऐसा कोई नहीं समझता। यह नहीं कहा जा सकता कि सोते समय अर्थात् गाढ़ निद्राकाल में प्राणियों को सुख होता तो है, किन्तु उसका भान नहीं होता कि मैं "सुखी हूँ"। क्योंकि सुख की सत्ता अज्ञात नहीं होती। जब सुख उत्पन्न होता है तो ठीक उसके अव्यवहित परक्षण में ही "मैं सुखी हूँ" इस प्रकार उसका प्रत्यक्ष हो जाता है। यदि सुषुप्तिकाल में सुख होता तो उसके परक्षण में उक्त प्रकार से उसका प्रत्यक्ष भी होता। अतः दुःख के अभाव को सुख नहीं माना जा सकता, वह स्वतन्त्र गुण है।

यह सही है कि कहीं-कहीं दुःख के अभाव अर्थ में भी सुख शब्द का प्रयोग लोग कर दिया करते हैं, जैसे कोई गुरुतर-भारवाही मनुष्य बोझ से व्यथित होने पर उसे सिर से गिराकर कहता है कि "अब मैं सुखी हो गया"। वस्तुतः उसे किसी सुख-साधन के जुटने के कारण सुख नहीं उत्पन्न होता, केवल भारप्रयुक्त जो दुःख था, भार हट जाने से उसका अभाव-मात्र होता है, उसी दुःखाभाव को वह सुख शब्द से कहता है कि "अब मैं सुखी हो गया"। किन्तु इस वाक्य-प्रयोग के गौण होने के कारण इसके सहारे दुःखाभाव को सुख नहीं कहा जा सकता। यदि दुःखाभाव को सुख माना जायगा तो सुषुप्ति-काल के समान मूर्छाकाल में मूर्च्छित प्राणी भी अपने को "मैं सुखी हूँ" इस प्रकार सुखी समझने लगेगा। क्योंकि दुःख का अभाव उसे भी रहेगा ही।

यह सुख, ज्ञान के समान आत्मा का विशेष गुण है। कुछ लोग सुख को आत्मा का गुण न मानकर उसे आत्म-स्वरूप मानते हैं। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि प्राणी "मैं सुखी हूँ", "मुझे सुख है", "मुझे सुख हुआ था", "मुझे सुख होगा" इस प्रकार का ही ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोग करते हैं, न कि "मैं सुख हूँ", "मैं सुख था", "मैं सुख

होऊँगा" इत्यादि कहते हैं। भारतीय विवेचकों ने सुख का परिचय इस प्रकार दिया है कि जिसकी इच्छा किसी अन्य वस्तु की इच्छा के अधीन न हो वह गुण सुख है। अभिप्राय यह है कि, सुख को छोड़कर संसार की किसी भी वस्तु को प्राणी इसीलिए चाहते हैं कि वे उससे सुख प्राप्त कर सकें। अतएव जिससे सुख की सम्भावना नहीं देखते उसे वे नहीं चाहते हैं। किन्तु सुख को सभी प्राणी स्वतः चाहते हैं, किसी अन्य वस्तु की इच्छा से प्रेरित होकर लोग सुख को नहीं चाहते। क्योंकि सुख चरम फल है; वह किसी अन्य फल का साधन नहीं है कि किसी वस्तु को चाहने के लिए उसकी चाह होगी। यद्यपि दुःखाभाव का भी ऐसा स्वभाव है, वह भी सुख के समान चरम फल है; किन्तु वह गुण नहीं अभाव है। जो गुण होते हुए एतादृश स्वभावापन्न हो कि उसकी इच्छा किसी अन्य वस्तु की इच्छा के अधीन न हो, वही सुख होता है।

कुछ लोगों का कहना है कि सुख उसे कहते हैं, जिसे कीट-पतंग तक सभी प्राणी चाहते हैं। परन्तु यह कथन इसलिए उचित नहीं कि मोक्ष चाहनेवाले अर्थात् दुःख की अत्यन्त निवृत्ति चाहनेवाले लोग सुख को भी नहीं चाहते। क्योंकि जब तक सुख होगा तब तक मध्य-मध्य में दुःख होना भी अनिवार्य है। मोद, प्रमोद, हर्ष आदि शब्दों से भी सुख ही कहा जाता है। कुछ लोग सुख को आत्मा का धर्म (गुण) न मानकर उसे बाह्य वस्तुस्वरूप मान लेते हैं। उनका कहना है कि किसी सुन्दर वस्तु को देखकर लोगों को लोभ क्यों होता है ? इसीलिए कि वह वस्तु सुखरूप होती है। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि, जो वस्तु किसी के लिए अभिप्रेत, स्पृहणीय होती है, वही दूसरों के लिए अनभिप्रेत द्वेष का पात्र होती है। यदि वस्तु सुखरूप होती तो एक के समान सब के लिए वह स्पृहणीय होती। यह कहा नहीं जा सकता कि वही वस्तु सुख भी है और दुःख भी, क्योंकि सुख और दुःख दोनों अत्यन्त विरुद्ध हैं, एक वस्तु विरुद्ध उभय-स्वरूप कभी नहीं होसकती।

दुःख-गुण

दुःख उस गुण को समझना चाहिए, जिसके आत्मा में उत्पन्न होने पर हृदयकमल कलुषित हो उठे, मुख सूख जाय, कण्ठ अवरुद्ध हो जाय, श्वास-प्रश्वास अस्त-व्यस्त हो उठें। यदि दुःख नहीं होता तो संसार में अलसता और अकर्मण्यता का साम्राज्य जमा हो जाता। क्योंकि प्राणी इसीलिए प्रयत्नशील होता है कि उससे उसके दुःख की निवृत्ति हो, या वह अपने पुरुषार्थ से सुखी हो सके। पदार्थ-शास्त्रियों ने दुःख का परिचय इस प्रकार दिया है कि जिसे कोई प्राणी न चाहे और जो आत्मा में उत्पन्न हो ऐसे गुण का नाम है दुःख। सभी प्राणी दुःख को हटाने के लिए एवं उसके अनुत्पादन के लिए सचेष्ट पाये जाते हैं। अतः दुःख की यह व्याख्या बिलकुल उचित है कि जिसे

कोई प्राणी न चाहे वह दुःख है। आचार्यों ने दुःख का परिचय इस प्रकार भी दिया है कि जिसके प्रति होनेवाला द्वेष, किसी अन्य वस्तु से होनेवाले द्वेष के अधीन न हो, वह गुण दुःख है। अभिप्राय यह है कि कण्टक, सर्प, विष, शत्रु आदि के प्रति द्वेष इसलिए होता है कि उनसे प्राप्त होनेवाले दुःख से सभी को द्वेष होता है। किन्तु दुःख के प्रति सभी को सहज ही द्वेष होता है, किसी अन्य वस्तु से द्वेष होने के कारण नहीं। क्योंकि दुःख भी सुख के समान चरम फल है, किसी का साधन नहीं, यदि उसका भी कोई फल होता, तब उस फल के प्रति द्वेष होने के कारण, दुःख के प्रति अन्यद्वेषाधीन द्वेष हो सकता। किन्तु वह किसी फल का साधन नहीं है। अतः यह कथन भी उचित ही है कि जिसके प्रति होनेवाला द्वेष किसी अन्य वस्तु से होनेवाले द्वेष के अधीन न हो, उस गुण का नाम दुःख है।

कुछ लोगों का कहना है कि दुःख आत्मा का गुण नहीं, किन्तु अन्तःकरण का धर्म यानी परिणाम है। परन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि सभी लोग "मैं सुखी हूँ" के समान "मैं दुःखी हूँ" इस प्रकार का ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोग किया करते हैं। "मैं" शब्द से आत्मा ही समझा जाता है। "मेरा मन दुखी है" यह प्रयोग कादाचित्क होता है, अतः यह मुख्य नहीं गौण प्रयोग है। कुछ लोग उस वस्तु को दुःखस्वरूप मान लेते हैं जो अनभिप्रेत यानी द्वेष का पात्र होती है। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि, वही वस्तु किसी अन्य के लिए अत्यन्त अपेक्षित, अत्यन्त स्पृहणीय होती है, अतः उसी दुःख-भूत वस्तु को सुखस्वरूप भी मानना होगा, जो हो नहीं सकता। क्योंकि सुख और दुःख दोनों विरुद्ध हैं। दो विरुद्ध वस्तुएँ कभी एक वस्तुस्वरूप नहीं हो सकतीं, अतः सुख के समान दुःख को भी आत्मा का गुण मानना चाहिए। इसी दुःख को शोक, सन्ताप आदि शब्दों से भी कहा जाता है।

कुछ दार्शनिकों ने दुःख को आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक; तीन भागों में विभक्त किया है। जो दुःख शरीर के भीतर किये जानेवाले उपायों से मिटे, उसे कहते हैं आध्यात्मिक। प्राणियों से प्राप्त दुःख को आधिभौतिक, और ग्रह-उपग्रह आदि के प्रभाव से होनेवाले दुःख को आधिदैविक मानते हैं। आध्यात्मिक दुःख के भी दो भेद हैं, शारीरिक और मानसिक। रोगमूलक दुःख है शारीरिक और काम-क्रोध आदि से होनेवाला दुःख मानसिक है। रोगमूलक दुःख दवाई के उपयोग से, और काम-क्रोधमूलक दुःख अन्तःकरण में कामादि-विरोधिभावों के उदय से हटते हैं, अतः ये दोनों आध्यात्मिक कहलाते हैं। कहीं-कहीं दुःख के सहायक जन्म आदि अर्थ में भी दुःख शब्द का प्रयोग पाया जाता है, ऐसे प्रयोगों को गौण समझना चाहिए। अनेक दार्शनिकों ने दुःख की अत्यन्त निवृत्ति को ही मोक्षस्वरूप चरम पुरुषार्थ माना है,

जिसका विवेचन अभाव विचार के अवसर पर किया जायगा।

इच्छा-गुण

प्राणियों की जीवनयात्रा में इच्छा का हाथ ज्ञान से किसी प्रकार कम नहीं है। वस्तु-ज्ञान होने पर यदि उस विषय में इच्छा न हो तो मनुष्य की उस ओर प्रवृत्ति कभी नहीं हो सकती। इच्छा उस गुण को कहते हैं जो ज्ञान से उत्पन्न हो और प्रयत्न को उत्पन्न करे। यद्यपि कभी-कभी ऐसी भी परिस्थिति होती है जब ज्ञान होकर उससे इच्छा तो उत्पन्न हो किन्तु तदनन्तर प्रयत्न नहीं उत्पन्न होता हो। जैसे किसी लोभनीय किन्तु दुर्लभ वस्तु को देखकर होता है। फिर भी ऐसी इच्छा में प्रयत्न उत्पादन की स्वरूपयोग्यता अवश्य रहती है, क्योंकि ऐसा कभी नहीं होता कि प्रयत्न, इच्छा हुए विना होता हो। इच्छा होने पर भी जो कभी-कभी प्रयत्न नहीं होता, वह इसलिए कि मनुष्य के अन्दर उस समय होनेवाला दुर्लभत्वज्ञान आदि कोई-न-कोई प्रतिबन्धक आ जाता है। अतः इच्छा प्रयत्न के प्रति अबाधित कारण है।

ज्ञान के समान इच्छा भी सविषयक होती है, अर्थात् इच्छा जब होती है तब किसी-न-किसी विषय के संबन्ध में होती है। कुछ लोगों का कहना है कि इच्छा का कोई स्वतः विषय नहीं होता, ज्ञान के विषय को लेकर ही वह विषयवाली होती है। क्योंकि जिस विषय में ज्ञान होता है इच्छा भी उसी को विषय करती है। इच्छा भी ज्ञान के समान आत्मा का गुण है। कुछ लोग इसे आत्मा का गुण न मानकर अन्तःकरण का धर्म अर्थात् उसका परिणाम मानते हैं। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि "मैं जानता हूँ" इसके समान "मैं चाहता हूँ" ऐसा अनुभव तथा वाक्य-प्रयोग प्रचुरतया हुआ करता है। कभी कोई इस आलंकारिक भाषा का प्रयोग यदि करता है कि "मेरा मन चाहता है", "मेरा मन ललचाता है" इत्यादि, तो उसे औपचारिक अर्थात् गौण प्रयोग मानना चाहिए। क्योंकि यह बात माननी ही होगी कि जिसमें ज्ञान होगा इच्छा भी उसी में होगी। ज्ञान आत्मा में होता है, वह आत्मा का गुण है, यह पहले स्थिर किया जा चुका है। अतः इच्छा को अन्तःकरण अर्थात् मन का गुण न मानकर आत्मा का गुण मानना चाहिए।

काम, माया, स्पृहा, लोभ, ये सब इच्छा के ही भेद हैं। दार्शनिक ग्रन्थों में काम, कामना आदि शब्द इच्छा के अर्थ में प्रचुर रूप से पाये जाते हैं। लोक में काम-शब्द सम्भोगेच्छा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः "काम" भी इच्छा-विशेष ही है। कहीं-कहीं "काम्यन्ते इति कामाः" इस व्याख्या के अनुसार काम्य वस्तु को भी "काम" कहा गया है, परन्तु इससे काम के इच्छास्वरूप होने का खण्डन नहीं मण्डन ही होता

है। दूसरे को ठगने की इच्छा है "माया", अतः माया भी इच्छा का एक भेद है। उचित उपायों से किसी वस्तु को पाने की इच्छा स्पृहा है, अतः वह भी इच्छा है। अनुचित उपायों से किसी वस्तु को पाने की इच्छा का नाम लोभ है, सुतरां वह भी इच्छा गुण का ही एक भेद है। इसी प्रकार तृष्णा, तृषा, क्षुधा, हिंसा, आज्ञा, करुणा, आसक्ति, अनुरक्ति, ये सब भी इच्छा के ही प्रभेद हैं। क्योंकि अनुचित उपायों से वस्तु-प्राप्ति की अविश्रान्त इच्छा तृष्णा है, जल पीने की इच्छा तृषा है, खाने की इच्छा क्षुधा है, दूसरों को कष्ट देने की इच्छा है हिंसा, "हानि-लाभ का विचार न कर वह इस कार्य को करे" इस प्रकार अन्य से कार्य कराने की इच्छा आज्ञा है, दूसरों का दुःख हटाने की इच्छा करुणा है, सतत-सम्पर्क की इच्छा आसक्ति है और उपभोग के बाद उपभोग्य वस्तु की इच्छा है अनुरक्ति। अभिप्राय, अभिसन्धि, आकूत, तात्पर्य, इन सब को भी इच्छा ही समझना चाहिए, क्योंकि ये शब्द इच्छा अर्थ में प्रचुर-प्रयुक्त होते पाये जाते हैं।

इन सब इच्छाओं को "फलेच्छा" और "उपायेच्छा" दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। सुख और दुःखाभाव की इच्छा फलेच्छा और अन्य किसी भी पदार्थ की इच्छा उपायेच्छा होती है, क्योंकि सुख और दुःखाभाव को छोड़कर अन्य कोई भी वस्तु तभी इच्छा का विषय होती है, जब कि उक्त सुख किंवा दुःखाभाव रूप मुख्य फल के उपायरूप से वह जानी जाती है। इन दोनों के अन्दर फलेच्छा कारण होती है, और उपायेच्छा होती है कार्य, क्योंकि उपाय की इच्छा तभी होती है जब कि उस उपाय से प्राप्त होनेवाले फल की इच्छा हो। तृप्त प्राणी को भोजन की इच्छा इसीलिए नहीं होती।

इच्छा भी ज्ञान के समान तृतीय-क्षण-विनाशी होती है। सजातीय इच्छाधारा के अन्दर चरम इच्छा की निवृत्ति फल की प्राप्ति से होती है, अतः फल प्राप्त हो जाने पर कुछ समय के लिए सजातीय इच्छा अवश्य रुक जाती है। ईश्वरवादी के मत में इच्छा नित्य और अनित्य-भेद से दो प्रकार की है, नित्य इच्छा परमेश्वर की और अनित्य इच्छा जीवों की होती है।

द्वेष-गुण

द्वेष उस गुण को कहते हैं जो ज्ञान से उत्पन्न और निवृत्ति का कारण होता है। यह गुण पूर्वोक्त इच्छा का विरोधी है। इच्छा और द्वेष दोनों एक काल में एकत्र कभी नहीं रह सकते। यह भी इच्छा के समान आत्मा का गुण है, और ज्ञान, इच्छा आदि के समान मानस-प्रत्यक्ष का विषय होता है, अर्थात् द्वेष को उसी तरह मन से समझा जाता है, जैसे ज्ञान और इच्छा को। इसे भी कुछ लोग अन्तःकरण का धर्म अर्थात्

उसका परिणाम मानते हैं, किन्तु पूर्वोक्त युक्ति से इसे आत्मा का गुण मानना ही उचित है। द्वेष भी इच्छा के समान सविषयक हुआ करता है। अर्थात् द्वेष उसी प्रकार किसी-न-किसी विषय में हुआ करता है, जैसे इसका विरोधी गुण इच्छा। द्वेष को भी दो भागों में विभक्त समझना चाहिए, जैसे "फलद्वेष" और "उपाय-द्वेष"। दुःख के प्रति होनेवाला द्वेष "फलद्वेष" है, और दुःख के साधन, सर्प, वृश्चिक, विष, व्याधि आदि विषयों के प्रति होनेवाला द्वेष "उपायद्वेष" है। इन दोनों के अन्दर फलद्वेष होता है कारण और उपायद्वेष होता है उसका कार्य। क्योंकि दुःख के प्रति द्वेष होने के कारण ही उसके साधन के प्रति द्वेष होता है। सर्प, बिच्छू आदि से कोई व्यक्ति इसीलिए द्वेष करता है कि उससे प्राप्त होने वाले दुःख से उसे द्वेष होता है। यही कारण है कि जब मनुष्य मरण-दुःख से द्वेष नहीं करता, तब फाँसी पर लटकने से भी नहीं हिचकता।

द्वेष को इच्छा-विरोधी होने पर भी इच्छा का अभावस्वरूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इच्छा का अभाव सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि काल में भी होता है, किन्तु उस समय साँप-बिच्छू आदि से डरकर मनुष्य निवृत्त नहीं होता। अतः द्वेष को इच्छा का विरोधी स्वतन्त्र गुण मानना चाहिए। क्रोध द्वेष का ही एक भेद है, जिस उग्र द्वेष से आँखें लाल हो जायँ, ओठों पर कम्पन आ जाय, ऐसा द्वेष ही क्रोध होता है। भाव यह है कि विरोधाचरणोन्मुख द्वेष कहलाता है क्रोध, और विरोधाचरणानुन्मुख द्वेष होता है द्रोह। क्रोधरूप द्वेष से द्रोहात्मक द्वेष में कुछ अस्पष्टता रहती है। अमर्ष और ईर्ष्या भी द्वेष ही हैं, इनमें द्रोह से स्पष्टता की मात्रा कुछ कम रहती है। इच्छा के समान द्वेष-गुण का भी प्राणियों के संसरण में बहुत बड़ा हाथ है। इसके विना प्राणी अनुचित कार्यों से निवृत्त नहीं हो सकता। प्रवृत्ति के प्रति जैसे इच्छा प्रयोजनीय है, उसी प्रकार निवृत्ति के प्रति द्वेष भी प्रयोजनीय है। यदि द्वेष का उदय न हो, तो तीक्ष्ण-से-तीक्ष्ण अस्त्र हाथ में होने पर भी उसका प्रहार कोई नहीं कर सकता। कहीं-कहीं द्वेष से निवृत्ति के समान प्रवृत्ति भी होती है, जैसे कोई प्राणी जब अपने विरोधी के अनिष्टाचरण में प्रवृत्त होता है, तब वह प्रवृत्ति द्वेष से होती है। किन्तु सर्वत्र अनिष्टाचरण में द्वेष से प्रवृत्ति होती है यह बात नहीं कही जा सकती। जैसे मांसाहारी मनुष्य की जो पशु-पक्षी मारने में प्रवृत्ति होती है, वह द्वेष-मूलक नहीं होती। क्योंकि द्वेष दुःख-साधन में हुआ करता है, शिकार योग्य पशु-पक्षी दुःख-साधन नहीं होते, जो मांसाहारियों को उनसे द्वेष हो। अतएव वहाँ राग अर्थात् इच्छा से अनिष्टाचरण में प्रवृत्ति होती है। किन्तु यह अव्यभिचरित (निश्चित) है कि निवृत्ति कभी द्वेष के विना नहीं हो सकती। इच्छा के प्रतिद्वन्द्वी इस द्वेष में सविषयता आदि बहुत कुछ इच्छा के समान होने पर

भी इसका नित्य और अनित्यरूप से विभाजन नहीं होता, क्योंकि परमेश्वर को किसी से द्वेष नहीं है ।

प्रयत्न

यत्न अथवा प्रयत्न उस गुण को कहते हैं जो इच्छा या द्वेष से उत्पन्न और चेष्टा का उत्पादक होता है । हित की प्राप्ति किंवा अहित के परिहार के अनुकूल शारीरिक क्रिया का नाम चेष्टा है । चेष्टा तबतक उत्पन्न नहीं होती जब तक शरीर से परिच्छिन्न आत्मा में प्रयत्न उत्पन्न नहीं होता । अतः प्राणि-जीवन में प्रयत्न का बड़ा ही महत्त्व-पूर्ण स्थान है । यहाँ तक कि जीवन के प्रत्येक शारीर-स्पन्दन में, धमनियों के प्रत्येक कम्पन तक में इसका हाथ है । इसके बिना प्राणी कभी चेष्टाशील नहीं हो सकता । प्रयत्न गुण तीन भागों में विभक्त है । जैसे (१) प्रवृत्ति, (२) निवृत्ति और (३) जीवनयोनि । जिससे किसी वस्तु को पाने में अनुकूल चेष्टा होती है, वह प्रयत्न प्रवृत्ति कहलाता है । जैसे सुन्दर फूल या फल को देखकर उसे पाने के लिए हाथ आगे बढ़ता है, तदनुकूल जो उसके पूर्व आत्मा में प्रयत्न होता है, वही "प्रवृत्ति" है। आत्मा में प्रवृत्ति नामक प्रयत्न होने के बाद उस फल या फूल को पाने के लिए हाथ आगे बढ़ता है । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए ।

निवृत्ति उस प्रयत्न को कहते हैं जिसके आत्मा में उत्पन्न होने पर प्राणी अनपेक्षित वस्तु का परिहार करता है, अर्थात् उससे असम्पृक्त रहने के लिए चेष्टा करता है । जैसे सर्प, काँटे आदि वस्तु को देखकर जो मनुष्य उस ओर से हटता है, उस हटने के प्रति कारण होनेवाला प्रयत्न "निवृत्ति" है । उन अनपेक्षित, वर्जनीय वस्तुओं को देखकर जब निवृत्तिनामक प्रयत्न आत्मा में उत्पन्न होता है, तब उन वस्तुओं की ओर से मनुष्य विमुख होता है, आगे बढ़ता नहीं, रुक जाता है । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए । यहाँ यदि यह प्रश्न उपस्थित हो कि वस्तुज्ञान की अपेक्षा तो प्रवृत्ति और निवृत्ति द्विविध प्रयत्न के प्रति समानरूप से अपेक्षित होती है, फिर क्या कारण है कि कहीं प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और कहीं निवृत्ति ? इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि वस्तु-ज्ञान के अनन्तर जब प्राणी को उस वस्तु में सुखसाधनता का ज्ञान-होता है, अर्थात् "इस वस्तु के सम्पर्क से मुझे सुख मिलेगा" ऐसा ज्ञान होता है, तो उस प्राणी को उस विषय में इच्छा उत्पन्न होती है, और तब आत्मा में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । यदि वस्तु-ज्ञान के अनन्तर उस वस्तु में सुखसाधनता के बदले दुःखसाधनता का ज्ञान होता है, अर्थात् "इस वस्तु के सम्पर्क से मुझे दुःख मिलेगा" ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है, तब आत्मा में निवृत्ति उत्पन्न होती है ।

यहाँ एक बात ध्यान रखने की है कि, यदि प्रवृत्ति के प्रति इच्छा के द्वारा केवल "सुखसाधनता-ज्ञान" को कारण माना जाय, तो प्राणी असाध्य होते हुए भी किसी फल के प्रति साधन होने योग्य पदार्थ के लिए भी प्रवृत्त होकर सचेष्ट हो जायगा। किन्तु ऐसा होता नहीं। चन्द्रमा को लाने के लिए कोई बुद्धिमान् ऊपर नहीं उछलता। यद्यपि उसमें सुखसाधनता का ज्ञान सभी को है किन्तु असाध्य समझकर उसके आनयनार्थ कोई प्रवृत्त नहीं होता। अतः सुख-साधनताज्ञान के समान "साध्यताज्ञान" भी प्रवृत्ति के लिए अपेक्षित है। कुछ लोग सुखसाधनता-ज्ञान के बदले केवल "स्वसाध्यताज्ञान" को प्रवृत्ति के प्रति कारण मानते हैं। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि स्वसाध्यता ज्ञान तो सर्प-मुखचुम्बन में भी मनुष्य को रहता है, किन्तु कोई भी समझदार मनुष्य उसके लिए प्रवृत्त नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि कामना और स्वसाध्यता का ज्ञान इन दोनों से प्रवृत्ति होती है, तो कामना के लिए सुखसाधनता ज्ञान की अपेक्षा अवश्य होगी। क्योंकि जिसे प्राणी अपने लिए सुखकर नहीं समझता, कभी उसकी कामना नहीं करता, उसे नहीं चाहता। फलतः प्रवृत्ति के लिए, कामना द्वारा उक्त सुखसाधनता का ज्ञान एवं स्वसाध्यता का ज्ञान दोनों ही अपेक्षित होते हैं।

कुछ लोगों का मत है कि कभी-कभी मनुष्य जिससे कोई लाभ नहीं देखता, उत्सुकतावश उस काम को भी कर डालता है। इतना वह अवश्य देख लेता है कि इससे मेरा कोई अनिष्ट तो नहीं होगा? इससे मुझे कोई असाधारण दुःख तो नहीं प्राप्त होगा? अतः प्रवृत्ति के प्रति अभीष्ट सुखसाधनता ज्ञान को कारण न मानकर वे लोग उस वस्तु में "बलवदनिष्टाननुबन्धित्व-ज्ञान" को कारण मानते हैं। अर्थात् यह वस्तु मेरे लिए बलवान् अनिष्ट का सम्पादन नहीं करेगी, इससे मुझे कोई अनिष्ट प्राप्त नहीं होगा, एतादृश ज्ञान स्वसाध्यता-ज्ञान से सहकृत होकर प्रवृत्ति का उत्पादन करता है।

कुछ लोगों का कहना यह है कि प्रवृत्ति के प्रति उक्त प्रकार की स्वसाध्यता का ज्ञान एवं सुखसाधनता का ज्ञान ये दोनों कारण नहीं होते, किन्तु "मेरे हितचिन्तक यह चाहते हैं कि अमुक फल की प्राप्ति के लिए मैं ऐसा करूँ" इस प्रकार आप्त पुरुषों के अभिप्राय का ज्ञान प्रवृत्ति के प्रति कारण होता है। यही कारण है कि स्वयं फल के बारे में कुछ नहीं समझते हुए भी अपने हितचिन्तक गुरु-मित्र आदि की इच्छा के अनुसार किसी भी कार्य में प्राणी प्रवृत्त होते हैं। अन्य लोगों का इस सम्बन्ध में यह कहना है कि प्राणी अनुकरणशील हुआ करते हैं। जिसको जिस फल के लिए जो काम करते देखता है, एवं उसे सफल पाता है, तब अपने को भी उसके समान समझकर उस फल को पाने के लिए उस काम को करता है। जैसे राम ने यह देखा कि श्याम भोजन के लिए

रसोई बनाता है, तो "मैं भी तो उसके समान हूँ, मुझे क्या हाथ पाँव नहीं हैं ? या चावल लकड़ी आदि रसोई के साधन नहीं हैं ? अवश्य हैं, फिर क्यों न बनाऊँ" ? ऐसा सोचकर वह रसोई करने में प्रवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। किन्तु यह कथन इसलिए समुचित नहीं माना जाता कि प्रचलित क्रिया-कलाप-स्थल में तो यह बात जँचती है, किन्तु जहाँ नवीन आविष्कारों में आविष्कारक वैज्ञानिकों की प्रवृत्ति होती है, वहाँ यह बात जमती नहीं। क्योंकि वैसा आविष्कार पहले हुआ नहीं कि उसे देखकर प्रथम आविष्कारक की उस प्रथम आविष्कार में प्रवृत्ति हुई हो।

जीवनयोनि यत्न उसे कहते हैं जिसके सहारे श्वास-प्रश्वासात्मक प्राण-सञ्चार होता रहता है। यदि यह कहा जाय कि श्वास-प्रश्वास अनायास हुआ करते हैं, उनके लिए प्रयत्न की आवश्यकता नहीं, अतः जीवनयोनि नामक यत्न नहीं मानना चाहिए। तो यह इसलिए संगत नहीं मालूम होता कि फिर अधिक श्वास-प्रश्वास को भी प्रयत्न-सापेक्ष नहीं होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। प्राणायाम आदि स्थल में श्वास-प्रश्वास अधिक प्रयत्न करने पर ही होते पाये जाते हैं। अतः सभी श्वास-प्रश्वासों को प्रयत्नसाध्य मानना चाहिए। उसी प्रयत्न का नाम "जीवनयोनि" है। ये तीनों प्रकार के भेद अनित्य-प्रयत्न के होते हैं, नित्य-प्रयत्न का कोई भेद नहीं होता। वह एक ही है और परमेश्वर में रहता है।।

गुरुत्व-गुण

भारीपन गुरुत्व है, इसको वजन भी कहते हैं। यह पृथिवी और जल में रहता है तथा अतीन्द्रिय है, क्योंकि इसे किसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। तुलादण्ड के नमन या उन्नमन को देखकर अनुमान किया जाता है कि यह वस्तु इतनी "गुरु" है अर्थात् इतने वजनवाली है, यह एक सेर है, यह दो सेर है इत्यादि। यदि गुरुत्व किसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता तो वस्तु को तोलने की प्रथा नहीं चलती। कुछ लोगों का कहना है कि गुरुत्व का चाक्षुष-प्रत्यक्ष तो नहीं होता किन्तु "त्वाच' प्रत्यक्ष होता है, अर्थात् त्वगिन्द्रिय से इसका स्पार्शन-प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि हाथ पर रखकर किसी वस्तु का गुरुत्व जाना जाता है। किन्तु यह कथन समुचित नहीं, क्योंकि यदि त्वक् से उसका प्रत्यक्ष हो, तो वायु या उसके स्पर्श के समान, शरीर में कहीं भी वस्तु के सटने पर तद्गत गुरुत्व ज्ञात होना चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं, उस वस्तु को हाथ पर उठाना पड़ता है, तब गुरुत्व समझा जाता है। इससे स्पष्ट है कि भार से दबते हुए हाथ को तदवस्थित रखने के लिए मनुष्य को जितना प्रयत्न करना पड़ता है, तदनुरूप गुरुत्व का उससे वह अनुमान कर लेता है, उसका स्पार्शन-प्रत्यक्ष नहीं

होता। यदि हाथ पर उठाये बिना छूने मात्र से गुरुत्व प्रतीत होता, तब स्पार्शन-प्रत्यक्ष माना जाता। साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि वस्तु को हाथ पर उठाकर भी गुरुत्व का निर्णय नहीं हो जाता, एक अन्दाजमात्र लगाया जाता है। यदि स्पार्शन प्रत्यक्ष होता तो अन्य के समान कभी गुरुत्व का निर्णय भी हो जाता, सम्भावना मात्र नहीं होती। गुरुत्व का परिचय यह है कि जो गुण अपने आश्रय में प्रथम-पतन का उत्पादन करे वह गुरुत्व होता है। कोई वस्तु ऊपर से नीचे की ओर तभी आती जब उस में गुरुत्व अर्थात् भारीपन हो। दीप-शिखा को अधोमुख करने पर भी उसकी लपट ऊपर की ओर ही उठती है नीचे नहीं गिरती, इसका कारण यही है कि उसमें गुरुत्व नहीं रहता। पार्थिव या जलीय किसी भी वस्तु को सावकाश स्थान में ऊपर से छोड़ने पर वह नीचे गिरती है, अतः मानना होगा कि उसमें गुरुत्व गुण है। यहाँ यह प्रश्न नहीं होना चाहिए कि गुरुत्व गुण है तो तुल्ययुक्ति से लघुत्व को भी गुण होना चाहिए। क्योंकि लघुत्व को अभाव-स्वरूप मानकर भी काम चल सकता है, फिर उसे गुण क्यों माना जाय?

द्रवत्व-गुण

द्रवत्व उस गुण को कहते हैं जिसके सहारे पुनः संकोचानर्ह (न सिकुड़ने योग्य) एवं अनन्तरित रूप से (अविभक्त रूप से) अवयवों का विस्तार हो। तेल या जल आदि के गिरने पर वे आश्रय में फैलते हैं। फैलाव तो वस्त्र, रबड़ आदि में भी होता है, किन्तु उनमें संकोच भी होता है, अतः वे संकोचानर्ह नहीं हैं। बारीक धूल आदि को जल में गिराने पर उसके अवयव जल में फैलते हैं, किन्तु उनका सम्पर्क टूट भी जाता है, अवयव व्यवहित भी हो जाते हैं, अतः अनन्तरित रूप से फैलाव नहीं होता। द्रवत्व गुण का परिचय इस प्रकार है कि 'पिघलना' स्वरूप क्रिया के प्रति जो गुण असाधारण कारण हो वह द्रवत्व है। इसके दो भेद होते हैं, सांसिद्धिक और नैमित्तिक। सांसिद्धिक द्रवत्व जल में होता है और नैमित्तिक किसी पृथिवी एवं किसी जल में। सांसिद्धिक का अर्थ स्वाभाविक, अर्थात् अनैमित्तिक है। जल में स्वाभाविक तरलता प्रत्यक्षसिद्ध है। घृत आदि रूप कुछ पृथिवी में एवं सुवर्णरूप तेज में अग्नि आदि के ताप से जो द्रवत्व उत्पन्न होता है, वह नैमित्तिक है। क्योंकि अग्नि आदि के संयोगस्वरूप आगन्तुक निमित्त से वह द्रवत्व उत्पन्न होता है। इस दो प्रकार के द्रवत्व को नित्य और अनित्य भेद से भी विभक्त समझना चाहिए। बरफ, ओले आदि में भी द्रवत्व रहता है, किन्तु वह विलक्षण ताप से प्रतिरुद्ध रहता है, अतः उस समय उसमें तरलता नहीं देखी जाती। अग्नि पर तपाने से बरफ और ओले में तारल्य देखे जाने के कारण, यह कहना उचित नहीं कि उनमें सांसिद्धिक द्रवत्व न मानकर नैमित्तिक द्रवत्व मान लिया जाय। जमने

के पूर्व जल में तरलता प्रत्यक्षसिद्ध होती है । उसका जमना आगन्तुक निमित्त से होता है । अतः मध्य में द्रवत्व का प्रतिरोध मान लेना ही समुचित है ।

स्नेह-गुण

स्नेह वह गुण है जिसके सहारे जल में "यह स्निग्ध है" इस प्रकार अनुभव एवं व्यवहार होता है । कुछ विद्वानों ने स्नेह-परिचय इस प्रकार दिया है कि जिस गुण के सहारे जल डालने पर आटा, धूल आदि पिण्डित होते हैं, जल के उस गुण का नाम स्नेह है । जिस संयोग द्वारा एकदेश धारण से समग्र पिण्ड का धारण हो एवं एकदेश के आकर्षण से समग्र का आकर्षण हो उस संयोग का अपर नाम होता है पिण्डीभाव या पिण्डित होना । यह संयोग जलस्थित स्नेह गुण के कारण होता है । आटे को जल के साथ मसलने के बाद उसका कुछ अंश उठाने पर पूरा पिण्ड उठ जाता है, कुछ अंश पकड़कर खींचने पर पूरा पिण्ड खिंच आता है, यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है। किन्तु इस स्नेह-परिचय में दोष यह है कि नौका को पकड़कर खींचने पर उस पर चढ़े हुए मनुष्य भी खिंच आते हैं । क्योंकि नौका से आरूढ मनुष्यों का संयोग रहता है । किन्तु नौका में स्नेह-गुण नहीं होता है । दूसरी बात यह भी है कि जल के साथ मसले हुए आटे आदि में जो धारण एवं आकर्षण का हेतुभूत संयोग देखा जाता है, उसके प्रति जलस्थित स्नेह गुण को कारण न मानकर द्रुत जल-संयोग को भी कारण माना जा सकता है । बरफ, ओले आदि के संयोग से वह धारण-आकर्षणकारी संयोग आटे में इसलिए नहीं पैदा होता कि बरफ एवं ओले द्रुतजलस्वरूप नहीं होते । पिघले हुए काँच, सुवर्ण आदि के संयोग से वह धारण और आकर्षण को पैदा करनेवाला संयोग इसलिए नहीं होता कि काँच, सुवर्ण आदि द्रुत होने पर भी जल नहीं हैं। अतः प्रारम्भ में कहा हुआ स्नेह का परिचय ही ठीक है कि जलस्पर्श के अनन्तर "यह स्निग्ध है" इस प्रकार अनुभव या व्यवहार जिस गुण के सहारे होता है उसी का नाम स्नेह है ।

किसी वस्तु अथवा प्राणी में जो किसी प्राणी को स्नेह होता है वह मुख्य स्नेह नहीं है । वहाँ अनुराग रूप इच्छाविशेष अर्थ में स्नेह शब्द का गौण प्रयोग होता है कि "मुझे आप पर बहुत स्नेह है" इत्यादि । यह स्नेह-गुण केवल जल में रहता है । घृत, तेल आदि में पाया जानेवाला स्नेह भी उनके अन्तर्गत जल का ही गुण है । तेल आदि में जल होनेपर भी उससे अग्नि बुझती नहीं, प्रत्युत प्रज्वलित होती है, इसका कारण यह है कि अपकृष्ट स्नेहवाला जल अग्नि का विरोधी होता है । तेल आदि में मिला हुआ जल अपकृष्ट स्नेहवाला नहीं अपितु उत्कृष्ट स्नेहवाला होता है । स्नेह-गुण को भी नित्य और अनित्य दो भेदों में विभक्त समझना चाहिए । परमाणुस्वरूप जल में नित्य स्नेह होता है और अन्य जल में अनित्य ।

संस्कार-गुण

अन्य गुणों के समान संस्कार भी एक स्वतन्त्र गुण है। यों तो साधारणतया संस्कार शब्द का प्रयोग आगन्तुक दोष-मार्जन अर्थ में अधिकतर होता है। संस्कृत व्यक्ति, संस्कृत भाषा इत्यादि वाक्यों में संस्कृत शब्द का अर्थ आगन्तुक दोष का अपनयन ही प्रतीत होता है। कुछ दार्शनिकों ने कहीं-कहीं पुण्य-पाप अर्थ में भी संस्कार शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु यहाँ इन अर्थों से विलक्षण अर्थ अभिप्रेत है। संस्कार को स्वतन्त्र गुण इसीलिए माना जाता है कि इसके कार्य विलक्षण होते हैं। इसे तीन भागों में विभक्त समझना चाहिए। जैसे---(१) वेग, (२) भावना और (३) स्थितिस्थापक।

वेग शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में पाया जाता है, जैसे--गाड़ी वेग से जाती है। बाण वेग से जा रहा है। वेग को कहीं कहीं तेज, तेजी आदि शब्दों से भी पुकारते हैं। गाड़ी तेजी से जा रही है। बाण तेजी से जा रहा है; इत्यादि वाक्यों में वेग को ही तेजी कहते हैं। वेग दो भागों में विभक्त है, (१) कर्मज और (२) वेगज। बाण आदि में जो प्रथम वेग उत्पन्न होता है वह क्रिया से उत्पन्न होने के कारण कर्मज कहलाता है। फिर उसमें द्वितीय आदि वेग पूर्व-वेग से उत्पन्न होते हैं, अतः वे वेगज वेग हैं। जहाँ किसी एक वस्तु में क्रिया की धारा होती है वहाँ वेग की भी धारा होती है। जब तक बाण आदि में वेग की धारा चलती रहती है, तब तक उसमें क्रिया की भी धारा चलती रहती है। इसका अवसान इसके आश्रय के साथ दृढ़ मूर्त वस्तु के नोदन नामक संयोग से होता है। जैसे कि काँसे का बरतन या घण्टा बजाने पर कुछ काल पर्यन्त वह यों ही शब्द करता रहता है। इस बरतन या घण्टे को हाथ से पकड़ लिया जाय तो शब्द बन्द हो जाता है। क्योंकि उससे उसमें चलनेवाली वेग-धारा के रुक जाने से क्रिया-धारा भी रुक जाती है, जिससे शब्द उत्पन्न नहीं होता। घण्टे को हाथ से पकड़ने पर भी कुछ काल तक शब्द-धारा चलती है, फिर अन्त में इसलिए रुक जाती है कि वेग-धारा के अन्दर पूर्व की अपेक्षा से परवर्त्ती वेग दुर्बल होते जाते हैं, सुतरां उपान्त्य वेग ऐसा दुर्बल हो जाता है कि वह आगे वेग को नहीं पैदा कर सकता और वेग के अभाव में क्रिया नहीं होती। अतः नूतन वेग संयोग नहीं होने के कारण नूतन शब्द नहीं उत्पन्न होता है। वेग नामक संस्कार अतीन्द्रिय है, इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। क्रिया की अधिकता और अल्पता को देखकर इसका अनुमान होता है। वेग पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं मन इन पाँच द्रव्यों में होता है।

द्वितीय संस्कार भावना है। इसी को दार्शनिक लोग वासना शब्द से पुकारते हैं। "यह लड़का बड़ा संस्कारी है," इत्यादि वाक्यों में संस्कार शब्द से यही भावना नामक संस्कार कहा जाता है। भावना प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति या शाब्दबोध किसी सी

अनुभव से उत्पन्न होकर तब तक बनी रहती है जब तक उस विषय का, जिसका कि पहले अनुभव हुआ रहता है, स्मरण नहीं हो जाता। भावना नामक संस्कार आत्मा में रहने वाला गुण है, यदि इसे आत्मा में न माना जाय तो अनेक दिन पूर्व अनुभूत वस्तु का अनेक दिन के अनन्तर स्मरण न हो सकेगा। अतः इसे मानना आवश्यक है। भावना के नाश के सम्बन्ध में दार्शनिकों में मत-द्वैध पाया जाता है। एक दल का कहना है कि प्रथम स्मरण से अनुभवजनित संस्कार नष्ट हो जाता है, फिर उस प्रथम स्मरण से समानविषयक दूसरी भावना उत्पन्न होता है, जो उस विषय की दूसरी स्मृति को उत्पन्न कर उससे नष्ट हो जाती है। फिर दूसरी स्मृति से एक नयी भावना उत्पन्न होती है। इस प्रकार भावना की परम्परा से स्मरण की परम्परा होती है।

दूसरे दल का कहना है कि प्रथम अनुभव से उत्पन्न भावना, तद्विषयक अन्तिम स्मृति को, जो इस जन्म में या जन्मान्तर में होती है, उत्पन्न कर नष्ट हो जाती है। बीच-बीच में जब भावना का उद्बोधक जुटता है तब यह उद्बुद्ध अर्थात् जागरित होकर स्मरण को उत्पन्न करती रहती है। यही कारण है कि यह क्रमशः अधिकाधिक उद्बोधकों के जुटने से दृढ़ होती जाती है। अन्तिम स्मरण से इसका नाश होता है। सार यह कि प्रथम विचारकदल भावना की उत्पत्ति केवल अनुभवात्मक ज्ञान से नहीं, किन्तु ज्ञानमात्र से मानना है। वह चाहे अनुभव हो या स्मरण, दोनों से इसकी उत्पत्ति मानता है। यही कारण है कि मध्य के स्मरण से वह इसका नाश भी मान लेता है। क्योंकि जब भावनाजन्य स्मरण से संस्कार बनता है तो पूर्व-भावनाओं के रहने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

किन्तु द्वितीय दल एक ही विषयक असंख्य भावना मानने में कल्पना-गौरव देख कर कहता है कि भावना की उत्पत्ति केवल अनुभवात्मक ज्ञान से होती है, स्मरण से नहीं। यही कारण है कि यह वर्ग एक ही भावना को अन्तिम स्मरण तक रखना आवश्यक मानता है। अन्यथा एक स्मरण के बाद पुनः उस विषय का स्मरण नहीं होना चाहिए। किन्तु यह सर्ववादि-सम्मत है कि भावना की उत्पत्ति उसी ज्ञान से होती है जो अपेक्षात्मक एवं निश्चयात्मक हो। क्योंकि रास्ता चलते समय अनुभूत होनेवाली सभी वस्तुओं का स्मरण नहीं होता, किन्तु जिस आकर्षक वस्तु में अपेक्षात्मक ज्ञान होता है, समय-समय पर संस्कार के उद्बुद्ध होने पर उसी वस्तु का स्मरण हुआ करता है।

भावना को कुछ लोग आत्म-धर्म न मानकर मन का धर्म मानते हैं। इस मत में कठिनता यह है कि जो लोग इसे मन अर्थात् अन्तःकरण का धर्म मानते हैं वे इसे उसका परिणामस्वरूप मानते हैं। परिणाम है क्रिया, एक वस्तु एक ही काल में विजातीय-क्रियाशील नहीं हो सकती। फिर परस्पर विरुद्ध सहस्रों वस्तुओं विषयक

वासनारूप से अन्तःकरण का परिणाम प्रतिक्षण कैसे सम्भव हो सकता है ।

संस्कार का तीसरा भेद स्थितिस्थापक है । इसका स्वभाव नाम के अनुरूप ही होता है । अन्यथाकृत वस्तु को फिर पूर्व रूप में पहुँचाना इसका कार्य है । जैसे पेड़ की शाखा को झुका कर छोड़ने पर वह पूर्व स्थान में स्थित हो जाती है । कुत्ते की पूँछ सीधी कर छोड़ने पर फिर पूर्ववत् टेढ़ी हो जाती है । यह परिस्थिति उस वस्तु में विद्यमान स्थितिस्थापक नामक संस्कार के कारण होती है । अतएव नयी बेत की चटाई आदि में पहले उक्त परिस्थिति होने पर वह मुड़ जाती है जब कि बैठते-बैठते उसमें रहनेवाला स्थितिस्थापक-संस्कार नष्ट हो जाता है, फिर यह बात उसमें नहीं देखी जाती । यह संस्कार पार्थिव पदार्थों में हुआ करता है । कुछ लोग पृथिवी, जल, तेज और वायु चारों में इसकी सत्ता मानते हैं । स्थितिस्थापक कभी स्पन्दन अर्थात् कम्पन का भी कारण होता है । यही कारण है कि झुकाने के बाद मुक्त वृक्ष-शाखा ऊपर पहुँचकर कुछ काल तक काँपती रहती है। यद्यपि कुछ लोगों ने इसे संस्कार का अलग भेद माना है, किन्तु इसे यदि वेग का प्रभेद मान लिया जाय तो भी कोई अनुपपत्ति नहीं दीख पड़ती ।

अदृष्ट-गुण

अदृष्ट उस गुण को कहते हैं जो सत् कार्य या असत् कार्य से अर्थात् सदाचरण या असदाचरण से उत्पन्न होकर सुख या दुःख का कारण हो । इसे अदृष्ट इसलिए कहा जाता है कि सुख या दुःख होने पर उससे उसके कारण रूप से इस गुण की कल्पना की जाती है, प्रत्यक्षतः इसे देखा नहीं जा सकता । इसे स्वीकार करने में यह युक्ति दी जाती है कि यह तो सभी को मानना होगा कि अच्छे कर्मों से सुख और बुरे कर्मों से दुःख मिलता है । ऐसा न माना जाय तो कोई भी विवेकी सुकर्म क्यों करे; दुष्कर्म ही क्यों न करे ? यह मान लेने पर कि सुकर्म से सुख और दुष्कर्म से दुःख मिलता है, कठिनता यह होती है कि सुकर्म या दुष्कर्म बहुत पहले किये जाते हैं, उनके फल सुख या दुःख मिलते हैं अनेक कालोत्तर बाद में कभी । फिर परवर्त्ती सुख या दुःख के प्रति उससे अति व्यवहित पूर्व कालवर्ती कर्म को कैसे कारण माना जाय ? इस कठिनता के निराकरणार्थ बीच में अदृष्ट नामक गुण आत्मा में माना जाता है, जिसके रहने के कारण सुकर्म या दुष्कर्म के नष्ट हो जाने पर भी सुख-दुःख की निष्पत्ति हो जाती है ।

कुछ लोग जो कि प्रत्यक्षमात्र को वस्तु-व्यवस्थापक प्रमाण मानते हैं, अदृष्ट गुण नहीं मानते । परन्तु उनके मत में सुकर्म और दुष्कर्म की परिभाषा क्या होगी ? इसे वे ही बतला सकते हैं । क्योंकि अदृष्ट माने विना कर्म को सुखकर या दुःखकर

नहीं माना जा सकता, जिससे सुखद या दुःखद होने के आधार पर सुकर्म या दुष्कर्म की परिभाषा की जाय। यदि कहा जाय कि जिससे राजदण्ड का भय हो वह दुष्कर्म और तदतिरिक्त कर्म सुकर्म कहा जायगा, तो यह भी कहना कठिन है। क्योंकि दण्ड-विधान का निर्णय ही कैसे हो सकेगा ? सुकर्म-निश्चय और दुष्कर्म-निश्चय के आधार पर ही तो दण्ड-विधान का निर्धारण होता है।

अदृष्ट की सिद्धि में सब से प्रबल युक्ति यह है कि ऐसी एक भी क्रिया नहीं दिखलायी जा सकती जो अपने अनन्तर और फलसिद्धि के पूर्व, मध्य में एक अदृष्ट-व्यापार की अपेक्षा न करती हो। जैसे किसी आकर्षक वस्तु को देखकर कोई समय-समय पर उसे स्मरण करता है, वहाँ देखना और स्मरण स्पष्ट हैं। किन्तु मध्य में होनेवाली भावना, जिसकी चर्चा संस्कार-विचारस्थल में की जा चुकी है, अदृष्टतया रहती है। स्मरणस्वरूप फल से भावना की कल्पना की जाती है कि वह अवश्य थी, नहीं तो देखनेवाले से पृथक् दूसरों को उस आकर्षक वस्तु का स्मरण क्यों नहीं होता ? रोगी दवा खाता है और रोगमुक्त हो जाता है। ये दो बातें प्रत्यक्षसिद्ध हैं, किन्तु मध्य में होनेवाली प्रक्रिया छिपी हुई अदृष्ट रह जाती है। जब कि साधारण क्रियामात्र फलसिद्धि के लिए अदृष्ट व्यापार की अपेक्षा करती है, फिर सुकर्म-दुष्कर्म क्यों नहीं अदृष्ट व्यापार की अपेक्षा करेंगे ? अतः अदृष्ट नामक गुण मानना ही चाहिए।

कुछ लोग अदृष्ट को सुकर्म और दुष्कर्म की ही अस्पष्ट अवस्थाविशेष मानते हैं, गुण नहीं। किन्तु कर्म स्पन्दनात्मक होता है, अतः इसे कर्मस्वरूप मानना कठिन है। कुछ लोगों का कहना है कि सुकर्म करने से भगवान् को प्रसन्नता होती है और दुष्कर्म करने से अप्रसन्नता। उस प्रसन्नता से सुकर्मकारी को सुख मिलता है और अप्रसन्नता से कुकर्मकारी को दुःख। इस मत में प्रसन्नता एवं अप्रसन्नता को ही अदृष्ट नाम से कहा जाता है, कर्तृगत स्वतन्त्र गुण को नहीं। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं प्रतीत होता कि ऐसा स्वीकार करने पर भगवान् को जीवों के समान जन्य सुख और दुख होता है, ऐसा मानना होगा। क्योंकि प्रसन्नता को सुख से और अप्रसन्नता को दुःख से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कहा जासकता। भगवान् को भी सुख और दुःख का होना मानने पर जीवों से उनकी विशेषता क्या रह जाती है ? कुछ लोग अदृष्ट को आत्मा का गुण न मानकर अन्तःकरण का धर्म या परिणाम मानते हैं। किन्तु सुख और दुःख आत्मा के गुण हैं, अतः अदृष्ट को भी आत्मगुण मानना ही उचित है।

अदृष्ट गुण भी दो भागों में विभक्त समझना चाहिए--पुण्य और पाप। पुण्य वह है जिससे सुख हो और पाप वह है जिससे दुःख हो। अब इसी के आधार पर सुकर्म की भी परिभाषा हो जाती है। जैसे, जिससे पुण्य उत्पन्न हो वह कर्म सुकर्म है,

और जिससे पाप हो वह कर्म कुकर्म। सुखद कर्म सुकर्म है और दुःखद कर्म कुकर्म, यह परिभाषा नहीं की जा सकती। क्योंकि तब तो परस्त्रीगमन आदि सुकर्म और तपश्चरण आदि कुकर्म कहलाने लगेंगे।

शब्द-गुण

शब्द उस गुण को कहते हैं जिसे कान से सुना जाता है। सर्प भी कान से ही सुनता है। अन्य जीवों से उसका यह भेद है कि चक्षुःछिद्र और कर्णछिद्र उसके एक ही स्थान में हैं, इसीलिए वह "चक्षुःश्रवा" कहलाता है। कुछ लोग शब्द को गुण न मान कर द्रव्य मानते हैं। उनका कहना है कि शब्द एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है। अन्यथा शब्द का श्रवण नहीं हो सकेगा। आज तो टेलीफोन आदि से दूर-दूर के शब्द भी सुनाई देते हैं। अतः इसे गतिशील मानना ही होगा, फिर द्रव्य मानना अनिवार्य है। क्योंकि क्रिया अर्थात् चलन द्रव्य में ही होता है। इतना ही नहीं, मन्दिर, पर्वत की गुफा, बन्द पक्के घर आदि में शब्द की प्रतिध्वनि होती है। यह शब्द को द्रव्य मानने पर ही संगत हो सकती है। गतिशील शब्द दृढ़ द्रव्य से टक्कर खाकर लौटते हैं वे ही प्रतिध्वनि कहे जाते हैं, इत्यादि। किन्तु इस कथन में कठिनता यह है कि तीव्र, तीव्रतर, मन्द, मन्दतर रूप से गृहीत होने के कारण उसे नित्य व्यापक नहीं माना जा सकता, अनित्य और उत्पत्तिशील ही मानना पड़ेगा। फिर पार्थिव आदि परमाणुओं के समान इसके भी परमाणु मानने होंगे। परन्तु इस क्रम से अवयवों को जोड़कर शब्द का उत्पादन अनुभव का विषय नहीं होता। श्रूयमाण "क" आदि प्रत्येक वर्ण को शब्द का परमाणु नहीं कहा जा सकता। क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय अतएव अप्रत्यक्ष होते हैं। शब्द को महान् अवयवी मानने पर उन अवयवों का पृथक् प्रत्यक्ष होना चाहिए, जो कि होता नहीं।

शब्द को द्रव्य मानने में सबसे बड़ी कठिनता यह है कि द्रव्य में क्रिया एक बार एकाभिमुखी ही होती है। जैसे किसी वस्तु को फेंकने या गिराने पर वह एक ही ओर जाती है। शब्द में ऐसा स्वभाव मानने पर वह चारों ओर सुनाई नहीं देगा। किन्तु ऐसी बात नहीं होती, एक स्थान में जायमान शब्द का श्रवण चारों ओर होता है। यदि यह कहा जाय कि शब्द चक्राकार से गतिशील होता है, इसलिए वह चारों ओर सुनाई देता है। फिर भी ऊपर-नीचे या अगल-बगल वह नहीं सुनाई देना चाहिए। एक बात और ध्यान देने योग्य है कि शब्द को यदि परमाणु, द्व्यणुक आदि के क्रम से उत्पन्न द्रव्य माना जायगा, तो वह या तो संयोगज-द्रव्य होगा या विभागज-द्रव्य। परन्तु उभयथा ही अनुपपत्ति होती है। क्योंकि क-ख आदि एक-एक शब्द को संयोगज इस-लिए नहीं माना जा सकता कि उसके अवयवभूत वर्ण उपलब्ध नहीं हैं जिन्हें जोड़कर

प्रत्येक वर्ण का उत्पादन हो सके। शब्द विभागज-द्रव्य भी इसलिए नहीं हो सकता कि किस वर्णात्मक अवयव के विश्लेषण से क-ख आदि एक-एक वर्णात्मक शब्द उत्पन्न होगा ? दूसरी बात यह है कि विभागज द्रव्य नियमत: पूर्ववर्त्ती अवयवि-द्रव्य-सापेक्ष एवं पूर्व द्रव्य से अपकृष्ट परिमाणवाला हुआ करता है। जैसे दस हाथ के कपडे के दो टुकड़े करने पर जो पाँच-पाँच हाथ के दो खण्ड होते हैं, वे पूर्ववर्त्ती दस हाथ के कपड़े की अपेक्षा रखते हैं और उससे छोटे होते हैं। शब्द के बारे में ऐसी बात नहीं है। क-ख आदि वर्णों से पूर्व कोई अवयवी शब्द नहीं पाया जाता, जिसकी अपेक्षा कर क-ख आदि उससे छोटे होते हुए उत्पन्न हो सकें।

कुछ लोग क-ख आदि वर्णात्मक शब्दों को नित्य और व्यापक द्रव्य स्वीकार करते हैं और अभिव्यञ्जक विशेष के सान्निध्य से तत्तद् वर्णों की अभिव्यक्ति मानते हैं। किन्तु यह बात इसलिए नहीं जँचती कि संयोग एवं विभाग को अभिव्यञ्जक मानना होगा। यहाँ वह नहीं माना जा सकता। क्योंकि व्यंग्य और व्यञ्जक के बीच समसामयिकत्व का नियम है। ऐसा कभी नहीं होता कि दृश्य में दीप-प्रभा आदि का संयोग पहले कभी हो और दृश्य वस्तु कभी बाद में अभिव्यंग्य होती हो। प्रकृत में व्यंग्य शब्द और व्यञ्जक संयोग-विभाग की समसामयिकता नहीं होती। बन्दूक दागनेवाले लोगों का अनुभव एवं कहना है कि जब लक्ष्य गोली से आहत हो जाता है, तब शब्द सुनाई देता है। अत: यह मतवाद संगत नहीं मालूम होता है।

तत्त्वत: शब्द एक प्रकार का उत्पत्तिविनाशशील गुण है। यह आकाश में उत्पन्न होता है। संयोग एवं विभाग इसके उत्पादक हैं। शब्द का श्रवण इसलिए होता है कि उत्पादन स्थान से लेकर श्रोता के कान तक क्रम से शब्द की धारा उत्पन्न होती है। अर्थात् एक शब्द से द्वितीय तज्जातीय शब्द, उससे तृतीय तत्सजातीय शब्द अनन्त आकाश में उत्पन्न होते हैं। सुतरां श्रोता के कान तक आकर उत्पन्न होनेवाले शब्द को श्रोता सुनता है। धारा के रूप में शब्दों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो मत हैं, जैसे बीचीतरंग दृष्टान्तानुसार शब्द की उत्पत्ति और कदम्बमुकुल दृष्टान्तानुसार शब्द की उत्पत्ति। प्रथम पक्ष का अभिप्राय यह है कि जैसे जल में किसी दृढ़ द्रव्य के वेग के साथ गिरने पर गोल लहर उद्‌गत होती है, उससे फिर दूसरी लहर पूर्व की अपेक्षा अधिक देशव्यापी उठती है, फिर उससे तीसरी। इस तरह कल्लोलमाला चल पड़ती है। उसी प्रकार एक शब्द के उत्पन्न होने पर उससे अधिक देशव्यापी दसों दिशाओं में दूसरा, उससे फिर तीसरा, इस प्रकार अनन्त आकाश में शब्द की धारा चल पड़ती है। दूसरी प्रक्रिया यह है कि जैसे गेंद के समान कदम्ब-पुष्प में सब ओर केसर-शिखाएँ निकलती हैं, उसी प्रकार एक शब्द के उत्पन्न होने पर उससे सभी ओर अर्थात् दस

दिशाओं में दस शब्द उत्पन्न होते हैं। उनके अन्तर्गत प्रत्येक से फिर उसी प्रकार दस-दस शब्द उत्पन्न होते हैं। अनन्त आकाश में इस तरह शब्दधारा उत्पन्न होती है। प्रथम शब्दोत्पत्ति स्थान से श्रोता जितनी दूर होता जाता है, शब्द उसे उतना ही अस्पष्ट सुनाई देता है। इसका कारण यह है कि शब्द के सुनने में दूरत्व प्रतिप्रबन्धक होता जाता है। किन्तु दूरत्व की प्रतिबन्धक-शक्ति को दो प्रकारों से अवरुद्ध किया जा सकता है। जैसे यदि शब्दधारा को केन्द्रित कर लिया जाय तो दूर से भी शब्द सुना जा सकता है। यही कारण है कि टेलीफोन से दूरवर्ती शब्द भी सुना जाता है। ऐसी स्थिति में शब्द-धारा केन्द्रित हो जाती है। यह बात इसलिए मालूम होती है कि टेलीफोन से की जानेवाली बातचीत को बेतार के तार-रेडियो आदि से नहीं सुना जा सकता है। दूरत्व-गत प्रतिबन्धक-शक्ति के अवरोध का दूसरा उपाय यन्त्रविशेष है। यही कारण है कि निरवच्छिन्न भाव से शब्दधारा उत्पन्न होने पर भी दूरवर्त्ती शब्द उक्त यन्त्रों के साहाय्य से सुना जाता है। अथवा यह कल्पना की जा सकती है कि, इसके मूल में भी शब्द का केन्द्रीकरण काम करता है। अर्थात् यन्त्र के सम्मुख उत्पन्न शब्द से दस-दिगवच्छिन्न शब्द उत्पन्न न होकर एकाभिमुख अर्थात् श्रोता की ओर ही शब्दधारा चल पड़ती है, जिससे शब्द स्पष्ट हो जाता है। अन्य बहुत शब्द के उत्पादन से तद्गत सामर्थ्य का ह्रास अयुक्त नहीं।

पूर्वोक्त वीचीतरंग और कदम्बमुकुल-दृष्टान्तों के बीच, कुछ परवर्ती विद्वानों ने प्रथम को ही उपयुक्त माना है। क्योंकि उक्त मतानुसार उत्पन्न शब्दों की संख्या बहुत कम होने से लाघव सम्भावित होता है। परन्तु शब्दग्राहक यंत्रों को ध्यान में लाने पर द्वितीय मत संगत मालूम होता है। कुछ लोग परवर्त्ती काल में ग्रामोफोन से सजातीय शब्द सुनने के कारण, शब्द को नित्य स्थायी मानते हैं। उनका कहना है कि समय-समय पर उक्त यन्त्र से शब्द की अभिव्यक्ति पर काल में होती है। किन्तु शब्द अभिव्यङ्ग्य नहीं हो सकता है, यह बात पहले बतलायी जा चुकी है। रही बात ग्रामोफोन से सजातीय शब्द-ग्रहण की, तो इसका उपपादन शब्द के अनित्यत्व पक्ष में भी किया जा सकता है। मनुष्य आदि का शरीर भी तो एक यन्त्र ही है, उसके साहाय्य से यदि आकाश में शब्दोत्पादन होता है, तो ग्रामोफोन यन्त्र के साहाय्य से भी हो सकता है। यदि वादक अच्छा हो, तो उसकी कुशलता से वीणा आदि के तारों के साहाय्य से भी, पूर्वोक्त शब्द के सजातीय शब्द उत्पन्न होते ही हैं, और सुने ही जाते हैं। वर्ण-नित्यत्व-पक्ष में अनुपपत्ति यह प्राप्त होती है कि तब सभी वर्ण सब जगह विद्यमान रहेंगे, फिर किसी-किसी की ही अभिव्यक्ति क्यों होगी ?

कुछ लोग कहते हैं कि शब्द को आकाश का गुण न मानकर वायु का गुण

क्यों न माना जाय? इस सम्बन्ध में पदार्थशास्त्रियों का कहना है कि वायु के गुण यावद्-वायुकालस्थायी होते हैं, किन्तु शब्द ऐसा नहीं है। अतः उसे वायु का गुण नहीं माना जा सकता। कुछ लोग शब्द को पृथ्वी आदि पाँचों द्रव्यों का गुण मानते हैं, क्योंकि उनके मत में आकाश से वायु, उससे तेज, उससे जल और उससे पृथ्वी की उत्पत्ति होती है और परवर्ती भूतों में पूर्व वाले भूत का गुण समाया रहता है। क्योंकि परिणामवादी होने के कारण उनके मत में आकाश वायु रूप से परिणत होता है, अतः कार्य में कारण-गुण का होना आवश्यक है। परन्तु सजातीय द्रव्य से सजातीय द्रव्य का आरम्भ माननेवाले के लिए केवल आकाश में ही शब्द मानना उचित है। शब्द को (१) ध्वनि और (२) वर्ण; इन दो भागों में विभक्त समझना चाहिए। वाक्य के अंशभूत क-ख आदि वर्ण हैं, और तद्भिन्न ध्वनि है। मृदंग आदि के शब्द ध्वनिरूप होते हैं।

कर्म-निरूपण

कर्म की परिभाषा

पिछले प्रकरणों में द्रव्य और गुण दो पदार्थों का निर्वचन हो चुका है। अतः अब सर्वप्रथम कर्म पदार्थ का निर्वचन स्वाभाविक है। जो शब्द जितना अधिक प्रचलित होता है वह उतना ही अधिक भ्रामक हो जाता है। क्योंकि उसके प्रयोक्ता और श्रोताओं के, जिनकी प्रयोगकालिक परिस्थितियाँ अलग-अलग रहती हैं, अत्यधिक हो जाने के कारण ऐसे शब्द की शक्ति विकीर्ण हो जाती है, जिससे अर्थ भी अनेक हो जाते हैं। कर्म शब्द उन्हीं में से एक है। इसका अर्थ कहीं-कहीं उपेय, अर्थात् प्राप्य फल का अनायास साध्य आश्रय होता है। जैसे "राम घर जाता है" इस वाक्य में 'घर' कर्म कहलाता है। क्योंकि राम के पैरों का संयोग उसे अनायास प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार अन्य वाक्यों में भी समझा जा सकता है। वैयाकरण लोग इसी के आधार पर कर्म शब्द की परिभाषा बनाते हैं। बहुत स्थानों में कर्म शब्द से 'अदृष्ट' अर्थात् पाप-पुण्य नामक गुण या भाग्य समझा जाता है।

कर्म का अर्थ है 'क्रिया'। यद्यपि ऐसा कहना संगत है, परन्तु भ्रम का स्थान यहाँ भी है। क्योंकि व्याकरण की परिभाषा में धातुओं के अर्थ क्रिया कहलाते हैं। अतः यदि कहा जाय कि क्रिया, कर्म है, तो "ज्ञा" धातु का अर्थ ज्ञान भी जो कि एक गुण है, कर्म कहलाने लगेगा। अतः क्रिया को कर्म कहना कुछ भ्रामक ही है। यदि यह कहा जाय कि "करना" कर्म है, इसीलिए सुन्दर आचरण को सुकर्म और वैसे आचरण वाले को सुकर्मी तथा अनुचित आचरण को दुष्कर्म एवं उसके कर्ता को दुष्कर्मी कहा जाता है। किंतु कर्म का यह निर्वचन भी उतना सुन्दर नहीं होगा। क्योंकि आचरण भले-बुरे कर्मों को कहा जाता है। इसीलिए आचरण को सदाचरण और दुराचरण दो भागों में विभक्त किया जाता है। इस निर्वचन के अनुसार जो कर्म न तो भला है न बुरा, जैसे वायु, वनस्पति आदि का चलन, वह आचरण शब्द से व्यवहृत न होने के कारण कर्म नहीं कहला सकेगा। यदि कहा जाय कि 'करना' शब्द करण का अपभ्रंश है और करण 'कृति' का पर्याय है। अतः "करना कर्म है" इस

कथन का अभिप्राय होगा कि कृति कर्म है। परन्तु कृति कर्म नहीं होती, वह प्रयत्न नामक एक प्रकार का गुण है।

यदि कहा जाय कि "किसी का उपाय ही कर्म है", क्योंकि "भोजन से तृप्ति होती है", "पढ़ने से ज्ञान होता है" आदि कोई भी फल किसी-न-किसी क्रियात्मक उपाय से होता है। तो यह इसलिए संगत न होगा कि द्रव्य, गुण और कर्म सभी तरह के कारणों को 'उपाय' कहते हैं। मिट्टी भी घड़े के प्रति उपाय कहलाती है, तन्तु कपड़े के प्रति उपाय कहलाते हैं। ऐसी परिस्थिति में कर्म शब्द का यह निर्वचन किया जाय कि 'उपाय कर्म है', तो द्रव्य और गुण भी कर्म कहलाने लगेंगे। अतः यह निर्वचन उचित नहीं कहा जा सकता। यदि कहा जाय कि 'चलन' कर्म है, तो यह भी व्यापक निर्वचन नहीं होगा, क्योंकि 'चलन', 'प्रचलन' आदि शब्द विभिन्न रीति-रिवाजस्वरूप कतिपय कर्मों को ही कहते हैं। अतः सभी कर्म इसमें संगृहीत नहीं हो सकते। इन दोषों से बचने के लिए पदार्थशास्त्रियों ने कार्यकारण भाव के सहारे कर्म पदार्थ का निर्वचन किया है, उनका कहना है कि "संयोग और विभाग के प्रति अनपेक्ष भाव से जो कारण हो, वह वस्तु कर्म है।" अभिप्राय यह है कि किसी द्रव्य में जब किसी प्रकार का हिलना-डोलना आदि कर्म उत्पन्न होता है तब हिलना-डोलना आदि कर्म का आश्रय द्रव्य किसी पूर्व-संयुक्त द्रव्य से विभक्त होकर अन्य द्रव्य से संयुक्त होता है। किसी अव्यापक द्रव्य को लेकर हम इस बात को भली भाँति समझ सकते हैं। एक जगह से दूसरी जगह जब हम जाते हैं, तो जिस स्थान से हम उठते हैं वहाँ से विभाग होता है और जहाँ जाते हैं उस स्थान से देह का संयोग हो जाता है। भोजन करते समय थाली से हाथ उठाकर मुख के पास ले जाते हैं, वहाँ भी उत्थानस्वरूप कर्म के द्वारा हाथ थाली से विभक्त होकर मुख से संयुक्त होता है। सुतरां जो संयोग और विभाग के प्रति अनपेक्ष भाव से कारण हो वह यह 'कर्म' होगा।

इस परिभाषा में "अनपेक्ष भाव से" इतना न जोड़ा जाय, अर्थात् इतना ही कहा जाय कि जो संयोग और वियोग के प्रति कारण हो वह 'कर्म' है; तो काल, ईश्वर, अदृष्ट, ईश्वरेच्छा आदि भी कर्म कहलाने लगेंगे। क्योंकि ये सभी कार्यों के प्रति साधारण भाव से कारण होने के कारण संयोग और विभाग के प्रति भी कारण होते हैं। 'अनपेक्ष भाव से' इतना जोड़ देने पर काल, ईश्वर, अदृष्ट, ईश्वरेच्छा आदि में कर्मत्व की अतिव्याप्ति इसलिए नहीं होती कि सभी अन्य लोकसिद्ध तत्तत् कारण को अपेक्षा करके ही सभी का उत्पादन करते हैं, अनपेक्ष भाव से नहीं। अन्यथा सारे कार्य सर्वदा होने लगेंगे किन्तु सर्वदा सब कार्य होते नहीं। अतः मानना होगा कि काल, ईश्वरादि सभी कार्यों के प्रति कारण होने वाले, संयोग-विभाग के प्रति भी सापेक्ष

भाव से ही अर्थात् लोकसिद्ध अन्य कारणों की अपेक्षा करके ही कारण होते हैं; अनपेक्ष भाव से नहीं। अतः संयोग और विभाग के प्रति कारण होने पर भी अनपेक्ष भाव से कारण न होने के कारण काल, ईश्वर आदि 'कर्म' नहीं कहलाते।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उक्त निर्वचन के अनुसार कम्पन या स्पन्दन रूपी कर्म भी 'कर्म' नहीं कहला सकेगा। क्योंकि वह अपने आश्रयभूत द्रव्य की अपेक्षा करके ही उस द्रव्य में, किसी अन्य द्रव्य के साथ संयोग या विभाग गुण उत्पन्न करता है। अतः जब वह संयोग और विभाग के प्रति अनपेक्ष भाव से कारण नहीं हुआ तो कर्म कैसे कहलाएगा ?

दूसरी बात यह कि क्रिया की उत्पत्ति के अव्यवहित द्वितीय क्षण में विभाग उत्पन्न होता है, उसके अव्यवहित उत्तर क्षण में पूर्ववर्ती संयोग का नाश होता है। तब तदुत्तर क्षण में अन्य द्रव्य के साथ संयोगस्वरूप उत्तर संयोग उत्पन्न होता है। जब तक पूर्ववर्ती संयोग का नाश न होगा, तब तक उत्तर संयोग हो नहीं सकता। ऐसी परिस्थिति में यह मानना आवश्यक है कि प्रथम उत्पन्न क्रिया पूर्व संयोग के नाश की अपेक्षा करके ही उत्तर संयोग उत्पन्न करती है। सुतरां कर्म संयोग के उत्पादन में सापेक्ष भाव से कारण होता है, अनपेक्ष भाव से नहीं। अतः कर्म भी कर्म कैसे कहलाएगा।

इन प्रश्नों के उत्तर में पदार्थशास्त्रियों का कहना है कि "संयोग और विभाग के प्रति अनपेक्ष भाव से कारण होने वाली वस्तु कर्म है" इस निर्वचन के अन्दर अनपेक्ष भाव" का अर्थ यह है कि "जो अपने से बाद में उत्पन्न होनेवाली किसी भावात्मक वस्तु की अपेक्षा न करे।" कर्म जिस स्वाश्रय-द्रव्य की अपेक्षा करता है वह कर्म से पहले ही उत्पन्न हुआ रहता है। पूर्व कथनानुसार कर्म उत्तर संयोग उत्पन्न करने में जिस पूर्व संयोग-नाश की अपेक्षा करता है, वह भाव पदार्थ नहीं अभाव पदार्थ है। अतः उसकी अपेक्षा करने पर भी उत्तर संयोग की उत्पत्ति में कर्म अपने से बाद में उत्पन्न किसी भाव वस्तु की अपेक्षा नहीं करता है। क्योंकि नाश भाव पदार्थ नहीं अभाव पदार्थ है। सारांश यह कि कर्म जिस स्वाश्रय द्रव्य की अपेक्षा करता है, वह स्वोत्तर उत्पन्न नहीं, और जिस स्वोत्तर उत्पन्न पूर्व संयोग-नाश की अपेक्षा करता है वह भाव नहीं। अतः कर्म उत्तर संयोग के प्रति अनपेक्ष भाव से अर्थात् 'स्वोत्तर उत्पन्न' भाव वस्तु की अपेक्षा न रखते हुए कारण होता है, अतः उक्त निर्वचन के अनुसार 'कर्म' कहलाने का अधिकारी है। उदाहरण के द्वारा इस बात को समझा जाय। यथा—वृक्ष की एक शाखा का अन्तभाग दूसरी शाखा के अन्तभाग से संयुक्त था। हवा चलने से शाखाएँ हिलीं, हिलने का फल यह हुआ कि मिली हुई शाखाओं

के अन्तभाग में परस्पर विभाग हो गया। अलग होने का फल यह हुआ कि दोनों शाखाओं में जो संयोग था उसका नाश हो गया। अनन्तर शाखाओं के अन्तभाग अलग-अलग अन्य शाखाओं से मिल गये। अर्थात् उत्तर संयोग उत्पन्न हो गया। ऐसी स्थिति में हिलना है कर्म जो अव्यवहित उत्तर-क्षण में विभाग उत्पन्न करता है। विभागोत्पत्ति के अव्यवहित उत्तर-क्षण में उत्पन्न होनेवाले पूर्व संयोग-नाश की अपेक्षा रखकर ही वह अपने उत्पत्ति-क्षण के अनन्तर चतुर्थ क्षण में उत्तर संयोग उत्पन्न करता है। यहाँ तृतीय क्षण में उत्पन्न होनेवाला पूर्व संयोग-नाश अभाव होने के कारण भाव नहीं। इसलिए "स्वोत्तरोत्पन्न भावानपेक्ष" रूप से कम्पन, स्पन्दन या हिलाना उक्त निर्वचन के अनुसार कर्म होता है।

अब एक और प्रश्न उपस्थित होता है कि कर्म का उक्त निर्वचन मानने पर संयोगज संयोगस्थल में (जिसका विचार गुण नि० में हो चुका है) प्रथम संयोग भी कर्म कहलाने लगेगा। क्योंकि वह द्वितीय संयोगरूप कार्य के प्रति अनपेक्ष भाव से कारण होता है।

उदाहरण के द्वारा इसे इस तरह समझा जा सकता है। यथा, हाथ में कम होने के कारण पहले निकट में वर्तमान पुस्तक के साथ उसका सयोग हुआ। अनन्तर उसके द्वारा पूर्ण देह के साथ भी पुस्तक का संयोग हुआ। अतः पुस्तक-देहसंयोग के प्रति हस्त-पुस्तकसंयोग अनपेक्ष भाव से कारण हो जाता है। इसलिए हस्त-पुस्तक संयोग उक्त कर्म-निर्वचन के अनुसार कर्म कहलाने का अधिकारी है। इसी प्रकार विभागज विभाग-स्थल में प्रथम कारण-भूत विभाग में भी कर्म की आपत्ति होती है। क्योंकि देह-पुस्तकविभाग के प्रति हस्त-पुस्तक विभाग अनपेक्ष भाव से कारण है।

इसका उत्तर यह है कि "संयोग और विभाग दोनों के प्रति जो अनपेक्ष भाव से कारण हो वह कर्म है" इतना कह देने से ही उक्त आपत्ति का वारण हो जायगा। क्योंकि हस्त-पुस्तक-संयोग से देह और पुस्तक का संयोग होता है। यहाँ प्रथम संयोग अर्थात् हाथ और पुस्तक का संयोग केवल देह-पुस्तक-संयोग के प्रति ही कारण होता है किसी विभाग के प्रति नहीं। अतः वह संयोग और विभाग इन दोनों के प्रति कारण नहीं हुआ। इसी प्रकार हस्त-पुस्तक-विभाग से देह-पुस्तक-विभाग की उत्पत्ति में प्रथम उत्पन्न होनेवाला हस्त-पुस्तकविभाग केवल देह-पुस्तकविभाग के प्रति कारण होता है। किसी संयोग के प्रति नहीं। जब कि कर्म की परिभाषा में कह दिया गया है कि "जो संयोग और विभाग दोनों के प्रति कारण हो।"

विषय गम्भीर होने के कारण थोड़ा और विस्तारपूर्वक समझा जाय। विभागज विभाग दो प्रकार का होता है, यथा कारणमात्र-विभागजन्य और कारणाकारण-

विभागजन्य। प्रथम, जैसे——एक पट के प्रति कारण होने वाले दो तन्तुओं में परस्पर विभाग होने से उन तन्तुओं के साथ होने वाला आकाश का विभाग। और द्वितीय, जैसे पूर्वप्रदर्शित हस्त-पुस्तक-विभाग से होने वाला देह-पुस्तक विभाग। (इनका परिचय गुण-निरूपण में दिया जा चुका है।) इन दोनों विभागों के अन्दर तन्तु-तन्तु-विभाग द्वारा तन्तु-आकाश-विभाग के स्थल में प्रथम तन्तु-तन्तु का विभाग द्वितीय तन्तु-आकाश-विभाग के प्रति कारण तो है, किन्तु अनपेक्ष भाव से नहीं। क्योंकि पूर्ववर्ती तन्तु-तन्तु विभाग तब तक उत्तरवर्ती 'तन्तु-आकाश-विभाग' को नहीं पैदा करता, जब तक बीच में किसी अन्य भौतिक वस्तु के साथ होने वाले संयोगस्वरूप उत्तर संयोग को उत्पन्न न कर ले। क्योंकि संयोग और विभाग दोनों ही एक क्रिया से उत्पन्न होते हैं, इसलिए उत्तर संयोग उसके लिए अन्तरंग पड़ता है। अन्तरंग और बहिरंग में अन्तरंग का प्राथम्य लोकसिद्ध है। अतः वह 'तन्तु-तन्तु-विभाग' तन्तु-आकाश-विभाग को उत्पन्न करने में निरपेक्ष भाव से कारण नहीं होता। इस तरह तन्तु-तन्तु-विभाग में कर्मता की आपत्ति नहीं होती।

इसी प्रकार कारणमात्र-संयोगज संयोग-स्थल में प्रथम संयोग में कर्मता की आपत्ति का वारण समझना चाहिए। वहाँ भी प्रश्न यह है कि किसी पट के प्रति कारण होने वाले दो तन्तुओं में विभाग होने से "तन्तु-आकाश-विभाग" उत्पन्न होता है। उसी प्रकार पट के प्रति कारण होने वाले दो तन्तओं में परस्पर संयोग होने पर पहले से कुछ विलक्षण "तन्तु-आकाश-संयोग" भी अवश्य होता है। ऐसी परिस्थिति में प्राथमिक "तन्तु तन्तु संयोग" में कर्मता की आपत्ति हो जाती है। क्योंकि संयोग-विभाग के प्रति कारण जो हो, वही है "कर्म", इस पूर्वोक्त कर्मनिर्वचन के अनुसार उक्त "तन्तु-तन्तु-संयोग" भी परवर्ती तन्तु-आकाश-संयोग के प्रति कारण होता है। जब तक "तन्तु-तन्तु-संयोग" नहीं होता तब तक पूर्ववर्ती तन्तु-आकाश-संयोग से विलक्षण, अन्य "तन्तु आकाश संयोग" नहीं हो सकता। सुतरां इस विलक्षण परवर्ती "तन्तु-आकाश-संयोग" स्वरूप, कारणमात्र "संयोगज संयोग" के प्रति, कारण होने से, "कारणाकारण संयोग" स्वरूप "तन्तु-तन्तु संयोग" में कर्मता की आपत्ति दुर्निवार हो जाती है। इसका भी उत्तर यही समझना चाहिए कि तन्तु-तन्तु-संयोग तन्तु-आकाश-संयोग के प्रति कारण तो होता है किन्तु अनपेक्ष भाव से नहीं। क्योंकि तन्तु-तन्तु-संयोग के अव्यवहित पर क्षण में पट द्रव्य की उत्पत्ति हो चुकती है, तब तन्तु-आकाश-संयोग उत्पन्न होता है। क्योंकि पट द्रव्य की उत्पत्ति अन्तरंग कार्य है जब तक वह नहीं हो जाय, तब तक बहिरंग कार्य होने के कारण "तन्तु-आकाश-संयोग" नहीं उत्पन्न हो सकता।

इतने विवेचन के अनन्तर भी एक विचारणीय विषय अवशिष्ट है। कारण-मात्र-विभागज विभाग और कारणमात्र-संयोगज संयोग के स्थल में प्रथम विभाग और प्रथम संयोग में कर्मता की आपत्ति तो कर्म के निर्वचन में "अनपेक्षित भाव से" इतना और जोड़ देने से वारित हो जाती है। परन्तु कारणाकारण-विभागज विभाग एवं कारणाकारण-संयोगज संयोग-स्थल में प्रथम विभाग और प्रथम संयोग कर्म कहलाने के अधिकारी हो जाते हैं। क्योंकि ये दोनों कार्यभूत परवर्ती विभाग और संयोग के प्रति अनपेक्ष भाव से कारण हैं। उदाहरण यथा—कोई पुस्तक लेने की इच्छा से हाथ बढ़ाया गया। हाथ उस पुस्तक से जुट गया। यह पुस्तक और हाथ का जुटना कारणाकारण-सयोग है। क्योंकि इस संयोग में हाथ देह के प्रति अवयव (अंश) रूप से कारण है और पुस्तक है उक्त देह के प्रति अकारण। अतः इन दोनों का जुटना, कारणाकारण-संयोग है। इसके होते ही अव्यवहित-उत्तर-क्षण में उक्त संयोगस्वरूप कारण से देह और पुस्तक का संयोगस्वरूप कार्याकार्य-संयोग उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार उक्त परिस्थिति के अनन्तर यदि वह पुस्तक अपेक्षित मालूम नहीं हुई तो हाथ उसे छोड़कर हटता है, जिससे हाथ का उस पुस्तक से विभाग उत्पन्न होता है। वह विभाग कारणाकारण-विभाग कहलाता है। क्योंकि हाथ देह का कारण और पुस्तक उस देह का अकारण है। अतः दोनों का विभाग कारणाकारण-विभाग है। इसके तुरन्त अव्यवहित उत्तर क्षण में और किसी की अपेक्षा न करते हुए "देह पुस्तक विभाग" स्वरूप कार्याकार्य-विभाग उत्पन्न होता है। इसे कार्याकार्य विभाग इसलिए कहा जाता है कि देह हाथ का कार्य और पुस्तक अकार्य है, इन दोनों का यह विभाग है। हस्तपुस्तकसंयोग और देहपुस्तकसंयोग एक वस्तु नहीं तथा हस्तपुस्तकविभाग और देहपुस्तकविभाग एक वस्तु नहीं, अपितु कार्य-कारणभावापन्न दो वस्तु हैं। इस वस्तुस्थिति के प्रदर्शन से स्पष्ट हो जाता है कि हस्तपुस्तकसंयोग देहपुस्तक-संयोग के प्रति और हस्तपुस्तकविभाग देहपुस्तकविभाग के प्रति अनपेक्ष भाव से कारण होते हैं। अतः "संयोग-विभाग के प्रति अनपेक्ष भाव से कारण होने वाला कर्म है" इस निर्वचन के अनुसार देहपुस्तकसंयोग के प्रति अनपेक्ष भाव से कारण हस्त-पुस्तकसंयोग, और देहपुस्तकविभाग के प्रति कारण हस्तपुस्तकविभाग कर्म कहे जाने चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है—कर्म की परिभाषा ऐसी समझनी चाहिए कि "संयोग और विभाग दोनों के प्रति जो अनपेक्ष भाव से कारण हो वह कर्म है"। इस निर्वचन से उपर्युक्त प्रश्न हल हो जाता है। क्योंकि हस्तपुस्तकसंयोग केवल देह-पुस्तकसंयोग के प्रति कारण होता है, किसी विभाग के प्रति कारण नहीं होता। वह

संयोग, विभाग दोनों के प्रति कारण नहीं बन सका। इसी प्रकार हस्तपुस्तक-विभाग केवल देहपुस्तक-विभाग के प्रति कारण है; किसी संयोग के प्रति नहीं। वह भी संयोग और विभाग दोनों के प्रति कारण नहीं बन सका। अतः ये दोनों कर्म कहलाने के अधिकारी नहीं होते हैं।

यद्यपि वर्तमान निर्वचन के अनुसार कर्म की परिभाषा में "अनपेक्ष भाव से" इस अंश का वह प्रयोजन नहीं रह जाता जो कि यहाँ कुछ पहले बतलाया गया है। क्योंकि इसका अभिप्रेत तन्तु-तन्तु-विभाग तन्तु-आकाश-विभाग के प्रति ही कारण होता है, किसी संयोग के प्रति नहीं। तन्तु-तन्तु-संयोग तन्तु-आकाश-संयोग को ही उत्पन्न करता है, किसी विभाग को नहीं। यहाँ निर्वचन में कहा जा रहा है कि संयोग और विभाग दोनों के प्रति कारण होनेवाला कर्म है। अतः "अनपेक्ष भाव से" इतना अंश न कहने पर भी "तन्तु-तन्तु-संयोग" और "तन्तु-तन्तु-विभाग" कर्म नहीं कहे जायँगे। सारांश यह कि "संयोग और विभाग दोनों के प्रति कारण होनेवाली वस्तु कर्म है" इतना ही कर्म का निर्वचन किया जा सकता है। तथापि काल और ईश्वर इन दो द्रव्यों में तथा ईश्वर की इच्छा, अदृष्ट आदि गुणों में कर्मता की आपत्ति के वारणार्थ कर्म की उक्त परिभाषा में "अनपेक्ष भाव से" यह अंश जोड़ना आवश्यक है। क्योंकि वे किसी भी कार्य के प्रति लोकसिद्ध दृष्ट कारणों के सहारे ही कारण होते हैं, "अनपेक्ष भाव से" नहीं।

इस परिभाषा में "अनपेक्ष भाव से" इसके बदले यह कहा जाय कि "संयोग और विभाग दोनों के प्रति असमवायी कारण होने वाली वस्तु कर्म है", तो इस लघु निर्वचन से भी ईश्वर आदि में कर्मता की आपत्ति वारित हो जाती है। क्योंकि ईश्वर आदि सभी कार्यों के प्रति निमित्त कारण होते हैं, असमवायी कारण नहीं। "असमवायी करण" के अभिप्राय से ही प्राचीन पदार्थशास्त्रियों ने कर्म के निर्वचन में "अनपेक्षित भाव से" इस अंश का समावेश किया है। समवायी, असमवायी और निमित्त इन तीनों कारणों के बीच असमवायी कारण ही अनपेक्ष भाव से कारण होता है। अतः यह कर्म का निर्वचन अब स्थिर रहा कि "संयोग और विभाग इन दोनों के प्रति अनपेक्ष भाव से कारण होनेवाली वस्तु कर्म है।" पाठक अब कर्म के निर्वचन को भली भाँति पहचान गये होंगे। क्योंकि हिलना, डोलना, उठना, बैठना; किसी प्रकार का भी कर्म होने पर किसी से विभाग और किसी से संयोग अवश्य होता है। अतः उक्त हिलना-डोलना आदि सारी क्रियाएँ कर्म कहलाती हैं। इसी प्रकार संसार की प्रत्येक क्रिया को कर्म समझना चाहिए।

कर्म की विशेषता

कर्म की यह सर्वाधिक विशेषता है कि जो व्यक्ति जितना अधिक इसका परिचय प्राप्त करता है वह उतना ही अधिक चतुर, ज्ञानी एवं अधिक फल का उपभोक्ता माना जाता है। जो जितना अधिक काम करना जानता हैं, लोक में वह उतना ही अधिक प्रशंसा का पात्र होता है। यदि यह पूछा जाय कि परमेश्वर सब से बड़ा क्यों है? तो इसका उत्तर यही होगा कि वह इस विशाल विश्व की रचना के अनुकूल असंख्य परमाणुओं की क्रिया-परम्परा को जानते हुए अपनी इच्छा के अनुरूप उनका उपयोग कर इस कल्पनातीत विश्व की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय करता है। इससे स्पष्ट है कि दूसरों की तो बात ही क्या, परमेश्वर का परमेश्वरत्व (महत्त्व) भी कर्म पदार्थ के ऊपर आधारित है। संसार में जो प्रत्येक पदार्थ विलक्षण, भिन्न दिखाई देता है, उसके तात्त्विक भेद का नियामक मूलतः कर्म ही होता है। यथा—कुम्हार एक ही मृत्पिण्ड से क्रमशः छोटे-बड़े नाना आकार प्रकार के बरतनों का निर्माण करता है। सभी बरतनों का उपादान मिट्टी एक ही रहती है। फिर आकारभेद क्यों होता है? दर्शनभेद क्यों होता है? कार्यभेद क्यों होता है? उत्तर यही है कि बरतनों के प्रति उपादान होनेवाली मिट्टी के अवयवों में विलक्षण कर्म होते हैं, फलतः अवयवों का संयोग विलक्षण होने से उनके आकार अलग-अलग हो जाते हैं। इसका सरल अर्थ यह है कि जिस समय मिट्टी से छोटा बरतन बनाया गया, तब जो मिट्टी के अवयवों में कम्पनस्वरूप कर्म हुआ था, उसे तोड़कर उसी मिट्टी से फिर जब बड़ा बरतन बनाया गया, उस समय मिट्टी के अवयवों में कम्पनस्वरूप कर्म पहले से अन्य प्रकार का हुआ। इस प्रकार कम्पन के वैलक्षण्य से अवयवों के संयोग में वैलक्षण्य हुआ, जिससे बरतन परस्पर भिन्न हो गये।

यदि गम्भीर विचार करके देखा जाय तो परस्पर में मतभेद रखनेवाले समस्त दार्शनिक सिद्धान्त कर्म-पदार्थ सम्बन्धी स्वरूप के वैमत्य पर आधारित हैं। यह सुनकर लोगों को आश्चर्य होगा पर वस्तुस्थिति ऐसी ही है। सर्वप्रथम दर्शनों का विभाजन द्वैत और अद्वैत रूप से ही किया जा सकता है। दोनों के अन्दर अद्वैत वाद दो प्रकार का होता है; नित्य विज्ञानाद्वैत और शून्याद्वैत। ये दोनों तत्वतः अजातवादी हैं। किसी प्रकार की क्रिया मानने पर अजातवाद नहीं हो सकता। अतः ये दोनों ही किसी प्रकार की क्रिया नहीं मानते। द्वैतवादी चाहे परिणामवादी हों या आरम्भवादी, दोनों क्रिया को तात्त्विक वस्तु अवश्य मानते हैं। इसी आधार पर उनका 'जातवाद' ठहर सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वैत और अद्वैतवादियों के मतभेद का साधक 'कर्म' है। इसी प्रकार अद्वैतवाद को उक्त दो भेदों में विभक्त

करने का श्रेय कर्म पदार्थ को ही है। नित्य विज्ञानाद्वैत मत में कर्म अतात्त्विक होने पर भी असत्य नहीं माना जाता। इस मत में सत्य पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक रूप से तीन प्रकार का है, इसलिए अनादि अनुभवसिद्ध परिणामी, परिणमन और परिणाम को व्यावहारिक सत्य माना जाता है। सुतरां परिणमन रूप कर्म व्यावहारिक सत्य होता है असत्य नहीं। किन्तु शून्याद्वैतवाद में सत्य का कोई विभाजन न होने के कारण कर्म निःस्वरूप, असत्य है। अतः पूर्व अद्वैत मत से इस मत में कर्म-स्वरूप की विलक्षणता स्पष्ट है।

द्वैतवाद में परिणामवाद, आरम्भवाद, अनुभयवाद, उभयवाद; चार भाग हैं। इस विभाजन के मूल में भी 'कर्म' सम्बन्धी मत-वैषम्य ही काम करता है। क्योंकि एक मत कर्म को परिणमन-स्वरूप मानता है, आरम्भ अर्थात् उत्पत्ति-रूप नहीं। किन्तु दूसरे लोग ठीक इसके विपरीत आरम्भ अर्थात् उत्पत्ति के मूलभूत कम्पन को ही क्रिया मानते हैं, परिणाम को नहीं। अनुभयवादी हैं शून्याद्वैतवादी के अतिरिक्त सौत्रान्तिक, वैभाषिक तथा योगाचार। गम्भीर चिन्तन से प्रतीत होता है कि ये तीनों केवल नाश को कर्म मानते हैं। इनका दृष्टिकोण यह मालूम होता है कि पूर्व स्वरूप के विनाश से उत्तर स्वरूप की उत्पत्ति क्या होगी? घट की उत्पत्ति मृत्पिण्ड के ध्वंस के अतिरिक्त और क्या है? अतः नाश ही कर्म है, जो प्रतिक्षण हुआ करता है। उसे ही कोई उत्पाद भी कह देता है। जैसे गमनशील व्यक्ति के गमन को लक्ष्य कर कोई कहता है कि अमुक व्यक्ति जाता है, कोई कहता है कि अमुक व्यक्ति आता है। आरम्भ और परिणाम को अस्वीकार करने के कारण इन तीनों मतों को अनुभयवादी कहना स्वाभाविक है।

किंतु तीनों के एक वर्गीय होने पर भी परस्पर अलग होने में कर्म का ही विशेष हाथ है, यथा योगाचार के मत में नाशस्वरूप कर्म मूल-तत्त्व विज्ञान का आकार होता है अतिरिक्त कुछ नहीं; अन्यथा विज्ञानाद्वैतवाद का त्याग करना होगा। इस मत का अद्वैत मत में समावेश इसलिए नहीं माना जा सकता कि यहाँ शरीर-भेद से नहीं अपितु एक ही शरीर में क्षणिक विज्ञानों की एक सन्तति अर्थात् प्रवाह माना जाता है। अतः इस मत को सजातीय अद्वैतवादी कहना होगा। जो भी कुछ हो, यह मानना ही होगा कि इस मत में विज्ञान-बाह्य पदार्थ न मानने के कारण प्रतिक्षण होनेवाला विज्ञान का नाश भी तत्त्वतः विज्ञान-बाह्य वस्तु नहीं किन्तु विज्ञान का ही आकार होता है। सौत्रान्तिक और वैभाषिक बाह्यास्तित्ववादी हैं; वे विज्ञान-बाह्य भौतिक परमाणुपुञ्ज के समान, उसके प्रतिक्षण होनेवाले विनाश को भी वास्तविक; अतात्विक नहीं बल्कि तात्विक ही मानते हैं। इस प्रकार कर्म के

सम्बन्ध में योगाचार के मत से इन दोनों का स्पष्ट पार्थक्य है। योगाचार के मत को अद्वैतमत इसलिए नहीं कहा जा सकता कि इस मत में क्षणिक विज्ञानों की धारा स्वीकृत होने के कारण सजातीय द्वैत का स्वीकरण अनिवार्य हो जाता है। क्षणिक विज्ञानों से अतिरिक्त बाह्य वस्तुओं की सत्ता न मानने के कारण कथञ्चित् लोग इसे क्षणिक-विज्ञानाद्वैतवाद कह दिया करते हैं।

सौत्रान्तिक और वैभाषिक मतों का पार्थक्य कर्म के आधार पर यों है कि एक के मत में विज्ञान-बाह्य पुञ्जात्मक वस्तुओं का प्रत्यक्ष स्वीकृत होने के कारण उक्त वस्तुओं का नाशात्मक कर्म भी प्रत्यक्ष सिद्ध होता है। परन्तु दूसरे मत में विज्ञान-बाह्य वस्तुओं का अनुमान मात्र होने के कारण उनका नाश भी अनुमानगम्य होता है, प्रत्यक्षगम्य नहीं।

जैन मत कर्म-स्वरूप के वैलक्षण्य के आधार पर अन्य मतों से इस प्रकार पृथक् होता है कि जहाँ आरम्भवादी परिणमनस्वरूप कर्म नहीं मानते और परिणामवादी आरंभात्मक कर्म नहीं मानते, वहाँ जैन मत सर्वत्र अनेकान्तवादी होने के कारण कथञ्चित् आरम्भ मानता है और कथञ्चित् परिणमन भी। इस प्रकार दो प्रकार के कर्म मानने के कारण यह आरम्भ-परिणाम—उभयवादी बनकर अन्य दार्शनिक मतों से अलग हो जाता है।

सांख्य और योग दर्शन परिणामवादी हैं, आरम्भवादी नहीं। तथापि पृथक्-पृथक् कर्मस्वरूप मानने के आधार पर इन दोनों को एक-दूसरे से अलग इस तरह किया जा सकता है कि जहाँ सांख्य परिणमन स्वरूप क्रिया को केवल जड़ के अधीन मानता है अर्थात् परिणमन में प्रकृति का स्वातन्त्र्य मानता है, जीव अथवा परमेश्वर की अधीनता नहीं मानता; वहाँ योग दर्शन इससे सहमत न होकर सत्त्व, रज और तमःस्वरूप त्रिगुणात्मक प्रकृति के परिणमन को पूर्ण रूप से परमेश्वर के अधीन मानता है।

न्याय, वैशेषिक और मीमांसा दर्शन यद्यपि परिणाम के अस्वीकार और आरम्भ की स्वीकृति के विषय में एकमत हैं, क्योंकि स्पन्दात्मक कर्म तीनों के मत में अतिप्रिय वस्तु है; तथापि कर्मस्वरूप विलक्षण मानने के आधार पर तीनों एक-दूसरे से पृथक् हैं। क्योंकि नैयायिक पाकज रूप-रस आदि के उत्पत्ति-स्थल में परमाणु पर्यन्त का भंग न मानने के कारण परमाणु पर्यन्त अवयवों में कर्म नहीं मानते। वैशेषिक लोग परमाणु पर्यन्त का भंग मानने के कारण परमाणु पर्यन्त में पूर्व द्रव्य के नाशानुकूल और परवर्ती पक्व घट आदि द्रव्यों के उत्पादानुकूल कर्म अनिवार्य समझते हैं।

मीमांसा दर्शन इन दोनों से इसलिए अलग हो जाता है कि न्याय और वैशेषिक

जहाँ महाप्रलय स्वीकार करने के कारण कभी अत्यन्त कर्मरहित काल भी मानते हैं; वहाँ मीमांसा दर्शन सृष्टि को अनादि और अनन्त मानने के कारण कर्म को सदा रहने वाला मानता है। साथ ही न्याय-वैशेषिक दर्शन जहाँ प्रत्येक वाक्य के शाब्दबोध में कर्ता को मुख्य बनाकर क्रिया का बोध गौण अर्थात् विशेषण रूप से करते हैं, वहाँ मीमांसा दर्शन ठीक इसके विपरीत कर्ता को गौण अर्थात् विशेषण बनाकर उसके विशेष्य अर्थात् प्रधान रूप से क्रिया का बोध करता है। जैसे——न्याय-वैशेषिक मत में "राम जाता है" इस वाक्य का अर्थ यह होता है कि "वर्तमान कालिक गमन क्रिया का आश्रय राम।" मीमाँसा मत में उक्त वाक्य का अर्थ यह होता है कि "वर्तमान कालिक रामकर्तृक गमन।"

इस प्रकार विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि कर्म में ही ऐसी विशेषता है कि वह अपनी विलक्षणता के आधार पर सभी आस्तिक और नास्तिक दर्शनों का पार्थक्य-सम्पादन करता है।

ऋतु परिवर्तन भी कर्म का एक विशेष कार्य है। प्रत्येक प्राणी यह अनुभव करता है कि समानकालिक व्यवधान के पश्चात् सर्दी गरमी आदि विभिन्न प्रकार की भौतिक परिस्थितियाँ क्रमशः आती रहती हैं। इन भौतिक परिस्थितियों का ही नाम है "ऋतु-परिवर्तन", जिसका कारण मूलतः कर्म है। क्योंकि जब हिमात्मक जलीय कणों की गति अधिक हो जाती है, तो सर्दी होती है। जब इसी प्रकार तैजस कण अधिक मात्रा में गतिशील होते हैं तब गरमी हो जाती है। जलीय या तैजस कणों का गतिशील होना एक प्रकार का कर्म ही है। अतः ऋतुपरिवर्तन भी कर्म का ही परिचायक है। यद्यपि वसन्त आदि ऋतुएँ छः मानी जाती हैं परन्तु विचार कर देखा जाय तो गरमी और सर्दी दो ही ऋतु हैं। दोनों के अन्दर एक-एक 'त्रिक' अर्थात् तीन की समष्टि है। इस प्रकार दोनों त्रिकों की मिलित संख्या छः हो जाती है। इसलिए वर्ष को उत्तरायण तथा दक्षिणायन दो भागों में भी विभक्त किया जाता है और इस विभाजन का मूल सूर्य की गति है। क्योंकि जब आग्नेय कोणाभिमुख सूर्योदय होता है तो दिन छोटे होते हैं, तब उन छः मासों का काल दक्षिणायन कहलाता है; और सूर्योदय जब ईशान कोणाभिमुख होता है, तब दिन बड़े होते हैं और इन छः महीनों का काल उत्तरायण कहलाता है। अतः यह स्पष्ट है कि ऋतुओं का विभाजन सूर्य-गति एवं जलीय शीत कणों तथा तैजस कणों के स्थानान्तरण वाली गति पर अवलम्बित है। इस प्रकार ऋतु का विभाजक उस विभिन्न आणविक परिस्थिति को मानना पड़ेगा जो भौतिक अणुओं के परिस्पन्दात्मक कर्म के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकती।

परिणमन भी परिस्पन्द ही

अनेक जगह 'कर्म' के विशेषण रूप में 'स्पन्दात्मक', 'परिस्पन्दात्मक' आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि स्पन्द के अतिरिक्त कोई अलग परिणमनस्वरूप भी कर्म होता है, किन्तु यह आशय है कि सभी तरह के कर्म अर्थात् परिणमन स्पन्द ही हैं। परिणामवाद के सम्बन्ध में यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि परिणमन कोई स्पन्द से अतिरिक्त कर्म नहीं, वह भी कम्पनात्मक ही है। परिणामवादियों के लिए सर्वाधिक सुन्दर परिणमन का उदाहरण है तरल दूध या जल का जमकर दही या बरफ बन जाना। वे सोचते हैं कि दूध और जल के अवयव परस्पर संयुक्त हो जाते हैं, सावधानतापूर्वक देखते हुए भी कोई उनमें किसी आगन्तुक कारण को नहीं देखता जिससे यह कहा जाय कि इस कारण से यहाँ दही और बरफ का आरम्भ हुआ है। उनमें कोई नवीन संयोग नहीं होता है जिसके लिए उनके अवयवात्मक कणों में नवीन कम्पनात्मक कर्म माना जाय। सुतरां यह मानना होगा कि वह आरम्भ का विषय बिल्कुल नहीं है, आरम्भवादी भी वहाँ आरम्भ नहीं कह सकते। उन्हें वहाँ परिणमन नामक स्पन्दात्मक व्यापार मानना होगा। इसलिए अन्य स्थलों में भी परिणमन ही मान लेना चाहिए, आरम्भ नहीं। आरम्भ नहीं मानने का अर्थ है परिस्पन्दात्मक कर्म नहीं मानना।

परन्तु गम्भीर भाव से विचार करने पर वहाँ भी अवयवों में कम्पनात्मक कर्म मानना होगा। क्योंकि यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि दही होने से पहले दूध अपने आश्रय पात्र के जितने स्थान को घेरता है, जम जाने पर दही उस पात्र के उतने स्थान को नहीं घेरता। किसी पात्र में दही जमाने के लिए हम पूर्ण रूप से दूध भर देते हैं, फिर भी जमकर दही हो जाने पर वह पात्र ऊपर से कुछ खाली हो जाता है। अतः यह मानना होगा कि दुग्धावस्था में जो अवयवों के संयोग थे, अब दही हो जाने पर वे संयोग नहीं रहे। अब उन संयोगों से विलक्षण अवयवों के संयोग हो गये हैं। पहले के संयोग विरल थे बाद के संयोग घन हैं। ऐसा न माना जाय तो दूध की स्थिति में भी काठिन्य की और दही की स्थिति में तरलता की प्रतीति होनी चाहिए। अतः यह भी मानना ही होगा कि विभिन्न प्रकार के संयोगों के लिए अवयवों में कम्पन भी अलग-अलग होते हैं, जिनसे संयुक्त होकर दूध से भिन्न दही बन जाता है। सुतरां दही या बरफ के उदाहरण में वस्तु का परिणाम न होकर आरम्भ ही होता है। जैसे कि रूई जब तक धुनी नहीं जाती तब तक बृहदाकार रूप से वह नहीं देखी जाती और धुनी हुई रूई जब तक किसी गुरुतर वस्तु से दबायी नहीं जाती तब तक वह छोटे परिमाण में नहीं देखी जाती। उसमें कोई अन्य अवयव बाहर से नहीं आते, उन्हीं अवयवों में नवीन

कम्पनात्मक कर्म होता है और नवीन संयोगों के कारण उन्हीं अवयवों के होते हुए भी परिमाण बदल जाता है। धुनते समय रूई के अवयवों में कम्पन स्पष्ट दिखाई देता है। कम्पन से पूर्ववर्ती और उसके फलस्वरूप परवर्ती परिमाण अलग-अलग होते हैं, यह भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। बिना आश्रय नष्ट हुए परिमाण-गुण कभी नष्ट नहीं होता और नवीन वस्तु बने बिना नवीन परिमाण उत्पन्न भी नहीं होता; यह गुण-निरूपण में बतलाया जा चुका है। ऐसी परिस्थिति में यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि बिना धुनी और धुनी हुई रूई एक वस्तु नहीं, दो वस्तु हैं। जब धुनी हुई रूई में इस प्रकार आरम्भवाद सिद्ध हो गया तो दूध से अलग दही और जल से अलग बरफ की उत्पत्ति होने में कोई संदेह नहीं रह जाता। अतः ऐसा कोई भी उदाहरण उपस्थित नहीं किया जा सकता जहाँ आरम्भवाद से आक्रान्त न होने के कारण तदतिरिक्त परिणामवाद दिखाया जा सके। इसलिए यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि परिणमन कोई आरम्भ से अतिरिक्त व्यापार नहीं, अपितु आरम्भ का ही एक भेद है। भेद कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ उत्पाद्य द्रव्य के उत्पादक अवयवों में होनेवाली क्रिया अस्पष्ट होती है वहाँ लोग द्रव्यारम्भ को परिणमन कह देते हैं।

आरम्भण और परिणमन में अन्तर यह है कि किसी वस्तु की उत्पत्ति के अनुकूल क्रिया-सन्तान के अन्दर प्रथम-क्रिया 'आरम्भ' कहलाती है, और प्रथम से लेकर उस वस्तु की उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्व क्षण पर्यन्त होनेवाली अन्तिम क्रिया तक का क्रिया-सन्तान 'परिणमन' कहलाता है।

उत्पत्ति और नाश कर्म नहीं

कुछ लोग किसी भी वस्तु की उत्पत्ति को परिस्पन्द रूप कर्म समझते हैं। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। उत्पत्ति परिस्पन्द नहीं है, किन्तु वह प्रथम क्षण के साथ होनेवाला उस वस्तु का सम्बन्ध मात्र है जिसे कि उत्पत्ति कहा जाता है। उदाहरण के द्वारा उसे इस प्रकार समझ सकते हैं, यथा जिन तन्तुओं से कपड़े की उत्पत्ति होने वाली है उनमें परिस्पन्दात्मक कर्म उत्पन्न होने से तन्तुओं का परस्पर संयोग होता है, उसके अव्यवहित उत्तर क्षण में कपड़े की उत्पत्ति होती है। अर्थात् कपड़े के साथ उक्त क्षण का सम्बन्ध होता है। सारांश यह हुआ कि किसी भी जन्य वस्तु के अस्तित्व-काल रूप से ज्ञायमान क्षणों के अन्दर सर्वप्रथम क्षण के साथ जो उस वस्तु का सम्बन्ध होता है वही उस वस्तु की उत्पत्ति है। इसे ही उत्पाद आदि शब्दों से भी कहा जाता है। उस क्षण के साथ होनेवाला उस वस्तु का वह सम्बन्ध चलन रूप नहीं जिससे उसे कर्म या क्रिया कहा जाय।

लोक में साधारणतया उत्पत्ति को क्रिया समझने का कारण यह है कि उक्त

प्रथम क्षण के साथ वस्तु का सम्बन्ध तब तक नहीं हो सकता जब तक उस उत्पाद्य वस्तु के अवयवों में चलनात्मक कर्म नहीं होता। फलतः उसके मूल में क्रिया का होना आवश्यक होने के कारण लोग उस प्रथम क्षण के साथ होनेवाली सम्बन्ध-स्वरूप उत्पत्ति को भी कर्म समझ लेते हैं

इसी प्रकार किसी वस्तु के नाश को भी क्रिया समझना भूल है। वह क्रिया नहीं किन्तु एक प्रकार का अभाव है। इसका विशेष रूप से विवेचन अभाव पदार्थ के विवेचन के अवसर पर किया जायगा। उत्पत्ति के समान किसी वस्तु का विनाश भी तब तक नहीं होता जब तक उस वस्तु के अवयवों में विभाग के अनुकूल कम्पन नहीं होता। अतः नाश को भी कर्ममूलक होने के कारण लोग क्रिया समझने की भूल करते हैं।

छः प्रकार के भाव-विकार

कुछ लोग जन्य वस्तुओं में क्रमशः छः प्रकार के भावात्मक अर्थात् क्रियात्मक विकार या अवस्था मानते हैं, यथा (१) उत्पत्ति, (२) स्थिति, (३) वृद्धि, (४) परिणाम, (५) अपक्षय और (६) नाश। उनका कहना यह है कि किसी भी जन्य वस्तु में ये छः प्रकार की क्रियाएँ अवश्य होती हैं। उदाहरण के लिए शरीर को ही ले लिया जाय। प्रथमतः उसका जन्म अर्थात् उत्पत्ति होती है। फिर वह स्थिर—सत्ताशील होता है अर्थात् उसमें स्थिति की क्रिया होती है, फिर वह बढ़ता अर्थात् उसमें वृद्धि-क्रिया होती है। अनन्तर उसमें वृद्धि की पराकाष्ठास्वरूप परिणति अर्थात् परिपक्वता होती है, जब कि उस क्रिया के कारण वह परिणत अर्थात् परिपक्व कहलाता है। इसके बाद उसमें अपक्षय अर्थात् ह्रास शुरू हो जाता है, अनन्तर नाश हो जाता है, वह मर जाता है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। विचार करके देखने पर छोटी से लेकर बड़ी-से-बड़ी जन्य वस्तु में ये छः प्रकार की क्रियाएँ मान्य हैं। परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह कथन युक्त नहीं प्रतीत होता। क्योंकि प्रथमतः उक्त छः विकारों को (१) उत्पत्ति, (२) स्थिति और (३) नाश में ही गतार्थ कर सकते हैं। वृद्धि या परिणाम तब तक कभी नहीं हो सकता जब तक उसके आश्रय रूप से अभिप्रेत वस्तु के अवयवों में संयोगानुकूल क्रिया न हो। ऐसी स्थिति में इन दोनों को अनायास उत्पत्ति के अन्तर्भुक्त किया जा सकता है। इसी प्रकार ह्रास रूप अपक्षय तब तक कभी नहीं हो सकता जब तक उसकी आश्रयरूप वस्तु के अवयवों में विभाग के अनुकूल क्रिया न हो और तत्प्रयुक्त उस वस्तु के आरम्भक प्रावतन संयोग का नाश न हो। आरम्भक संयोग का नाश होने पर उस वस्तु का नाश अवश्यम्भावी होगा। कपड़े के अवयव तन्तुओं को अलग-अलग कर देने पर क्या कभी कपड़ा रह सकता है, नहीं;

उसका नाश होगा ही। अतः अपक्षयस्वरूप ह्रास नाश में ही अन्तर्भुक्त हो जाता है।

इन तीनों के अन्दर भी उत्पत्ति और नाश दोनों कर्म नहीं हैं, यह बात अभी विशद रूप से बतलायी जा चुकी है। रही स्थिति, वह भी कर्म नहीं है। क्योंकि किसी जन्य वस्तु की स्थिति उसमें होनेवाले "काल-सम्बन्ध" के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती। अर्थात् प्रथम क्षण और अन्तिम क्षण दोनों को छोड़कर उन के बीच में होनेवाले एक या एकाधिक क्षणों के साथ तद्वस्तुगत सम्बन्ध को ही उस वस्तु की स्थिति कहते हैं। प्रथम क्षण वाले सम्बन्ध के समान यह मध्य क्षणों का सम्बन्ध भी चलनात्मक कर्म नहीं हो सकता। अतः स्थिति को क्रिया नहीं कहा जा सकता। सुतरां उक्त छः प्रकार के भाव-विकारों को कर्म नहीं मानना चाहिए।

धात्वर्थ मात्र कर्म नहीं

कुछ लोगों का कहना है कि कर्म का आकार उतना संकुचित नहीं मानना चाहिए जितना कि कुछ लोग समझते हैं। उनका विचार यह है कि जितने भी धातु शब्द हैं, अर्थात् व्यावहारिक शब्दों के अवियोज्य मूलतत्वात्मक शब्द हैं, वे सर्वथा निरवयव होते हैं। जैसे 'भू', 'अस्' आदि सभी संस्कृत धातु क्रियावाची हैं। क्रिया, कर्म, चेष्टा आदि शब्द पर्याय हैं। फलतः यह सिद्ध होता है कि सभी धातुओं का अर्थ कर्म है। इन लोगों के कथन का चिन्तन यदि और गम्भीर भाव से किया जाय तो यह प्रकट होता है कि स्फोटात्मक शब्द एक और अखण्ड ब्रह्मस्वरूप है, जो जगत का मूल कारण है। उसी का परिणाम समस्त धातु हैं, जिनका अर्थ सारी क्रियाएँ है। शब्द और अर्थ तत्त्वतः भिन्न नहीं अपितु अभिन्न हैं। उन मौलिक धातुओं से ही कुल व्यावहारिक शब्द निष्पन्न होते हैं, जो प्रतीति-मात्र-शरीर, अर्थात् प्रातिभासिक होने के कारण 'प्रत्यय' कहलानेवाले कल्पित शब्दों के साथ उन धातु शब्दों के संयोजन से विभिन्न हो जाते हैं। अतः क्रियार्थक धातु शब्दों से निष्पन्न होने के कारण समग्र व्यावहारिक शब्द क्रिया-वाचक हैं। मूलतः सभी व्यावहारिक शब्द यौगिक हुआ करते हैं। किन्तु निश्चित अर्थों में अति प्रसिद्ध हो जाने के कारण जब व्यवहर्ता उनके घटक प्रकृति-प्रत्यय के अनु-सन्धान की अपेक्षा न करते हुए उन्हें उपयोग में लाने लगते हैं तो वे ही शब्द 'रूढ' हो जाते हैं। इस प्रकार व्यावहारिक शब्द मूलतः क्रियार्थक धातु से निष्पन्न होने के कारण क्रियावाचक हैं। उनके अर्थ क्रियाएँ हैं। इस प्रकार उस स्फोटात्मक निरवयव एक शब्द-ब्रह्म का कार्य समग्र जगत व्यवहारदृष्टि से क्रिया अर्थात् कर्म है। इस रीति से उपादान-उपादेय के सजातीयतामूलक अभेद के कारण समग्र जगत् सर्वमूलभूत स्फोटात्मक ब्रह्म से अभिन्न है। इसलिए शब्दाद्वैतवाद सुसंगत है।

यही कारण है कि ये शब्दाद्वैतवादी "सत्" रूप से लोक-व्यवहृत द्रव्य, गुण

और कर्म इन तीनों के बीच व्यावहारिक दृष्टि से द्रव्य और गुण का तो परस्पर में भेद मानते हैं, किन्तु चलनात्मक क्रिया को अतिरिक्त नहीं मानते; कहते हैं कि वह गुण ही है। अभिप्राय यह है कि मूलभूत स्फोटात्मक शब्द जो कि ब्रह्म है, सबका उपादान होने के कारण वही द्रव्य अर्थात् मुख्य है और अन्य सभी उसकी अपेक्षा से अप्रधान हो जाने के कारण गुण हैं। सुतरां द्रव्य और गुण के अतिरिक्त तीसरा सत् तत्त्व अलग नहीं है। उक्त विचार के अनुसार सभी द्रव्य और गुण क्रिया हो जाते हैं। अतः इस मत में अलग प्रधान रूप से कर्म का उल्लेख ठीक ही अनुचित हो जाता है, अस्तु।

यह मत इसलिए उचित नहीं प्रतीत होता कि आस्तिकों का कोई भी अद्वैतवादी विचार वेद के प्रमाण से ही सिद्ध होता है, क्योंकि अन्य प्रमाण, विशेषतः प्रत्यक्ष उसका बाधक है। और वेद उस अद्वैत तत्त्व को "अ-शब्द" अर्थात् शब्द से अन्य बतलाता है, शब्दस्वरूप नहीं। स्फोटात्मक शब्द का खंडन गुण-निरूपण में किया जा चुका है। मुख्य बात यह है कि चलन स्वरूप क्रिया को गुण इसलिए नहीं माना जा सकता कि गुण उस वस्तु को कहा जाता है जो अपने आश्रय को अपने सम्बन्ध से पूर्वापेक्षया उत्कृष्ट प्रतीत करा सके। यह बात पहले बतलायी जा चुकी है। कोई भी परिस्पन्द स्वतः न तो अच्छा है और न बुरा, यह बात विशेष रूप से आगे बतलायी जायगी। ऐसी स्थिति में कर्म अपने आश्रय के उत्कर्ष का आधायक नहीं कहा जा सकता, फिर वह गुण कैसे कहला सकता है। साथ ही इस मत के अनुसार जब कि सभी शब्दों के अर्थ कर्म हो जायँगे तब तो स्फोट शब्द-ब्रह्मरूप द्रव्य और क्रिया के सिवा और कुछ रहेगा ही नहीं। सुतरां क्रिया उस स्फोट को किससे उत्कृष्ट समझा सकेगी, जिससे वह गुण कहलाने लायक हो। यदि यह कहा जाय कि अपनी उत्पत्ति से पूर्व निष्क्रिय स्फोट की अपेक्षा अपनी उत्पत्ति के बाद वाले सक्रिय स्फोट को क्रिया भिन्न बतलाएगी; तब तो अद्वैत नष्ट हो जायगा। साथ ही क्रिया की उत्पत्ति मानी भी नहीं जा सकेगी, क्योंकि उत्पत्ति भी तो इस मत में क्रिया ही होगी। क्रिया में क्रिया या गुण में गुण का अस्तित्व मानना संगत नहीं होता। सर्वाधिक विवेचनीय यह है कि प्रकृत कर्म का स्वरूप जिस प्रकार निर्णीत हो चुका है, तदनुसार सभी धातुओं का अर्थ कर्म कहलाने का अधिकारी नहीं होता है। "चल्", "स्पन्द्" आदि कतिपय चलनवाची धातुओं को छोड़कर अन्य धातुओं के अर्थ क्या कभी संयोग और विभाग पैदा कर सकते हैं ? नहीं। अतः यह मानना होगा कि सभी धातुओं के अर्थ क्रिया अर्थात् कर्म नहीं हो सकते। समस्त धात्वर्थों को क्रिया या कर्म कहना अपनी स्वतन्त्र परिभाषा करना मात्र है।

क्रियाद्वैतवाद

नास्तिक दर्शनों के ज्ञाताओं को यह भली भाँति मालूम है कि महायान बौद्ध शाखा के अन्दर योगाचार सम्प्रदाय बहुत बड़ा है एवं इसमें क्षणिक विज्ञान ही तत्त्व माना जाता है, जिसके अनुसार प्रत्येक क्षण में प्रत्येक विज्ञान का विनाश होता रहता है। खण्डन-मण्डन की बातों को अलग रखकर तटस्थ रूप से गम्भीरतापूर्वक इस मत के ऊपर दृष्टिपात किया जाय तो प्रतीत होता है कि यह एक प्रकार का क्रियाद्वैतवाद अपने दृष्टिकोण से उपस्थित किया गया है। क्योंकि इस मत में सांख्य के प्रतिक्षण भावी परिणमन के समान प्रतिक्षण में विज्ञान का निरन्वय स्वाभाविक विनाश ही माना जाता है। इससे स्पष्ट है कि जैसे सांख्य परिणमन के अतिरिक्त किसी प्रकार की क्रिया नहीं मानता, उसी प्रकार इस मत में भी विनाश के अतिरिक्त और कोई क्रिया हो ही नहीं सकती, और विज्ञान से अतिरिक्त कोई वस्तु न मानने के कारण वह विनाश और विज्ञान एक ही तत्त्व हो जाता है। फलतः विज्ञान कहना या विनाश कहना एक ही जैसा है। जब कि इस प्रकार विज्ञान भी क्रिया हो गया तो विज्ञानाद्वैतवाद या क्रियाद्वैतवाद कहना समान हो जाता है। विनाश को क्रियास्वरूप कुछ ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्तियों ने भी माना है।

सांख्य के केवल परिणमन के समान इस सिद्धान्त में भी केवल विनाश-क्रिया मानना इस युक्ति से भी संगत हो सकता है कि घट-पट आदि की बाह्य सत्ता को लेकर देखा जाय तो इस मत में पूर्व आकार का विनाश ही उत्तर आकार का उत्पाद होता है। मृत्पिण्ड का विनाश ही घट का उत्पन्न होना है। फलतः उत्पत्ति नाश से अतिरिक्त नहीं हो सकती। जैसे किसी गमनशील व्यक्ति के एक ही गमन को लेकर अग्रवर्ती पुरुष कहता है कि "अमुक आ रहा है" और उसके पीछे रहनेवाला कहता है कि "वह जा रहा है।" उसी प्रकार एक ही नाश क्रिया को लेकर कोई कहता है कि मृत्पिण्ड नष्ट हो रहा है और कोई कहता है कि घट उत्पन्न हो रहा है। इस प्रकार उपर्युक्त मत में विनाश के अतिरिक्त कोई अन्य क्रिया नहीं रह जाती और प्रत्येक क्षण विनाश-क्रिया से आक्रान्त रहता है। वह विनाश तत्वतः विज्ञान ही है, फिर क्षणिक-विज्ञानाद्वैतवाद को क्रियाद्वैतवाद कहने में बाधा ही क्या रह जाती है? प्रत्येक विज्ञान-सन्तान के अन्दर विज्ञानों के असंख्य होते हुए भी इसे अद्वैतवाद इसलिए कहा जाता है कि सभी विज्ञान या क्रियाएँ सजातीय हैं विजातीय या विषम नहीं।

परन्तु विनाश क्रिया नहीं, वह एक प्रकार का अभाव है। इसका विवेचन आगे अभाव प्रकरण में किया जायगा। अतः इस प्रकार का क्रियाद्वैतवाद नहीं माना जा सकता। कर्म की विशेषता तो सर्वथा वाञ्छनीय और निर्विवाद है। क्योंकि प्रत्येक

फलोत्पाद की आधार-शिला यही है। परन्तु ऐसी विशेषता कथमपि वाञ्छनीय नहीं कि वह अद्वैत होने के कारण निष्फल हो जाय। क्रिया से क्रिया कथञ्चित् स्वीकृत होने पर भी क्रिया को कोई क्रिया के लिए ही नहीं चाह सकता।

ज्ञान और ध्यान क्रिया नहीं

कुछ लोग विज्ञानाद्वैत न मानकर बाह्य वस्तु की वास्तविक सत्ता मानते हुए भी कहते हैं कि ज्ञान एक प्रकार की आन्तरिक क्रिया है। कुछ अन्य लोग इसके विरुद्ध इस प्रकार कहते हैं कि क्रिया उस वस्तु का नाम है जो बिल्कुल कर्त्ता के अधीन हुआ करती है। अर्थात् जिसका होना-न-होना या विपरीत भाव से होना कर्ता की इच्छा पर निर्भर रहता है। जैसे कोई व्यक्ति चाहे तो कहीं जा सकता है और न चाहे तो नहीं जा सकता। चाहे तो पैदल जा सकता है और वह चाहे तो किसी वाहन पर बैठ कर जा सकता है। इस प्रकार बिल्कुल कर्त्ता की इच्छा के अधीन होने के कारण गमन अर्थात् आना-जाना 'क्रिया', 'कर्म' आदि कहलाता है। इसी प्रकार सभी क्रियाओं का यह लक्षण देखा जा सकता है। परन्तु ज्ञान अर्थात् अनुभव ऐसा नहीं है, वह तो वस्तु के अधीन हुआ करता है, क्योंकि किसी लम्बी वस्तु को कोई यह चाहे कि मैं इसे गोल देखूँ तो कभी नहीं देख सकता। वह उसे लम्बी ही देख सकता है। अत: देखना रूपी ज्ञान उक्त कर्म की परिभाषा के अनुसार क्रिया नहीं हो सकता।

यह ध्यान रखने की बात है कि ये दार्शनिक लोग साक्षात्कारस्वरूप अनुभवात्मक ज्ञान को क्रिया न मानते हुए भी उसी के अन्य भेद 'ध्यान' को क्रिया मानते हैं। इनका कहना यह है कि ध्यान तो ठीक ही क्रिया है। क्योंकि वह ध्याता की इच्छा पर बिल्कुल निर्भर रहता है। किसी ज्ञान को कुछ काल तक धारावाहिक रूप में अर्थात् निरन्तर भाव से दुहराना ही ध्यान है। यह दुहराना बिल्कुल ध्याता व्यक्ति की इच्छा के ऊपर आधारित है, वह जैसे चाहे वैसे उसे करे। इस तरह ध्यान को उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार क्रिया मानना चाहिए।

परन्तु ज्ञान चाहे वह साक्षात्कारात्मक हो या अन्य, एक प्रकार का गुण है, यह पहले कहा जा चुका है। अत: ध्यान या उससे अतिरिक्त किसी भी प्रकार के ज्ञान को कर्म नहीं माना जा सकता।

यहाँ जो क्रिया की परिभाषा की गयी है वह भी इसलिए असंगत है कि तब तो घट-पट आदि वस्तुएँ भी कुम्हार-जुलाहे आदि की इच्छा के अनुसार उत्पन्न होने के कारण क्रिया या कर्म मानी जायँगी। किन्तु विज्ञ लोग घट-पट आदि में होनेवाले चलन को कर्म मानते हैं, चलन के आश्रय में होनेवाले घट-पट, लता-वृक्ष आदि को कभी कोई कर्म नहीं कहता, क्रिया नहीं कहता, चलन नहीं कहता, स्पन्दन नहीं कहता।

अतः ध्यान या उससे अन्य किसी भी प्रकार के ज्ञान को कर्म पदार्थ नहीं माना जा सकता। ज्ञान मन की क्रिया से आत्म-संयोग के द्वारा जन्य है किन्तु कर्म ऐसा नहीं है।

गति-विभ्रम

विभ्रम अर्थात् भ्रमात्मक ज्ञान सभी वस्तुओं का हो सकता है और समय-समय पर होता ही रहता है। किन्तु गति-विभ्रम अर्थात् क्रिया का भ्रम अपना एक खास स्थान रखता है। यह इसलिए कि अन्य प्रकार के भ्रम-स्थल में आरोप्य विषय तथा उसके आधार इन दोनों का किसी स्थल में विपरिवर्तन भी हो जाया करता है। यथा——कहीं यदि दूर से राँगे को चाँदी समझा जाता है तो अन्यत्र उसके ठीक विपरीत चाँदी को भी राँगा समझा जाता है। कभी माला को यदि सर्प समझा जाता है तो कभी सर्प को भी माला समझ लिया जाता है। किन्तु कर्म के भ्रम- स्थल में ऐसा वैपरीत्य नहीं देखा जाता। अर्थात् निष्क्रिय आधार में क्रिया का आरोप तो होता है, किन्तु क्रिया को आधार बनाकर किसी अन्य वस्तु का आरोप नहीं देखा जाता। इसके अतिरिक्त एक विशेषता यह भी है कि क्रिया का भ्रम निष्क्रिय वस्तु में प्रायः तभी हुआ करता है जब कि कोई गतिशील द्रव्य भी उस निष्क्रिय द्रव्य के साथ देखा जाता है। उदाहरण अनेक हैं——यथा वायुवेग से गतिशील मेघ को देखते हुए व्यक्ति को चन्द्र-विम्ब विपरीत गति से भागा जाता-सा दिखाई देता है। गतिशील नौका, रेल आदि पर आरूढ व्यक्ति को अगल-बगल के गृह-वृक्ष आदि गतिहीन द्रव्य विपरीत भाव से दौड़े जाते नजर आते हैं। अँधेरे में दीप आदि एक ओर से दूसरी ओर ले जाते समय अँधेरा विपरीत भाव से गतिशील दिखाई देता है। गति-विभ्रम के इन उदाहरणों को ध्यान में लाने पर यह एक और विशेषता दीख पड़ती है कि अन्य विभ्रमस्थल में जहाँ कि आरोप्य धर्म वाला और आरोप का आधार दोनों ही देखे जाते रहते हैं, आँख के सन्निकृष्ट ही रहते हैं; वह वास्तविक आरोप्य धर्म जैसा होता है वैसा ही अन्य निकटवर्ती में आरोपित होता है। यथा स्फटिक के पास देखा गया पुष्प यदि लाल रहता है तो स्फटिक भी लाल दिखाई देता है, हरा पीला नहीं। किन्तु गति-विभ्रम स्थल में ऐसी बात नहीं है। गाड़ी यदि जाती रहती है तो आरूढ व्यक्ति अगल-बगल के गृह-वृक्ष आदि में जाने का आरोप न कर आने का आरोप करता है, "गृह-पेड़ आदि आ रहे हैं" ऐसा समझता है, "गृह-पेड़ आदि जा रहे हैं" ऐसा नहीं। अर्थात् गति में वैपरीत्य का भान होता है। यद्यपि यह बात सही है कि आना और जाना दो क्रियाएँ नहीं होतीं। एक ही गमन को लक्ष्य करके विभिन्न व्यक्तियों द्वारा "अमुक जाता है" और "अमुक आता है" ये दोनों ही ज्ञान तथा वाक्य-प्रयोग होते

हैं। एक ही व्यक्ति एक ही समय उक्त प्रकार का ज्ञान और प्रयोग एक ही गमन को लेकर नहीं करता। किन्तु गति-विभ्रम स्थल में एक ही व्यक्ति एक ही गमन के सहारे विभिन्न आश्रय रूप में उक्त दोनों प्रकार का ज्ञान और प्रयोग करता है।

कर्म द्रव्य में ही होता है

कर्म का आश्रय कौन है ? वह किस वस्तु में उत्पन्न होता है और रहता है ? इन प्रश्नों का उत्तर यह समझना चाहिए कि कर्म नियमत: द्रव्य पदार्थ में उत्पन्न होता है और उसी में रहता है। वायु के झोके से वृक्ष की शाखाएँ हिलती हैं, कपड़े हिलते हैं, जो द्रव्य हैं। इस प्रकार क्रिया की उत्पत्ति किसी-न-किसी द्रव्य में ही होती है।

यद्यपि घट आदि किसी द्रव्य को एक स्थान से अन्य स्थान पर ले जाते समय उसी द्रव्य के साथ उसमें रहनेवाले रूप आदि गुण भी चलते-जैसे मालूम पड़ते हैं। किन्तु वह चलन गुणों के आश्रय घट आदि का ही होता है, रूप आदि गुणों का नहीं। क्योंकि आश्रय द्रव्य के चलन के बिना गुणों का स्वतंत्र चलन कभी नहीं होता। ऐसा नहीं देखा जाता कि घड़ा निष्कम्प पड़ा है और उसका रूप कहीं और जगह जा रहा है, विभिन्न द्रव्यों में अलग-अलग चलन इसीलिए माना जाता है कि एक के स्थिर रहने पर भी दूसरा चलता नजर आता है। घट की निश्चलता के समय भी मन्दवायु के झकोरे से कपड़े हिलते रहते हैं। अत: घड़े और कपड़े में एक कर्म नहीं माना जा सकता। गुणों के विषय में यह बात नहीं है। घट के चलन बिना उसके रूप में चलन नहीं पाया जाता, अत: रूप के चलन की प्रतीति को आश्रय द्रव्य का चलन ही मानना चाहिए।

एक बात अवश्य है कि गुण को कर्म के बड़े भाई जैसा मानना अनिवार्य है। अर्थात् जैसे बड़े भाई के जन्म के अनन्तर छोटा भाई उत्पन्न होता है, उसी प्रकार द्रव्य के अन्दर गुण की उत्पत्ति हो जाने के अनन्तर उस द्रव्य में क्रिया उत्पन्न होती है। हिलना-डोलना आदि किसी प्रकार का कर्म कभी निर्गुण द्रव्य में नहीं देखा जाता। अत: यह मानना आवश्यक है कि द्रव्य में रूप आदि गुणों की यथासम्भव उत्पत्ति होने के अनन्तर ही कर्म उत्पन्न होता है। इस मान्यता का कारण केवल यही नहीं है कि ऐसा कहीं देखा नहीं जाता, अपितु यह प्रबल युक्ति भी है कि गुण, कर्म के प्रति कारण होता है। कार्य की उत्पत्ति के लिए उससे पहले कारण का रहना आवश्यक है, अत: कर्म की उत्पत्ति के लिए उससे पहले गुण का होना आवश्यक है। कौन गुण कर्म के प्रति कारण होता है, यह विचार आगे किया जाने वाला है। द्रव्यों के बीच सभी द्रव्यों में कर्म की उत्पत्ति नहीं होती। केवल पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन इन पाँच द्रव्यों में कर्म उत्पन्न होता है। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा।

कर्म की उत्पत्ति

कर्म का उपादान कारण द्रव्य होता है, उसी में कर्म उत्पन्न होता है यह बात बतलायी जा चुकी है। किन्तु द्रव्य निष्कम्प भी पड़ा रहता है, अतः उसमें कर्म उत्पन्न होने के लिए और किसी की अपेक्षा रहती है। वह अपेक्षित वस्तु गुण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसीलिए निर्गुण द्रव्य में क्रिया उत्पन्न नहीं होती, वह बात भी कही जा चुकी है। अब जिज्ञासा यह होती है कि द्रव्य में कर्मोत्पत्ति के लिए चौबीस गुणों में से कोई खास गुण अपेक्षित होता है या चाहे जो कोई? कोई भी गुण अपेक्षित हो और उसी से द्रव्य में कर्म की उत्पत्ति हो जाय यह बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि रूप, रस आदि अनेक गुणों से युक्त होने पर भी घट आदि द्रव्य निष्कम्प पड़े रहते हैं। अतः छान-बीन करने पर यह पता चलता है कि संयोग, वेग, गुरुत्व, द्रवत्व और स्थितिस्थापक संस्कार में से किसी एक के रहने पर द्रव्य में क्रिया उत्पन्न होती है। संक्षेप में उदाहरण इस प्रकार समझना चाहिए कि वायु के संयोग से वृक्ष की शाखाएँ, वस्त्र आदि हिलते हैं, वहाँ वायु-संयोग हिलने के प्रति कारण होता है।

किन्तु यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि संयोगों के अन्दर वही संयोग क्रिया को उत्पन्न कर सकेगा जिसका अपर आश्रय क्रियाशील होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी क्रियाशील द्रव्य के साथ संयोग होने पर संयुक्त होनेवाले अन्य निष्कम्प द्रव्य में भी कम्प उत्पन्न हो जाता है। जैसे चलते हुए वायु-द्रव्य के संयोग से पहले निष्कम्प रहनेवाली वृक्ष की शाखाएँ हिल पड़ती हैं। यदि केवल संयोग मात्र से कम्प की उत्पत्ति मानी जाय तो कभी कोई द्रव्य निष्कम्प नहीं हो सकेगा। अन्ततः अपने आश्रय के साथ एवं आकाश, काल, दिक् आदि व्यापक द्रव्यों के साथ सभी द्रव्यों का संयोग रहता ही है। अतः केवल संयोग को कर्म का कारण मानने पर सभी द्रव्यों में सर्वदा कर्म होने लगेंगे जो कि होते नहीं।

ऊपर का उदाहरण कर्मज संयोग द्वारा कर्म की उत्पत्ति का दिया गया है। इसके अतिरिक्त ऐसे भी उदाहरण पाये जाते हैं जहाँ संयुक्त संयोग से भी कर्म की उत्पत्ति देखी जाती है। यथा किसी पंकिल दलदल भूमि के एक भाग पर यदि घड़ा रखा हो और अन्य भाग में चालन करने पर पूरी दलदल भूमि के चलन के कारण उस पर रखे हुए घड़े आदि भी चलन-शील हों तो घड़े आदि का कम्पन संयुक्त संयोग से उत्पन्न हुआ है ऐसा मानना होगा। क्योंकि क्रियाशील द्रव्य के साथ संयोग होने के कारण दलदल भूमि हिलती है और उसके साथ संयोग होने के कारण घड़ा हिलता है।

अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित किया जा सकता है कि रेलगाड़ी के चलन स्थल

में इंजन के चलने के कारण पचीसों डब्बों से व्यवहित सबसे पीछे जोड़ी गयी गार्ड की गाड़ी भी चलती है। वहाँ इंजन के अव्यवहित पश्चात् लगे डब्बे को छोड़कर अन्य किसी भी डब्बे के साथ चलनशील इंजन का संयोग नहीं है। ऐसी परिस्थिति में उन व्यवहित डब्बों में चलन कैसे उत्पन्न होता है, सभी डब्बे कैसे चलते हैं। इसके लिए सम्भवतः अधिक लोग हठात् यही उत्तर देंगे कि क्रियाशील द्रव्य के साथ संयोग के समान उसके साथ संयुक्त-संयोग आदि को भी चलन के प्रति कारण मान लेना चाहिए। इंजन से सटे डब्बे के साथ तो इंजन का संयोग है ही, उसके पीछे वाले डब्बे के साथ इंजन का "संयुक्त-संयोग" और उसके पीछे वाले डब्बे के साथ "संयुक्त-संयुक्त-संयोग", इस तरह सभी डब्बों के साथ गतिशील इंजन का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, जिससे सारे डब्बे चलते हैं।

परन्तु विचार करने पर इस प्रकार के कथन का कोई प्रयोजन नहीं। क्योंकि क्रियाशील द्रव्य के साथ संयोगस्वरूप कारण से ही सभी डब्बों में कर्म उत्पन्न होता है, यह अनायास कहा जा सकता है। अभिप्राय यह कि चलनशील इंजन के साथ संयोग होने के कारण जैसे उससे अव्यवहित पूर्व डब्बा चलता है, उसी प्रकार चलनशील उस अव्यवहित पूर्व डब्बे के संयोग से उसका अव्यवहित पूर्व डब्बा चलता है। इसी प्रकार सभी डब्बे अपने से अव्यवहित आगे रहनेवाले चलनशील डब्बे के साथ संयोग होने के कारण ही चलते हैं। इंजन से सम्बद्ध होने के कारण सभी डब्बे नहीं चलते। उसके साथ संयोग होने के कारण केवल उस इंजन से अव्यवहित पूर्व रहनेवाला डब्बा चलता है। इस प्रकार सभी डब्बों का चलन चलनशील द्रव्य के साथ संयोग होने के कारण हो जाता है। संयोग प्रथमतः दो प्रकार के होते हैं—(१) कर्मज और (२) संयोगज। इन दोनों के अन्दर प्रथम कर्मज के भी दो प्रभेद होते हैं। यथा अभिघात और नोदन। यह सब पहले विस्तृत रूप से समझाया जा चुका है। प्रकृत में चलनशील किसी भी द्रव्य के साथ नोदनात्मक हो या अभिघातात्मक; दोनों ही प्रकार के संयोग से अन्य द्रव्यों में क्रिया उत्पन्न होती है। नोदन से कर्म की उत्पत्ति का उदाहरण ऐसा होगा, यथा—धीरे से यदि पंक में पाँव दिया जाय तो पाँव के संयोग से पंक में होनेवाला कर्म नोदन से होगा। क्योंकि पंक के साथ धीरे से पाँव सटाने पर कोई शब्द नहीं होगा, अतः वह पाँव से होनेवाला पंक का संयोग नोदन ही कहलायेगा, जिससे उस पंक में चलन उत्पन्न होगा। इसी प्रकार वायु के प्रबल झकोरे से वेगशील कोई धुनी हुई रूई का बड़ा पिण्ड यदि धुनी हुई रूई के साथ आ टकरायेगा और उस टक्कर से स्थिर रूई का पिण्ड भी हिल उठेगा तो वह हिलना नोदन से उत्पन्न होनेवाला माना जायगा। पंक वाले उक्त उदाहरण

स्थल में भी यदि पाँव जोर से पंक में दिया जायगा तो वह संयोग शब्द का उत्पादक होने के कारण अभिघात ही कहलायेगा। अतः उससे उत्पन्न होनेवाला पंक का कम्पन अभिघातात्मक संयोग से ही उत्पन्न माना जायगा। पूर्व वर्णित वृक्ष-शाखा का चलन भी अधिकतर स्थान में अभिघातज ही होता है, क्योंकि वायु के साथ संयोग होने से कुछ न कुछ शब्द हो जाता है।

ऊपर संयुक्त-संयोग से उत्पन्न होनेवाले कर्म की चर्चा उदाहरण प्रदर्शन के साथ की गयी है। परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर उसे भी क्रियाशील द्रव्य के संयोग से ही उत्पन्न होनेवाला माना जा सकता है। क्योंकि जिस पंक के ऊपर घड़ा रखा है और जिसके एक देश में पाँव का संयोग हुआ है और उससे प्रथमतः क्रिया हुई है, उस पूरे पंक में क्रिया होने पर ही तो उस पर रखा हुआ घड़ा हिलेगा। ऐसी परिस्थिति में यह अनायास कहा जा सकता है कि वहाँ भी हिलनेवाले पंक के साथ संयोग होने के कारण घड़ा हिल जाता है। इस विचार के आधार पर पंकस्थित घड़े के कम्पन के समान उक्त रेल वाले दृष्टान्त आदि स्थल में क्रियाशील वस्तु के साथ संयुक्त-संयोग को भी कर्म की उत्पत्ति के प्रति कारण मानने का प्रयोजन नहीं रह जाता। कर्माश्रय के साथ होनेवाले संयोग से ही सारी क्रियाएँ उत्पन्न हो जायँगी। क्रियाशील इंजन के संयोग से जैसे उसके अव्यवहित भाव से पश्चात् लग्न डब्बे में चलन होगा उसी प्रकार उसके पीछे लगे डब्बे में भी चलनशील प्रथम डब्बे के संयोग से अनायास चलन हो जायगा। यह बात गुण-निरूपण में बतलायी जा चुकी है कि संयोग दो प्रकार के होते हैं; कर्मज और संयोगज। अतः यह भी यहाँ समझना चाहिए कि कर्मज संयोग से जैसे कर्म की उत्पत्ति होती है, वैसे संयोगज संयोग से भी कर्म की उत्पत्ति होती है। यथा किसी वृद्ध व्यक्ति के काँपते हुए हाथ का उसकी छड़ी के एक भाग से अर्थात् मूठ से संयोग होने से जो पूरी छड़ी में कम्पन उत्पन्न होता है वह संयोगज संयोग से होता है। उसे कर्मज संयोग इसलिए नहीं कहा जा सकता कि कर्मज संयोग तो छड़ी के एकदेश मूठ में ही है पूरी छड़ी में नहीं। अतः उस संयोग से छड़ी के एक भाग में ही कम्पन हो सकता है पूरी छड़ी में नहीं। यहाँ यह सन्देह नहीं करना चाहिए कि छड़ी के एक भाग में होनेवाला कम्पन ही छड़ी का कम्पन है, अतिरिक्त नहीं। क्योंकि अवयवी और अवयव इन दोनों के कम्पन एक नहीं हो सकते यह बात विचारपूर्वक आगे बतलायी जायगी।

गुरुत्व से पतन की उत्पत्ति होती है। गिरने का अपर नाम है पतन, जैसे आम पककर पेड़ की डाल से नीचे गिरते हैं। पकने से रस की वृद्धि के कारण आमों में गुरुत्व अर्थात् उनका भारीपन बढ़ जाता है। अतः अति पतली तथा शैथिल्य-

प्राप्त टहनियाँ भार ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती हैं। अतः भारयुक्त आम पेड़ से नीचे गिर जाते हैं। इस प्रकार सर्वत्र पतनस्वरूप क्रिया गुरुत्वप्रयुक्त ही होती है। आधुनिक वैज्ञानिकों का कहना है कि पतन पृथ्वी की आकर्षणशक्ति से होता है, अर्थात् पृथ्वी में एक ऐसी शक्ति है जो किसी अनाश्रित वस्तु को अपनी ओर खींच लेती है। परन्तु विचार करने पर यह कल्पना अत्यन्त मोटी जँचती है। क्योंकि पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से यदि पतन हो तो ऊर्ध्वगामिनी दीपशिखा भी ऊपर की ओर न जाकर नीचे की ओर मुड़ जानी चाहिए। यह बात पहले ही गुरुत्व गुण के विचार स्थल में बतलायी जा चुकी है। इतना ही नहीं, यदि पृथ्वी की आकर्षण शक्ति मात्र के कारण वस्तुओं का पतन माना जाय तो सभी पेड़ पौधे आदि की उन्मुख शाखाएँ तथा टहनियाँ अधोमुख होकर धराशायी हो जायँ। पतन के प्रति गुरुत्व को कारण मानने पर यह दोष इसलिए नहीं आता कि उन शाखाओं और टह-नियों में पतनानुकूल गुरुत्व न होने के कारण एवं विधारक प्रयत्न के कारण उक्त शाखाएँ तथा टहनियाँ अधोमुख नहीं होती हैं। सब से बड़ी बात यहाँ ध्यान में रखने योग्य यह है कि पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से पतन मानने पर विभिन्न गुरुत्वशील वस्तुओं के विभिन्न पतनों में अनुभवसिद्ध काल की विषमता नहीं बन पाती। अर्थात् ऊपर के समतल स्थान से किसी अधिक भारी वस्तु को गिराने पर उसके गिरने में जितना समय लगता है, उससे कम भारी वस्तु को गिराने पर उसके गिरने में उतना समय नहीं लगता, कम समय लगता है। यह कालवैषम्य आकर्षण-शक्ति को कारण मानने पर नहीं बन सकता, क्योंकि पृथ्वी की आकर्षण शक्ति तो एक और समान ही होगी। यदि यह कहा जाय कि अल्प गुरुत्ववाली अर्थात् हलकी वस्तु वायु से विधारित होने के कारण देर से गिरती है और अधिक गुरुत्ववाली अर्थात् भारी वस्तु वायु से विधारित न हो सकने के कारण शीघ्र गिरती है, तो वायुकर्तृक विधारण और अविधारण का श्रेय गुरुत्व के होने और न होने को ही प्राप्त होता है। अतः गुरुत्व ही पतन के प्रति कारण निश्चित होता है। एक और बात यहाँ ध्यान देने योग्य यह है कि कारण और कार्य दोनों का सामानाधिकरण्य अर्थात् दोनों का एकत्र होना आवश्यक है। जहाँ कारण रहता है वहाँ ही कार्य होता है। ऐसा नहीं कि कारण हो कहीं और कार्य उत्पन्न होता हो कहीं अन्यत्र। ऐसी परिस्थिति में पृथ्वी में होने वाली आकर्षण शक्ति ऊपर से गिरने वाली वस्तु में पतन कैसे पैदा कर सकती है? क्योंकि ऐसा मानने पर सर्वत्र सर्वानुभवसिद्ध कार्यों और कारणों का सामानाधि-करण्य कैसे सुरक्षित रहेगा? अतः आश्रयभूत पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से ऊपर की वस्तु गिरती है यह कथन ठीक नहीं। यदि यह कहा जाय कि चुम्बक की आकर्षण

शक्ति प्रसिद्ध है और उससे लोहा आकृष्ट होकर उसके पास चला आता है यह भी प्रसिद्ध है। इसी तरह प्रकृत में भी यह क्यों नहीं कहा जा सकता कि पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से उपरिवर्ती वस्तु का पतन होता है ? तो यहाँ यह पूछना चाहिए कि दृष्टान्त स्थल में भी यदि केवल चुम्बकीय आकर्षणशक्ति को ही कारण माना जायगा तो लोहे के समान अन्य वस्तुएँ भी चुम्बक की ओर क्यों नहीं खिंच आती हैं ? केवल लोहा ही क्यों आता है ? अतः मानना होगा कि वहाँ भी केवल चुम्बकीय आकर्षण शक्ति काम नहीं करती, उसकी ओर आनेवाले लोहे में मुख्यतया वह एक प्रकार का सामर्थ्य रूप धर्म है जिससे वह चुम्बक की ओर आता है। अतः लोहे में होनेवाले आकर्षण का और उस धर्म का सामानाधिकरण्य होता ही है अर्थात् एक-लोह-निष्ठता होती ही है। यदि उसी प्रकार प्रकृत में भी पतनस्वरूप क्रिया के आश्रय में कोई धर्म स्वीकार किया जायगा तो वह गुरुत्व ही होगा। अतः गुरुत्व से उसके आश्रय में पतन अर्थात् गिरना क्रिया होती है यह मानना ही होगा। सुतरां प्राच्य पदार्थशास्त्रियों का यह सिद्धान्त कि गुरुत्व के कारण कोई द्रव्य गिरता है सर्वथा अक्षुण्ण रहता है।

द्रवत्व से भी कहीं क्रिया की उत्पत्ति होती है; जैसे पानी या तेल आदि कोई तरल वस्तु जो अपने आश्रय में व्याप्त हो जाती है अर्थात् फैल जाती है, उसका कारण है उस प्रस्रवणस्वरूप क्रिया के आश्रय जल आदि द्रव्य में होनेवाला, तरलता-तारल्य आदि शब्दों से कहा जानेवाला द्रवत्व नामक गुण । यही कारण है कि बरफ, ओले आदि तब तक अपने आश्रय में नहीं फैलते जब तक उनमें विद्यमान द्रवत्व अप्रतिरुद्ध नहीं हो जाता, विलक्षण तापमान के कारण होनेवाला द्रवत्व का प्रतिरोध हट नहीं जाता। इसी प्रकार सूखे घड़े आदि में जब कि भीतर पानी, तेल आदि कोई तरल वस्तु भर देते हैं तो बाहर का अवरोधक भाग भी स्निग्ध हो जाता है। जाड़े के समय टीन के छज्जे के ऊपरी भाग में शीतल जलकण गिरने पर उसका निम्न भाग भी भीग जाता है। इन परिस्थितियों में उक्त परिस्थिति की सम्पादिका पसीजना स्वरूप जल में होनेवाली क्रिया भी उस क्रिया के आश्रय जल में रहनेवाले द्रवत्व गुण से ही होती है। अतः यह मानना पड़ता है कि द्रवत्व से भी कहीं क्रिया होती है। आकाश में द्रवत्व-प्रतिरोधक विलक्षण तापमान से घनीभूत जलराशि, जिसे मेघ, बादल आदि नामों से पुकारा जाता है, पूर्वविलक्षण तापमान द्वारा द्रवत्वगत प्रतिरोध के दूर होने पर नीचे गिरती, बरसती है। यह बरसना भी द्रवत्व गुण के कारण ही होता है। अतः सर्वथा सिद्ध होता है कि द्रवत्व से भी कर्म की उत्पत्ति होती है।

वेग से भी कहीं कर्म की उत्पत्ति होती है। जैसे—किसी भी द्रव्य के फेंकने पर जो वह दूर जाकर गिरता है तो एक क्रिया के कारण नहीं, अपितु उस द्रव्य में उत्पन्न

क्रिया-सन्तान के कारण गिरता है। उस क्रिया-सन्तान के अन्दर द्वितीय-तृतीय आदि क्रिया वेग से ही उत्पन्न होती हैं। अतएव गतिशील द्रव्य के गिरने की दूरी सर्वत्र समान नहीं होती। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि क्रिया-विशेष के प्रति वेग को कारण न माना जाय, उससे कहीं क्रिया की उत्पत्ति न मानी जाय तो एक ही जगह से दो बार फेंकी जानेवाली एक ही कोई परिच्छिन्न द्रव्य-वस्तु विभिन्न स्थानों में विभिन्न दूरी पर गिरेगी। वह एक ही स्थान में क्यों नहीं गिरती ? इसका कोई उत्तर नहीं है। जब कि वेग से क्रिया की उत्पत्ति मानते हैं तब अनायास यह उत्तर दिया जा सकता है कि क्रिया के प्रति कारण होनेवाले वेग की विषमता के कारण वह वस्तु विभिन्न दूरियों पर गिरती है। यदि उस गिरनेवाली क्रियाशील वस्तु में वेग की अधिकता होगी तो वस्तु अधिक दूर जाकर गिरेगी और यदि वेग की अल्पता होगी तो कम दूर पर ही वह वस्तु जा गिरेगी। इसी प्रकार सर्वत्र देखा जाता है। अतः वेग से भी क्रिया की उत्पत्ति होती है यह मानना अनिवार्य है। वेग गुण का परिचय पहले दिया जा चुका है। क्रिया-सन्तान के सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा।

अदृष्ट से भी क्रिया की उत्पत्ति होती है ऐसा प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने कहा है। यहाँ अदृष्ट शब्द से अदृष्टवान् आत्मा के साथ होनेवाला संयोग समझना चाहिए। जैसे प्रलय के अनन्तर परमाणुओं में होनेवाला प्राथमिक कम्पन भोगोन्मुख अदृष्टवान् आत्माओं के साथ संयोग होने के कारण होता है। अदृष्ट का अर्थ यहाँ यदि पुण्य-पाप मात्र रखा जाय तो वह इसलिए नहीं उचित होगा कि कार्य कम्पन और कारण पुण्य-पाप इन दोनों के अधिकरण एक न होने के कारण कार्य-कारण भाव नहीं बन सकेगा। कार्य-कारण भाव के लिए कार्य रूप से तथा कारण रूप से स्वीकरणीय दोनों वस्तुओं का सामानाधिकरण्य अनिवार्य अपेक्षित है। प्रकृत में उक्त कम्पन और पुण्य पाप-स्वरूप अदृष्ट का सामानाधिकरण्य अर्थात् एक अधिकरण में रहना इसलिए नहीं बना पाता कि कार्य (प्राथमिक कम्पन) होता है परमाणुओं में, और पुण्य पाप होते हैं आत्मा में। अदृष्ट का अर्थ अदृष्टवान् आत्मा के साथ होनेवाला संयोग करने पर दोनों का सामानाधिकरण्य अनायास इसलिए बन जाता है कि व्यापक आत्मा के साथ संयोग उन परमाणुओं का होता ही है जिनमें कम्पन उत्पन्न होता है। यहाँ यह शंका नहीं उठायी जा सकती कि सृष्टि से पूर्व प्रलयकाल में यदि पाप या पुण्य आत्मा में माना जायगा तो वह निश्चय ही प्रलय से पूर्व बीती हुई सृष्टि में कृत सदाचरण या अनाचरण से हुआ होगा। अतः वे पाप-पुण्य पूर्व सृष्टि के अन्त काल से लेकर पर सृष्टि के आदि तक बराबर ही अजर-अमर आत्मा में रहेंगे। और आत्मा के व्यापक होने के कारण उसका संयोग भी बराबर परमाणुओं से रहेगा ही। ऐसी परि-

स्थिति में सृष्टि के आदि में होनेवाला परमाणुओं का प्राथमिक कम्पन निश्चित काल से पूर्व ही क्यों नहीं हो जाता? सृष्टि बनी ही क्यों नहीं रहती? प्रलय क्यों और कैसे हो जाता है? इत्यादि। क्योंकि पुण्य और पापस्वरूप अदृष्ट भी दो प्रकार के होते हैं; प्रबुद्ध और अप्रबुद्ध, अर्थात् असुषुप्त और सुषुप्त। प्रकृत कार्य के प्रति उन्मुखता का ही अपर नाम है प्रकृत में प्रबोध या असुषुप्ति। अदृष्ट में यह स्थायी नहीं रहती, आगन्तुक होती है। अतः परमाणुओं में अदृष्टवान् आत्मा के साथ संयोग बराबर पूर्व से रहने पर भी सृष्टि रूप प्रकृत कार्य के प्रति प्रसुप्त अदृष्ट में उन्मुखता न होने से सुषुप्त अदृष्टवान् आत्मा के साथ परमाणुओं का संयोग पहले न होने के कारण परमाणुओं में प्राथमिक स्पन्दन निश्चित समय से पूर्व नहीं उत्पन्न होता, उचित समय पर ही होता है। यद्यपि उक्त अदृष्टगत उन्मुखता का नियामक ईश्वरेच्छा को ही मानना होगा, और कोई हो ही नहीं सकता और वह ईश्वर, उसकी इच्छा भी नित्य और एक होने के कारण सर्वदा ही रहेगी। फिर तो अदृष्ट की उन्मुखता भी जो कि नित्य भगवदिच्छा से नियंत्रित होती है, सार्वदिक होगी। अतः पूर्वोक्त समस्या हल हुई-सी नहीं मालूम पड़ती। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। भगवान् की इच्छा को नित्य और एक मानने पर भी उसके अन्दर समय सहित सारा भावी कार्यक्रम विषय हुआ करता है, अतः असमय में अन्य कारणों के होते हुए भी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो पाती। जब कि हम लोगों की किसी भी भावी कार्यविषयक इच्छा में अवान्तर कार्य और उनके समय क्रम से विषय होते हैं, जब कि हम लोग भी आगे के लिए इस प्रकार सोचते हैं कि "अमुक अमुक समय में अमुक अमुक अपेक्षित कार्यों के सम्पादन द्वारा मैं वह कार्य सम्पन्न करूँगा", तो भगवान् की इच्छा में समयसम्बद्ध कार्यक्रम न भासेंगे, विषय न होंगे यह नहीं कहा जा सकता। अतः भगवान् की सर्वथा सुव्यवस्थित इच्छा से नियंत्रित फलोन्मुखता के आगमन पर क्षमता प्राप्त करने वाले अदृष्ट से युक्त आत्मा के संयोग द्वारा परमाणुओं में प्रारम्भिक कर्म उत्पन्न होते हैं।

यहाँ उद्भावित मूल प्रश्न के उत्तर में यह भी कहा जा सकता है कि आत्मा में सृष्टि के अनुकूल अदृष्ट के समान प्रलयानुकूल अदृष्ट भी बैठा रहता है। दोनों को सावकाश होना आवश्यक है। निरवकाश दोनों में कोई नहीं होगा। कोई विनिगमक न होने के कारण दोनों ही समान बलशाली हैं। दोनों समान भाव से अवसर पाते हैं। अतः उचित समय में ही तत्तदनुकूल कम्पन परमाणुओं में हुआ करते हैं।

प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने लोहे और चुम्बक के अभिमुखता-स्थल में होनेवाले लोहगत कर्म को भी "अदृष्टकारित" कहा है। किसी एक अतिपरवर्त्ती व्याख्याता ने अदृष्ट का अर्थ प्रकृत में अदृष्ट गुण (जिसका निर्वचन गुणों के प्रकरण में

हो गया है) न करके चुम्बक में विद्यमान वस्तु सामर्थ्य स्वरूप शक्ति किया है। किन्तु वह प्रकृत में दो कारणों से उचित नहीं जँचता। एक यह कि क्रिया होती है लोहे में और वह सामर्थ्यस्वरूप शक्ति मानी जा रही है चुम्बक में, जिससे कारण और कार्य का सामानाधिकरण्य नहीं बन पाता, जो कि कार्यकारण भाव के लिए अति अपेक्षित है। दूसरी बात यह कि प्राच्य पदार्थशास्त्रियों द्वारा कर्म के प्रति कारण रूप से स्वीकृत अदृष्ट की व्याख्या यदि यौगिकता के आधार पर "नहीं देखी जाने वाली वस्तु मात्र" इस प्रकार की जाती है, तो अतीन्द्रिय गुरुत्व भी अदृष्ट बन जाता है। फिर उसके कार्य रूप में होनेवाला पतन भी, जिसका विचार निकट में ही किया जा चुका है, "अदृष्टकारित" कहलाने लगेगा। ऐसी परिस्थिति में गुरुत्व का पृथक् पतन कर्म के कारणरूप से और पतन का पृथक् कार्यरूप से उल्लेख जैसा कि प्राच्य पदार्थ-शास्त्रियों ने किया है, असंगत हो जाता है। अतः उपर्युक्त व्याख्याता का व्याख्यान संगत नहीं कहा जा सकता। प्रकृत अदृष्ट पद से अदृष्टवान् आत्मा के साथ होने वाला संयोग प्राच्य पदार्थशास्त्रियों के अभिप्राय के अनुरूप लेना चाहिए यह बात बतलायी जा चुकी है।

यों अन्यत्र अदृष्ट शब्द की व्यापक व्याख्या हमें भी मान्य है जिसका स्पष्टीकरण गुण-निरूपण में विहित अदृष्ट सम्बन्धी विचार को पढ़ने से अनायास मालूम होता है। पुण्य-पाप स्वरूप अदृष्ट की सिद्धि के लिए जितने उदाहरण अपनाये गये हैं वे इस बात के पूर्ण द्योतक हैं।

कर्म की स्थिति

कर्म की उत्पत्ति के विचार के अनन्तर उसकी स्थिति के सम्बन्ध में जिज्ञासा हो सकती है। मन में स्वतः यह प्रश्न उठ खड़ा हो सकता है कि क्रिया का जीवनकाल अर्थात् अस्तित्वकाल कितना बड़ा होता है? वह कितने क्षण तक रहती है? तो इसका उत्तर अविभाग से देना कठिन है। अर्थात् प्रश्न के समान उत्तर एक नहीं होगा, यह उत्तर सर्वसम्मत रूप से नहीं दिया जा सकता कि सारे कर्म इतने ही क्षण रहते हैं। समग्र आरम्भवादियों को दो दलों में विभक्त करके क्रिया के अस्तित्वकाल-विषयक प्रश्न का उत्तर देना होगा। सारांश यह कि एक दल ऐसा है जिसके मत में प्रत्येक कर्म यानी कम्पन अपने उत्पत्तिक्षण से लेकर चतुर्थ क्षण तक जीवित रहता है। अभिप्राय यह कि यदि प्रथम क्षण को अर्थात् क्रिया के उत्पत्तिक्षण को भी उसके स्थितिक्षण में शामिल कर लिया जाय तो अस्तित्व काल चार क्षण का होता है। अर्थात् क्रिया चार क्षणों तक रहती है यह उत्तर होता है। यदि उसके उत्पत्तिक्षण को स्थिति-क्षण में शामिल न करें तो कर्म का अस्तित्व काल तीन क्षण का होता है। अर्थात्

कर्म, जिसकी स्थिति के सम्बन्ध में अभी विचार किया जा रहा है, वह तीन क्षणों तक ही रहता है यह उत्तर समझना चाहिए। दृष्टान्त के द्वारा इस परिस्थिति को इस प्रकार समझा जा सकता है, यथा--दो अँगुलियाँ एकत्र संयुक्त थीं। उन दोनों के अन्दर किसी एक अँगुली में कम्पन हुआ, अर्थात् विभागानुकूल क्रिया किसी एक क्षण में उत्पन्न हुई। परवर्ती द्वितीय क्षण में वह अँगुली अपर अँगुली से, जिससे वह संयुक्त थी, विभक्त हुई। उसके अनन्तर तृतीय क्षण में वह संयोग जो कि उन दोनों अँगुलियों में पहले से विद्यमान था नष्ट हुआ। अतः अब देखने वाले लोग उन दो अँगुलियों को संयुक्त नहीं देखते या "संयुक्त" नहीं कहते। तदनन्तर चतुर्थ क्षण में वह अँगुली जिसमें कि प्रथम क्षण में क्रिया उत्पन्न हुई थी, निकटवर्ती अपर अंगुली या अन्य किसी के साथ जुटी। जुटने के लिए और कोई द्रव्य न भी मिलने पर बिखरे हुए भौतिक कण या आकाश, काल, दिक् अथवा आत्मा कोई न कोई उसे मिलेगा ही। उसके अनन्तर पंचम क्षण में वह क्रिया जो कि उक्त अँगुली में प्रथम क्षण में उत्पन्न हुई थी, मर जाती है। कोई भी क्रिया क्यों न उत्पन्न हो, सब जगह उसके सम्बन्ध में यही प्रक्रिया लागू होती है। ऐसी परिस्थिति में यह स्थिर हो गया कि किसी भी क्रिया की उत्पत्ति के प्रथम क्षण से लेकर उसके पंचम क्षण में उस क्रिया का विनाश होता है। ऐसी वस्तुस्थिति में उक्त पाँच क्षणों में से यदि उत्पत्तिक्षण होने के कारण प्रथम क्षण को, और विनाशक्षण होने के कारण अन्तिम क्षण को अर्थात् पंचम क्षण को अलग कर लिया जाय तो क्रिया की स्थिति के लिए मध्यवर्त्ती तीन क्षण मात्र बच जाते हैं। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि किसी भी क्रिया का स्थिति-क्षण अर्थात् अस्तित्व काल तीन क्षण मात्र होता है। क्षण का अर्थात् अति सूक्ष्म खण्ड काल का परिचय पहले दिया जा चुका है।

आरम्भवादियों का द्वितीय दल, जिसे हम प्राच्य पदार्थशास्त्रियों का दल कहते हैं, यह कहता है कि प्रत्येक क्रिया का अस्तित्वकाल छः या सात क्षणों का होता है। यदि उत्पत्तिक्षण को भी स्थितिकाल में शामिल माना जाय तो क्रिया सात क्षण रहती है यह कहा जायगा, यदि उसकी उत्पत्ति के क्षण को स्थितिकाल में शामिल न माना जाय तो क्रिया का अस्तित्वकाल छः क्षणों का होगा। इन लोगों का आशय यह है कि प्रत्येक कम्पन स्थल में एक ही विभाग और एक ही संयोग उत्पन्न नहीं होता किन्तु अनेक विभाग और अनेक संयोग उत्पन्न होते हैं। जैसे, दो अँगुलियों का कहीं पहले से संयोग था, वहाँ एक अँगुली में कम्पन होने से केवल अँगुली-अँगुली का विभाग नहीं होता, परन्तु एक अँगुली से अपर अँगुली का, उस अँगुली से आकाश का, अँगुली से काल का, अँगली से दिक् का, अँगुली से आत्मा का तथा परमेश्वर को मानते हुए

अँगुली से परमेश्वर का भी, इतने विभाग और इतने ही संयोग उत्पन्न होंगे। इन सभी विभागों और सभी संयोगों के प्रति एक कम्पन को ही कारण नहीं माना जा सकता किन्तु अँगुली-अँगुली के विभाग के प्रति अँगुली में होनेवाले कम्पन को और अन्यान्य विभागों के प्रति अँगुली-अँगुली विभाग को। इस प्रकार विभागज विभाग के अभ्युपगम पक्ष में कर्म को सात क्षण तक स्थायी मानना अनिवार्य हो जाता है। क्योंकि अँगुली-आकाश विभाग, अँगुली-काल विभाग आदि सभी विभागों को तो अँगुली-अँगुली का विभाग, जो कि कर्मज है, उत्पन्न कर देगा, परन्तु उन विभागों के भी दो क्षण अनन्तर उत्पन्न होनेवाले उतने ही परवर्ती अँगुली-आकाश संयोग, अँगुली-काल संयोग आदि संयोगों को कर्म के बिना कौन उत्पन्न कर सकेगा? सजातीय अतएव अविरोधी होने के कारण अँगुली-अँगुली का विभाग परवर्ती उक्त विभागों को पैदा कर सकता है, किन्तु परवर्ती उक्त संयोगों को तो नहीं पैदा कर सकता। क्योंकि संयोग और विभाग आपस में विरोधी हैं। ऐसी परिस्थिति में उक्त अँगुली-आकाश संयोग आदि संयोगों को उत्पन्न करने के लिए कर्म को उत्पत्ति क्षण से लेकर उक्त संयोग-दल-क्षण पर्यन्त स्थायी मानना अनिवार्य है। विशद रूप से इसे इस प्रकार समझ सकते हैं, यथा—प्रथम क्षण में संयुक्त अँगुली में कम्पन हुआ (१), अनन्तर एक अँगुली का अपर अँगुली से विभाग हुआ (२), बाद में अँगुली-अँगुली का पूर्व संयोग नष्ट हुआ (३)। फिर व्यापक भौतिक द्रव्यों से संयोग हुआ और अँगुली का आकाश से विभाग हुआ (४)। अनन्तर प्राचीन अँगुली-आकाश-संयोग नष्ट हुआ (५), तब नवीन अँगुली-आकाश संयोग उत्पन्न हुआ (६)। अतः यहाँ तक प्राथमिक अँगुलीगत कर्म को रखना अनिवार्य है।

इस प्रकार कर्म की स्थिति के सम्बन्ध में सार कथा यह हुई कि प्रथम मत में ऊपर प्रदर्शित सारे विभाग कर्म की उत्पत्ति के अव्यवहित पर क्षण में ही अर्थात् द्वितीय क्षण में ही उत्पन्न हो जाते और समस्त उत्तर संयोग क्रिया की उत्पत्ति के चतुर्थ क्षण में ही हो जाते हैं। क्योंकि सारे उक्त विभाग और प्रदर्शित संयोग कर्मज ही माने जाते हैं। अतः पूरा कार्य चतुर्थ क्षण में खतम हो जाता है, कोई कार्य अवशिष्ट नहीं रह जाता, जिसके लिए कर्म को रखना पड़े। अतः सारी क्रियाएँ अपने उत्पत्ति-क्षण को प्रथम क्षण मानकर पंचम क्षण में नष्ट हो जाती हैं और सारी क्रियाओं का अस्तित्वकाल चार क्षण मात्र का होता है। जहाँ किसी अवयवी द्रव्य के अवयव में क्रिया उत्पन्न होने से उस द्रव्य का विनाश होता है वहाँ वह अव यवगत क्रिया सात क्षण तक रहती है। क्योंकि अवयवगत क्रिया से होनेवाला अवयवगत विभाग तब तक उस अवयव और आकाश के साथ होनेवाले विभागस्वरूप

विभागज विभाग को नहीं उत्पन्न करता जब तक अवयवी द्रव्य न मर जाय। अतः कार्यक्रम एक क्षण और बढ़ जायगा। उदाहरण के द्वारा इसे इस प्रकार समझना चाहिए, यथा––घट के अवयव कपाल में क्रिया हुई (१)। तब एक कपाल से अपर कपाल का विभाग हुआ (२)। बाद कपालों का पूर्व संयोग नष्ट हुआ (३)। तब घट का नाश हुआ (४)। अनन्तर कपालाकाशविभागस्वरूप विभागज विभाग हुआ (५)। तब कपाल-आकाश का पूर्व संयोग नष्ट हुआ (६) और तब उत्तर कपालाकाश-संयोग हुआ (७)। यहाँ तक क्रिया रहेगी। इसी प्रकार ऐसी परिस्थिति में सर्वत्र समझना चाहिए।

इसके विपरीत उक्त द्वितीय मतवाद की पुष्टि के लिए गुण-निरूपण में किये गये विभागज विभाग के विचार को पढ़ना चाहिए। वहाँ यह उदाहरण सहित स्पष्ट भाव से बतलाया गया है कि विभाग को आरम्भक-संयोग-प्रतिद्वन्द्वी और अनारम्भक-संयोग-प्रतिद्वन्द्वी इस प्रकार से विभक्त करना पड़ेगा। इन विरुद्धजातीय दोनों प्रकार के विभागों का जनक एक कर्म को ही नहीं माना जा सकता। ऐसी परिस्थिति में विभागज विभाग मानना ही पड़ेगा। विभागज विभाग मानने पर उक्त द्वितीय मतवाद, जिसमें क्रिया की स्थिति सात क्षणों तक होती है, मानना ही पड़ता है।

कर्म का विनाश

कर्म की स्थिति के सम्बन्ध में कृत विचार से कर्म का विनाश भी बहुत कुछ अंश में विचारित हो जाता है। क्योंकि किसी भी जन्य वस्तु का स्थितिकाल उसके विनाश-क्षण के अव्यवहित पूर्व क्षण तक ही सीमित होता है। जब कि उपर्युक्त विचार में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि किसी भी कर्म का अस्तित्वकाल विभाग मात्र के कर्मजन्यता-स्वीकार पक्ष में कर्म के उत्पत्तिक्षण को प्रथम क्षण मानकर चतुर्थ क्षण तक ही सीमित होता है, तो इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक क्रिया अपनी उत्पत्ति से पंचम क्षण में विनष्ट होती है, और विभागज विभाग के अभ्युपगम पक्ष में प्रत्येक क्रिया अपने उत्पत्ति क्षण से सप्तम या अष्टम क्षण में विनष्ट हो जाती है। इससे अधिक कोई भी क्रिया रह नहीं सकती। साथ ही किसी भी ऐसी क्रिया को, जिसका आश्रय नष्ट नहीं हुआ हो, इससे पहले नष्ट माना भी नहीं जा सकता। क्रिया के आश्रयभूत द्रव्य के मरने से एतदपेक्षया पहले भी क्रिया का विनाश हो सकता है। जैसे किसी नश्वर द्रव्य के नाश-क्षण से अव्यवहित पूर्व क्षण में यदि कोई कर्म उत्पन्न होगा तो वह कर्म अपनी उत्पत्ति से तीसरे ही क्षण में विनष्ट हो जायगा। यह परिस्थिति तब उत्पन्न होगी जब कि अवयवी में होनेवाले नाशानुकूल कम्पन से पूर्व तृतीय क्षण में ही उस

अवयवी के अवयव में उस अवयवी के विनाशानुकूल कम्पन उत्पन्न हुआ रहेगा। उदाहरण के द्वारा इसे इस प्रकार समझा जा सकता है––यथा, प्रथमतः द्वचणुक के अवयव परमाणु में क्रिया उत्पन्न हुई (१)। अव्यवहित पर क्षण में परमाणुओं में परस्पर विभाग हुआ (२)। अव्यवहित पर क्षण में परमाणुओं में परस्पर होनेवाला संयोग भी नष्ट हुआ और अभी तक विद्यमान द्वचणुक में क्रिया भी उत्पन्न हो गयी (३-१)। अव्यवहित पर क्षण में द्वचणुक मरा (२)। अव्यवहित पर क्षण में द्वचणुक में आश्रित क्रिया का विनाश हो जायगा, क्योंकि कर्म निराश्रित नहीं हो सकता, न रह सकता है। यदि नष्ट होते हुए द्रव्य में भी क्रिया मानी जाय तो उत्पत्ति उसके द्वितीय क्षण में भी क्रिया का विनाश हो सकता है, परन्तु नाशग्रस्त द्रव्य में क्रिया का उत्पाद आनुभविक नहीं। अतः द्वितीय क्षण में उसका विनाश हो गया ऐसा कहीं और कभी नहीं माना जा सकता।

बौद्ध विद्वानों का इस सम्बन्ध में यह कहना है कि प्रत्येक क्रिया द्वितीय क्षण में ही विनष्ट हो जाती है। अतः सारी क्रियाएँ उत्पन्न-विनष्ट ही होती हैं। क्योंकि सारे ही भाव सत् हैं और जो भी सत् होता है वह क्षणिक ही होता है। सुतरां भाव अतएव सत् होने के कारण सारी क्रियाएँ द्वितीय क्षण में ही नष्ट हो जाती हैं। इसके पोषण के लिए वे यह कहते हैं कि भाव के लिए विनाश विरोधी वस्तु नहीं प्रत्युत भाव का स्वरूप ही है। अतः किसी वस्तु के विनाश के लिए साधनान्तर की भी अपेक्षा नहीं होती, जिसके लिए विनाश में विलम्ब होने की सम्भावना हो। नाश सर्वथा निर्हेतुक होता है। अतः कोई भी भाव एक क्षण में उत्पन्न होकर द्वितीय क्षण तक टिक ही नहीं सकता। जब सारे भावों के लिए यह एक परिस्थिति निर्विशेष है, तब कर्म उससे बाहर नहीं जा सकता। अतः सारे कर्म उत्पन्न-विनष्ट होते हैं।

परन्तु आज जब कि निरन्तर भौतिक वैज्ञानिकों का दल महान् जन-विनाश और भौतिक विनाश के प्रबल साधन "अणुबम" और "हाइड्रोजन बम" आदि एक के बाद एक का आविष्कार और परीक्षण कर रहा है और सफल भी हो रहा है; प्रत्येक ध्वंस के साथ किसी एक का अन्वयव्यतिरेक सुस्पष्ट पाया जाता है; तब यह कहना कि विनाश निर्हेतुक होता है कहाँ तक संगत हो सकता है? यह कितना उपहासास्पद सत्य का अपलाप कहा जा सकता है? अतः कोई भी कर्म "उत्पन्न-विनष्ट" होता है अर्थात् एक क्षण में ही उत्पन्न होकर अपर क्षण में विनष्ट हो जाता है, ऐसा नहीं माना जा सकता। विनाश की निर्हेतुता और वस्तु-स्वभावता आदि विषय का विस्तृत विवेचन अभाव प्रकरण में ध्वंस विचार के अवसर पर किया जायगा।

परिस्थिति-विशेष में कर्म चतुर्थ क्षण में भी मर सकता है। जब कि किसी विनश्वर द्रव्य के विनाशार्थ उस द्रव्य के अवयव में होनेवाले कर्म के उत्पादन क्षण के अव्यवहित पर क्षण में अर्थात् अवयव-विभाग क्षण में पूरे अवयवी में अर्थात् उस नश्वर द्रव्य में क्रिया उत्पन्न होगी तो क्रिया का नाश अपनी उत्पत्ति के प्रथम क्षण से चतुर्थ क्षण में हो जायगा। उदाहरण के द्वारा इसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं, यथा—द्व्यणुक के अवयव परमाणु में कर्म उत्पन्न हुआ (१)। अव्यवहित पर क्षण में परमाणु-परमाणु का परस्पर विभाग और अभी जीवित द्व्यणुक में कर्म उत्पन्न हुआ (२।१)। उसके अव्यवहित पर क्षण में परमाणुद्वय में पूर्व संयोग का विनाश और द्व्यणुक का अपने आश्रय आदि-संयुक्त द्रव्यों से विभाग ये दोनों कार्य हुए (३।२)। उसके अव्यवहित पर क्षण में द्व्यणुक का नाश भी हुआ और द्व्यणुक के साथ होने वाले अन्य आश्रय आदि-द्रव्य का संयोग भी नष्ट हुआ (४।३)। उसके अव्यवहित पर क्षण में द्व्यणुकगत कर्म का नाश हुआ (४)। ऐसी परिस्थिति में अवयविगत क्रिया और अवयवगत क्रिया ये दोनों ही क्रियाएँ एक ही क्षण में नष्ट हो जाती हैं। क्रिया नाश के सम्बन्ध में अभी तक किये गये इतने विचार से यह स्पष्ट हुआ है कि विभागज विभाग न मानने वाले अर्थात् समग्र विभाग को कर्मज ही मानने वाले आरम्भवादियों के मत में क्रिया विनाश के सम्बन्ध में उक्त तीन परिस्थितियों से अन्य कोई परिस्थिति नहीं हो सकती। अर्थात् कोई भी कर्म अपनी उत्पत्ति के क्षण से तृतीय, चतुर्थ या पंचम इन्हीं क्षणों में से किसी एक क्षण में प्रदर्शित परिस्थिति के अनुसार मर सकता है। इससे अन्य कोई परिस्थिति कभी बतलायी नहीं जा सकती।

विभागज विभाग के स्वीकार पक्ष में, जिसकी चर्चा विस्तृत रूप से की जा चुकी है, क्रिया अपने उत्पत्ति-क्षण से सातवें क्षण में विनष्ट होती है। इस पक्ष में किसी भी क्रिया का विनाश उससे पूर्व कभी नहीं हो सकता। परन्तु विभागज विभाग की उत्पत्ति के पहले ही यदि वह द्रव्य नष्ट हो जाय तो निराधार क्रिया रह नहीं सकती। अतः पूर्व प्रदर्शित पद्धति से उस विभागज-विभाग के अभ्युपगम पक्ष में भी क्रिया अपने उत्पत्तिक्षण से तृतीय और चतुर्थ क्षण में नष्ट हो जायगी।

कुछ पदार्थ-शास्त्रियों का यह कहना है कि विभागज-विभाग के स्वीकार पक्ष में अवयवगत क्रियाएँ अपनी उत्पत्ति के क्षण से सप्तम क्षण में नहीं मरती हैं किन्तु एक क्षण और पीछे आठवें क्षण में मरती हैं। अभिप्राय यह कि विभाग से विभाग की उत्पत्ति अवयवी द्रव्य के नाशक्षण में न होकर एक क्षण और पीछे होती है। इसलिए कार्यक्रम एक क्षण और अधिक बढ़ जाता है। गम्भीर भाव से चिन्ता करने पर इस प्रकार के कथन के बीच यह मालूम होता है कि अवयव-क्रिया के उत्पत्ति-

स्थल में ये पदार्थशास्त्री विभागज विभाग से अवयवी द्रव्य के नाश को अन्तरंग कार्य समझते हैं और विभागज विभाग को उसकी अपेक्षा बहिरंग। अन्तरंग और बहिरंग कार्यों के सम्पादनीयतास्थल में अन्तरंग कार्य पहले किया जाता है यह सर्व-लोक-सिद्ध है। अतः द्रव्यनाशस्वरूप कार्य हो जाने के बाद विभागज विभाग होता है। अतः एक क्षण काल और आगे खिसकता है।

परन्तु द्रव्यनाश और विभागज-विभाग विरोधी कार्य नहीं प्रतीत होते जिससे दोनों एक काल में न हो सकें। अतः पूर्वसंयोग नाश के अव्यवहित पर क्षण में ही द्रव्य-नाश के समकाल विभागज विभाग हो सकता है। इसलिए प्रक्रिया में क्षणाधिक्यं करना उचित प्रतीत नहीं होता। यहाँ यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि तब एक क्षण और पहले संयोग नाश के क्षण में ही विभागज-विभाग क्यों नहीं उत्पन्न हो जाता? इस प्रकार एक क्षण की और बचत की जा सकती है। क्योंकि विभाग और संयोग के प्रति अनपेक्ष भाव से कारण होने वाली वस्तु ही कर्म, क्रिया, कम्पन, चलन आदि है, इस प्रकार कर्म के स्वरूप का निर्वचन पहले ही किया जा चुका है। तदनुसार प्रथम विभाग यदि पूर्व-संयोगनाश की अपेक्षा न करते हुए द्वितीय विभाग को उत्पन्न करेगा तो प्रथम विभाग कर्मलक्षण से आक्रान्त हो जाने के कारण विभाग कहलाने का ही अधिकारी नहीं होगा। फिर उससे उत्पन्न होने-वाला द्वितीय विभाग विभागज विभाग कैसे कहला सकेगा? अतः पूर्व-संयोग के नाश की अपेक्षा करके द्रव्य नाश के क्षण में द्वितीय विभाग को प्रथम विभाग उत्पन्न करेगा। ऐसा मानने पर प्रथम विभाग कर्मस्वरूपाक्रान्त इसलिए नहीं होता कि मध्य में पूर्व संयोग नाश की अपेक्षा करके द्वितीय विभाग के प्रति कारण बनने से वह अनपेक्ष कारण नहीं होता, अस्तु।

विभागज विभाग के अभ्युपगम पक्ष में उक्त दो परिस्थितियों को उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है, यथा—द्वयणुक के अवयव परमाणु में क्रिया हुई (१), अव्यवहित उत्तर, दोनों परमाणुओं में परस्पर विभाग हुआ (२), बाद परमाणुओं में विद्यमान पूर्वसंयोग का नाश हुआ (३), तब परमाणु का आकाश से विभागज विभाग हुआ (४), अनन्तर क्षण में इन नवीन विभागों से परमाणु और आकाश में विद्यमान पूर्व संयोग का नाश हुआ (५), तब परमाणु का अन्य दैशिक आकाश से नवीन संयोग हुआ (६), तब कर्म का नाश हुआ (७)। द्वितीय परिस्थिति में द्वयणुक के अवयव परमाणु में क्रिया हुई (१), तब परमाणुओं में परस्पर विभाग हुआ (२), बाद परमाणुओं में पूर्व संयोग का नाश हुआ (३)। तब द्वयणुक मरा (४), तब पर-माणु-आकाश का विभागज विभाग हुआ (५), तब परमाणु-आकाश का पूर्व संयोग

नाश हुआ (६), फिर परमाणु का अन्य प्रादेशिक आकाश के साथ नवीन संयोग-स्वरूप उत्तर संयोग हुआ (७), तब कर्म का नाश हुआ (८); इस प्रकार समझना चाहिए। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उक्त दोनों कल्पों में प्रथम तो सर्वसाधारण हो सकता है, अर्थात् जहाँ द्रव्य नाश होता है और जहाँ द्रव्य नाश नहीं होता दोनों जगह चल सकता है। परन्तु दूसरा कल्प वहाँ ही स्वीकृत हो सकता है जहाँ अवयव में क्रिया होकर द्रव्य नाश होता है। सार यह कि अवयवगत विभागज विभाग स्थल में ऊपर बतलायी गयी दूसरी प्रक्रिया होगी और अनवयवगत विभागज विभाग स्थल में ऊपर बतलायी गयी प्रथम प्रक्रिया होगी। यह दोनों ही प्रक्रियाएँ विभागज विभाग स्थलीय हैं यह बात पहले भी बतलायी गयी है।

इस प्रकार क्रिया के विनाश की विभिन्न परिस्थितियों के गम्भीर मन्थन से यह बात सुस्पष्ट हो जाती है कि अधिकतर क्रियाओं का विनाश उत्तर संयोग से हुआ करता है। विरल स्थल में आश्रय द्रव्य के नाश से क्रिया का नाश होता है, जिसका उदाहरण दिया जा चुका है। सार यह कि अपने अन्तिम कार्य से क्रियाओं का नाश बहुधा हुआ करता है। अन्तिम कार्य कहने का तात्पर्य यह कि विभाग भी क्रिया का कार्य होता है किन्तु उससे क्रिया का नाश नहीं होता। यही कारण है कि क्रिया की स्थिति और विनाश के सम्बन्ध में विभिन्न परिस्थितियाँ प्राप्त होती हैं। क्रिया जहाँ चरम संयोग को विलम्बतः उत्पन्न करती है वहाँ विलम्ब से विनाशक प्राप्त होने से उसके जीवनक्षण अधिक होते हैं, और जहाँ वह चरम संयोग को शीघ्र उत्पन्न करती है वहाँ उसके जीवनक्षण अल्प होते हैं। ऐसा क्यों होता है यह दृष्टान्त सहित बतलाया जा चुका है। जहाँ क्रिया का आश्रय द्रव्य ही अपनी आन्तरिक परिस्थिति से नष्ट हो जाता है वहाँ आश्रय या समवायी कारण जो भी कुछ कहा जाय उस द्रव्य के विनाश से अगत्या क्रिया का विनाश पहले ही हो जाता है। अतः ये ही दोनों क्रियानाश के प्रति मुख्य कारण होते हैं। जहाँ वेग से गतिशील बाण अथवा चक्र आदि में वेग के अभाव के पश्चात् गति की निवृत्ति पायी जाती है वहाँ वेगाभाव से नवीन गति का अनुत्पाद हो जाता है, वेगस्वरूप कारण न होने से नयी क्रिया उत्पन्न नहीं होती। गतिधारा रुक जाती है, उसे ही लोग गतिनिवृत्ति कहते हैं। वस्तुतः वहाँ वेग नाश से गति का अर्थात् क्रिया का नाश नहीं होता।

कर्म की धारा

कर्म की स्थिति और विनाश का विचार अभी किया गया है। यह बहुत ही अल्पकाल टिकता है। ऐसी परिस्थिति में बाण आदि के प्रक्षेप स्थल में तद्गत वेग के अनुसार दूर तक होती हुई देखी जाने वाली क्रिया की एतादृश अति अल्पकालस्थायिता

मानना उचित प्रतीत नहीं होता। इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि प्रश्न-प्रतिपादित परिस्थिति एवं तत्सम समस्त परिस्थितियों में गन्तव्य लक्ष्य स्थान तक बाण आदि की गति एक नहीं होती, परन्तु वहाँ क्रमिक कर्मों का उत्पाद और विनाश होने के कारण कर्म की एक धारा चलती है। अर्थात् बाण-गत प्रथम क्रिया के बाद लक्ष्याभिमुख द्वितीय क्रिया उत्पन्न होती है, फिर तृतीय। इस प्रकार लक्ष्यस्थल तक बाण आदि वेगवान् द्रव्य जाते हैं। उस धारा के अन्दर प्रत्येक कर्म अपने-अपने नियत समय पर मरते हैं और वेग से परवर्ती कर्म पूर्व कर्म के मरण क्षण के अव्यवहित परक्षण में उत्पन्न होते जाते हैं, जब तक कि उन क्रियाशील बाण आदि द्रव्यों में वेग नामक गुण रहता है। इसी प्रकार दूर से गिरने वाली वस्तु का पतन अर्थात् गिरना भी प्रथम पतन-स्थान से लेकर भूभाग तक एक ही पतन नहीं होता। अपितु पतन की धारा होती है। अर्थात् पूर्वोक्त अनुसार अपेक्षित अनेक भूभागोन्मुख पतन उत्पन्न होते हैं एवं विनष्ट होते हैं, जिनमें प्रथम पतन तो गुरुत्व के कारण होता है और द्वितीय-तृतीय आदि पतन वेगप्रयुक्त होते हैं। अतः एतादृश परिस्थितियों में सर्वत्र कर्म में एकता का ज्ञान भ्रम है।

यह भी यहाँ ध्यान देने योग्य बात है कि बाण की गति या तत्सम किसी भी अन्य गति के स्थल में पर-पर क्षणों में अपर-अपर संयोग आगे-आगे भौतिक वस्तुओं से होते रहते हैं। अलग-अलग संयोग अलग-अलग कर्म से ही हो सकते हैं। अतः संयोगस्वरूप कार्य की धारा के लिए कारणीभूत कर्म की भी धारा मानना आवश्यक है।

कर्म से कर्म की उत्पति नहीं

बाण प्रक्षेप आदि स्थल में एक ही कर्म नहीं होता, कर्म की धारा होती है, यह बात अभी कही गयी है, और यह भी कहा गया है कि द्वितीय-तृतीय आदि तदन्तर्गत कर्म वेग से उत्पन्न होते हैं। अतः यहाँ यह जिज्ञासा अनायास हो सकती है कि शब्द-धारास्थल में जैसे प्रथम शब्द से द्वितीय सजातीय शब्द और उससे तृतीय सजातीय शब्द उत्पन्न होता है, उसी प्रकार कर्म-धारास्थल में भी पूर्व-पूर्व कर्म से ही उत्तर-उत्तर कर्मों का उत्पाद मानना चाहिए। अन्य दार्शनिक भी धारास्थल में यही परिस्थिति मानते हैं, जैसे क्षणिक विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध विद्वान् भी क्षणिक विज्ञानधारा के अन्दर द्वितीय-तृतीय आदि परवर्त्ती क्षणिकविज्ञानों के प्रति अव्यवहित पूर्ववर्त्ती प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि क्षणिक विज्ञानों को ही कारण मानते हैं। अतः द्वितीय-तृतीय आदि धारान्तर्गत कर्म के प्रति कर्म को कारण न मानकर वेग को कारण क्यों माना जाय ?

इसका उत्तर इस प्रकार समझना चाहिए कि दिये गये दोनों दृष्टान्त प्रकृत विचार के लिए उपयुक्त नहीं हैं, क्योंकि कर्मधारा का सादृश्य उन दोनों के अन्दर किसी में भी नहीं है। इसका कारण यह है कि दृष्टान्त रूप से गृहीत उक्त दोनों स्थल "सन्तान" के हैं "धारा" के नहीं। अर्थात् शब्द का सन्तान होता है एवं क्षणिक-विज्ञानवादियों के यहाँ भी क्षणिक विज्ञान का सन्तान होता है धारा नहीं। धारा और सन्तान में यह महान् पार्थक्य है कि सन्तान के अन्दर प्रत्येक पूर्ववर्ती सन्तानी परवर्ती सन्तानी के प्रति कारण हुआ करता है; जैसे एक ककार सन्तान के अन्दर प्रथम "क" द्वितीय "क" के प्रति और द्वितीय "क" तृतीय "क" के प्रति। अथवा बौद्ध सिद्धांत में क्षणिक-विज्ञानसन्तान के अन्दर प्रथम क्षणिक विज्ञान द्वितीय क्षणिक विज्ञान के प्रति और द्वितीय क्षणिक विज्ञान तृतीय क्षणिक विज्ञान के प्रति कारण है। इसी प्रकार अन्य परवर्ती सन्तानी के प्रति पूर्व सन्तानी कारण हुआ करता है। परन्तु धारा-वहन स्थल में यह बात नहीं होती। वहाँ तदन्तर्गत एक, और तदन्तर्गत अपर में कार्यकारण भाव नहीं हुआ करता, केवल सजातीयता और अव्यवधान की अपेक्षा होती है। जलधारा, तैलधारा, चीटियों की धारा इत्यादि में यह बात स्पष्ट मालूम पड़ती है। वहाँ पूर्ववर्ती और परवर्तियों में कार्यकारण भाव नहीं हुआ करता। अतः बाणप्रक्षेप आदि स्थलों में धारा के अन्तर्गत पूर्ववर्त्ती कर्मों को परवर्ती कर्म के प्रति कारण नहीं माना जा सकता, फलतः परवर्ती कर्म की पूर्ववर्ती कर्म से उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती।

यदि यह कहा जाय कि बाणप्रक्षेप आदि स्थल में कर्म-सन्तान ही क्यों न माना जाय? तब तो कर्मात्मक सन्तानियों में कार्यकारणभाव हो सकेगा, पूर्वकर्म से परकर्म की उत्पत्ति हो सकेगी। अतः कर्म से कर्म की उत्पत्ति होगी।

इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि पूर्व बाण-कर्म यदि पर क्षण में विभाग को उत्पन्न नहीं करेगा तो वह कर्मता से ही च्युत हो जायगा, कर्म कहलाने का अधिकारी हो नहीं सकेगा। क्योंकि जो विभाग और संयोग के प्रति अनपेक्ष कारण होता है वही कर्म होता है यह बात विस्तारपूर्वक इस प्रकरण के आरम्भ में ही बतलायी जा चुकी है। अतः द्वितीय क्षण में वह बाणगत प्रथम कर्म विभाग को ही उत्पन्न करने में लग जायगा, द्वितीय क्षण में द्वितीय कर्म को कैसे उत्पन्न करेगा? यदि यह कहा जाय कि समर्थ कारण एक काल में अनेक कार्य कर सकता है अतः कर्म और विभाग दोनों को प्रथम कर्म द्वितीय क्षण में साथ ही उत्पन्न करेगा। किन्तु यह इसलिए संगत नहीं होगा कि विभाग को तो प्रथम कर्म ने ही उत्पन्न कर डाला है। अतः कर्म से द्वितीय क्षण में उत्पन्न होनेवाला द्वितीय कर्म किस विभाग को उत्पन्न करेगा? यदि विभाग को

उत्पन्न नहीं करेगा तो वह कर्म कहलाने का अधिकारी नहीं होगा। इसी प्रकार तृतीय और चतुर्थ क्षण में भी समझना चाहिए। कोई भी कर्म विभाग एवं विभागसंयोग-नाशपूर्वक उत्तर संयोग इन दो कार्यों के लिए ही उत्पन्न होता है। जब विभाग द्वितीय क्षण में प्रथम कर्म से उत्पन्न हो ही चुका है तब विभागार्थ बीच में कर्म का उत्पाद नहीं हो सकता। पंचम क्षण में एक मत से कर्म मरता ही है। अतः वह अपर कर्म को कैसे उत्पन्न कर सकता है? विभागज विभाग के अभ्युपगम पक्ष में पंचम क्षण में कर्म मरता नहीं परन्तु द्वितीय विभाग जब कि प्रथम विभाग से ही उत्पन्न होता है जो विभागज ही होता है, तब वह बात फिर रह जाती है कि नवीन स्वीकर्तव्य कर्म को कोई विभाग तो कर्तव्य रूप से मिलता नहीं फिर वह कर्म कैसे कहलायेगा? विभागजनक कोई कर्म हो ही नहीं सकता, यह बात अनेकधा बतलायी जा चुकी है। यदि यह कहा जाय कि कर्म चार या छः क्षण जितना भी क्यों न रहे वह अपने विनाश क्षण में अपर कर्म को उत्पन्न कर जायगा। कारण की स्थिति तो कार्य की उत्पत्ति से अव्यवहित पूर्व क्षण में ही अपेक्षित होती है, तो तृतीय क्षण या पंचम क्षण में अपने विनाश क्षण से एक क्षण पूर्व कर्म स्वस्थ ही रहेगा, अतः अपने विनाश क्षण में वह अनायास अपर कर्म को उत्पन्न कर जा सकता है। तो यह इसलिए संगत नहीं होगा कि तब कोई वस्तु कभी निष्कम्प नहीं हो सकेगी जो प्रत्यक्षविरुद्ध है।

ऐसा मानने पर सभी जोड़ सर्वदा खुलते रहेंगे; अतः अनेक अवयवों के अनेक काल-स्थायी संयोग से उत्पन्न होनेवाले दृढ़ मकान आदि अवयवी बनने ही नहीं पायेंगे। ठोस पत्थर आदि का जनन ही असम्भव हो जाने से निश्चल विशालकाय पर्वत आदि सुदृढ़ अवयवी का होना ही असम्भव हो जायगा जोकि प्रत्यक्ष विरुद्ध है। अतः स्थिर सत्य है कि कर्म से कर्म की उत्पत्ति नहीं होती।

इसके सम्बन्ध में एक बात और भी ज्ञातव्य है; यह बात तो अनेक बार स्पष्ट हो चुकी है कि प्रत्येक कर्म विभाग और उत्तर संयोग को पैदा अवश्य करेगा, यदि उसका आश्रय द्रव्य ही पहले नष्ट न हो जाय। ऐसी परिस्थिति में उत्तर-संयोग को उत्पन्न करने के लिए पूर्व संयोगनाश-क्षण तक अर्थात् अपनी उत्पत्ति के क्षण से चतुर्थ क्षण तक कर्म का स्वयं रहना अनिवार्य है। और जब वह स्वयं आश्रय में बैठा रहेगा तो अपने अस्तित्वकाल के भीतर दूसरे कर्म को उत्पन्न कर कैसे रहने देगा? एक काल में एक ही आश्रय में विभिन्न क्रियाएँ नहीं रह सकतीं।

एक क्षण में अनेक कर्म एक वस्तु में नहीं होते

यही जो अभी कहा गया है कि एक काल में एक ही आश्रय में अनेक क्रियाएँ नहीं होतीं; इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह कथन प्रत्यक्षतः विरुद्ध

है। जब कोई काँपता हुआ दौड़ता है तो उस व्यक्ति में दो क्रियाएँ स्पष्ट देखी जाती हैं। क्योंकि एक तरह की क्रिया अग्राभिमुख होती है जिसे दौड़ना कहते हैं, दूसरी क्रिया अग्राभिमुख नहीं होती पार्श्व-द्वयाभिमुख या ऊर्ध्वाधोमुख होती है जिसे काँपना कहते हैं। इसी प्रकार जिसका अति वृद्धावस्था या सर्वांगवात-प्रयुक्त शरीर सदा काँपता रहता है उसके चलने के समय अनेक क्रियाएँ एक में स्पष्ट देखी जाती हैं। जब रेल-गाड़ी के स्प्रिंग में दोष आ जाता है, वह कुछ ढीला हो जाता है तो वह गाड़ी ढकर-ढकर करती काँपती हुई आगे बढ़ती है। वहाँ भी उस एक ही गाड़ी में काँपना और आगे बढ़ना ये दो क्रियाएँ एक ही समय देखी जाती हैं। जब कोई किसी वस्तु को अपने हाथ से नचाता हुआ आगे बढ़ता है तो उस वस्तु में दो क्रियाएँ स्पष्ट देखी जाती हैं। वह नाचती भी है और उस मनुष्य के साथ जो उसे हाथ में लिये किसी ओर जाता है आगे भी जा रही है। आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक लोग भूगोल के बारे में भी यही कहते हैं। वह नाचते हुए अपने वृत्त में घूमता है। ऐसी परिस्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि एक वस्तु एक काल में अनेक क्रियाशील नहीं हो सकती? इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि इन या एतादृश परिस्थितियों में एक क्रिया को अवयव-गत और अपर क्रिया को अवयवी-गत मानना चाहिए। जैसे नाचना अव-यव-गत और दीर्घगति अवयवी-गत है। यह बात युक्तिसंगत भी है, क्योंकि प्रदर्शित रेलगाड़ी के दृष्टान्त में जिस डब्बे के स्प्रिंग में दोष रहता है वही डब्बा ढकढकाता है, काँपता है; सब डब्बे नहीं। अति वृद्ध या वातरोग-ग्रस्तों में भी यह स्पष्ट देखा जाता है कि प्रथमतः वह कम्पन किसी अंग विशेष से ही प्रारम्भ होता है और धीरे-धीरे बढ़कर सारे अंगों में होने लगता है। अतः यह सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि अवान्तर क्रिया को अवयव-गत और मुख्य क्रिया को अवयवी-गत माना जाय। किसी भी प्रकार के आधुनिक विभिन्न यंत्रों की क्रिया का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने पर यही बात पुष्ट होती है। यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि उनके प्रत्येक पुर्जे विभिन्न प्रकार से गतिशील रहते हैं, जिनके कर्मों से अन्त्यावयवी यंत्र का कर्म विलक्षण होता है।

कुछ लोगों का कहना है कि एक काल में एक वस्तु में अनेक विपरीत कर्म नहीं होते, अविपरीत अनेक कर्म हो सकते हैं। विपरीत का अभिप्राय है विरुद्ध अर्थात् विरुद्ध दिशाभिमुख कर्म। जैसे पूर्व की ओर जाना और पश्चिम की ओर जाना ये दोनों कर्म परस्पर में विरुद्ध होते हैं, ऐसे दो कर्म एक काल में एक आश्रय में नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार उत्तर जाना और दक्षिण भी जाना एक ही काल में नहीं बनता, इसी प्रकार ऊपर भी जाना और नीचे भी, यह एक ही क्षण में नहीं हो सकता। अतः उक्त प्रश्न निरवकाश है। अर्थात् वह उचित नहीं कहा जा सकता है।

कर्म से वेग और वेग से कर्म

कर्म-धारा शीर्षक विचार से यह मालूम हुआ कि वेग से भी कर्म की उत्पत्ति होती है। और, कर्म के बिना वेग का भी निष्पादन नहीं होता है। ऐसी परिस्थिति में अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य हो जाता है। अन्योन्याश्रय का अर्थ है दोनों को परस्पर की अपेक्षा, जो अति असंगत प्रतीत होती है। एक ही वस्तु दूसरी के प्रति कारण भी हो और कार्य भी यह असंगत है। ऐसा हो तो पितामह पौत्र बन जाय और पौत्र पितामह। अतः कर्म वेग का कारण भी होगा और कार्य भी, यह उचित नहीं प्रतीत होता। इस आशंका का उत्तर यह समझना चाहिए कि जो कर्म वेग का कारण होता है वही तो उस वेग से उत्पन्न नहीं माना जाता है ? कर्मजन्य वेग से उत्पन्न होनेवाला कर्म वेग के जनक कर्म से अन्य होता है, इसलिए परस्परापेक्षा नहीं होती। सुतरां अन्योन्याश्रय दोष नहीं दिया जा सकता। यदि यह कहा जाय कि तब अनवस्था दोष हो जायगा, तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि अनवस्था सन्तान-स्थल में होती है, धारा-स्थल में नहीं। धारा और सन्तान में यही महान् पार्थक्य है कि धारा विच्छेदान्त होती है अर्थात् कहीं जाकर उसका अन्त हो जाता है किन्तु सन्तान अविच्छिन्न हुआ करता है। बाणप्रक्षेप आदि स्थल में वेगधारा और कर्मधारा दोनों ही धाराएँ विच्छिन्न हो जाती हैं, उनका अन्त हो जाता है। अतः अनवस्था कैसे कही जा सकती है ? अनवस्था तो वहाँ होती है जहाँ कार्यकारण की परम्परा अव्यवस्थित अर्थात् अविच्छिन्न हुआ करती है, जहाँ दोनों के पूर्वापरीभाव का कहीं अन्त नहीं होता। यहाँ तो ऐसी परिस्थिति नहीं होती यह प्रत्यक्ष है। साथ ही यह भी ध्यान रखने की बात है कि अनवस्था भी सर्वत्र दोष रूप नहीं होती। प्रामाणिक अनवस्था को दोष नहीं माना जाता। बीज से अंकुर और अंकुर से बीज इस प्रकार की अनवस्था को कोई भी दार्शनिक दोष नहीं कह सकता। क्योंकि यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है।

सभी क्रियाएँ द्रव्य में ही होती हैं

यह ध्यान रखने की बात है कि क्रिया कोई भी और किसी भी प्रकार की क्यों न हो वह द्रव्य आदि सात पदार्थों के अन्दर केवल द्रव्य पदार्थ में ही उत्पन्न होती और रहती है। आना, जाना आदि प्रत्येक क्रिया द्रव्य में ही होती है। यह बात प्रत्यक्षतः सिद्ध है कि जिसे कोई किसी स्थान से अन्य स्थान में ले जाता है या ले आता है, वह नियमतः कोई-न-कोई द्रव्य ही हुआ करता है। इतना ही नहीं अपितु ऐसा समझना चाहिए कि पृथ्वी, जल आदि नौ द्रव्यों के अन्दर भी पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन इन पाँच में ही क्रिया उत्पन्न होती है और रहती है। आकाश आदि चार व्यापक द्रव्यों में कोई भी

क्रिया उत्पन्न नहीं होती। इसमें प्रबल युक्ति यही है कि व्यापक द्रव्य तो सर्वत्र फैला ही रहता है, उससे रहित कोई स्थान ही नहीं जहाँ वह जा सके, डोल सके। इसका विशेष विवेचन तत्तत् विशेष क्रियाओं की चर्चा के अवसर पर किया जायगा। यहाँ कुछ लोग यह आशंका कर सकते हैं कि जब किसी द्रव्य को एक स्थान से अन्य स्थान में ले जाते हैं तो उस समय उस द्रव्य के साथ उस द्रव्य के रूप आदि गुण भी तो जाते ही हैं। ऐसा तो नहीं होता कि उस जानेवाले द्रव्य के रूप आदि गुण जाते हुए अपने आश्रय द्रव्य को छोड़ वहाँ ही रह जाते और वह गमनशील द्रव्य अपने गुणों को वहाँ ही छोड़कर निर्गुण अकेला ही अन्यत्र जाता है। इसे समझने के लिए किसी भी सगुण गमनशील द्रव्य को दृष्टान्त के लिए पकड़ा जा सकता है। जैसे किसी कपड़े को जब हम एक स्थान से अन्य स्थान को ले जाते हैं तो उस कपड़े में विद्यमान सारे गुण भी जाते हैं यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। ऐसा कभी नहीं देखा जाता कि कपड़े के रूप आदि वहाँ ही रह जायँ जहाँ से कपड़ा अन्यत्र जाता है। ऐसा होने पर जाते हुए कपड़े एवं गये हुए कपड़े के रूपादि गुणों का प्रत्यक्ष न होगा, जैसा कि होता ही है। आपामर साधारण जनता परस्पर में कथनोकथन भी इसी प्रकार किया करती है कि "रूपसहित वस्त्र जाता है", "रूपसहित वस्त्र आया", "लाल कपड़ा आ गया", "पीला कपड़ा यहाँ से हटा दिया गया" इत्यादि। अन्यत्र जहाँ भी ऐसा प्रयोग होता है वहाँ जो साथ होता है और जिसके सहित होता है, दोनों में ही क्रिया तत्त्वतः होती है और प्रतीत भी होती है। जैसे--"राम सहित लक्ष्मण जा रहे हैं", "सीता सहित राम वन में विचर रहे थे" इत्यादि वाक्यों के प्रयोगस्थल में राम और लक्ष्मण दोनों में ही विद्यमान गमन प्रतीत होता है। सीता और राम दोनों में ही वन में विचरना प्रतीत होता है। ऐसी परिस्थिति में यह कैसे माना जाय कि कर्म द्रव्य में ही होते हैं? गुण आदि अन्य पदार्थ क्रिया रहित नहीं हो सकते।

इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि निर्गुण द्रव्य में क्रिया उत्पन्न नहीं होती, यह बात पहले बतलायी जा चुकी है। इससे यह प्राप्त होता है कि किसी द्रव्य में जब क्रिया की उत्पत्ति होती है, उस द्रव्य में उससे पूर्व ही रूप आदि कतिपय गुण उत्पन्न हो जाते हैं, और दोनों की उत्पत्ति के बाद गुण और क्रिया ये दोनों ही उस द्रव्य में सहभावेन रहते हैं, अर्थात् अविरोधी होने के कारण दोनों एक काल में एक ही द्रव्य में रहते हैं। अतः उन दोनों का अर्थात् रूप आदि कतिपय गुण एवं क्रियाओं का परस्पर में सामानाधिकरण्य सम्बन्ध स्थापित होता है। एक अधिकरण में रहने का नाम है सामानाधिकरण्य। गुण और क्रिया दोनों एक द्रव्य में रहते हैं अतः समानाधिकरण होते हैं, इसलिए परस्पर में इनका सामानाधिकरण्य नामक सम्बन्ध

स्थापित होता है। इसी सम्बन्ध के कारण गतिशील द्रव्य में विद्यमान रूप आदि भी गमनशील मालूम पड़ते हैं। तत्त्वतः द्रव्य को छोड़कर गुण आदि अन्य पदार्थों में क्रिया नहीं होती।

कहने का सारांश यह है कि जैसे एक घर में रहनेवाले दो व्यक्तियों में परस्पर सामानाधिकरण्य अर्थात् "एक घर में रहना"—सम्बन्ध अवश्य होता है, किन्तु यह माना, कहा या समझा नहीं जा सकता कि उन दोनों व्यक्तियों के अन्दर "एक अपर में उत्पन्न होता है" या "एक अपर पर आधारित है", अर्थात् एक को आधार बना कर अपर बैठा है ऐसा कैसे कहा जा सकता है। क्योंकि आधार-आधेय भाव नियत होता है, अर्थात् एककाल में एक आधार और अपर आधेय ही होता है। एक ही काल में किन्हीं दो वस्तुओं में "आधाराधेय भाव" नहीं होता, यानी दोनों ही दोनों को आश्रय बनाकर बैठ नहीं सकते। उक्त सामानाधिकरण्य सम्बन्ध समान रूप से दोनों में होने के कारण यह कैसे निर्णय किया जायगा कि इन दोनों के समानाधिकरण अर्थात् एक आधार में रहनेवाले दो के अन्दर अमुक ही आधार होगा और अमुक आधेय।

अतः किन्हीं भी दो के सामानाधिकरण्यों की परिस्थिति में उन दो के अन्दर एक को आधार तथा अपर को आधेय नहीं बनाया जा सकता। अतः उक्त प्रकार से एक द्रव्य में आश्रित गुण और क्रिया इन दो पदार्थों के अन्दर गुण को आधार और क्रिया को आधेय नहीं बनाया जा सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि गुण में क्रिया रहती है या क्रिया में गुण रहते हैं। इसी प्रकार गुण में क्रिया की उत्पत्ति का भी खण्डन समझना चाहिए। यतः दोनों एक द्रव्य में उत्पन्न होते हैं अतः दोनों समानाधिकरण होते हैं। ऐसी परिस्थिति में दोनों की उत्पत्ति एक द्रव्य में होती है यह बात पहले से ही मान ली गयी। कोई एक ही बार और कहीं एक ही जगह उत्पन्न हुआ करता है। जब दोनों द्रव्य में उत्पन्न हो चुके हैं तो गुण में पुनः क्रिया की उत्पत्ति की आशंका नहीं की जा सकती। उक्त "लक्ष्मण सहित राम जाते हैं", "सीता सहित राम वन में विचर रहे हैं" इत्यादि दृष्टान्त यहाँ के लिए उपयुक्त नहीं हैं। वहाँ राम और लक्ष्मण तथा सीता और राम उत्पत्ति में परस्पर निरपेक्ष हैं। एक को छोड़कर भी अपर रहने तथा जाने वाले हैं। दोनों के चलन अलग-अलग कारणों से होते हैं, प्रत्यक्षतः दोनों अलग-अलग चलते हुए देखे जाते हैं। अतः वहाँ दोनों में चलन तो हैं ही। प्रकृत परिस्थिति ऐसी नहीं, यह ऊपर के विचार से स्पष्ट है।

जो दार्शनिक कर्म को भी एक प्रकार का गुण ही मानते हैं उनके मत में तो यह प्रश्न ही नहीं उठता कि रूप आदि गुण में भी कर्म क्यों न माना जाय। क्योंकि गुण

में तो गुण रहता नहीं। "एक रूप" "एक रस" इत्यादि प्रतीतियाँ होती हैं. एकत्व संख्या गुण है किन्तु उक्त प्रतीति के आधार पर वह रूप आदि गुणों में रहता है। फिर कैसे कहा जाय कि गुण में गुण नहीं रहता ? इसका उत्तर गुण-निरूपण में दिया जा चुका है। अतः यह सर्वथा सिद्ध है कि क्रिया द्रव्य में ही उत्पन्न होती और रहती है अन्यत्र नहीं।

द्रव्य और गुणों से कर्म की समानता

अव्यवहित पूर्व विचार से यह स्पष्ट हो चुका है कि क्रियाएँ द्रव्य में उत्पन्न होती और रहती हैं। द्रव्य क्रियाओं के आश्रय होते हैं और गुण क्रियाओं के बड़े भाई या साथी के समान हैं। गुण और क्रिया दोनों ही कुछ द्रव्यों में आगे-पीछे उत्पन्न होते हैं और रहते हैं। इस प्रकार इन तीनों की स्वभावगत स्पष्ट विषमता के होते हुए भी तीनों में कुछ समता भी अवश्य है। वह यह कि उत्पन्न होनेवाले द्रव्य और गुण तथा समग्र क्रियाएँ द्रव्य में ही उत्पन्न होते और रहते हैं। उदाहरण के द्वारा इसे इस प्रकार समझना चाहिए, यथा--एक ही तन्तु द्रव्य में कपड़ा जो कि एक द्रव्य है, वह भी उत्पन्न होता और उसके रूप-रस आदि गुण भी उस तन्तु द्रव्य में पैदा होते हैं, एवं उसका चलनात्मक कर्म भी उसमें पैदा होता है। इस प्रकार एक ही तन्तु द्रव्य में द्रव्य, गुण और कर्म ये तीनों उत्पन्न होते हैं। अतः इस दृष्टिकोण से कर्म द्रव्य और गुणों की समता भी रखता है। किन्तु यह परिस्थिति तभी होती है जब कि हम आश्रय द्रव्य रूप से किसी अवयव द्रव्य को लेते हैं, जैसे अभी दृष्टान्त देते हुए तन्तु को आश्रय द्रव्य रूप से लिया गया है। किसी अन्त्यावयवी द्रव्य को, अर्थात् जो द्रव्य किसी द्रव्य का उपादान न होता हो उसे आश्रय द्रव्य के रूप में लिया जाय तो ऐसी परिस्थिति नहीं होती। यानी द्रव्य, गुण और कर्म ये तीनों एक में आश्रित होने के नाते समान नहीं हो पाते। यदि किसी शरीर को आश्रय द्रव्य रूप में ग्रहण करें तो भी यह बात नहीं होगी। क्योंकि निजी गुण और कर्म तो उसमें होंगे परन्तु कोई द्रव्य उसमें उत्पन्न नहीं होगा। यतः शरीर को किसी अन्य से जोड़कर कोई नया अवयवी द्रव्य निर्माण नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार यदि किसी भी व्यापक द्रव्य को, यथा आकाश, काल, दिक्, आत्मा या मन को आश्रय द्रव्य रूप में लिया जाय वहाँ भी वही बात आती है। वहाँ द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में एकाश्रित होने के नाते समानता नहीं आती क्योंकि आकाश आदि किसी भी व्यापक द्रव्य को जोड़कर किसी द्रव्य का निर्माण नहीं होता। अतः आकाश आदि को लेकर भी द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों में एकाश्रय होने के नाते समानता नहीं बतलायी जा सकेगी, और व्यापक द्रव्यों में क्रिया भी उत्पन्न नहीं होती। इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। ऐसी परिस्थिति में गुण

के होते हुए भी द्रव्य और कर्म इन दोनों के व्यापक द्रव्य में न होने के कारण व्यापक द्रव्य को आश्रय रूप में रखकर भी द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों को इस प्रकार समान नहीं कहा जा सकता।

कर्म द्रव्य नहीं है

कर्म, द्रव्य और गुण ये तीनों द्रव्य में उत्पन्न होते हैं, यह बात अभी बतलायी गयी है। इस पर किसी को यह आशंका हो सकती है कि कर्म को भी द्रव्य ही क्यों न मान लिया जाय? इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि द्रव्य वह कहलाता है जिसमें गुणों में से कोई-न-कोई गुण उत्पन्न हुआ हो या होनेवाला हो या हो। परन्तु कर्म में कोई गुण नहीं रहता फिर उसे द्रव्य कैसे कहा जा सकता है? द्रव्य की दूसरी परिभाषा यह है कि वह द्रव्य या गुण अथवा कर्म इनमें से किसी न किसी भावकार्य का उपादान हो। कर्म ऐसा नहीं होता, क्योंकि वह स्वयं तो द्रव्य में उत्पन्न होता एवं रहता है परन्तु उसमें न तो कोई द्रव्य उत्पन्न होता है, न कोई गुण उत्पन्न होता और न कोई कर्म। ऐसी परिस्थिति में उसे किस भावकार्य के प्रति उपादान कारण कहा जायगा? किसी के प्रति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अवशिष्ट सामान्य, विशेष और समवाय ये तीन भाव उत्पन्न नहीं होते नित्य होते हैं। इसका विवेचन आगे विस्तृत रूप से किया जायगा। सुतरां "जो किसी के प्रति उपादान कारण हो वह होता है द्रव्य।" इस परिभाषा के अनुसार भी कर्म द्रव्य नहीं कहला सकता। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह भी ध्यान रखने की है कि कर्म को अपने आश्रय द्रव्य-स्वरूप माना जायगा या अतिरिक्त द्रव्य-स्वरूप? यदि आश्रय द्रव्य-स्वरूप माना जाय तो आश्रय निष्कम्प नहीं दिखाई देगा, जो कि अनुभवविरुद्ध है। पहले अव्यापक द्रव्य निष्कम्प रहता है, फिर उसमें कम्पनात्मक कर्म उत्पन्न होता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि कर्म अपने आश्रयभूत द्रव्य-स्वरूप होता है। यदि उसे आश्रयभूत द्रव्य से अतिरिक्त द्रव्य माना जायगा तो स्वीकृत आकाश आदि व्यापक द्रव्य-स्वरूप या उनसे अतिरिक्त माना जायगा? यदि व्यापक द्रव्यस्वरूप माना जायगा तो उससे सदा संयुक्त होने के कारण सदा सारे व्यापक द्रव्य क्रिया-शील होने लगेंगे। कोई कभी निष्क्रिय नहीं हो सकेगा। एवं क्रिया का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। क्योंकि नीरूप व्यापक द्रव्यों का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। यदि कर्म स्वीकृत से अतिरिक्त अव्यापक द्रव्य होगा तो उसके उपादान क्या होंगे? पार्थिव परमाणु आदि उपादान होने पर तो वह भी पृथ्वी आदि में ही अन्तर्भुक्त हो जायगा, अतिरिक्त नहीं हो सकेगा। यदि उसके उपादान भी अन्य होंगे तो पार्थिव, जलीय परमाणु आदि की तरह कार्मिक परमाणु द्व्यणुक-त्र्यणुक आदि अनन्त अवयवों और

अवयवी की व्यर्थ कल्पना होगी, जो कि उचित नहीं । तीसरी बात यह कि द्रव्य कोई भी क्यों न हो वह असंयुक्त नहीं होता, अर्थात् किसी न किसी अन्य द्रव्य के साथ उसका संयोग अवश्य होता है। और यदि ऐसा माना जायगा तो कर्म कभी द्रव्य से अलग भी देखा जायगा। क्योंकि एक संयोगी अपर संयोगी को छोड़कर भी रहता है। जैसे किसी कपड़े को छोड़कर मनुष्यशरीर और शरीर को छोड़कर कपड़ा। परन्तु कर्म कभी अपने आश्रय द्रव्य को छोड़कर अन्यत्र नहीं देखा जाता। कर्म व्यापक नहीं कि वह असंयुक्त होकर अन्यत्र रह सके और उसे व्यापक इसलिए नहीं माना जा सकता कि तब उसका सर्वदा सभी द्रव्यों से सम्बन्ध होने के कारण सभी द्रव्य सर्वदा सक्रिय हो उठेंगे। निष्क्रिय कोई कभी हो ही नहीं सकेगा । अतः कर्म द्रव्य नहीं हो सकता।

कर्म गुण नहीं है

कुछ लोगों का यह प्रबल आग्रह है कि कर्म को गुण पदार्थ ही मान लिया जाय। उनका कहना यह है कि सामान्य-विशेष-समवायस्वरूप कर्म को न मानना तो ठीक ही है, क्योंकि वे नित्य हैं और कर्म अनित्य हुआ करता है। कर्म का अभी प्रतिपादित युक्तियों से द्रव्य नहीं माना जाना भी ठीक ही है। परन्तु उसे गुण मान लेने में कोई बाधा नहीं बतलायी जा सकती। जैसे रूप आदि स्वीकृत गुण द्रव्य में ही उत्पन्न होते और रहते हैं, उसी प्रकार कर्म भी द्रव्य में ही उत्पन्न होता और रहता है। अतः कर्म का प्रत्यक्ष भी द्रव्याश्रित रूप में गुण की तरह हुआ करता है। गुण को द्रव्य में देखा जा सकता है। इसी तरह कर्म भी द्रव्य में ही देखा जाता है। इस प्रकार बहुधा गुण के साथ कर्म की समानता के कारण कर्म को एक गुण ही मान लेना बुद्धिमत्ता है। यह बात सही है कि स्वीकृत रूप, रस आदि गुणों में कर्म को गतार्थ नहीं किया जा सकता। क्योंकि अन्य गुणों से उसके स्वभाव में महान् अन्तर पाया जाता है। परन्तु उसे एक स्वतंत्र अधिक गुण मान लिया जा सकता है। गुणों की गणना चौबीस न होकर पचीस मान लेने से ही यदि निपटारा हो सके तो एक स्वतंत्र पदार्थ मानना तथा पदार्थों के विभाजन में संख्या का आधिक्य स्वीकार करना संगत नहीं। गुणों की संख्या में क्रम-विकास पाया भी जाता है। यह कोई नयी बात नहीं। महर्षि कणाद ने सत्रह गुण गिनाये थे और मध्यवर्ती पदार्थ शास्त्रियों ने बढ़ाकर गुणों की संख्या तेईस मानी। फिर अदृष्ट को पाप और पुण्य के रूप में बाँटकर गुणों की संख्या चौबीस कर दी गयी। इसी प्रकार औचित्य के आधार पर यदि गुण चौबीस के स्थान में पचीस हो जायँ तो क्या हानि है? वरन् पदार्थों की संख्या में कमी के कारण लाभ ही है । अथवा वस्तुतत्व का निर्णय तो संख्यागत लाघव

गौरव के आधार पर नहीं हुआ करता। अतः कर्म को गुण ही मानना चाहिए, स्वतंत्र अतिरिक्त पदार्थ नहीं। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि गुण और कर्म के स्वभाव में महान् अन्तर, महान् पार्थक्य पाया जाता है। पृथक् स्वभाव वाली वस्तुओं को एक कभी नहीं कहा जा सकता। अन्यथा किसी प्रकार का विभाजन नहीं बन सकता। कर्म के स्वभाव का पार्थक्य इस प्रकार समझना चाहिए--जितने भी गुण हैं उनका (१) सामान्य गुण और (२) विशेष गुण, इस रूप में दो प्रकार से विभाजन होता है। इन दो विभागों के अन्दर कर्म को विशेष गुण इसलिए नहीं कहा जा सकता कि जितने भी विशेष गुण हैं वे नियमतः एक ही इन्द्रिय से जाने जाते हैं। कर्म चक्षु और त्वक् दोनों ही इन्द्रियों से जाना जाता है। अतः उसे विशेष गुण नहीं कहा जा सकता। कुछ लोगों ने द्रवत्व गुण के अन्दर सांसिद्धिक द्रवत्व को विशेष गुण और असांसिद्धिक द्रवत्व को सामान्य गुण माना है। परन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि गुणों का विभाजन अवान्तर भेदों को लेकर किया जाय यह संगत नहीं। अतः द्रवत्व को भी दो इन्द्रियों से गृहीत होने के कारण सामान्य गुण समझना चाहिए, विशेष गुण नहीं। कर्म को सामान्य गुण इसलिए नहीं कहा जा सकता कि सामान्य गुण और विशेष गुण दोनों ही व्यापक के सामान्य गुण एवं अव्यापक के सामान्य गुण, और व्यापक के विशेष गुण एवं अव्यापक के विशेष गुण; इस रूप से विभक्त होते हैं। इस तरह विचार करने पर गुणों का चार प्रकार से विभाजन पर्यवसित होता है। तदनुसार कर्म को व्यापक सामान्य गुण इसलिए नहीं कहा जा सकता कि वह व्यापक द्रव्यों में नहीं होता है। यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है। कर्मों को अव्यापक द्रव्य का विशेष गुण इसलिए नहीं बतलाया जा सकता कि कोई भी अव्यापक द्रव्य का विशेष गुण द्रव्यपंचक-वृत्ति नहीं होता, अर्थात् पाँचों द्रव्यों में रहने वाला नहीं होता है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार ही अव्यापक द्रव्य के विशेष गुणरूप से निश्चित हैं। इनके अन्दर कोई भी पाँच द्रव्यों में रहनेवाला नहीं पाया जाता। इनमें सब से अधिक स्थानों में रहनेवाला स्पर्श भी पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार में ही रहता है, पाँच द्रव्यों में नहीं रहता। परन्तु यह कर्म जिसे कि गुण मानने के लिए आग्रह किया जा रहा है, पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन इन पाँच द्रव्यों में रहता है। अतः इस प्रकार गुण-स्वभाव का उल्लंघन करने के कारण उसे गुण नहीं कहा जा सकता।

अंग और अंगी की क्रिया एक नहीं

"एक क्षण में अनेक कर्म एक वस्तु में नहीं होते"--इस शीर्षक विचार में प्रश्न करते हुए यह कहा गया था कि वायुरोग-ग्रस्त सर्वांग कम्पवाले प्राणी के गमन-स्थल में

एक में अनेक कर्म देखे जाते हैं, इसका उत्तर भी वहाँ दिया गया था। किन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अंग और अंगी के कर्मों को यदि एक ही मान लिया जाय तब तो वह प्रश्न उठता हो नहीं। अतः ऐसा ही उत्तर वहाँ क्यों न समझा जाय ? इसका समाधान यह समझना चाहिए कि प्रथम प्रकरण में द्रव्यारम्भ शीर्षक विचार में यह सिद्ध कर दिया गया है कि अंग और अंगी अर्थात् अवयव और अवयवी एक नहीं होते। उन दोनों में कार्यकारण भाव है, एकता नहीं। अर्थात् अंग होते हैं कारण, और अंगी होता है कार्य। दो में होने वाला कर्म एक कैसे हो सकता है ? ऐसा होने पर तो संसार के सभी कर्म एक हो जायँगे, जिसका फल यह होगा कि जागतिक वस्तुओं में प्रत्यक्षतः देखे जानेवाले वैचित्र्य का अपलाप करना होगा जो कभी सम्भव नहीं।

दूसरी बात यह कि जब एक ही काल में अंग और अंगी में विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ होती हैं, यथा प्रदर्शित सर्वाङ्ग कम्प वाले व्यक्ति के गमनस्थल में अंग-कम्पन मृदु वेग से जनित अस्वाधीन तथा अन्याभिमुख होता है एवं अवयवी शरीर का गमन स्वाधीन तथा अग्राभिमुख अर्थात् आगे की ओर होता है। जब कि इस प्रकार अंग और अंगी के कर्मों में स्पष्ट विलक्षणता प्रतीत हो रही है, सब को साधारण भेद का भान हो रहा है, तब अंग-कर्म और अंगी-कर्म दोनों को एक कैसे कहा जा सकता है। इस पर भी यदि यह कहा जाय कि उक्त सर्वांग-कंपन दृष्टान्त में भले ही उक्त युक्तियों से अंग के कर्म से अंगी के कर्म को अलग माना जाय, परन्तु अंगी के एकाभिमुख गतिस्थल में अंग और अंगी दोनों के कर्मों को एक क्यों न माना जाय ? यह तो कहा नहीं जा सकता कि केवल अंगी जा रहा है, अंग वहाँ ही बैठे हैं जहाँ पहले थे। यदि किसी से यह कहा जाय कि तुम अपने हाथ-पाँव आदि अंगों को मत लाना, उन्हें पूर्व स्थान में ही छोड़ आना, किन्तु तुम मेरे पास चले आना। तो क्या यह कभी सम्भव है कि वह ऐसा कर सकेगा ? कभी नहीं। जब ऐसा नहीं हो सकता तो यह मानना पड़ेगा कि अंग और अंगी दोनों एकाभिमुख चल रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में अंगों और अंगीं के कर्म को एक मान लेना क्यों संगत नहीं ? वरन् एक ही मानना इसलिए संगत प्रतीत होता है कि अनेक ज्ञान एक समय होते नहीं यह बात पहले बतलायी गयी है। अनेक विभिन्न कर्मों के ज्ञान एक समय हो नहीं सकते, और लोग समझते भी इसी प्रकार हैं कि "वह जा रहा है", परस्पर कथन भी यही करते हैं कि वह जा रहा है। ऐसा न कोई समझता और न कोई कहता कि "वह और उसके हाथ पाँव नाक कान आदि जा रहे हैं।" ऐसी परिस्थिति में अंग कर्म और अंगी कर्म को विभिन्न कैसे माना जाय ?

इस प्रश्न को सूक्ष्म दृष्टि से समझना चाहिए, इसका उत्तर मिल भी चुका है, अतः यह प्रश्न निरवकाश है । क्योंकि जब अंग और अंगी एक नहीं हैं तो दोनों के कर्म एक कैसे हो सकते हैं? रही ज्ञान और वाक्य-प्रयोग की बात, सो प्रामाणिक को विभिन्न ज्ञान एक क्षण में न होने पर भी अनेक-विषयक एक ज्ञान होने में बाधा नहीं हो सकती। अतः उक्त स्थल में एक ही कर्म का ज्ञान भ्रान्ति मात्र है। वाक्य-प्रयोग भी भ्रान्ति-ज्ञानमूलक अप्रामाणिक है, अतः उसके द्वारा विचार्य स्थल में अंग और अंगी के कर्मों को एक नहीं माना जा सकता। सब से बड़ी बात यहाँ ध्यान रखने की यह है कि जो तत्त्वतः परस्पर में अनेक हैं वे कभी किसी अन्य के साथ एक नहीं हो सकते। उदाहरण के लिए विस्तृत संसार सामने पड़ा है। किन्हीं भी पाँच वस्तुओं को किसी छठी वस्तु से अभिन्न अर्थात् एक नहीं किया जा सकता। एकत्र करने पर संख्या छः ही होगी एक नहीं। जब कि अंगों के कर्म परस्पर भिन्न हैं तब उन कर्मों को एक अंगी के कर्म से अभिन्न एक कैसे किया जा सकता है ?

यह भी कहना गलत है कि उस समय विभिन्न कर्मों का प्रत्यक्ष नहीं होता, एक ही कर्म देखा जाता है। सभी कर्म चाहे वे अंगों के हों चाहे अंगी के, साथ देखे अवश्य जाते हैं, परन्तु अंगी के कर्म का भान प्रधान रूप से होता है जो कि एक ही होता है, अतः इस प्रकार का आभास जैसा होता है कि एक ही कर्म देखा जा रहा है। जैसे अनेक लोग जहाँ सामने आते हैं वहाँ आँख का सन्निकर्ष सब के साथ समान होने के कारण प्रत्यक्ष तो एक ही समय सब का होता है किन्तु मुख्यतया उस प्रत्यक्ष का विषय वह होता है जो कि उन देखे जाने वालों में मुख्य पुरुष होता है। लोग आपसी कथन में भी उसी की चर्चा करते "कि उन्हें मैंने देखा", किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि द्रष्टा ने केवल उस मुख्य व्यक्ति को ही देखा था। इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। अतः यह सर्वथा सत्य है कि अंग और अंगी के कर्म एक नहीं हैं।

कर्म अप्रत्यक्ष वस्तु नहीं

अव्यवहित पूर्व विचार में यह निर्णय किया गया है कि किसी भी अवयवी के गमन-स्थल में अवयव और अवयवी दोनों के कर्म प्रत्यक्ष होते हैं। यहाँ कुछ लोगों का कहना यह है कि कर्म अप्रत्यक्ष वस्तु है। उसका प्रत्यक्ष ही नहीं होता। वह नियमतः अनुमेय हुआ करता है। गमन-स्थल में सर्वत्र गन्ता और गन्तव्य देश या वहाँ होनेवाले दैशिक स्थल के बीच होनेवाले संयोग की एक धारा नियमतः हुआ करती है। देखने वाला उन निरन्तरोत्पन्न संयोगों को ही देखता है एवं उन संयोगों से उनके प्रति कारणीभूत कर्मों का अनुमान करता है। कर्म से ही संयोग और विभाग उत्पन्न होते हैं यह बात अनेक बार बतलायी जा चुकी है। फलितार्थ यह है कि प्रत्यक्षदृष्ट संयोगधारा

से कर्मधारा का अनुमान होता है। संयोग से कर्म का अनुमान प्रसिद्ध ही है। जो व्यक्ति सवेरे सूर्य को पूर्व में उगते देखता है और शाम को पश्चिम में डूबते देखता है, बीच में अन्य कार्य में लगे होने के कारण सूर्य को देखता ही नहीं, वह व्यक्ति सवेरे पूर्व दिशा से युक्त सूर्य को शाम को पश्चिम दिशा के साथ संयुक्त देखकर उस पश्चिम दिशा और सूर्य के संयोग के द्वारा यह अनुमान कर लेता है कि सूर्य गमनशील है क्योंकि देशान्तर से अर्थात् पूर्व से अतिरिक्त पश्चिम में वह पाया जा रहा है। कहीं एक जगह देखी गयी वस्तु यदि और जगह देखी जाती है तो उक्त दो देखनों के बीच उस वस्तु में क्रिया अवश्य होती है, यथा—यह अपना शरीर। अपने शरीर को मनुष्य घर और बाहर दो स्थानों में क्रम से देखता है और यह भी जानता है कि घर से चलकर ही बाहर आकर शरीर को बाहर देख रहा हूँ। अत: पूर्व और पश्चिम इन विभिन्न स्थानों में देखा जानेवाला सूर्य भी मध्यकाल में अवश्य गतिशील हुआ है। इसी प्रकार सर्वत्र अग्रिम देश के साथ होने वाले संयोगों को देखकर किसी भी द्रव्य में कर्म का अनुमान ही होता है। कर्म का कहीं प्रत्यक्ष नहीं होता।

परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। कर्म अप्रत्यक्ष वस्तु नहीं, उसका प्रत्यक्ष अवश्य होता है। क्योंकि कोई भी वस्तु धीरे से आगे बढ़े या वेग से, उत्तर संयोग दोनों ही जगह समान होते हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि कर्म का प्रत्यक्ष न माना जाय तो धीरे से जाना और वेग से जाना इन दोनों में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होना चाहिए। किन्तु ऐसी बात होती नहीं। डाकगाड़ी की गति और यात्रा-गाड़ी की गति इन में होनेवाला अन्तर, पार्थक्य स्पष्ट देखा जाता है। अत: कर्म का प्रत्यक्ष होता है यह मानना ही होगा। यदि यह कहा जाय कि किसी वस्तु के वेगपूर्वक गमन-स्थल में उत्तर देश के साथ संयोग शीघ्र-शीघ्र हुआ करते हैं और धीरे से गमन-स्थल में उत्तर देश संयोग उसकी अपेक्षा देर करके, ठहर-ठहर कर होते हैं; इसीलिए उक्त विलक्षणता प्रतीत होती है। तो यह बात तो सही है किन्तु प्रश्न तो यह उपस्थित है कि विलक्षण प्रत्यक्ष का विषय कौन है ? अर्थात् विलक्षण रूप से देखा कौन जाता है ? संयोग, यह कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उनमें कोई अन्तर नहीं होता। यदि संयोगों में होनेवाली शीघ्रता और अशीघ्रता को विलक्षण रूप होनेवाले प्रत्यक्ष का विषय माना जाय, तो यह भी ठीक नहीं हो सकता। क्योंकि शीघ्रता और अशीघ्रता को न्यून अधिक क्षणों के सम्बन्ध से अतिरिक्त कहा नहीं जा सकता। और वे रूप वाले नहीं कि आँख से देखे जायँ ? अत: विलक्षण रूप से होनेवाले चाक्षुब प्रत्यक्ष का, आँख से देखना-स्वरूप अपरोक्ष ज्ञान का विषय शीघ्रता-अशीघ्रता को भी नहीं कहा जा सकता। अगत्या विलक्षण कर्म को ही, विभिन्न क्रियाओं को ही, देखने का विषय मानना होगा।

विलक्षण क्रियाएँ ही धीरे से और वेग से किसी वस्तु के गमनस्थल में देखी जाती हैं यह मानना अनिवार्य है। अतः यह सर्वथा निराधार है कि कर्म अप्रत्यक्ष है।

यहाँ ध्यान रखने की दूसरी बात यह है कि क्रिया का प्रत्यक्ष माने बिना संयोग से क्रिया का अनुमान भी नहीं किया जा सकता। क्योंकि अनुमान वहाँ ही होता है जहाँ हेतु और साध्य इन दोनों में अव्यभिचरित अर्थात् नियत एक-स्थानता का प्रत्यक्ष हुआ रहता है। विचार्य स्थल को छोड़कर जहाँ जहाँ हेतु अर्थात् ज्ञापक देखा गया हो वहाँ वहाँ साध्य भी देखा गया रहता है। धूम को देखकर उससे अग्नि का अनुमान इसीलिए होता है कि रसोईघर आदि में धूम और अग्नि की एक-स्थानता अर्थात् एक स्थान में रहना देखा हुआ रहता है। तदनुसार यदि संयोग से क्रिया का अनुमान सर्वत्र क्रिया-स्थल में किया जायगा तो संयोग और क्रिया इन दोनों को पहले कहीं एकत्र विद्यमान रूप से देख लेना अनिवार्य होगा। तभी धूम से आग की तरह संयोग से क्रिया का अनुमान माना जा सकेगा। परन्तु जब कि क्रिया का प्रत्यक्ष ही नहीं माना जा रहा है तब संयोग और क्रिया को एकत्र ेखा कैसे जा सकेगा? और दोनों को एकत्र देखे बिना एक से अपर का अर्थात् संयोग से क्रिया का अनुमान हो कैसे सकेगा?

सूर्य गति का जो अनुमान दृष्टान्त रूप से दिखलाया गया है वहाँ भी उस अनुमान में दृष्टान्त दिया गया अपने शरीर का चलन रूप कार्य प्रत्यक्ष ही माना जाता है। तभी तो अन्यत्र स्थित की अन्यत्र स्थिति और क्रिया दोनों अपने शरीर में पाये जाते हैं जिससे अन्यत्र दृष्ट का अन्यत्र देखा जाना उसके गमनपूर्वक ही होता है; यह अव्यभिचरित एकत्र स्थितिरूप अविनाभाव माना जाता है, जिससे हेतुभूत अन्यत्र दृष्ट के अन्यत्र दर्शन को सूर्य में देखकर उसमें गति का या उस दर्शन में गमनपूर्वकता का अर्थात् गमन से हो सकने का अनुमान किया जाता है। अतः यह सर्वथा मान्य है कि कर्म अप्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

अतीन्द्रिय परमाणु आदि का चलन इसलिए थोड़े ही नहीं देखा जाता कि वह कर्म है, किन्तु इसलिए वह अप्रत्यक्ष है कि उस कम्पन के आश्रय परमाणु में महत्व नहीं। क्रिया के प्रत्यक्ष में उसके आश्रय में महत्व का एवं उद्भूत रूप का होना अनिवार्य रूप से अपेक्षित होता है।

कर्मों की एकजातीयता

यों तो प्रत्येक कर्म कुछ न कुछ अपना वैलक्षण्य रखता है। कुछ न कुछ विशेषता कर्मों में अलग अलग अवश्य होती है। इसी के कारण उनके फल भी अलग अलग होते हैं जो कि सब के सामने हैं। फिर भी वे सब, कर्म होने के नाते एक अर्थात् एकजातीय

होते हैं। अवान्तर विशेषताएँ सब में अलग अलग भले ही हों फिर भी वे सब के सब कर्म, क्रिया आदि एक शब्द से कहे जाते हैं। यही कारण है कि प्राच्य पदार्थ-शास्त्रियों ने सारे कर्मों में "कर्मत्व" नाम का एक सामान्य अर्थात् सभी कर्मों में रहनेवाला एक समान धर्म माना है। इसका विशेष परिचय आगे सामान्य वर्णन में दिया जायगा। अतः किसी अन्य कारण-प्रयुक्त यदि किसी कर्म का प्रत्यक्ष न भी होता हो, जैसे परमाणु के कम्पन का, वायु के चलन का, फिर भी कर्मत्वेन अर्थात् कर्म रूप से सारे कर्मों को प्रत्यक्ष माना ही जायगा। अभिप्राय यह कि कोई भी कर्म कर्म होने के नाते अप्रत्यक्ष नहीं प्रत्यक्ष ही कहलाएगा।

कोई कर्म स्वतः उचित या अनुचित नहीं

कर्म में अच्छेपन और बुरेपन का उल्लेख लोग अपने कथनोपकथन में प्रायः प्रचुर मात्रा में किया करते हैं। यह अधिकतर सुनने को मिलता है कि "ऐसा करना अच्छा या बुरा है।" लोक में ही ऐसी चर्चा होती है यह बात नहीं, सारे विधि और निषेध करने वाले वाक्य यही कहते हैं कि "यह करना और यह नहीं करना चाहिए।" करना क्रिया है, कर्म है। जिसके अन्तर्गत उपदेश वाक्य में "नहीं" नहीं जोड़ा जाता वह अच्छा माना जाता है और जिसके लिए उपदेश वाक्य में "नहीं" जोड़ा जाता है वह बुरा माना जाता है। जैसे —"अतिथियों का सत्कार करो" इस उपदेश में सत्कार शब्द के साथ "नहीं" शब्द नहीं जोड़ा गया है। अतः अतिथियों का सत्कार अच्छा कर्म माना जाता है। और—"असत् पुरुषों का सत्कार नहीं करो" इस उपदेश वाक्य में सत्कार शब्द के साथ "नहीं" शब्द जोड़ा जाता है अतः यहाँ सत्कार अच्छा नहीं बुरा माना जाता है। यहाँ उपदेश पद का अर्थ सत्पुरुषों का उपदेश समझना चाहिए। असत् पुरुषों का उपदेश तो उलटा भी हो सकता है। कोई असज्जन यह भी उपदेश दे सकता है कि "अतिथियों का सत्कार नहीं करो" और "आततायी का सत्कार करो।"

प्रकृत में ध्यान देने की बात यह है कि सत्कार चाहे अतिथियों वा सत्पुरुषों का हो या आततायी असत्पुरुषों का, वह सत्कार ही होगा। क्रिया की दृष्टि से वह एक ही अर्थात् समान ही होगा, परन्तु उसे उचित भी बतलाया जाता है और अनुचित भी। एक ही वस्तु एक ही समय उचित भी हो और अनुचित भी यह सम्भव नहीं। क्योंकि उचित होना और अनुचित होना यह परस्पर में विरुद्ध है। अतः यह मानना होगा कि कोई भी कर्म स्वतः उचित या अनुचित नहीं होता। देश-काल-पात्र और अभिप्राय के आधार पर ही उसे उचित या अनुचित माना जाता है। स्वतः वह केवल कर्म है उचित या अनुचित कुछ भी नहीं। ऊपर प्रदर्शित उदाहरण पात्रभेद से औचित्य और अनौ-

चित्य का है। देशभेद से कर्म में औचित्य और अनौचित्य का उदाहरण——जैसे किसी देश की प्रचलित परम्परा के अनुसार अधिक स्नेहसूचनार्थ युवती पर-स्त्री का हाथ चूमना अनुचित नहीं माना जाता, उचित ही माना जाता है। किन्तु वही हाथ का चूमना किसी अन्य देश के लिए जिस देश की प्रथा में वह परम्परागत नहीं है, उचित नहीं अनुचित माना जाता है। कर्म के दृष्टिकोण से वह हाथ का चूमना मात्र है न उचित और न अनुचित।

अभिप्राय भेद से उचित और अनुचित का उदाहरण——जैसे किसी विपत्तिग्रस्त प्राणी को उस विपत्ति से उबारने के अभिप्राय से चेष्टा उचित कहलाती है और उससे अनुचित लाभ उठाने के अभिप्राय से की जाने वाली चेष्टा अनुचित कहलाती है। स्वतः वह चेष्टा न उचित है और न अनुचित। कहने का सारांश यह कि कर्म जड़-रूप भौतिकों का आगन्तुक धर्म होता है एवं स्वतः भी जड़ होता है, अतः स्वतः वह औचित्य और अनौचित्य से परे है। देश, काल एवं पात्र और चेतन के अभिप्राय के आधार पर ही कोई कर्म उचित और अनुचित होता एवं कहलाता है।

कुछ लोगों का इस सम्बन्ध में यह कहना है कि कर्मगत औचित्य और अनौचित्य का मापदण्ड है उससे होनेवाला फल। कर्म कभी निष्फल जानेवाली वस्तु नहीं। वह कभी न कभी परवर्ती काल में अच्छा या बुरा फल अवश्य चखाता है। ऐसी परि-स्थिति में अच्छे या बुरे फल के आधार पर अच्छे या बुरे पश्चाद्भावी फल का जनक होने के कारण स्वतः औचित्य और अनौचित्य के परे होते हुए भी कर्म उचित और अनुचित होता है।

यहाँ यह सन्देह नहीं करना चाहिए कि शारीरिक चेष्टास्वरूप कर्म के लिए तो यह बात कही जा सकती है। क्योंकि उसके अनुसार किसी चेष्टाशील प्राणी को कभी न कभी कुछ अच्छा या बुरा फल भोगना पड़ सकता है। परन्तु ऐसा मानने पर पार्थिव, जलीय आदि अचेष्टात्मक भौतिक कर्मों को अच्छा या बुरा कैसे बनाया जा सकता है। क्योंकि उन्हें तो उस कर्म से कोई फलोपभोग होता नहीं। यतः भौतिक वस्तुओं को भले ही स्वगत क्रिया का फल न हो, किन्तु उपभोग करनेवाले प्राणियों की कमी नहीं। असंख्य जीवाणु, वनस्पतियों एवं घास —— दूर्वा तक को उपभोक्ता कोटि में समझना चाहिए। फिर उपभोक्ताओं की क्या कमी है? बाढ़ आने पर प्राणियों को जो सुख या दुःख उपभोग होता है, उसके आधार पर उस बाढ़ या जलगत क्रिया को अच्छा या बुरा कहा ही जाता है। जब प्रतिकूल हवा के चलने से फसलें नष्ट होती हैं तो उस वायु के बहने को बुरा ही कहा जाता है, और अनुकूलता प्राप्त होने पर उसी बाढ़ या वायु के बहने को अच्छा कहा जाता है। जो कुछ भी हो, कर्म स्वतः

अच्छाई और बुराई से परे है। वह औचित्य और अनौचित्य के प्राकार से बाहर है, यह बात इस पक्ष में भी अक्षुण्ण है। क्योंकि अनुकूलता और प्रतिकूलता ऐसी वस्तु हैं कि सब के लिए किसी भी वस्तु में समान नहीं हो सकतीं।

पाप कर्म और पुण्य कर्म

कर्म एक प्रकार की वस्तु मात्र है, वह स्वतः उचित भी नहीं और अनुचित भी नहीं यह अभी कहा गया है। यहाँ यह शंका उपस्थित हो सकती है कि तब तो पाप कर्म और पुण्य कर्म की कोई व्यवस्था नहीं रह पाती। प्राचीनों ने कर्मों को पाप-पुण्य रूप में बाँटा है। कुछ लोगों ने कर्म का "प्रवृत्ति" से शब्द से उल्लेख कर उसे "शुभा प्रवृत्ति" और "अशुभा प्रवृत्ति" इन दो भागों में बाँटा है। इस प्रकार के विभाजन से पूर्व प्रवृत्ति को, फलतः कर्म को आरम्भ शब्द से पुकारते हुए उसे कायिक, वाचिक और मानसिक इन तीन भागों में बाँटा गया था। अतः शुभा प्रवृत्ति अर्थात् पुण्यकर्म, अशुभा प्रवृत्ति अर्थात् पापकर्म इन दोनों के कायिक, वाचिक और मानसिक भेद होने पर प्रवृत्ति छः प्रकार की हो जाती है। उक्त छः प्रभेदों का दिग्दर्शन कराते हुए प्राचीन दार्शनिकों ने बतलाया है कि हिंसा करना, चोरी करना, परस्त्री गमन करना इत्यादि कायिक अर्थात् शारीरिक अशुभ आरम्भ हैं, अर्थात् पापकर्म हैं। झूठ बोलना, अप्रिय बोलना, चुगली करना, असम्बद्ध बोलना इत्यादि वाचिक अर्थात् वाणी-कृत पापकर्म होते हैं। दूसरों का द्रोह करना, परकीय वस्तु को अवैध प्रकार से पाने की इच्छा करना, पूज्यों में अपूज्यता बुद्धि करना ये सब होते हैं मानसिक पापकर्म। शुभा प्रवृत्ति अर्थात् पुण्य क्रिया का विभाजन करते हुए इस प्रकार बतलाया गया है कि दान देना, किसी की रक्षा करना, किसी अशक्त दुखी प्राणी की सेवा करना इत्यादि होते हैं शारीरिक पुण्य कर्म। सत्य बोलना, हित बोलना, प्रिय वाक्य बोलना तथा अपनी परम्परा अथवा सिद्धान्त के अनुसार पवित्र वाणियों का पाठ करना इत्यादि होते हैं वाचिक पुण्य कर्म। किसी दुखी के ऊपर दया करना, परकीय आकर्षक वस्तु की ओर से अपने मन को अन्य ओर करना, श्रद्धेय पर श्रद्धा करना इत्यादि होते हैं मानसिक पुण्यकर्म। ऐसी परिस्थिति में यह कहना कैसे संगत कहला सकता है कि कर्म स्वतः उचित और अनुचित नहीं होते? पुण्यकर्मों को उचित और पापकर्मों को अनुचित कहा ही जाता है और कहा जाना चाहिए भी, नहीं तो कोई भी व्यवस्था बन नहीं सकती, उच्छृंखलता लोगों से हटायी नहीं जा सकती।

इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि प्राचीनों की उक्ति को सामने रखते हुए जिन पुण्यकर्म और पापकर्मों की चर्चा की गयी है एवं उसके आधार पर शंका की गयी है वे तत्वतः प्रकृत कर्म नहीं हैं, अर्थात् जिस कर्म का विचार हो रहा है उसके अन्तर्गत

नहीं हैं। उदाहरण के लिए हिंसा और अहिंसा इन्हीं को लिया जाय। इन्हें क्रम से पाप-कर्म और पुण्यकर्म कहा गया है। परन्तु हिंसा है "दूसरे को कष्ट पहुँचाने की इच्छा।" यदि हिंसा इच्छा-रूप है तो पदार्थदृष्टया वह गुण हो जाती है, उसे कर्म अर्थात् चलनात्मक क्रिया नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार अहिंसा को भी कर्म पदार्थ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अहिंसा को भी हिंसा-स्वरूप के ठीक विपरीत मानना होगा। यदि अहिंसा पद से उक्त इच्छास्वरूप हिंसा का विरोधी अभाव पदार्थ लिया जाय, फिर भी वह कर्म पदार्थ नहीं हो सकेगा, किन्तु सातवाँ "अभाव" नामक पदार्थ हो जायगा। यदि अहिंसा का अर्थ विरोधी भावान्तर अर्थात् हिंसा न करने का निश्चय, यह अर्थ किया जाय तो भी अहिंसा को ज्ञान गुण ही मानना होगा। क्योंकि निश्चय और संशय ये ज्ञान के ही प्रभेद होते हैं। यदि उक्त इच्छास्वरूप हिंसा की ओर से निवृत्ति को अहिंसा कहा जाय तो प्रवृत्ति और निवृत्ति ये प्रयत्न-गुण के भेद होते हैं। अतः गुण के अन्तर्गत होने से उसे कर्म पदार्थ नहीं कहा जा सकता। अतः मानना होगा कि पुण्य-पाप के बारे में जो कर्म शब्द का व्यवहार किया गया है वह बहुत ढिलाई से किया गया है, अतः उन्हें कर्म पदार्थ समझकर आशंका उठाना ठीक नहीं।

यदि कहा जाय कि उक्त प्रकार की आन्तरिक भावस्वरूप हिंसा-अहिंसा आदि उत्पन्न होने के बाद जो प्राणियों के शरीर में चेष्टा होती है उसे पुण्य-पाप कर्म कहा गया है। वह तो यथार्थ ही कर्म है, अतः प्रश्न करना ठीक ही है। तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि चेष्टा होने के कारण कर्म मानने के नाते उसे पुण्य अथवा पाप कुछ नहीं कहा जा सकता; इसके सम्बन्ध में युक्तियाँ दी जा चुकी हैं। किसी कर्ता से किया जाने वाला उसी खड्ग का वही प्रहार किसी आततायी व्यक्ति के ऊपर किया जाय तो वह धर्म कहलायेगा और वही खड्ग प्रहार किसी निरपराध प्राणी पर किया जाय तो अधर्म कहलायेगा। चेष्टा में कोई अन्तर नहीं है। दोनों स्थानों में हाथ का और उसके साथ खड्ग का उठना और गिरना स्वरूप प्रहार समान ही होता है। चेष्टा अथवा क्रिया के रूप में उन प्रहारों में कोई अन्तर नहीं कहा जा सकता। एक ही वस्तु में स्वतः पुण्य भी हो और पाप भी यह बात बन नहीं सकती। दो विरुद्ध स्वभाव एकदा एकत्र नहीं रहते। फल के आधार पर उसे कभी पाप और कभी पुण्य कहा जा सकता है। अर्थात् आततायी व्यक्ति पर होने वाले उसी खड्गप्रहार से पुण्य रूप अदृष्ट नामक सुखप्रद गुण उत्पन्न होगा, अतः तब वह खड्ग-प्रहार पुण्य कहलायेगा। एवं निरपराध व्यक्ति पर होने वाले उसी खड्गप्रहार से प्रहारकर्त्ता के लिए

में दुःखप्रद पाप नामक अदृष्ट गुण उत्पन्न होगा, अतः वही खड्गप्रहार वहाँ के लिए पाप कहलायेगा। फलतः यह मानना ही पड़ा कि वह खड्ग प्रहार प्रहार की दृष्टि से न तो पुण्य है और न पाप। क्योंकि एक ही वस्तु स्वभावतः पुण्य और पाप स्वरूप कैसे हो सकती है ?

अब एक प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि यदि सुफल के आधार पर कर्म को सत्कर्म मानें और सत्कर्म करने के कारण उससे सुफल होना मानें; इसी प्रकार कुफल के आधार पर कर्म को असत्कर्म मानें और असत्कर्म करने के कारण उससे कुफल होना मानें तो "अन्योन्याश्रय" दोष हो जाता है। पुण्य कर्म और पाप कर्म के ही अन्य नाम हैं सत्कर्म और असत्कर्म। अतः फलतः सुफल के कारण को, अर्थात् पुण्यात्मक अदृष्ट अथवा उससे प्राप्त होने वाले सुख को पुण्य कर्म की अपेक्षा होती है, और पुण्यात्मक अदृष्ट अथवा उससे होने वाले सुख की अपेक्षा पुण्य कर्म को होती है, इसके कारण अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य हो जाता है। इसी प्रकार पापस्वरूप अदृष्ट को या उससे भी उत्पन्न होने वाले दुःख को पाप कर्म की अपेक्षा और उसकी अपेक्षा पापकर्म को होती है। अतः अन्योन्याश्रय अनिवार्य हो जाता है। किन्हीं दो वस्तुओं में परस्पर अपेक्षा हो तो उस का नाम अन्योन्याश्रय दोष है। इसका उत्तर यह समझना चाहिए––

परस्परापेक्षा, जिसे अन्योन्याश्रय या परस्पराश्रय दोष कहा जाता है, तीन प्रकार की होती है––उत्पत्तिगत, स्थितिगत और ज्ञप्तिगत अर्थात् ज्ञानगत। उत्पत्तिगत परस्परापेक्षा तब हो सकती है जब कि किन्हीं दो वस्तुओं की उत्पत्ति में उन्हीं दोनों वस्तुओं की परस्पर अपेक्षा मानी जाय। यथा यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि "कपड़े की उत्पत्ति में तन्तु की अपेक्षा होती है और तन्तु की उत्पत्ति में कपड़े की अपेक्षा होती है," अर्थात् जिस कपड़े की उत्पत्ति जिस तन्तु से होती है उस तन्तु की उत्पत्ति उसी कपड़े से होती है, तो इस प्रकार कहने वाले व्यक्ति का कथन उत्पत्तिगत अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त हो जाता है। क्योंकि यह कभी सम्भव नहीं कि कोई अपने कारण का कारण बन सके। इस व्यक्ति ने तन्तु के कार्य पट से तन्तु रूप कारण की उत्पत्ति मानी है। कार्यकारण भाव सर्वथा नियत होता है। जो जिसके प्रति कारण होता है वह कभी उसका कार्य नहीं हो सकता। स्थितिगत अन्योन्याश्रय दोष तब होता है जब किन्ही दो वस्तुओं को परस्पर में आधारित बतलाया जाता है। यथा यदि कोई वक्ता कहे कि "उस घर में वह घड़ा है और उसी घड़े में वह घर है" तो यह कथन स्थितिगत अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त होता है। क्योंकि कार्यकारण भाव की तरह आधाराधेय भाव भी नियत होता है, अनियत नहीं। यह कभी नहीं हो सकता कि एक ही समय कोई दो वस्तुएँ परस्पर में एक दूसरे के प्रति आधार अर्थात् आश्रय भी

बनें और आधेय अर्थात् आश्रित भी। घर में घड़ा रहता है किन्तु उस घर में रहने वाले घड़े में वही घर नहीं रह सकता। अतः इस वक्ता का यह कथन कि "उस घर में घड़ा है और उस घड़े में वह घर भी है"—स्थितिगत अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त हो जाता है। ज्ञप्तिगत अन्योन्याश्रय दोष वहाँ होता है जहाँ किन्हीं दो वस्तुओं को समझने में उन दो वस्तुओं की पारस्परिक अपेक्षा मानी जाय। जैसे यदि कोई यह कहे कि "अँधेरे में विद्यमान घड़े आदि को देखने के लिए जैसे दीपक आदि के प्रकाश की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार उस दीपक आदि प्रकाशक को देखने के लिए घड़े आदि दृश्य भी प्रकाशक रूप से अपेक्षित होते हैं," अर्थात् घड़े आदि से प्रकाश भी देखा जाता है। तो ऐसा कथन ज्ञप्तिगत अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त होता है। क्योंकि प्रकाश्य-प्रकाशक भाव भी कार्यकारण भाव, आधाराधेय भाव आदि के समान नियत होता है अनियत नहीं। अर्थात् किसी प्रकाशक का प्रकाश्य उस का प्रकाशक नहीं बन सकता। सरल अभिप्राय यह कि जिसके सहारे जिसे देखा जाता है वह उससे कभी नहीं देखा जा सकता। दीपक से घड़े आदि देखे जाते हैं किन्तु घड़े आदि से दीपक नहीं देखा जाता। जहाँ घड़े आदि नहीं होते वहाँ भी दीपक देखा ही जाता है। इन उदाहरणों से अन्योन्याश्रय और उनके विभाजन को ठीक से समझने पर प्रकृत में की गयी अन्योन्याश्रय दोष की शंका बिलकुल नहीं रह जाती। अन्योन्याश्रय की शंका इस प्रकार की गयी है कि सत्कर्म से सुफल होता है और सुफल होने के कारण—वह कारण होने वाला कर्म, सत्कर्म कहलाता है। यहाँ दोनों को परस्पर की अपेक्षा है। किन्तु शंका बिलकुल निराधार है क्योंकि यहाँ न तो परस्पर दोनों से दोनों की उत्पत्ति मानी जा रही है और न दोनों को दोनों में आधारित किया जा रहा है अर्थात् बैठाया जा रहा है, एवं न दोनों से दोनों का ज्ञान अर्थात् परिचय माना जा रहा है। तब उक्त तीन प्रकार के अन्योन्याश्रय में से एक प्रकार भी संगत नहीं माना जा सकता। यहाँ तो एक ओर कर्म से सुफल या कुफल की उत्पत्ति मानी जा रही है और दूसरी ओर सुफल या कुफल देखकर उसके प्रति कारण होने वाले कर्म को सत् या असत् अर्थात् पुण्य या पाप फलतः अच्छा या बुरा समझा जा रहा है। एक ओर से उत्पत्ति हो रही है तो दूसरी ओर से ज्ञप्ति; दोनों ही ओर से उत्पत्ति या ज्ञप्ति नहीं हो रही है। यदि इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष माना जाय तो कार्य को हेतु बनाकर जहाँ जहाँ कारण का अनुमान किया जाता है, सर्वत्र अन्योन्याश्रय दोष हो जायगा। आग से धूम की उत्पत्ति होती है और उसी धूम से उस आग की ज्ञप्ति होती है। अर्थात् उठते हुए धूम को देखकर लोग उस धूम की उत्पादक आग का अनुमान करते हैं। जिस धूम की उत्पत्ति जिस आग

से होती है उसी धूम से वह आग जानी जाती है। अतः मानना होगा कि जहाँ कार्य से कारण का ज्ञान किया जाता है वहाँ अन्योन्याश्रय या अन्य कोई दोष नहीं हो सकता। अतः कर्म से फल और उससे कर्म का अच्छापन या बुरापन समझा जाना किसी प्रकार से दोषग्रस्त नहीं है।

इसी प्रकार सदाचार-असदाचार, आचार-अनाचार आदि स्थलों में समझना चाहिए।

कर्म का स्वाभाविक वैचित्र्य

किये गये विचार से जब यह सिद्ध किया गया है कि कर्म स्वतः कर्म मात्र है, स्वयं सत् या असत् नहीं, स्वयं पाप या पुण्य स्वरूप नहीं। तब कार्यों में विचित्रता कैसे होगी? इस दशा में तब तो सांसारिक वस्तुओं का वैचित्र्य ही उच्छिन्न हो जायगा। इस प्रश्न का यह उत्तर समझना चाहिए कि यह तो नहीं कहा गया है कि कर्मों में कोई विचित्रता नहीं है। यदि उनमें विचित्रता नहीं होती तो सारे कर्म एक हो जाते, अनेक हो ही नहीं पाते, और तब कार्यों में भी वैचित्र्य न हो पाता। परन्तु बात ऐसी नहीं है। प्रत्येक कर्म अलग होता है, अतः सांसारिक दृश्यों की विभिन्नता होती है। किये गये पूर्व विचार का सारांश यही है कि कर्मों का वैचित्र्य अर्थात् अलग-अलग होना स्वाभाविक है। विभिन्न कार्यों का प्रजनन, अर्थात् अलग-अलग कार्यों को उत्पन्न करना, उनके प्रति कारण होना यही उनके स्वभाव होते हैं। अतः वे परस्पर में भिन्न अर्थात् अलग-अलग होते हैं और अलग-अलग कार्य करते हैं। यह हम स्पष्ट प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं कि आम और अमरूद के आकार में भेद होता है। केले और कटहल के आकार भिन्न होते हैं। इन सभी आकारों में भेद इसलिए होते हैं कि उनके अवयवों के संयोग अलग-अलग होते हैं और संयोग अलग-अलग इसी लिए हो सकते हैं कि उनके उपादान पार्थिव कणों का कम्पन अर्थात् क्रियाएँ समान नहीं होतीं अलग-अलग प्रकार की होती हैं। अन्यथा सभी के उपादान एकजातीय पार्थिव कण होने के कारण स्पष्ट देखा जाने वाला आकारभेद नहीं सिद्ध किया जा सकता। परिमाण का तारतम्य अर्थात् छोटा-बड़ा होना तो कथञ्चित् उनकी उपादान भौतिक रेणुओं की संख्या की न्यूनता और अधिकता से बताया जा सकता है। किन्तु समान परिमाण वाली एवं समान गुरुत्व वाली वस्तुओं के विभिन्न आकार आणविक क्रियाओं की विलक्षणता के बिना नहीं हो सकते।

सदाचार

सदाचार भी एक प्रकार का कर्म ही है। इसका उल्लेख पहले भी किया गया है। किन्तु इसके स्वरूपवर्णन में बहुत लोगों को भ्रम हो जाता है। प्राचीन धर्मशास्त्रियों

ने सदाचार शब्द को पारिभाषिक माना है। उन्होंने सदाचार की परिभाषा यह की है कि जिस देश में जो आचरण अर्थात् अनिन्दित क्रियाकलाप परंपरा से चला आता हो वह उस देश के लिए सदाचार कहा जाता है। किन्तु आधुनिक कुछ लोग सज्जनों के आचार अर्थात् आचरण—चेष्टाओं को सदाचार मानते हैं। कुछ लोग इसके विरोध में कहते हैं कि सत्कर्मों के आचरण करने का नाम है सज्जनता। फलतः सत्कर्म करने पर ही कोई सज्जन कहलाने का अधिकारी होगा। ऐसी परिस्थिति में उस व्यक्ति के प्राथमिक आचरण सदाचार नहीं कहला सकेंगे, क्योंकि उससे पूर्व कोई अच्छा आचरण तो उसने किया न होगा। अतः "सताम् आचारः सदाचारः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार सज्जनों के आचार "सदाचार" कहलाते हैं यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु सत् जो आचार, अर्थात् अनिषिद्ध क्रियाकलाप, वह सदाचार होता है। परन्तु यह भी व्याख्या इसलिए संगत नहीं हो पाती कि पिछले विवेचन में कर्म स्वतः न अच्छा होता है न बुरा, यह बात विशद रूप से बतलायी गयी है। फिर सत् आचार सदाचार है यह कैसे कहा जा सकता है ? दूसरी बात यह कि "चार" शब्द ही क्रिया का वाचक है, उस में ही 'वि', 'अभि', 'व्यभि' आदि जोड़कर अच्छे बुरे तत्तत् कर्मों को कहा जाता है। प्रकृत में भी 'आ' जोड़कर 'आ-चार' शब्द से ही अच्छे कर्म समझे जायेंगे, फिर "सदाचार" शब्द में 'सत्' पद जोड़ना व्यर्थ है। आचार शब्द ही अच्छे कर्मों को समझाता है यह बात आचारवान्, आचारनिष्ठ, आचारहीन, आचारी, आचार्य, आदि शब्दों पर गम्भीर दृष्टि डालने से स्पष्ट प्रतीत होती है। अतः सर्वप्रथम-कथित प्राचीनों की परिभाषा के अनुसार ही अर्थ मानना चाहिए--तत्तत् देश के लिए परंपरागत अविगर्हित अर्थात् अनिन्दनीय कर्म ही सदाचार है।

यदि 'सदाचार' के यौगिक अर्थ से ही किसी को प्रेम हो तो 'सदा+आचार' ऐसी व्याख्या करके 'सदा' अर्थात् परंपरा से होता आने वाला आचार अर्थात् अनिन्दित कर्म ही सदाचार है ऐसा समझना चाहिए। ऐसा अर्थ करने पर प्राचीनों का पारिभाषिक अर्थ प्राप्त हो जायेगा। यदि पुण्य कर्म, पाप कर्मादि के समान सत्-फलक आचार अर्थात् अच्छे फल वाला आचार यह अर्थ किया जाय तो कथञ्चित् यह भी चल सकता है। किन्तु इस पक्ष में आचार शब्द को सामान्यतः क्रिया मात्र का वाचक मान लेना होगा, इतनी त्रुटि रहेगी।

इस अंतिम पक्ष में यदि यह पूछा जाय कि सत्-फलक आचार अर्थात् अच्छे फल वाली क्रिया को सदाचार कहें, तो पहले यह देखना होगा कि अच्छा फल किसे

कहा जाय ? यदि यह कहा जाय कि अच्छा फल सुख है, तो सदाचार का अर्थ होगा सुखप्रद कर्म। तब तो अभिचार, व्यभिचार, चोरी आदि भी सदाचार कहलाने लगेंगे। क्योंकि ऐहिक सुख तो उन कर्मों से मिलते ही हैं। और सुखप्रद कर्म को ही सदाचार कहा जाय तो तप, स्वाध्याय आदि तात्कालिक दुःखद कर्म सदाचार नहीं कहलायेंगे। इसके उत्तर में यह कहना चाहिए कि "सत्फलक" का अर्थ है "सुखचरम-फलक"। इसके अनुसार "सदाचार" का अर्थ यह होता है कि जिन कर्मों के अन्तिम फल सुख हों वे सदाचार होते हैं। व्यभिचार, चोरी आदि में तात्कालिक सुख मिलने पर भी पीछे कष्ट अनिवार्य होता है। व्याधि, राजदण्ड, लोकदण्ड या यमदण्ड का अधिकारी हो जाने के कारण अन्त में कर्ता को क्षणिक पूर्व-अनुभूत सुख से कहीं अधिक कष्ट भी अवश्य मिलते हैं।

जो लोग यमदण्ड नहीं मानते हैं उनके मत में भी लोकदण्ड, लोकभय, लोक-लज्जा, लोकनिन्दा आदि के कुफल बुरे आचरण कहे जाने वाले स्थल में और लोक-प्रशंसा, लोकसम्मान आदि के सुफल अच्छे कहे जाने वाले आचरण स्थल में मिलते ही हैं।

इन विचारों के अनन्तर यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि प्राचीनों की उक्त परिभाषा के आधार पर की जाने वाली "सदाचार" की व्याख्या सब व्याख्याओं में सरस और सरल है।

हिंसा

हिंसा कर्म नहीं है, वह दूसरों को सताने की इच्छा-स्वरूप गुण है यह बात कही जा चुकी है। किंतु साधारणतया जनता किसी प्राणी के प्राण-वियोगार्थ की जाने वाली चेष्टा को ही हिंसा कहती है। फलतः साधारण दृष्टि से वध करने का अपर नाम हिंसा होता है। वास्तविक दृष्टिकोण से "वध" का विचार करने पर यही पर्यवसित होता है कि जिस चेष्टा से अर्थात् जिस शारीरिक क्रिया से किसी प्राणी का प्राण उस प्राणी के शरीर से निकल जाय उस शारीरिक क्रिया का ही नाम है वध और वही है हिंसा। जैसे कोई वधिक जब वध्य के ऊपर तलवार का प्रहार करता है तो उस वध्य का प्राण उसके शरीर से निकल जाता है। अतः वह तलवार आदि अस्त्र का प्रहार प्राण वियोग का साधन बनने से हिंसा अथवा वध कहलाता है। प्राणवियोग को वध या हिंसा इस लिए नहीं कहा जा सकता कि प्राण-वियोग होगा प्राण का त्याग, तब उसका कर्ता तो वध्य ही होगा वधिक नहीं। ऐसी परिस्थिति में वध्य को ही वधिकता होगी। हिंस्य ही हिंसक कहलाने लगेगा। अतः प्राण वियोग को हिंसा न कहकर तदनुकूल व्यापार को हिंसा कहना चाहिए। परन्तु

विचार करने पर इस व्यापार को भी हिंसा कहना कठिन है। क्योंकि तलवार बनाने वाला या कुआँ खोदने वाला कभी हिंसक नहीं कहलाता। यदि हिंसा की व्याख्या यही रही कि किसी के प्राणवियोग में अनुकूल होने वाली क्रिया हिंसा है, तो खड्ग का निर्माण भी मारण के अनुकूल पड़ता ही है। उस निर्मित खड्ग से प्राणियों का प्राण-वियोजन किया जाता है, कुआँ खोदने से उसमें गिरकर अनेक प्राणियों का मरण होता ही है।

इस पर यदि यह कहा जाय कि जो व्यापार साक्षात् अर्थात् अव्यवहित भाव से मारण का सम्पादक हो उसे हिंसा कहेंगे। ऐसा कहने पर खड्ग का निर्माता या कुआँ खोदने वाला हिंसक नहीं कहलायेगा, क्योंकि तलवार बनाना या कुआँ खोदना किसी के मरण के प्रति अव्यवहित भाव से कारण नहीं बनता। जब-कभी प्रहार होने पर या कुएँ में गिरने पर कोई मरता है, नहीं भी मरता है। परन्तु ऐसा कहने पर जहाँ तलवार के प्रहार से तुरन्त तो वध्य नहीं मरा; किन्तु उससे प्राप्त असाध्य घाव द्वारा कुछ रोज़ में मरा, वहाँ वह खड्ग का प्रहार हिंसा नहीं कहला सकेगा। क्योंकि अभी पूर्वोक्त निर्वचन में यह कहा गया है कि जिस व्यापार अथवा क्रिया के अव्यवहित उत्तर वध्य का मरण होगा वही हिंसा कहलाती है। जहाँ प्रहार-प्रयुक्त असाध्य घाव से आहत व्यक्ति देर में मरता है वहाँ प्रहार के अव्यवहित उत्तर तो वह मरा नहीं। इस निर्वचन में एक दोष यह भी होगा कि किसी व्यक्ति गले में कवल अटक गया, नीचे नहीं जा सका, जिससे वह मर गया। ऐसी परिस्थिति में वह मरने वाला भी अपना हिंसक कहलाने लगेगा। क्योंकि खाते समय ग्रास निगलने के पहले ही वह मर गया। जहाँ भ्रमवश कोई स्वयं विषाक्त खाद्य खाने से मर जाता है उसे आत्म-हिंसक नहीं कहा जाता। किन्तु जो निर्वचन अभी हिंसा का किया गया है उसके अनुसार इस विषभक्षण को हिंसा मानना होगा और उसका कर्ता होने से मरने वाला हिंसक कहलाने लगेगा। यदि यह कहा जाय कि मारण के उद्देश्य से अर्थात् मारने की इच्छा रखते हुए किया जाने वाला मरणानुकूल व्यापार अर्थात् मरणसम्पादक कर्म हिंसा है, तो ऐसा कहने पर खड्ग निर्माण, कूप निर्माण, गले में अटकने वाले अन्नभक्षण या भ्रम से कृत विषाक्त भोजन आदि में हिंसारूपता की आपत्ति नहीं होगी। क्योंकि कहीं भी कर्ता का अभिप्राय यह नहीं है कि मेरे इस व्यापार से कोई मरे। जहाँ अभिप्राय यह रहेगा कि इससे कोई मरे वहाँ उस व्यापार को हिंसा मानना ही चाहिए। अतः यह हिंसा की व्याख्या हो सकती है। परन्तु यहाँ तक पहुँचने के बाद यह बात अति स्पष्ट हो जाती है कि हिंसा की इस व्याख्या में सारभाग "मारण की इच्छा" ही है। फिर तो

हिंसा का इतना ही निर्वचन उचित हो सकता है कि "मारने की इच्छा हिंसा है।" अतः पहले ही यह कह दिया गया कि हिंसा कर्म नहीं, वह इच्छा होने के कारण गुण है । रही बात लोकव्यवहार की, लोग खड्गप्रहार आदि क्रिया को ही हिंसा क्यों मानते हैं ? इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि इच्छास्वरूप हिंसा आन्तरिक भाव अर्थात् आत्मा का धर्म है । अन्य व्यक्ति के ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि को अन्य व्यक्ति प्रत्यक्षतः देख नहीं सकता, उसे अनुमान ही करना होता है । अनुमान तब होगा जब कि उसकी चेष्टा देखी जायेगी । सुतरां प्रहार आदि चेष्टा को देखकर दूसरा व्यक्ति यह समझता है कि इस व्यक्ति में हिंसा उदित हुई है, यह हिंसक है इत्यादि । अतः लोग उस प्रहार आदि को ही हिंसा कहते हैं। इसका सरल आशय यह समझना चाहिए कि जब तक प्रहार आदि कोई अनुचित चेष्टा नहीं देखी जाती तब तक देखने वालों के लिए हिंसा सन्दिग्ध रहती है, निर्णीत नहीं होती। जब कि हिंसा का कार्य खड्गप्रहार आदि देख पड़ता है तब उक्त इच्छास्वरूप हिंसा का निश्चय हो जाता है, अतः लोग हिंसा के निश्चायक अर्थात् निश्चय कराने वाले खड्गप्रहार आदि को ही हिंसा कह बैठते हैं ।

चेष्टा

साधारण जनता प्रहार आदि शारीरिक चेष्टा को ही हिंसा कहती है, यह बात अभी पूर्व में कही गयी है। इस पर अनायास यह जिज्ञासा उठ सकती है कि चेष्टा क्या है ? इसके उत्तर में सामान्यतः चेष्टा का निर्वचन यह समझना चाहिए कि कोई भी प्राणी अपने हित की प्राप्ति अथवा अहित की निवृत्ति के लिए जो शरीर का संचालन करता है अथवा शरीर के किसी अंग का संचालन करता है वह शारीरिक संचालन ही चेष्टा है । सारकथा यह हुई कि किसी भी अपेक्षित वस्तु को पाने के लिए या किसी भी अनपेक्षित वस्तु से बचने के लिए जितनी भी शारीरिक क्रियाएँ होती हैं वे चेष्टा कहलाती हैं । उदाहरण के द्वारा इसे इस प्रकार समझ सकते हैं कि पेड़ में आम या अमरूद पका है, अपना उपयोगी समझकर उसे प्राप्त करने के लिए पेड़ पर चढ़ना, हाथ बढ़ाकर उसे तोड़ना, तोड़ने के लिए लकड़ी, ढेले, पत्थर आदि फेंकना इत्यादि सारी क्रियाएँ चेष्टा हैं । इसी प्रकार अन्य किसी भी वस्तु के लाभ-स्थल में समझना चाहिए । रास्ते में कहीं काँटे-शीशे आदि पड़े हैं, उनसे बचने के लिए हटकर बगल से चलना, जूता पहन लेना आदि क्रियाएँ भी चेष्टा हैं । इसी प्रकार सभी अनपेक्षित वस्तुओ को दूर करने के लिए की जाने वाली सारी क्रियाओं को चेष्टा समझना चाहिए । फलितार्थ यह है कि किसी भी अपेक्षित वस्तु के लाभार्थ या अनपेक्षित वस्तु के दूरीकरणार्थ होने वाली शारी-

रिक क्रिया चेष्टा है । परन्तु ध्यान रखने की बात यह है कि यहाँ 'शारीरिक' का अर्थ 'शरीर में ही होने वाली' यह नहीं है, 'किन्तु शरीर के अधीन होने वाली' है। अर्थात् जिन क्रियाओं की उत्पत्ति शरीर के अधीन हो वे 'शारीरिक' होती हैं। 'शारीरिक' की यह व्याख्या न की जाय तो ऊपर प्रदर्शित उदाहरण में तलवार आदि का प्रहार 'शारीरिक' न हो सकने के कारण चेष्टा नहीं कहला सकेगा। क्योंकि वध्य के ऊपर होनेवाला खड्ग का प्रहाररूप पतन कर्म खड्ग में होता है, शरीर में नहीं। वध्य के ऊपर खड्ग ही गिर रहा है। परन्तु वह गिरना वधिक-शरीर के अधीन अवश्य है। वधिक यदि उस तलवार को नहीं चलाता तो वह स्वतः नहीं चलती। सारांश यह कि कहीं तो चेष्टा शरीर में आश्रित होती है अर्थात् शरीर में होती है और कहीं शरीरसंयुक्त किसी भी भौतिक द्रव्य में होती है।

एक बात और ध्यान रखने की है कि यहाँ 'शरीर' का अर्थ पूरा शरीर और उसके अवयव अर्थात् हाथ-पाँव आदि अंग-उपांग सभी होते हैं। अतः किसी उपादेय वस्तु की प्राप्ति या किसी त्याज्य वस्तु की अप्राप्ति के लिए होने वाली, शरीर, उसके अंग और उपांग अथवा उनमें से किसी एक के साथ संयुक्त कोई भौतिक, वस्तु इनके अन्दर किसी में भी होने वाली क्रिया चेष्टा कहलाती है।

कर्म का विभाजन

किसी वस्तु को ठीक से समझने के लिए उसका विभाजन आवश्यक है। तदनुसार कर्म पदार्थ को ठीक से समझने के लिए इसका विभाजन अपेक्षित है। प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने इस सम्बन्ध में कहा है कि असंख्य कर्मों को हम (१) उत्क्षेपण, (२) अपक्षेपण, (३) आकुञ्चन, (४) प्रसारण और (५) गमन—पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं। इनमें से प्रत्येक का स्वरूप, परिचय और विवेचन अलग-अलग किया जायगा। परन्तु असंख्य कर्मों को जो प्राच्य पदार्थ-शास्त्रियों ने इन पाँच प्रभेदों में बाँटा है इसकी आधारशिला क्या है—इस विचार की गहराई तक पहुँचने पर मालूम पड़ता है कि क्रिया के इस विभाजन की आधार-शिला है 'दिक्' नामक द्रव्य जिसे 'दिशा' कहते हैं। उत्क्षेपण और अपक्षेपण इन दो प्रभेदों के ऊपर गहराई से दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट जैसा ही मालूम पड़ता है कि ऊपर की ओर होने वाली क्रिया कहलाती है 'उत्क्षेपण' और नीचे की ओर होने वाली क्रिया कहलाती है 'अपक्षेपण', जो आगे विस्तारपूर्वक बतलाया जायगा। परन्तु शंका का अंत इससे नहीं होता। क्योंकि कर्मविभाजन का आधार यदि 'दिक्' को माना जाय तो तत्त्वतः 'दिक्' एक होने के कारण कोई विभाग नहीं बन पाता। यदि पूर्व, पश्चिम आदि औपाधिक अर्थात् काल्पनिक दिक्-प्रभेदों के आधार पर क्रियाओं का

विभाजन किया जाय तो उक्त पाँच प्रभेद नहीं बन पाते। क्योंकि व्यवहार के लिए कल्पित दिशाएँ पाँच नहीं होती। यदि आग्नेय, नैर्ऋत्य, वायव्य और ईशान इन दिक्कोणों को भी मिला लिया जाय तो दिशा दस हो जाती हैं। यदि उनकी गणना न की जाय तो ऊपर और नीचे सहित दिशाओं की संख्या छः होती है पाँच नहीं। यदि ऊपर और नीचे को छोड़ दिया जाय तो दिशा चार रह जाती हैं। उत्क्षेपण और अपक्षेपण की ओर ध्यान देने पर ऊपर तथा नीचे को छोड़ा भी नहीं जा सकता। ऐसी परिस्थिति में उक्त शंका यों ही बनी रह जाती है कि किस दृष्टिकोण से कर्म के पाँच वर्गों का विभाजन किया गया है।

इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि कर्म का विभाजन केवल दिक् द्रव्य को पृष्ठभूमि बनाकर नहीं हुआ है, किन्तु कर्म के कार्य संयोग को आधार बनाकर। इस प्रकार से संयोग का भी एक नया विभाजन बन आता है और उसी विभाजित संयोग के आधार पर कर्म का विभाजन किया गया है यह मालूम पड़ता है। संयोग का यह नया विभाजन इस प्रकार होगा—— प्रथमतः अनियत-दिक्-देश संयोग और नियत दिक्-देश-संयोग——इस प्रकार संयोगों को दो भागों में विभक्त समझना होगा। क्रियाशील द्रव्य किस ओर संयोग प्राप्त करेगा इसका जहाँ निश्चय नहीं हो वहाँ का संयोग अनियत-दिक्-देश संयोग होगा। किसी द्रव्य के कंपन या भ्रमण स्थल में 'उत्क्षेपण' आदि के जैसा संयोग होने के लिए दिशाओं का नियम नहीं रहता। अभिप्राय यह कि उत्क्षेपण-स्थल में जैसे क्रियाशील द्रव्य का संयोग ऊपर की ओर होता है, कंपन-भ्रमण आदि स्थल में उस प्रकार के संयोग के लिए दिशा का नियम नहीं होता। सभी ओर या अनेक ओर क्रियाशील द्रव्य का संयोग होता है। ऐसे संयोग के प्रति कारण होने वाला कर्म है "अनियत दिक्-देश संयोगानुकूल कर्म" और जो संयोग किसी नियत दिशा को ओर होता है उसका कारण होने वाला कर्म नियत दिक्-देश-संयोगानुकूल कर्म है।

इस प्रकार उक्त द्विविध संयोग के आधार पर कर्म के प्रथमतः दो वर्गीकरण समझने चाहिए। फिर नियत-दिक्-देशसंयोग के प्रति अर्थात् किसी एक ही ओर होने वाले क्रियाशील द्रव्यसंयोग के प्रति कारण होने वाले "नियत दिक्-देश संयोगानुकूल कर्म" को पहले तीन भागों में विभक्त समझना चाहिए, यथा——

(१) ऊर्ध्व मात्र दिक्-देश-संयोगानुकूल कर्म,

(२) अधो मात्र दिक्-देश-संयोगानुकूल कर्म.

(३) मध्य मात्र दिक्-देश-संयोगानुकूल कर्म ।

कहने का अभिप्राय यह कि जिस प्रकार दिन-तिथि-पक्ष-मास-ऋतु-अयन-वर्ष आदि रूप में काल विभाजन के होते हुए भी भूत, वर्तमान और भविष्य इस प्रकार का एक स्थूल विभाजन होता है, उसी प्रकार दिक् का भी 'ऊर्ध्व, मध्य और अधः अर्थात् ऊपर, बीच और नीचे' इस प्रकार विभाजन माननीय है। यह लौकिक प्रतीति से भी सिद्ध है। ऐसी परिस्थिति में इस दिक्-विभाजन के आधार पर यह अनायास कहा जा सकता है कि नियत-दिक् कर्म ऊपर की ओर होने वाला कर्म, नीचे की ओर होने वाला कर्म, और बीच में होने वाला कर्म—इस प्रकार उक्त 'नियत दिक्-देश-संयोगानुकूल कर्म' को "ऊर्ध्वदिक्-देश-संयोगानुकूल कर्म", "निम्नदिक्-देश-संयोगानुकूलकर्म" और "मध्यदेश-संयोगानुकूल कर्म" किंवा "अनिम्नोर्ध्वदेश-संयोगानुकूल कर्म" इस प्रकार तीन भागों में विभक्त समझना चाहिए। इसके अनन्तर उक्त अनिम्नोर्ध्व-देश-संयोगानुकूल कर्म को दो भागों में विभक्त समझना चाहिए, यथा—"अनारम्भ क-अवयव-संयोगानुकूल कर्म", अर्थात् जिस कर्म से अवयवों में नवागन्तुक द्रव्यानारम्भक संयोग होता हो वह, और "आरम्भक-संयोगनाश-प्रतिकूल-विभागानुकूल कर्म", अर्थात् जिस कर्म से किसी भी अवयवी के अवयवों में ऐसा विभाग न होता हो कि वह अवयवी नष्ट हो जाय ऐसा कर्म। इस प्रकार साक्षात् और परम्परा से विभक्त कर्मों की संख्या पाँच होती है, यथा—

(१) अनियत-दिशीय संयोगानुकूल कर्म ।
(२) ऊर्ध्व देश-संयोगानुकूल कर्म ।
(३) निम्न देश-संयोगानुकूल कर्म ।
(४) अवयवगत अनारम्भक-संयोग-संपादक कर्म ।
(५) अवयवगत आरम्भक-संयोगाविरोधी-विभाग-संपादक कर्म ।

इन पाँच प्रकार के कर्मों में सभी कर्मों का अन्तर्भाव हो जाता है। अतः प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने उनका उत्क्षेपण आदि पाँच-कर्म रूप में विभाग किया है। इनमें (१) प्रथम है गमन, (२) द्वितीय है उत्क्षेपण, (३) तृतीय है अपक्षेपण, (४) चतुर्थ है आकुञ्चन और (५) पंचम है प्रसारण। इन सब का विशेष विवरण अभी आगे दिया जाने वाला है। उक्त विभाजन के सम्बन्ध में यह प्रबल प्रश्न उठता है कि उत्क्षेपण आदि स्थल में "यह ऊपर जाता है" इस प्रकार प्रतीति एवं वाक्यप्रयोग जब कि प्रामाणिक रूप से हुआ ही करता है, फिर इन चारों को भी 'गमन' ही क्यों न मान लिया जाय ? यदि "कुछ अवान्तर विलक्षणता के आधार पर उत्क्षेपण, अपक्षेपण आदि को गमन से अलग माना जाय, तो भ्रमण

अर्थात् घूमना, रेचन अर्थात् बिखेरना आदि को भी उक्त पाँच से अलग कर्म मानना चाहिए। इस प्रश्न के उत्तर में अनेक व्याख्याकारों ने इतना ही कहकर अपने सिर का भार हलका कर लिया है कि --महर्षि की इच्छा स्वाधीन होने के कारण उन्होंने ऐसा कह डाला। परन्तु विवेचकों के मन में यह उत्तर स्थान पाने के योग्य नहीं है। गंभीर विचार करने से यहाँ जो विभाजन का आधार बतलाया गया है उस पर यह प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि अनियत दिक्-देश-संयोग का उत्पादक कर्म होता है "गमन", उत्क्षेपण आदि क्रिया से अनियत दिक्-देश-संयोग कभी नहीं होता; नियत दिक्-देश-संयोग होता है। उत्क्षेपण से ऊपर की ओर ही संयोग होता है अन्य ओर नहीं। भ्रमण आदि स्थल में दिक् का कोई नियम न होने के कारण वे गमन में अन्त-र्भुक्त हो जायेंगे और उत्क्षेपण आदि स्थल में दिक् का नियम होने के कारण वे गमन नहीं हो सकते अतः अलग माने गये हैं; यह अनायास स्पष्ट हो जाता है।

अथवा, भौतिक कर्म और अभौतिक कर्म इस प्रकार कर्म के पहले दो भाग मानने चाहिए, फिर भौतिक कर्मों को (१) पार्थिव कर्म, (२) जलीय कर्म, (३) तैजस कर्म, (४) वायवीय कर्म इन चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। इसके अनन्तर चारों में से प्रत्येक को (१) उत्क्षेपण, (२) अपक्षेपण, (३) आकु-ञ्चन, (४) प्रसारण और (५) गमन इन पाँच भागों में विभक्त समझना चाहिए। फिर अभौतिक कर्मस्वरूप द्वितीय प्रभेद को एक ही प्रकार का अथवा (१) उत्क्षेपण, (२) अपक्षेपण और (३) गमन इन तीन प्रभेदों में विभक्त समझना चाहिए।

अब यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि प्राच्य पदार्थ-शास्त्रियों ने इस प्रकार विभाजन क्यों नहीं बतलाया। इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि उन लोगों ने यह देखा कि जब उत्क्षेपण, अपक्षेपण और गमन ये तीनों भौतिक तथा अभौतिक दोनों प्रकार के हो सकते हैं और उत्क्षेपण की दृष्टि से उन भौतिक और अभौतिक उत्क्षेपण आदि में कोई ऐसा अन्तर अर्थात् विशेष नहीं देखा जाता है, ऐसी परिस्थिति में कर्मों के भौतिक और अभौतिक आदि रूप से विभाजन के अनन्तर उत्क्षेपण आदि रूप में उनका विभाजन करने की अपेक्षा प्रथमतः कर्मों का उत्क्षेपण आदि रूप में ही पाँच संख्या में विभाजन कर, अनन्तर उत्क्षेपण, अपक्षेपण और गमन इन तीनों को भौतिक और अभौतिक रूप से दो भागों में अथवा पार्थिव, जलीय आदि रूप से पाँच भागो में विभक्त किया जा सकता है। इन लोगों का हार्दिक अभिप्राय यह मालूम पड़ता है कि भौतिक और अभौतिक उत्क्षेपण और अपक्षेपण आदि में जब कोई अन्तर नहीं तो एकजातीयता-प्रयुक्त एक होने वाले उत्क्षेपण

आदि को भौतिक और अभौतिक दोनों विभागों में कैसे रखा जा सकता है? रखने का आग्रह करने पर सांकर्य्य दोष आ जाता है, अर्थात् विभाजन सही नहीं हो पाता। अतः कर्मों का प्रथमतः उत्क्षेपण, अपक्षेपण आदि रूप में ही विभाजन उचित है। परन्तु जो लोग भौतिक उत्क्षेपण और अभौतिक उत्क्षेपण आदि में विलक्षणता मानते हैं, एकजातीयता एवं तत्प्रयुक्त एकता का अनुभव नहीं करते उनके मत में सांकर्य्य दोष नहीं आता, विभाजनगत कोई असंगति नहीं प्रतीत होती, अतः प्रथमतः कर्मों का भौतिक और अभौतिक रूप में विभाजन कर पीछे उत्क्षेपण आदि रूप में विभाजन किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त कर्मों का वर्गीकरण एक और प्रकार से भी हो सकता है। यथा——सभी कर्मों को प्रयत्नाधीन कर्म, और अप्रयत्नाधीन कर्म, फिर इन दोनों में प्रत्येक को भौतिक और अभौतिक रूप में विभक्त मानना चाहिए। इस पर यह कहा जाय कि ईश्वर मानने वालों के मत में अप्रयत्नाधीन कर्म कोई भी नहीं होता। एक तिनके का हिलना भी परमेश्वर की इच्छा और प्रयत्न से ही होता है। तब प्रयत्नाधीन और अप्रयत्नाधीन का अर्थ अनित्य-प्रयत्नाधीन और अनित्य-प्रयत्नानधीन समझकर तदनुरूप विभाजन समझना चाहिए। इसके अनन्तर प्रयत्नाधीन कर्म को चार भागों में विभक्त करना चाहिए ——

(१) उत्क्षेपण, (२) अपक्षेपण, (३) आकुञ्चन और (४) प्रसारण।

इसके अतिरिक्त कर्मों को बाह्य और आन्तरिक इन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, तथा आन्तरिकों को भौतिक और मानसिक इन दो भागों में।

उत्क्षेपण

उत्क्षेपण उस कर्म को कहते हैं जो किसी भी प्राणी के प्रयत्न के अधीन होता है। अर्थात् कोई प्राणी अपने किसी अंग को अथवा अंगलग्न किसी अन्य मूर्त द्रव्य को ऊपर उठाता है या फेंकता है तो उस मूर्त द्रव्य का वह उठना उत्क्षेपण कहलाता है। वस्तुस्थिति के अनुसार उत्क्षेपण के लिए जैसे किसी प्राणी का प्रयत्न अत्यन्त अपेक्षित मालूम पड़ता है, वैसे ही किसी मूर्त द्रव्य के उत्क्षेपण के लिए उसमें गुरुत्व अर्थात् भार और किसी प्रयत्नशील या क्रियाशील द्रव्य के साथ संयोग ये दोनों नितान्त आवश्यक हैं। क्योंकि कोई हलका द्रव्य ऊपर फेंके जाने पर ठीक से नहीं जाता। उसमें संयोग की अपेक्षा इसलिए होती है कि प्राणी के प्रयत्नशील होने पर भी वह द्रव्य जिसे ऊपर फेंकना है यदि उस प्राणी से संयुक्त नहीं होगा तो दूरवर्ती द्रव्य को वह प्राणी कैसे ऊपर फेंक सकेगा? अतः किसी प्राणी के साथ होने वाला संयोग भी द्रव्य के उत्क्षेपण के लिए अत्यन्त अपेक्षित होता है। उदाहरण के द्वारा इसे इस

प्रकार समझना चाहिए, यथा राम नामक व्यक्ति गेंद खेल रहा है। उसे यह इच्छा हुई कि गेंद को मैं ऊपर फेंकूँ। इच्छा से प्रेरित होकर उसने ऐसा प्रयत्न किया कि उसका हाथ गेंद सहित ऊपर को उठा। ऐसी परिस्थिति में हाथ और उसके साथ संयुक्त गेंद में जो उत्पतन होता है अर्थात् हाथ और गेंद ऊपर उठते हैं ये दोनों उत्थान उत्क्षेपण हैं। यद्यपि हाथ और गेंद दोनों साथ ही उठते हैं किन्तु दोनों में अलग अलग उत्क्षेपण होते हैं। क्योंकि हाथ में होने वाले उत्क्षेपण के प्रति हाथ उपादान कारण और प्रयत्नवान् आत्मा के साथ होनेवाला हाथ का संयोग असमवायी कारण है। एवं गेंद में होने वाले उत्क्षेपण के प्रति गेंद उपादान कारण और हाथ के साथ होने वाला गेंद का संयोग असमवायी कारण होता है। कारण के भिन्न होने पर कार्य का भिन्न होना स्वाभाविक है। इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि किसी द्रव्य का ऊपर की ओर जाना, उठना मात्र उत्क्षेपण नहीं है। उसके मूल में प्राणी की इच्छा और तदनुसार प्रयत्न का होना आवश्यक है। यथा यदि कोई व्यक्ति अपक्षेपण की इच्छा से गेंद नीचे गिराता है किन्तु वह नीचे के दृढ़ भूभाग से टकराकर फिर ऊपर की ओर ऊँचा उठता है, तो वह गेंद का उठना ऊर्ध्वगमन कहलायेगा किन्तु उत्क्षेपण नहीं। क्योंकि उत्क्षेपण के लिए तदनुकूल इच्छा और प्रयत्न का होना अनिवार्य है। प्रकृत में उस व्यक्ति ने गेंद को गिराने के लिए ही इच्छा की थी और प्रयत्न किया था, ऊपर उठाने के लिए नहीं। इस पर कहा जा सकता है कि यदि वह व्यक्ति इसी इच्छा से गेंद को नीचे गिराये कि "इस दृढ़ भू भाग से टकराकर गेंद उत्क्षिप्त हो", तब तो उसे उस भूभागाहत गेंद के उत्पतन को उत्क्षेपण मानना अनिवार्य होगा। किंतु इसका उत्तर नकारात्मक नहीं स्वीकारात्मक ही देना होगा। क्योंकि उद्गमन और उत्क्षेपण का भेदक इच्छा और प्रयत्न को छोड़कर और किसी को कहना कठिन है। अर्थात् जहाँ इस इच्छा से गेंद को नीचे गिराया जाय कि "यह ऊपर उठे" वहाँ गेंद के उत्पतन को उत्क्षेपण मानना ही होगा। इस पर यदि यह कहा जाय कि उस व्यक्ति का, जो कि गेंद को ऊपर उठाने की इच्छा से नीचे गिराता है, उत्क्षेपणार्थ इच्छा होने पर भी प्रयत्न तो अपक्षेपणार्थ ही होता है। अर्थात् उसका प्रयत्न तो गिराने के अनुकूल होता है। क्योंकि पुनरुत्पतनहीन पातन और पुनरुत्पतनसहित पातन के अनुकूल होने वाले प्राणि-प्रयत्न में कोई अंतर प्रतीत नहीं होता। इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि दोनों स्थलों के प्रयत्नों में अन्तर अवश्य होता है। यह कहना बिल्कुल भूल है कि दोनों प्रयत्न एक से ही होते हैं। क्योंकि गेंद को गिराते समय गिराने वाले को यदि यही इच्छा रहेगी कि यह केवल गिर जाय, गिरकर नीचे ही रह जाय, तो हाथ

और गेंद में वह अधिक वेग का उत्पादन नहीं करेगा, हाथ को जोर से नहीं चलायेगा। जब कि उसे यह इच्छा होगी कि "यह गेंद नीचे टकराकर ऊपर उठे" तो वह गिराने वाला व्यक्ति अपने हाथ को जोरों से चलायेगा, जिससे गेंद में वेगाधिक्य होने के कारण वह भू भाग से जोर से टकरायेगा और टकराने के अनुसार ही ऊपर उठेगा। सुतरां दोनों परिस्थितियों के प्राणिप्रयत्नों में अन्तर मानना अनिवार्य है। अतः यह आशंका टिकती नहीं कि दोनों जगह के प्रयत्नों में कोई अंतर न होने के कारण भूभाग के आघात से होने वाले उत्पतन को उत्क्षेपण नहीं कहा जा सकता।

इस विस्तृत विचार से अन्य ऐसी ही सारी शंकाएँ मिट जाती हैं। यथा इस प्रकार का प्रश्न वहाँ भी उठ सकता है, जहाँ किसी मशीन के पुर्जे को निम्नाभिमुख करने पर अर्थात् दबाने पर यदि उस पुर्जे से संलग्न दूसरा पुर्जा उद्‌गत होता है तो वह उद्‌गमन अर्थात् ऊपर उठना उत्क्षेपण कहलायेगा या नहीं? एवं कोई वादक जब हारमोनियम के फलकों को इस इच्छा से दबाता है कि उनके आगे के भाग उठें जिससे सुस्वर शब्द उत्पन्न हों, तब वहाँ फलकों के अग्रभागगत उत्थान को उत्क्षेपण कहा जायेगा या नहीं। अभी ऊपर किये गये विचार के अनुसार वे उत्क्षेपण ही होंगे। यदि यह कहा जाय कि उत्क्षेपण के लिए उसके आश्रय में वेग होना आवश्यक है और उन फलकों में वेग प्रतीत नहीं होता अतः उन के अग्रोत्थान को उत्क्षेपण नहीं कहा जा सकता। तो यह कथन इसलिए उचित नहीं होगा कि कर्मों के स्थितिक्षणों को ध्यान में रखते हुए यह मानना होगा कि एक एक फलक का उत्थान भिन्नभिन्न क्षणों में होगा। फलतः वहाँ भी क्रियाभ्यास मानना अनिवार्य होगा। ऐसी परिस्थिति में द्वितीय क्रिया के उत्पाद के लिए वेग का मानना नितान्त आवश्यक होगा। यहाँ यह सन्देह उठाना भी ठीक नहीं कि "क्रियाशील किसी एक अवयवी के साथ संयुक्त अन्य अवयवी में क्रिया होती है; यह बात अनेक स्थानों में पायी जाती है। परन्तु एक अवयवी के किसी एक अवयव में क्रिया होने पर उसी अवयवी के अपर अवयव में क्रिया होती है या नहीं, यह तो अभी अवधारित नहीं है।"

क्रियाशील किसी एक द्रव्य के साथ संयुक्त अपर द्रव्य में क्रिया उत्पन्न होती है; यह तो सर्वथा निश्चित है। हारमोनियम वाले फलकों के आगे और पीछे के दोनों अवयव द्रव्य हैं और दोनों ही संयुक्त हैं। अतः एक के क्रियाशील होने पर दूसरे का क्रियाशील होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

कुछ लोग जिन्हें कर्म रहस्य से पूर्ण परिचय नहीं वे अनायास यह कह सकते हैं कि क्रिया के विवेचन में इच्छा और प्रयत्न को कुछ क्रियाओं के मूल में रखकर नीरस कर्म विचार को और नीरस क्यों बनाया जाता है।

परन्तु ऊपर किये गये विवेचन के बाद--यह सन्देह स्वतः विलीन हो जायगा। क्योंकि इच्छा और प्रयत्नों को बीच में न लाने पर उक्त अनेक स्थलों में यह निर्णय करना अति कठिन हो जाता है कि उसे उत्क्षेपण कहा जाय या अपक्षेपण। इच्छा और प्रयत्न को लेकर अनायास निर्णय हो जाता है, जो कि ऊपर के अनेक उदाहरणों से स्पष्ट है।

अपक्षेपण

जिस क्रिया से किसी क्रियाशील द्रव्य का संयोग नीचे विद्यमान द्रव्य के साथ हो उस क्रिया का नाम अपक्षेपण है। इसे ही कुछ लोग 'अवक्षेपण' भी कहते हैं। हैं। अपक्षेपण के प्रति भी उतने ही कारण होते हैं जितने उत्क्षेपण के प्रति। फिर यह उत्क्षेपण से अलग विलक्षण कर्म क्यों होता है? इस का उत्तर यह समझना चाहिए कि गिराने वाले प्राणी की इच्छा और प्रयत्न की विलक्षणता के कारण उत्क्षेपण से अपक्षेपण अलग, निम्न-दिक्-देश-संयोग स्वरूप फल को उत्पन्न करने वाला होता है। अर्थात् उत्क्षेपण स्थल में जहाँ उत्क्षेपक प्राणी को "ऊपर उठाने या फेंकने की इच्छा" एवं तदनुकूल अन्तःप्रवृत्ति होती है अर्थात् प्रयत्न होता है, वहाँ अपक्षेपण स्थल में पहली इच्छा से विपरीत नीचे गिराने की इच्छा और तदनुरूप प्रयत्न होता है। अतः उत्क्षेपण से अपक्षेपण क्रिया विपरीत अतएव अलग होती है। अपक्षेपण में इच्छा और प्रयत्न की अपेक्षा होने के कारण, वायु आदि के संयोग से होने वाला किसी मूर्त द्रव्य का पतन अर्थात् नीचे गिरना 'अपक्षेपण' कहलाने का अधिकारी नहीं होता। उदाहरण के द्वारा अपक्षेपण को इस प्रकार समझना चाहिए --श्याम किसी मकान की छत या पेड़ पर बैठा है। उसे इच्छा हुई कि "मैं इस ईंट को या फल फूल को गिराऊँ।" अनन्तर उसकी आत्मा में गिराने के अनुकूल प्रयत्न गुण उत्पन्न हुआ और उसने उसे अपने हाथ से नीचे गिरा दिया। यह उस ईंट या फल का गिरना है "अपक्षेपण"। परन्तु उस ईंट या फल फूल को यदि कोई प्राणी बुद्धिपूर्वक नहीं गिराता है, वायु आदि किसी भौतिक धक्के से वह गिरता है तो यह गिरना 'अपक्षेपण' नहीं होगा। वह साधारण पतन मात्र होगा।

उत्क्षेपण और अपक्षेपण को पार्थिव, जलीय, तैजस, वायवीय और मानस इन पाँच भेदों में विभक्त किया जा सकता है। पार्थिव, जलीय और तैजस ये तीन उत्क्षेपण और अपक्षेपण तो अनायास समझे जा सकते हैं। क्योंकि परिच्छिन्न पार्थिव, जलीय और तैजस खण्डों को ऊपर फेंकना और नीचे गिराना सहज है। रही बात वायु और मन की। इस सम्बन्ध में यह देखना चाहिए कि जब

कोई व्यक्ति ऊर्ध्वमुख होकर लेटा हुआ ऊपर की ओर मुख से वायु फेंकता है वहाँ वायु का उत्क्षेपण होता है। इसी प्रकार कोई नीचे की ओर मुख करके जब आग फूँकता है तो वहाँ वायु का अपक्षेपण होता है। इसी प्रकार ऊर्ध्वमुख और अधोमुख पंथ से वायु-क्षेपण स्थल में भी वायवीय उत्क्षेपण और अपक्षेपण समझने चाहिए। मानस उत्क्षेपण और अपक्षेपण इसलिए मानने होंगे कि योगियों द्वारा शारीरिक ऊर्ध्वदेश और अधोदेश में मन को आबद्ध करने पर जो "धारणा" होती है उस में मानस उत्क्षेपण और अपक्षेपण मानना आवश्यक होगा, क्योंकि वहाँ बिना गये मन उस स्थान में आबद्ध नहीं हो सकता, और आबद्ध होता है यह अनुभवसिद्ध है।

दूसरी बात यह है कि जैसे कोई क्रीड़ा-शील लड़का घर में शीशे की गोली आदि को इस कोने से उस कोने फेंकता हुआ खेलता है, तद्वत् जीवात्मा मन को सभी इन्द्रियों के पास फैंकता रहता है जिससे ज्ञान आदि गुण उत्पन्न होते हैं। ऐसी परिस्थिति में जब कहीं नीचे के शारीरिक प्रदेश से ऊपर के अंग के पास मन जाये तो उस में उत्क्षेपण मानना होगा। इसी प्रकार जब वहाँ से नीचे की ओर किसी शारीरिक प्रदेश में मन जायगा तो उस में अपक्षेपण मानना ही होगा !

आकुंचन

आकुञ्चन वह कर्म कहलाता है जिसके होने पर अवयवी द्रव्य के अवयवों में द्रव्यानारम्भक संयोग होते हैं। कोई भी अवयवी द्रव्य अपने अवयवों के संयोग से बना हुआ होता है और वे अवयवी के उत्पादक अवयवगत संयोग अवयवी द्रव्य के नाश से अव्यवहित पूर्व क्षण तक रहते हैं। क्योंकि उन संयोगों के नाश से उनके कार्य अवयवी द्रव्य का नाश होता है। ऐसे संयोगों के रहते हुए जो अवयवों में अवयवी के अनारम्भक आगन्तुक संयोग उत्पन्न होते हैं, उन संयोगों के उत्पादक कर्म आकुञ्चन, कुंचन, संकोच शब्दों से कहे जाते हैं। उदाहरण के द्वारा इसे इस प्रकार समझना चाहिए, यथा कोई कपड़ा फैला हुआ है, उस कपड़े के अवयव सभी तन्तुओं में संयोग विद्यमान हैं। अन्यथा तन्तुओं के अलग हो जाने से कपड़ा रह ही नहीं सकता। उस फैले हुए कपड़े को कसी ने सिमेट कर रख दिया। वहाँ उस कपड़े का सिमटना ही "आकुञ्चन" है, क्योंकि सिमटने पर उस कपड़े की परिस्थिति पर विचार करने पर यही कहना होगा कि कपड़े के अवयवभूत तन्तुओं में ऐसे नये संयोग उत्पन्न हो गये हैं—जो कि उस कपड़े के उत्पाद में हेतु नहीं हैं। अतः इन नवागन्तुक पटानारम्भक तन्तुसंयोगों उत्पादक क्रिया को आकुंचन कहा जा सकता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'आकुंचन' तो रबड़, चमड़े आदि संकोच-विकासशील द्रव्यों में भी हुआ करता है। किन्तु कपड़े आदि के समान इनके अवयवों में आगन्तुक संयोग नहीं देखा जाता। इसका उत्तर यह है—रबड़, चमड़े आदि के अवयवों का संयोग तन्तु आदि के संयोगों से कुछ विलक्षण अवश्य होता है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि रबड़ आदि के अवयवों में संकोचजन्य कोई विलक्षण संयोग नहीं होता। फैलने पर उनके अवयवों में प्रविरल अवयव-संयोग होता हैं और सिकुड़ जाने पर उन्हीं अवयवों में अविरल अवयव-संयोग होता है यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। अन्यथा उनमें संकोच और विस्तार कभी हो नहीं सकता। अवयवों का वह अविरल संयोग अनारंभक भी होता है। उसे रबड़ का अनारम्भक नहीं माना जा सकता। अन्यथा फैलाने के समय विरल संयोग होने के कारण अविरल संयोगस्वरूप सहभावी कारण के अभाव में रबड़ कार्य का अस्तित्व ही नहीं हो सकेगा। आरम्भक संयोग के अभाव में उससे आरब्ध द्रव्य कभी रह नहीं सकता। अतः रबड़ आदि की आकुंचन क्रिया अविरल संयोगों के प्रति कारण होने के कारण आकुञ्चन कहलाने को सर्वथा अधिकारी है। जमने से उत्पन्न होने वाले जिन पार्थिव द्रव्यों के अवयव सुस्निग्ध जलमिश्रित होते हैं, उनमें स्थिति-स्थापक संस्कार होने के कारण ऐसी परिस्थितियाँ प्राप्त होती हैं, अन्य में नहीं। इसीलिए रबड़ आदि के संकोच और विकास स्थल में विलक्षणता प्रतीत होती है। पत्थर भी जमकर ही बनता है। शैत्यमान के कारण उसमें जलकणों का संमिश्रण भी प्रतीत होता है। परन्तु जल सुस्निग्ध नहीं होता, अतः उसमें रबड़ आदि की तरह आकुंचन आदि नहीं होते। रस्सियाँ, धागे आदि भी बटने के अनुपात से धीरे धीरे छोटे होते जाते हैं। उसका कारण अवयवों का अविरल संयोग ही है। उस संयोग के प्रति कारण होने वाली "बटना" स्वरूप क्रिया आकुंचन ही है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

यहाँ एक प्रबल प्रश्न यह होता है कि अवयवों में उत्पन्न होने वाले संयोग के प्रति कारण होने वाला कर्म तो अवयवों में ही रहेगा। क्योंकि किसी एक में होने वाली क्रिया दूसरे में संयोग नहीं उत्पन्न कर सकती। नहीं तो संयोगज संयोग और विभागज विभाग मानने का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता। ऐसी परिस्थिति में आकुंचन क्रिया वस्त्र आदि द्रव्यों के तन्तु आदि अवयवों में ही हुआ करेगी, जो कि लोकव्यवहार से सिद्ध नहीं है। क्योंकि "कपड़ा सिमट गया", "रबड़ सिकुड़ गया" इस प्रकार का वाक्य प्रयोग सभी प्रामाणिक जन करते हैं। ऐसी परिस्थिति में अवयवगत क्रिया से अवयवी में आकुंचन कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि जहाँ अवयवी के सभी अंगों में आकुंचन नहीं होता,

अवयवविशेष में ही होता है, वहाँ तो व्यवहार भी तदनुरूप ही होता है। यथा यदि कोई केवल अपने एक हाथ को सिकोड़ लेता है तो ज्ञान एवं वाक्यप्रयोग भी तदनुरूप "उसका हाथ सिकुड़ गया" ऐसा ही होता है। अतः उस परिस्थिति में तो प्रश्न का कोई स्थान ही नहीं। रही बात जहाँ किसी अंगी के सारे अंगों में आकुंचन होता है वहाँ की। वहाँ यह समझना चाहिए कि सर्वांग में कर्म होने पर पूरा अंगी भी कर्मी होता है अतः सारे अवयवी का आकुंचनशील कहलाना असंगत नहीं होता। परन्तु परिस्थितियों से स्पष्ट है कि आकुञ्चन अवयव में ही हुआ करता है, अतः उसे अवयव-कर्म भली भाँति कहा जा सकता है। उत्क्षेपण और अपक्षेपण की अपेक्षा आकुंचन की यह भी विशेषता भूलने योग्य नहीं है कि यहाँ इच्छा और प्रयत्न के आधार पर मुख्य आकुंचन और गौण आकुंचन यह प्रभेद नहीं किया जा सकता। अर्थात् जैसे प्राणी की इच्छा और प्रयत्न के अनुसार होने वाली ऊर्ध्वगति मुख्य उत्क्षेपण मानी जाती है और प्राणी की इच्छा और प्रयत्न की अपेक्षा न कर वायु आदि की ठोकर से होने वाली किसी वस्तु की ऊर्ध्वगति उत्क्षेपण नहीं होती; गमन मात्र होती है। उसे उत्क्षेपण कहना गौण कथन ही होगा। यह जैसा उत्क्षेपण के संबंध में विचार किया गया है तद्वत् आकुंचन नहीं समझना चाहिए। आकुंचन प्राणि-प्रयत्न के अधीन हो या अनधीन सर्वथा वह समान रूप से होगा। वहाँ गौण मुख्य भाव का प्रश्न नहीं।

यदि यह कहा जाय कि जैसे उत्क्षेपण के लिए इच्छा और प्रयत्न की आवश्यकता बतलायी गयी है, तद्वत् जहाँ कोई व्यक्ति धौंकनी से आग को धौंकता है, वहाँ एक ही व्यक्ति धौंकनी से वायु को खींचता भी है और छोड़ता भी है। खींचने के समय वायु संकुचित होता हुआ प्रतीत होता है और फेंकने के समय वह फैलता हुआ प्रतीत होता है। ऐसी परिस्थिति में धौंकनी के चलन के स्थल में मुख्यता किसको दी जाय; आकुंचन को या प्रसारण को ? यह प्रश्न तब तक हल नहीं हो सकता जब तक धौंकनी चलाने वाले व्यक्ति की इच्छा और प्रयत्न को निर्णायक रूप में बीच में न लाया जाय। "धौंकनी चल रही है" इस प्रतीति या वाक्यप्रयोग के स्थल में चलना मुख्यतया एक ही प्रकार से विषय हो रहा है। अतः यह भी कहना कठिन है कि वायु का आकुंचन और प्रसारण दोनों ही वहाँ मुख्य हैं और एक स्थल में दो की मुख्यता अनुभव के बाहर की बात है। जब कि प्राणी की इच्छा एवं प्रयत्न को निर्णायक मानते हैं तो यह अनायास स्पष्ट हो जाता है कि मुख्यता वहाँ प्रसारणस्वरूप फेंकने को ही है। क्योंकि उस धौंकनी चलाने वाले व्यक्ति के लिए अपेक्षित अग्नि-प्रज्वलन धौंकनी से वायु को आग पर फैलाने से ही होता है अतः प्रसारण की मुख्यता अनायास स्पष्ट

हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में उत्क्षेपण और अपक्षेपण के समान आकुंचन और प्रसारण को भी प्रयत्नाधीन ही क्यों न माना जाय ? और प्रयत्नाधीन संकोच-विकास को साधारण उद्‌गति के समान गमन मात्र ही क्यों न माना जाय ?

इसके उत्तर दो प्रकार से हो सकते हैं—प्रथम सरल उत्तर तो यह है कि उक्त स्थल में धौंकनी में एवं वायु में आकुंचन और प्रसारण दोनों ही होते हैं। दोनों विभिन्न-जातीय क्रियाओं में एकत्व की भ्रान्ति मात्र होती है। गौण मुख्य भाव की कल्पना भी भ्रान्ति मात्र है। अतः आकुंचन और प्रसारण मात्र को प्रयत्नसापेक्ष नहीं कहा जा सकता। सरल अभिप्राय यह कि आकुंचन का हम प्रयत्नसापेक्ष और प्रयत्ननिर-पेक्ष रूप में बटवारा कर सकते हैं, विभाजन कर सकते हैं।

गंभीर चिन्तन के आधार पर द्वितीय उत्तर यह है कि धौंकनी चलने के स्थल में वायु का आकुंचन या प्रसारण नहीं होता। वहाँ तो उस समय एक प्रकार के विलक्षण वायु की उत्पत्ति होती है। आकुंचन और प्रसारण तो पहले से विद्यमान द्रव्य में ही हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि उस उत्पद्यमान वायुरूप अवयवी के अवयव में आकुंचन और प्रसारण होगा, तो यह कहना भी इसलिए कठिन है कि अवयवी के जिन अवयवों में धारण और आकर्षण का जनक एक प्रकार का विलक्षण संयोग होता है, उन्हीं में आकुंचन और प्रसारण हुआ करता है। वायु के अवयवों में उक्त संयोग नहीं होता, अतः वहाँ आकुंचन और प्रसारण भी नहीं हो सकता। फिर भी यदि यह कहा जाय कि तब उत्क्षेपण और अपक्षेपण ही वायु में क्यों माना जाय ? क्योंकि प्रदर्शित ऊपर की ओर फूत्कार या नीचे की ओर फूत्कार से भी उस समय नया ही अवयवी वायु उत्पन्न होगा, पहले से रहेगा नहीं। फिर उसमें उत्क्षेपण या अपक्षेपण कैसे माना जा सकता है ?

इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि उक्त उदाहरण ठीक न होने पर भी अन्य उदाहरण उपस्थित किया जा सकता है जहाँ उत्क्षेपण और अपक्षेपण मानना आवश्यक है। यथा वायुपूर्ण गेंद को जब कि हम ऊपर फेंकते हैं तब उसके भीतर आबद्ध वायु का उत्क्षेपण मानना ही होगा। इसी प्रकार उस गेंद को जब ऊपर से नीचे गिरायेंगे तो अपक्षेपण मानना आवश्यक होगा।

इतने विचार के बाद यह बात अस्पष्ट नहीं रह जाती कि आकुंचन पृथ्वी, जल और तेज इन्हीं द्रव्यों में होता है। इन तीनों द्रव्यों के अंदर भी जो स्वयं सावयव होगा और किसी का अवयव होगा उसी में आकुंचन होगा।

जो लोग अन्त्यावयवी में भी प्रतीति और वाक्यप्रयोग से आकुंचन मानते हैं वे कौटिल्य अर्थात् टेढ़े हो जाने के सम्पादक कर्म को आकुंचन कहते हैं। परन्तु यह

निर्वचन इस लिए उचित प्रतीत नहीं होता कि पानी में फेंके हुए जाल को जब मछुआ अपनी ओर खींचता है तब उसमें आकुंचन होता है, किन्तु कुटिलता नहीं होती, वह सरल रेखा में ही खिचता है।

आकुंचन वायु में मतभेद से होता भी है, किन्तु मन में कभी नहीं होता। क्योंकि निरवयव वस्तु कभी आकुञ्चित नहीं हो सकती।

प्रसारण

आकुञ्चन को समझ लेने के बाद प्रसारण को समझना अति सरल हो जाता है। क्योंकि प्रसारण ठीक आकुंचन का विपरीत हुआ करता है। अर्थात् आकुंचन जहाँ द्रव्यारम्भक संयोग के काल में होने वाले अवयवगत अनारंभक संयोग का उत्पादक होता है, वहाँ यह प्रसारण अवयवों में द्रव्यारम्भक संयोग के रहते हुए ही अनारम्भक संयोग-नाशक विभाग के प्रति कारण होने वाला कर्म होता है। उदाहरण के द्वारा इसे इस प्रकार समझा जा सकता है, यथा कोई वस्त्र एकत्र किया हुआ रखा है। किसी व्यक्ति के द्वारा या वायुवेग से यदि वह फैलता है तो उसके अवयवों में उससे पूर्व के आकुंचन से होने वाला द्रव्य का अनारंभक संयोग अवश्य नष्ट होता है। उस संयोग का नाश तब तक नहीं हो सकता जब तक अवयवों में अर्थात् वस्त्र के भागरूप तन्तुओं में विभाग न उत्पन्न हो। विभाग से पूर्वसंयोग का नाश होता है यह बात गुण-निरूपण में बतलायी जा चुकी है। अनारम्भक अवयव-संयोगों का नाशक विभाग, तब तक नहीं उत्पन्न हो सकता जब तक उन अवयवों में कर्म न हो। वह कर्म ही "प्रसारण" हैं। यहाँ प्रसारण शब्द से प्रसरण को भी समझना चाहिए। प्रसरण और प्रसारण में अन्तर यह है कि जब किसी प्राणी के प्रयत्न के अधीन उक्त प्रकार का कर्म किसी अवयवी के अवयवों में होता है तब वह प्रसारण कहलाता है और जब प्रयत्न के अधीन न होकर किसी क्रियाशील मूर्त मात्र के संयोग से होता है तो प्रसरण कहलाता है। प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने जो 'प्रसरण' शब्द का उल्लेख न कर 'प्रसारण' शब्द का उल्लेख किया है इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे उत्क्षेपण और अपक्षेपण के समान प्रयत्नाधीन संकोच और विस्तार को "आकुंचन" और "प्रसारण" नाम से कहते हैं। प्राणि-प्रयत्न के अनधीन संकोच और विस्तार को वे आकुंचन और प्रसारण न मानते हुए सामान्यतः 'गमन' मात्र मानते हैं। परन्तु उत्क्षेपण और अपक्षेपण के समान इन दोनों के लिए कोई ऐसी विनिगमक युक्ति नहीं पायी जाती है कि इन दोनों के स्थलों में भी गौण-मुख्य भाव की कल्पना की जाय, अर्थात् मुख्य आकुञ्चन और गौण आकुञ्चन एवं मुख्य प्रसारण और गौण प्रसारण इस तरह समझा जाय। यह विचार अव्यव-

हित पूर्व ही आकुंचन के विवेचन में किया गया है, तदनुसार यहाँ भी समझना चाहिए। निरवयव होने के कारण मन में तो प्रसारण नहीं हो सकता। वायु में भी द्रव्य-निरूपण में प्रदर्शित युक्ति के आधार पर प्रसारण सन्दिग्ध ही है। अतः पृथिवी, जल और तेज इन तीन द्रव्यों में प्रसारण होता है। इन तीनों के अन्दर भी पार्थिव, जलीय एवं तैजस परमाणुओं में आकुंचन के समान प्रसारण भी नहीं होता है, क्यों कि प्रसारण भी अवयवगत कर्म है और परमाणुओं के अवयव होते नहीं। आकाश, काल, दिक् और आत्मा, ये चारों द्रव्य निरवयव एवं व्यापक हैं। व्यापक द्रव्य में किसी प्रकार की क्रिया नहीं होती। फलतः जन्य पृथिवी, जन्य जल एवं जन्य तेज इन तीनों में ही "प्रसारण" होता है।

गमन

कर्म विभाजन के अनुसार पाँचवाँ स्थान गमन का होता है। जिस क्रिया से उत्पन्न होने वाले संयोग का कोई दिङनियम न हो वह क्रिया "गमन" कहलाती है। उदाहरण के द्वारा इसे इस प्रकार समझ सकते हैं कि यदि कोई व्यक्ति किसी से यह कहता है कि "श्याम जा रहा है", तो श्रोता श्याम को जाता हुआ मात्र समझता है। वह किस ओर जा रहा है, उसका प्राप्य किधर है यह निर्णय नहीं कर पाता। उत्क्षेपण आदि स्थलों में यह बात नहीं होती। यदि वक्ता यह कहता है कि गेंद का उत्क्षेपण हो रहा है, तो श्रोता दिक् के सम्बन्ध में सन्दिग्ध नहीं रह पाता। उसे सुनने से यह निर्णय हो जाता है कि गेंद ऊपर की ओर अग्रसर हो रहा है। इसी प्रकार अपक्षेपण आदि के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

यद्यपि आकुंचन और प्रसारण भी अनियत रूप से किसी भी ओर हो सकते हैं, फिर भी आकुंचन में आश्रय द्रव्य की ओर मुड़ना और प्रसारण स्थल में आश्रय द्रव्य की ओर न मुड़कर अन्य ओर अवयव का जाना नियत रहता है। यदि कोई वक्ता कहे कि "कछुवे का अंग सिकुड़ रहा है" तो श्रोता यह अनायास समझता है कि कछुवे के अंग उस की ओर आ रहे हैं, सिमट रहे हैं। इसी प्रकार "कछुवे के अंग फैल रहे हैं" ऐसा कहने पर श्रोता समझ जाता है कि उसके अंग उसकी ओर न आकर अन्य ओर जा रहे हैं। अतः आकुंचन और प्रसारण में भी दिक् का नियम होता है।

कुछ लोग गमन को कर्म का पर्याय ही मानते हैं। उनका कहना यह है कि उत्क्षेपण, अपक्षेपण आदि क्रियाओं के अस्तित्व स्थल में भी "गेंद ऊपर जाता है", "गेंद नीचे आता है" इत्यादि रूप से गमन का व्यवहार होता ही है। तब "गमन" को सामान्य रूप से कर्म न मानकर उसका एक प्रभेद मानना संगत प्रतीत नहीं

होता। अतः "गमन" को सामान्यतः कर्मस्वरूप ही मानना चाहिए। परन्तु यह कथन इसलिए संगत नहीं मालूम पड़ता कि उत्क्षेपण और अपक्षेपण स्थल में तो उक्त प्रकार के 'गमन' घटित वाक्य का प्रयोग होता है, परन्तु आकुंचन और प्रसारण स्थल में क्या कोई कभी गमन पद से घटित वाक्य का प्रयोग करता है? किसी द्रव्य के सिकुड़ते और फैलते समय कोई भी क्या यह कहता है कि वह द्रव्य जा रहा है? कभी नहीं कहता। फिर 'गमन' शब्द से सारे कर्मों को कैसे कहा जा सकता है?

यहाँ एक प्रश्न होता है कि तब तो किसी द्रव्य में होने वाला भ्रमण अर्थात् चारों ओर चलना आदि भी गमन के अन्दर संगृहीत नहीं हो सकेगा। क्योंकि "वह चक्र जाता है" इस प्रकार प्रतीति या वाक्य का प्रयोग प्रामाणिक जन करते नहीं। इसका उत्तर यह है कि यह प्रश्न कर्म के विभाजन की प्रदर्शित प्रक्रिया को ठीक से देखने पर उदित ही नहीं हो सकता। केवल वाक्यप्रयोग के आधार पर सब जगह तथ्य तक पहुँचना कठिन है। क्योंकि वाक्यप्रयोग अपनी-अपनी भाषा के नियम उपनियमों से जहाँ जकड़े रहते हैं वहाँ असंख्य प्रयोक्ताओं की असंख्य वासनाओं से उच्छृंखल भी हो जाते हैं। अतः केवल उनसे सर्वत्र तथ्य निर्णय नहीं हो सकता।

संयोग-रूप फलगत वैलक्षण्य के आधार पर जो विभाजन किया गया है उसके आधार पर गमन को उत्क्षेपण आदि से अलग मानना आवश्यक है। यदि लोकव्यवहृत "गमन" शब्द को सामान्यतः समस्त कर्मवाचक माना भी जाय तो यहाँ के "गमन" को पारिभाषिक समझना चाहिए।

प्राच्य पदार्थशास्त्रियों के मत में उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन और प्रसारण ये चारों प्राणी की इच्छा और प्रयत्न की अपेक्षा करते हैं किन्तु गमन इच्छा और प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखता। असंख्य गमन इच्छा-प्रयत्नानपेक्ष ही होते हैं। जो भ्रमण तथा रेचन आदि कर्म प्राणिप्रयत्न की अपेक्षा भी करते हैं वे अनियत दिक्-देश-संयोग के प्रति कारण होने के कारण प्राणिप्रयत्न-निरपेक्ष असंख्य गमनों के सजातीय होते हैं। अतः उन्हें गमन के अन्दर अन्तर्भुक्त मानना उचित ही प्रतीत होता है। निष्क्रमण और प्रवेशन आदि को अलग स्वतंत्र क्रिया मानने में कठिनाई यह है कि एक ही क्रिया को लक्ष्य कर निष्क्रमण और प्रवेशन दोनों का व्यवहार होता है, ऐसी परिस्थिति में उन्हें उत्क्षेपण आदि के समान अलग क्रिया कैसे माना जा सकता है? उदाहरण के द्वारा हम इसे इस प्रकार समझ सकते हैं, यथा कोई व्यक्ति यदि पूर्व की एक कोठरी से पश्चिम की कोठरी में प्रवेश कर रहा है। उस समय पूर्व की कोठरी में बैठा हुआ अन्य व्यक्ति समझता एवं वाक्य प्रयोग करता है कि "वह इस कोठरी से निकल रहा है" और पश्चिम की

कोठरी में बैठा हुआ अन्य व्यक्ति समझता और कहता है कि "वह इस कोठरी में पैठ रहा है।" ऐसी परिस्थिति में निष्क्रमण और प्रवेशन को अलग-अलग दो क्रिया कैसे माना जाय? क्योंकि उस व्यक्ति की जो कि एक कोठरी से दूसरी कोठरी में जा रहा है, वह क्रिया तो एक ही प्रकार की है। अतः निकलना-पैठना आदि रूप में क्रिया का विभाजन नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

पृथिवी में कर्म

कर्म द्रव्य में ही होता है, अन्य पदार्थ में नहीं यह बात प्रथम प्रकरण में बतलायी गयी है। परन्तु द्रव्यों के अन्दर भी एक एक करके देखना होगा कि किस द्रव्य में क्रिया होती है और किस में नहीं। नौ द्रव्यों के अन्दर सर्वप्रथम उल्लेख पृथिवी का है। अतः तत्संबन्धी कर्म का विचार प्रथमतः होना उचित है। यह बात नहीं कि सभी पार्थिव द्रव्य सर्वदा क्रियाशील होते हैं परन्तु क्रियाशील होने की स्वरूप योग्यता पार्थिव परमाणु से लेकर अन्तिम अवयवी पार्थिव द्रव्य तक सब में समान रहती है। पूर्व कथित क्रियोत्पादक कारणों के उल्लेख के अनुसार जिस पार्थिव द्रव्य में क्रिया की उत्पत्ति के कारण जुटते हैं वहाँ क्रिया उत्पन्न होती है। यदि पार्थिव द्रव्य में क्रिया न उत्पन्न होती तो संसार की रूपरेखा कुछ और ही तरह की होती। अति क्षुद्र धूलियों से लेकर अति उच्च तथा अमितायाम दृढतम पर्वतमाला देखने को नहीं मिलती। प्राणियों के मस्तक पर अनन्त आकाश-वितान भले ही तना होता किन्तु पाँव के नीचे वितत वसुन्धरामण्डल न होता। छोटे अणु से लेकर बड़े पार्थिव द्रव्य तक सभी में उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन ये पाँच प्रकार के कर्म उत्पन्न होते रहते हैं। किसी पार्थिव द्रव्य में जब ये क्रियाएँ नहीं होतीं तब भी निष्कम्प पार्थिव कणों से लेकर बड़े से बड़े पार्थिव द्रव्यों के अन्दर उक्त प्रकार की क्रियाओं की उत्पत्ति की स्वरूपयोग्यता रहती है। अर्थात् उक्त प्रकार की क्रियाओं का उत्पादन-सामर्थ्य रहता है। मनुष्य जैसे विकसित बुद्धि वाले प्राणियों की तो बात क्या, क्षुद्र-क्षुद्र कीड़े जैसे अल्पबुद्धि वाले प्राणी भी इन पार्थिव उत्क्षेपण आदि कर्मों से परिचित होते हैं और इनसे लाभ उठाने के लिए सचेष्ट देखे जाते हैं। उदाहरण के द्वारा हम इसे इस प्रकार अनायास समझ सकते हैं, यथा—चींटी एक अति क्षुद्र सर्वपरिचित प्राणी है। वह भी जब भूगर्भ में अपना बिल बनाना चाहती है तो दलबल समेत भू-गर्भ की पार्थिव रेणुओं का उत्क्षेपण करती है। आवास योग्य सुरक्षित स्थान बनाने के लिए छोटे-छोटे पार्थिव कणों को वह नीचे से उखाड़-उखाड़ कर ऊपर फेंकती है। इसी प्रकार जलाशयों के किनारे क्षुद्र अनेक जन्तु अपने सुरक्षित स्थान निर्माण के लिए मिट्टियों को ऊपर उड़ेलते हैं। क्षुद्र-क्षुद्र कीटाणु जब वृक्ष की शाखाओं में अपना आवास

निर्माण करते हैं तो वृक्षशाखा के भीतर से उस शाखा के छोटे छोटे पार्थिव कणों का अपक्षेपण करते हैं। काट-काटकर उन रेणुओं को नीचे गिराते हैं। क्षुद्र-क्षुद्र पत्रकीट पत्रों को चक्राकार से अंकित करते हुए उन पत्रों को आकुंचित करते हैं, उनमें आकुंचन क्रिया का उत्पादन करते हैं। छोटे से छोटे नोनचट, मच्छर आदि प्राणी अपने अति क्षुद्र पार्थिव परों और अंगों को उड़ने के लिए फैलाते हैं, उन परों और अंगों में प्रसारण क्रिया उत्पन्न करते हैं। ऐसा कोई प्राणी नहीं जिसमें चेष्टा न हो, गमन न हो। विशालकाय अति गरिमायुक्त पार्थिव द्रव्यों के उत्क्षेपण और अपक्षेपण के लिए, जो कि अनायास प्राणियों से संपन्न नहीं हो पाता, आज कल वैज्ञानिकों ने विविध प्रकार के यन्त्रों का निर्माण किया है। यह सर्वथा ध्यान में रखने की बात है कि विभिन्न प्रकार की क्रियाओं के संपादक पार्थिव साधनों का ही अपर नाम 'यन्त्र' होता है।

स्थिति-स्थापक संस्कार से पैदा होने वाला कर्म नियमतः पार्थिव द्रव्य में ही हुआ करता है। कुछ लोग स्थिति-स्थापक संस्कार पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चारों भूतों में मानते हैं। किन्तु वह इसलिए संगत प्रतीत नहीं होता कि पार्थिव द्रव्यों से सम्पर्करहित जल आदि तीन द्रव्यों में स्थिति-स्थापक संस्कारसाध्य क्रिया स्वतंत्रतया नहीं देखी जाती। ऐसी परिस्थिति में यह कह देना सरल हो जाता है कि जल आदि तीन द्रव्यों में प्रतीत होने वाली स्थिति-स्थापक-साध्य क्रिया वस्तुतः पार्थिव द्रव्य में ही होती है, किन्तु उस पार्थिव द्रव्य के साथ संयुक्त होने के कारण जल आदि में वह मालूम पड़ती है। यथा——किसी पेड़ की शाखा में या बाँस के अन्तिम भाग में बरफ की डली या जलता हुआ बिजली का लट्टू या वायुपूर्ण गेंद बाँधकर और उस शाखा को या नीचे नवा कर छोड़ने से वह शाखा स्थितिस्थापक संस्कार से होने वाली क्रिया द्वारा पुनः वहाँ ही चली जाती है जहाँ वह पहले थी। यहाँ बरफ की डली, प्रदीप्त लट्टू या गेंद में प्रतीत होने वाली क्रिया स्थितिस्थापक संस्कार-जन्य नहीं किन्तु क्रियाशील शाखा आदि के संयोग एवं वेग से ही उत्पन्न होती है। अतः यह कथन सर्वथा समीचीन है कि "स्थितिस्थापक संस्कार-जन्य क्रिया पार्थिव द्रव्य में ही होती है।"

भूकम्प

कभी-कभी हम लोगों की आवासभूत यह महापृथिवी भी हिल उठती है। यह भूकम्प भी एक प्रकार की पार्थिव क्रिया है। ऐसा क्यों होता है? इसके सम्बन्ध में प्राच्य पदार्थशास्त्रियों का कहना यह है कि यह भूमिकम्प करोड़ों प्राणियों के लिए सुखद और करोड़ों प्राणियों के लिए दुःखद होता है। बहुतों को इससे महान् लाभ होता है और बहुतों को महती क्षति पहुँचती है। लाभ

का कारण यह है कि प्राणियों की लोकयात्रा के लिए अत्यन्त अपेक्षित, भूगर्भ में निहित सोना-चांदी आदि धातुओं की खानें इसी से उद्गत होकर अमित प्राणियों के बहुमुखी सुखों की संपादक होती हैं। उद्गत रासायनिक भौगर्भिक पदार्थों से बहुतों का सर्वतोमुख लाभ होता है। और कभी-कभी विकट वेग से भू-कम्प होने पर असंख्य प्राणियों का संहार हुआ करता है। असंख्य प्राणी इससे दुःखी होते हैं। सुख और दुःख के मूल अदृष्ट शब्द से कहे जाने वाले प्राणियों के पाप और पुण्य से समय-समय पर भूकम्प हुआ करता है। यह बात गुण-निरूपण में अदृष्ट गुण के विवेचन में बतलायी जा चुकी है। तदनुसार प्राणियों के पाप और पुण्य से समय-समय पर भूकंप हुआ करता है। अर्थात् पाप-पुण्यस्वरूप अदृष्ट गुणयुक्त जीवात्मा के साथ होने वाले भूमिगत संयोग से भूमि में कंपनात्मक क्रिया उत्पन्न होती है। सार कथा यह कि सृष्टि और प्रलय के आदि में जैसे अदृष्टवान् आत्मा के साथ संयोग होने पर पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों के परमाणुओं में कंपन होते हैं तद्वत् भूकंप भी भूमि के साथ होने वाले अदृष्टवान् आत्मा के संयोग से ही होता है।

आधुनिक भूगर्भवेत्ताओं का इस संबंध में कथन यह है कि भूगर्भ में असंख्य काल से क्रमशः संचित होने वाले भौगर्भिक ताप से जब भूगर्भ में विद्यमान गंधक आदि रासायनिक खनिज द्रव्य अति संतप्त हो जाते हैं तो अग्निसंपृक्त बारूद के समान वे भड़क उठते हैं। इसी भड़कने वाले रासायनिक द्रव्यगत वेग के अनुपात से भूमि काँप उठती है। यदि वेग अत्यन्त प्रबल होता है तो उक्त रासायनिक द्रव्य की अधिकता और न्यूनता के अनुपात से जगह जगह पर ज्वालामुखी पर्वत फूट पड़ते हैं। अनेक पर्वत आग्नेय बन जाते हैं। कुछ आधुनिकों का कहना यह है कि भूगर्भ में जमने वाले पहाड़ निरन्तर उन्नतिशील रहते हैं। जब तक अदृढ़ावयव निम्नवर्ती भूस्तर से उनकी उद्गति में बाधा नहीं पहुँचती तब तक परिस्थिति ठीक रहती है। किन्तु जब दृढ़तम उपरितन भूस्तर से उद्गमनशील गिरिशृंग को बाधा पहुँचती है और वह फिर ऊपर बढ़ता है तो इस प्रकार दो दृढ़ द्रव्यों के महान् संघर्ष से भूमि काँप उठती है। यह कंपन भूकंप कहलाता है।

कुछ प्राचीन विवेचकों का इस संबंध में कहना यह है कि यह पृथ्वी समुद्र के ऊपर उसी प्रकार से जमी हुई है जैसे मृदु तप्त दूध के ऊपर मोटी मलाई। कभी-कभी भूस्तरों के नीचे विद्यमान जलराशि-भूत समुद्र में रहने वाले अति भयानक पर्वत के जैसे बिपुलकाय जलचरों में परस्पर संघर्ष छिड़ जाता है। वे अमित बलशाली क्रुद्ध जलचर परस्पर को आहत करते हैं, जिससे क्षुब्ध, अति तरंगायित जलराशिभूत समुद्र

पर जमी हुई पृथ्वी जलप्रवाह पर स्थित नौका के समान डोल जाती है। वह उसका डोलना ही भूकंप है।

पौराणिक आख्यायिकाओं के आधार पर भूकंप के संबंध में भारतीय साधारण जनों का विश्वास यह है कि वह अनन्त कूर्म जिसकी कठोरतम एवं सुविशाल पीठ पर यह वसुन्धरा टिकी हुई है, जब करवट बदलता है अर्थात् अंग संचालन करता है तब उस पर आधारित यह पृथ्वी काँप उठती है।

इन मतवादों के सम्बन्ध में आलोचना करने पर प्राच्य पदार्थशास्त्रियों का कथन अच्छा और निर्विरोध जँचता है। क्योंकि प्रदर्शित दो आधुनिक मतवादों में रासायनिक गन्धक आदि पार्थिव द्रव्य किंवा भूगर्भस्थित पर्वतों में होने वाली क्रिया से भूकंप की उत्पत्ति बतलायी गयी है। किन्तु यह रासायनिक द्रव्यों अथवा पर्वतों का कंपन भी तो प्रकृत विवेचनीय भूकंप-रूप कार्य के अन्दर ही शामिल हो जाता है। समुद्री सतह के ऊपर ठोस रूप से विद्यमान सारे पार्थिव पदार्थ भी, जिनमें उक्त गन्धक आदि भौगर्भिक रासायनिक पार्थिव द्रव्य तथा भूगर्भस्थ पर्वत भी शामिल हैं, "भू-कंप" शब्द के अन्दर आने वाले 'भू' शब्द के ही वाच्य अर्थ हो जाते हैं। अतः उनका कंपन, जिसे भूकंप कहते हैं उसके ही अन्तर्गत हो जाता है। उसे भूकम्प का कारण कैसे कहा जा सकता है? कार्य और कारण दोनों एक नहीं हो सकते। अन्यथा उन दोनों में कार्यकारण भाव संबंध ही नहीं माना जा सकेगा।

जो परवर्ती प्राच्य पदार्थशास्त्रियों के अनुयायी उक्त पाश्चात्य वैज्ञानिक मतवाद से प्रभावित होकर "अदृष्ट" शब्द का अर्थ केवल पाप-पुण्य न कर "नहीं देखी जाने वाली वस्तु" मात्र करते हैं, उनके मत में भौगर्भिक रासायनिक गन्धक आदि या पर्वतों की गति भी अदृश्य होने के कारण "अदृष्ट" कहलाने की अधिकारी हो जाती है। अतः अदृष्ट से भूकंप होता है यह कथन पाश्चात्य वैज्ञानिक मतवाद से सर्वथा सामंजस्य प्राप्त करता है।

यद्यपि सामान्यतः "अदृष्ट" शब्द की उक्त व्यापक व्याख्या का पक्षपाती यह लेखक भी है। गुण-निरूपण में अदृष्ट गुण की सिद्धि के अवसर पर जो उदाहरण उपस्थित किये गये हैं उससे यह बात स्पष्ट है। परन्तु यहाँ भूकंप के प्रति कारण रूप से प्राच्य पदार्थशास्त्रियों द्वारा उपन्यस्त "अदृष्ट" शब्द की ऐसी व्याख्या से असहमति का एक कारण अभी ऊपर बतलाया गया है। इस मतवाद में जिसे भूकम्प का कारण बनाया जाता है वह भी तत्त्वतः कार्य कोटि में आ जाता है। केवल पैरों के नीचे विद्यमान महापार्थिव अन्तिम स्तर ही तो 'भू' नहीं है, केवल उसी का कंपन

तो भूकम्प या भूमिकम्प नहीं। अतः उक्त कार्यकारण भाव का प्रदर्शन अवान्तर कार्यकारण भाव मात्र का प्रदर्शन होकर रह जाता है।

असहमति का दूसरा प्रधान कारण यह है कि पिछले विवरण में यह स्पष्ट एवं सयुक्तिक सिद्ध किया गया है कि कर्म कर्म के प्रति कारण नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में उक्त रासायनिक एवं पार्थिव भौगर्भिक वस्तुओं या पर्वतों की क्रिया को भूकम्पस्वरूप क्रिया के प्रति कारण कैसे मानी जा सकती है।

असहमति का तीसरा कारण यह है कि प्राच्य पदार्थ-शास्त्रियों ने जो "अदृष्ट" को भूमिकंप का कारण बतलाया है, वहाँ "अदृष्ट" शब्द से अदृष्टवान् आत्मा का संयोग विवक्षित है। अन्यथा कार्य और कारण का समानाधिकरण जो कि कार्यकारण भाव की सुस्थता के लिए अत्यन्त अपेक्षित है, नहीं बन पाता, यह बात पहले प्रकरण में बतलायी गयी है। अतः प्राच्य पदार्थशास्त्रियों के मत में कोई दोष नहीं होता। सारी प्रकृत जिज्ञासाएँ शान्त हो जाती हैं। किन्तु उक्त आधुनिक मतवाद में भूकम्प के प्रति कारणरूप से स्वीकृत रासायनिक वस्तुगत क्रियाएँ कैसे होती हैं, यह जिज्ञासा शान्त नहीं होती। यदि यह कहा जाय कि वे यों ही आकस्मिक हो जाती हैं, तो फिर भू-कंप के प्रति कारण खोजने की क्या जरूरत? वहाँ भी यही उत्तर दिया जा सकता है कि भूकंप यों ही आकस्मिक हो जाता है।

सृष्टि और प्रलय के आदि में होने वाली आणविक क्रियाएँ जब 'अदृष्टवान्' आत्मा के संयोग से होती ही हैं तब भूकंप के प्रति भी उसे ही कारण मान लेना उचित प्रतीत होता है। पाप और पुण्य स्वरूप अदृष्ट के अस्तित्व के बारे में संदेह नहीं किया जा सकता। उसकी युक्तिपूर्वक सिद्धि पिछले प्रकरण में अच्छी तरह की जा चुकी है।

भूस्तर-च्युति

आधुनिक भूगर्भवेत्ताओं का कथन है कि यह भूगोल अनवरत संकुचित हो रहा है। जैसे ताजी नारंगी का छिलका सम-पृष्ठ रहता है, परन्तु जब सूर्यकिरण से वह ज्यों-ज्यों सूखता है त्यों-त्यों संकुचितावयव, जगह-जगह उन्नत और अवनत हो जाता है। उसी प्रकार यह पृथवी भी स्वगर्भस्थ ताप से सूखती हुई संकुचित हो रही है। इसका प्रबल प्रमाण यह है कि किसी गहरी नदी के कटते हुए तट को या पार्वत्य शिलाओं को ठीक से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भूगर्भ में अमित स्तरों की सृष्टि हुई है। समान आयतन एवं दीर्घता में कटे हुए पतले कागजों को ऊपर-नीचे के क्रम से रखकर यदि उन्हें दोनों बगल से दबाया जाय तो काग़जों में संकोचन क्रिया के कारण अनेक स्तरों की सृष्टि होती है यह बात प्रत्यक्षतः देखी जाती है। इस पार्थिव

गात्र में भी जब हम प्रत्यक्षतः स्तर देखते हैं तो ऐसा मानना ही पड़ता है कि इसके अवयव संकुचित हो रहे हैं यह संकोचन सर्वदा समान वेग से नहीं होता। जब वेग का आधिक्य होता है तब उसके अनुपात से जगह-जगह पर भूभाग में फटाव उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी प्रबल भूमिकम्प होने पर पृथ्वी जोरों से फटती है और उस फटाव के रास्ते भूगर्भस्थित अमित बालू वेग से उछलकर बाहर निकल आती है। जहाँ से बालू निकल आती है वहाँ भूगर्भ का अंश पोला हो जाता है, अतः उपरितन भूस्तर धीरे से अथवा वेग से नीचे की ओर दबने लगता है। फलतः भूस्तरों का स्थानान्तरण होता है। इसी स्थानान्तरण का नाम है "भूस्तर-च्युति"। "च्युति" शब्द यद्यपि मुख्यतया अधोगमन का वाचक है परन्तु "भूस्तर-च्युति" यहाँ च्युति शब्द का अर्थ स्थानान्तरण समझना चाहिए। अतः एक भूस्तर से अपर भूस्तर की या अस्तर एक भूभाग से अपर अस्तर भूभाग की विभाजक सारी क्रियाएँ "भूस्तर-च्युति" शब्द से संगृहीत होती हैं। भूस्तर की रचना प्रसुप्त दण्डायमान देखी जाती है, ऊर्ध्व दण्डायमान नहीं। परन्तु फटाव ऊर्ध्व-दण्डायमान भी होता है। अतः इस भू-पाटन का उक्त परिभाषा में तब तक संग्रह नहीं हो सकता जब तक "भूस्तर-च्युति" का 'भूभागीय स्थानान्तरण' यह पारिभाषिक अर्थ न कर लिया जाय।

भूगोलीय गति

पूर्वोक्त पार्थिव कर्म के विचार से यह बात तो स्पष्ट हो चुकी है कि पार्थिव परमाणु से लेकर लोकावास महापृथिवी तक में चलनात्मक कर्म होता है। परन्तु फिर भी यह एक नया विवेचनीय विषय रह जाता है कि जैसे नक्षत्रों के अन्दर प्रत्येक नक्षत्र निश्चित गति से अपने मार्ग पर अविश्रान्त भाव से चलता रहता है, उसी प्रकार यह लोकावास महापृथिवी भी निश्चित गति से अपने निश्चित मार्ग पर अविश्रान्त भाव से चलती रहती है अथवा नहीं ?

सूर्योदय और सूर्यास्त को देखते हुए यह बात तो माननी ही होगी कि सूर्य और पृथिवी इन दोनों के अन्दर कोई एक अवश्य नियत मार्ग से नियत गतिशील है। ऐसी परिस्थिति में यह सन्देह होना स्वाभाविक ही है कि उक्तविध गतिशील कौन है, सूर्यमण्डल या भूमण्डल ?

इस सम्बन्ध में छान-बीन करने पर पता चलता है कि प्राचीन भारतीय विद्वानों के अन्दर एक आर्यभट को छोड़कर अन्य सभी लोगों ने यही माना है कि पृथ्वी नहीं चलती है अपितु सूर्यमण्डल ही उक्त नियमित प्रकार से चलता है।

आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक गण पृथिवी में ही उक्त प्रकार गति मानने वाले आर्यभट के मत का ही समादर करते पाये जाते हैं। अर्थात् पाश्चात्य अनुसन्धाताओं का मत यही है कि भूमण्डल ही चलता है सूर्यमण्डल नहीं।

जो प्राच्य भारतीय लोग पृथ्वी की उक्त प्रकार की गति नहीं मानते उन्होंने अपने मत के पुष्टचर्थ यह युक्तियाँ दी हैं--

(१) यदि पृथ्वी में उक्त प्रकार से नियत सार्वदिक गति मानी जाय तो अपने घोंसले से उड़कर अन्यत्र गये हुए पक्षी अपने घोंसले को लौटकर नहीं पा सकेंगे।

(२) पर्वतों के अति उन्नत शृंग गिरकर धराशायी हो जायेंगे।

(३) उन्नत वृक्ष, बाँस एवं वंश-ध्वज आदि खड़े नहीं रह सकेंगे।

पक्षी घोंसले नहीं पायेंगे; इसका तात्पर्य यह है कि यदि पक्षी घोंसले को छोड़ कर ऊपर की ओर आकाश में गमन करेंगे और लौटकर सीधे नीचे आयेंगे तो ऊपर जाने में जितना समय लगेगा उतने समय में गतिशील पृथ्वी किसी एक ओर आगे खिसक जायेगी, अतः उस पर आधारित वृक्ष एवं घोंसले उस सामने नहीं रहेंगे जिस सामने वह उत्पतित पक्षी बिलकुल सरल गति से ऊपर से नीचे आयेगा। अतः स्थानान्तरित हो जाने के कारण वह उस स्थान में घोंसले को नहीं पा सकेगा। और यदि पक्षी ऊपर न जाकर पृथिवी की गति यदभिमुख रहेगी तदभिमुख ही दूर जायेगा और कहीं जाकर आकाश में ही विचरण करता रहेगा तो घोंसला पाने के लिए उसे फिर लौटने का कोई प्रयोजन नहीं होगा। क्योंकि पृथिवी जब स्वयं तदभिमुख चलेगी तो उस पर आधारित वृक्ष एवं उसमें विद्यमान घोंसले भी स्वयं वहाँ उपस्थित हो जायेंगे। वहाँ ही रहता हुआ वह पक्षी अपना घोंसला पा जायेगा। किन्तु परिस्थिति ऐसी नहीं देखी जाती। यदि पक्षी विपरीत दिशाभिमुख गमन करेगा अर्थात् जिस ओर पृथिवी की गति होगी उससे विपरीत दिशा को जायेगा, यथा पृथ्वी यदि पूर्व की ओर जाती है और पक्षी घोंसले को छोड़कर पश्चिम की ओर चला जाता है तो वह लौटकर इसलिए अपना घोंसला नहीं पायेगा कि वह जहाँ जायेगा वहाँ से जितनी दूरी उसके उड़ने के समय उस घोंसले की थी, लौटते समय वहाँ से उस घोंसले की दूरी बढ़ जायेगी। क्योंकि पृथिवी उस स्थान से जहाँ वह पहले थी तब तक गतिशीलता के कारण पूर्व की ओर आगे बढ़ जायेगी। यदि पक्षी घोंसला छोड़कर अगल या बगल की ओर, यथा दक्षिण या उत्तर की ओर ऋजुरेख गति से जायेगा और फिर ऋजुरेख गति से ही लौटेगा तो घोंसला इसलिए नहीं पा सकेगा कि लौटते समय घोंसला-घटित वृक्ष वाला वह भूभाग ऋजु रेखा में नहीं रहेगा, आगे बढ़ जायेगा। अतः ऋजु-रेख रूप में बगल से उड़कर आनेवाला पक्षी आगे खिसक जाने वाले भूभाग को नहीं पा सकेगा। यदि पक्षी अविपरीत दिगभिमुख गमन करेगा अर्थात् जिस ओर पृथ्वी खिसकती रहेगी उसी ओर उड़कर जायेगा तो कदाचित् अनायास ही उसे वह अपना घोंसला प्राप्त हो जायेगा जहाँ से वह उड़कर आगे गया था। क्योंकि जहाँ वह उड़-

कर जायेगा वहाँ उसका घोंसला और तद्वान् वृक्ष तथा तत्सहित भूभाग स्वयं तदभिमुख गतिशील होने के कारण पहुँच जायेगा। अतः विना लौटे ही उस पक्षी को अपना वह आवासभूत घोंसला मिल जायेगा यह बात ऊपर भी कही जा चुकी है। यदि पक्षी अपने घोंसले को छोड़कर ऊपर की ओर उड़कर अतिदूर चला जायेगा और दूर गति के कारण विलम्ब से नीचे लौटेगा तो वह अपने घोंसले को इसलिए लौटकर नहीं पा सकेगा कि तब तक वह घोंसलाघटित वृक्ष-सहित भूभाग खिसककर बहुत आगे चला जायेगा। पक्षी जहाँ उतरेगा वह भूभाग तो वह होगा नहीं जहाँ से वह ऊपर विमुक्त आकाश में उड़ा था।

(२) पर्वतों के अति उन्नत श्रृंग गिरकर धराशायी हो जायेंगे; इस कथन का अभिप्राय यह है कि पर्वत भी भूभाग पर ही आधारित होकर खड़े हैं। किसी आधार पर स्थापित अति उन्नत किसी भौतिक वस्तु को कोई तब तक खड़ा नहीं रख पाता जब तक कि वह उसको एक ओर वेग से खिसका नहीं लेता। उदाहरण के द्वारा इसे हम अनायास इस प्रकार समझ सकते हैं, यथा—एक काठ के पीढ़े पर यदि किसी व्यक्ति को खड़ा करके उस पीढ़े को वेग से किसी एक ओर खींच लिया जाता है तो वह उस पर आरूढ़ व्यक्ति पीढ़े की गति की दिशा से विपरीत दिशा में लड़खड़ा कर धड़ाम से गिरता है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। तद्वत् आधारभूत पृथ्वी के खिसकने पर उस पर आश्रित पर्वत के अति उन्नत श्रृंग विपरीत ओर गिर पड़ेंगे।

(३) उन्नत वृक्ष, बाँस, वंशध्वज आदि खड़े नहीं रह सकेंगे; इसका अर्थ यह है कि आधार के चलने पर आधेय का चलन स्वाभाविक है। गाड़ी, नौका आदि के चलते समय उस पर सवार व्यक्ति या आधारित अन्य भौतिक वस्तु बिल्कुल निष्कंप नहीं पायी जाती है। ऐसी परिस्थिति में भूतल के सदा गतिशील होने पर उस पर आधारित उन्नत वृक्ष, बाँस, वंशध्वज आदि निष्कम्प, सर्वथा गतिहीन कैसे देखे जा सकेंगे। किन्तु कंपक वायु के अभावकाल में ये निश्चल देखे जाते हैं।

यदि यह कहा जाय कि भूगोल अनवरत नीचे की ओर खिसक रहा है, तो प्रतिवादी की ओर से इसके विरोध में कहना यह है कि तब उड़कर भूभाग से अति ऊपर चला जाने वाला पक्षी कभी अपना घोंसला नहीं पा सकेगा। क्योंकि उसके लौटने पर भूमण्डल उससे बहुत नीचे चला गया रहेगा। अतः भूगोल को क्रियाशील मानना कठिन है।

यद्यपि अति गुरु, विशालतम भूगोल की गति मन्द और पक्षी आदि की गति तीव्र मानकर प्राचीन भारतीय विद्वानों के इन कथनों का उत्तर दिया जा सकता है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि कोई भी द्रुत गतिशील किसी मन्द-गतिक को अनायास बार-

बार स्पर्श कर सकता है, अनायास उससे अनेक बार संयुक्त होता ही है। भूगोल के गतियुक्त होने पर वृक्ष आदि सर्वदा गतियुक्त क्यों नहीं देखे जाते हैं, इसका भी यह उत्तर दिया जा सकता है कि जब वृक्ष वायुवश जोर से हिलते रहते हैं तब उनकी जड़ भी अवश्य हिलती रहती है। परन्तु जैसे उनकी जड़ में होने वाली गति सूक्ष्मता-प्रयुक्त देखी नहीं जाती, इसी प्रकार भूगोल के अनवरत गतिशील होने पर भी सूक्ष्मता-प्रयुक्त वृक्ष आदि में सर्वदा गति देखी नहीं जाती। किन्तु होते हैं वृक्ष आदि सदा गतिशील।

भूगोल को सदा गतिशील मानने पर उन्नत वृक्ष, पताका, पर्वतशृंग आदि एक ओर धराशायी क्यों नहीं हो जाते? गिर क्यों नहीं पड़ते? इसका भी यह उत्तर दिया जा सकता है कि विपुल आधार पर दृढ़ रूप से संयुक्त उन्नत वस्तु वेगपूर्वक आधार के एक ओर गतिशील होने पर भी नहीं गिरती, यह भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। नौका कितनी भी तीव्र गति से क्यों न जाती हो परन्तु दृढ़ रूप से उस पर संयुक्त उन्नत पताका गिर नहीं पड़ती। इसी प्रकार भूगोल के चलने पर भी वृक्ष आदि उन्नत पदार्थ नहीं गिरते यह भली भाँति कहा जा सकता है।

तथापि प्राचीन भारतीयों का यह सिद्धान्त कि "भूगोल सदा चलनशील नहीं है" इसलिए अच्छा मालूम पड़ता है कि ऊपर की ओर देखने पर सूर्य की गति प्रत्यक्ष देखी जाती है। इसके विरोध में यह भी कहा जा सकता है—"चलती नौका पर आरूढ़ व्यक्ति जैसे तटवर्ती निश्चल वृक्ष-मकान आदि में गति का विभ्रम करते हैं उसी प्रकार गतिशील भूगोल पर आरूढ़ व्यक्ति सूर्य में गतिविभ्रम करता है।" ऐसा क्यों न माना जाय? यह प्रश्न हो तो इसका उत्तर यह है कि विभ्रम वहाँ माना जाता है जहाँ उसके बाद बाध ज्ञान हो अर्थात् विपरीत निश्चय हो। गतिशील नौका के आरोहणस्थल में नौका को रोककर अनायास बाध निश्चय किया जा सकता है कि तट और तटवर्ती वृक्ष आदि नहीं चलते। अतः वहाँ तट आदि में होने वाले गतिज्ञान को भ्रम कहा जा सकता है। परन्तु सूर्य में गति-बाध-निश्चय होने का कोई उपाय नहीं। आजीवन वह गतिशील दिखाई देता है। ऐसी परिस्थिति में कैसे मान लिया जाय कि सूर्य में गति का भ्रम ही होता है। तत्त्वतः वह चलता नहीं, चलता भूगोल ही है—यह केवल संभावना मात्र से निर्णय कर लेना उचित नहीं।

जल-गति

जल गतिशील है, उसमें क्रिया होती है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। जल यदि क्रियाशील नहीं होता तो सारा भूमण्डल शुष्क नीरस होता। आधुनिक वैज्ञानिकों का इस सम्बन्ध में यहाँ तक कहना है कि यदि हिमालय और समुद्र न होते तो यह भूतल सूर्य के प्रचण्ड

ताप से अति संतप्त होने के कारण असंख्य विकसित प्राणियों का आवास कभी नहीं वन पाता। वायु से वितरित इनके जलकणों से यह भूतल सरस और आर्द्र होता है अतः प्राणी यहाँ पैदा हो पाते हैं और पनप पाते हैं तथा बस पाते हैं। किंतु जलगति के सम्बन्ध में एक बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि जल में उत्क्षेपण, अपक्षेपण और गमन ये तीन प्रकार की ही क्रियाएँ हो सकती हैं, आकुंचन और प्रसारण नहीं हो सकते। तप्त स्थान में गिराया गया जल यद्यपि संकुचित होता सा प्रतीत होता है तथापि वहाँ आकुंचनरूप संकोच जल में नहीं माना जा सकता। क्योंकि आकुंचन क्रिया उसी द्रव्य में मानी जा सकती है जिसमें उसके अनन्तर प्रसारण क्रिया होने की स्वरूप-योग्यता हो। कपड़े, कूर्मांग आदि में आकुंचन के अनंतर प्रसारण भी हो सकता है। उक्त चारों ओर से होने वाले जलशोषण स्थल में उस जलावयवी का उत्पाद और विनाश ही होता रहता है, एक स्थायी अवयवी नहीं रहता अतः उसमें प्रसारण की स्वरूपयोग्यता कैसे रह सकती है? प्रसारण नियमतः आकुंचन पूर्वक ही हुआ करता है। अतः जल में प्रसारण भी नहीं होता। जहाँ जल जमाया जाता है वहाँ उसका आयतन कुछ अवश्य संकुचित मालूम होता है। फिर ताप लगकर पिघलने पर फैलाव प्रतीत होने के कारण प्रसारण मालूम पड़ता है। परन्तु वहाँ नवीन जलावयवी का उत्पाद और विनाश ही होता है अतः वहाँ भी जल में आकुंचन और प्रसारण नहीं माना जा सकता।

उत्क्षेपण और अपक्षेपण भी सभी जलों में नहीं हो सकते। जहाँ तरल जल उछाला और गिराया जाता है वहाँ उत्क्षेपण एवं अपक्षेपण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि तादृश स्थल में जल के अवयवों के संयोग बदलते रहते हैं अतः एक कोई स्थिर जलावयवी ही नहीं रहता जिसमें उत्क्षेपण या अपक्षेपण माना जा सके। यह भी नहीं कहा जा सकता कि वहाँ जल-परमाणुओं में उत्क्षेपण या अपक्षेपण होता है। क्योंकि उत्क्षेपण और अपक्षेपण के मूल में इच्छा और प्रयत्न की नितान्त आवश्यकता है। यह बात गुण-निरूपण में विस्तृत रूप से बतलायी जा चुकी है। प्रकृत स्थल में "मैं जल-परमाणु को उठाऊँ" या "मैं जल-परमाणु को गिराऊँ" इस प्रकार की इच्छा करके जल को कोई नहीं उछालता एवं गिराता। सूर्यकिरण से जल के शोषण स्थल में तथा जल के वर्षण स्थल में भी यही विचार समझना चाहिए। उनके मूल में किसी प्राणी की इच्छा न रहने के कारण एवं किसी प्राणी का प्रयत्न न रहने के कारण वहाँ की ऊर्ध्वाभिमुख एवं अधोमुख होने वाली जलगति को उत्क्षेपण एवं अपक्षेपण नहीं कहा जा सकता। परमेश्वर की इच्छा एवं परमेश्वर के प्रयत्न यद्यपि उनके मूल में होते हैं परन्तु परमेश्वर प्राणी नहीं, अतः उसकी इच्छा एवं प्रयत्न को प्राणी की इच्छा

एवं प्राणी का प्रयत्न नहीं कहा जा सकता ।

तेज की गति

तेज में उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन ये उक्त पाँच प्रकार के कर्म होते हैं। आकुंचन और प्रसारण को यद्यपि जल के समान तेज में भी स्वीकार करना कठिन मालूम पड़ता है, परन्तु सोना भी तेज है यह बात द्रव्य-निरूपण में बतलायी जा चुकी है। उसे पीटकर बनाये गये पत्तर का आकुंचन और प्रसारण प्रत्यक्ष सिद्ध है। अतः सोने में आकुंचन और प्रसारण मानना आवश्यक है। सुतरां तेज में आकुंचन और प्रसारण मानना ही होगा। यदि यह कहा जाय कि सोने में पार्थिव भाग रहता है यह निर्विवाद है, क्योंकि पीलापन पार्थिव वस्तुओं में ही हुआ करता है। ऐसी परिस्थिति में यह कहा जा सकता है कि आकुंचन और प्रसारण ये दोनों उक्त स्थल में पार्थिव भाग में ही माने जायँ उसके अन्दर विद्यमान तेजस्वरूप सुवर्ण में नहीं। तो यह कथन इसलिए उचित नहीं होगा कि सोने को पीटकर बनाये हुए उसके आयत पत्तर में सर्वत्र तेज का मानना आवश्यक है। ऐसी परिस्थिति में अन्तर्वर्ती तेज में प्रसारण नहीं मानेंगे यह कैसे कहा जा सकता है? अतः तेज में आकुंचन और प्रसारण मानना ही होगा। यदि यह कहा जाय कि सुवर्ण में विद्यमान पार्थिव भाग में ही आकुंचन और प्रसारण होते हैं, उसके साथ मिले हुए तेजस्वरूप सुवर्ण में नहीं। तो यह कथन इसलिए उचित नहीं कहा जा सकता कि पीटकर फैलाये गये सोने के पत्तर में सर्वत्र तैजस भाग नहीं है यह कहना कठिन है। ऐसा मानने पर तो काट-काटकर जो उसके अंश का निर्धारित मूल्य में क्रय विक्रय चलता है वह न होता। क्योंकि एक अंश जिसमें तैजस भाग होगा वह बहुमूल्य होगा और जिस अंश में तैजस अंश न होगा वह अल्पमूल्य होगा, समान मूल्य नहीं होगा। किंतु ऐसा नहीं होता। सूर्य, चन्द्र आदि ग्रह एवं उपग्रहों तथा अन्य नक्षत्रों की गति, विद्युद्गति, अग्निगति, किरणगति, आँख की गति आदि गतियाँ सभी तैजस गति के अन्दर ही अन्तर्भुक्त हैं। ये सारी गतियाँ तेज की ही गतियाँ हैं। सूर्य-गति का विचार अभी भूगोलीय गति के विचार के अवसर पर किया जा चुका है। आँख भी गतिशाल है। वह द्रष्टव्य बाह्य विषय तक जाती है यह विचार पहले किया जा चुका है।

वायु की गति

वायु अपनी क्रिया के लिए प्रसिद्ध है। अतः इसकी क्रिया के संबंध में प्रायः अधिक न कहना होगा। प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने वायु की क्रिया को "तिर्यक् गति" कहा है। इससे उनका अभिप्राय यह मालूम होता है कि वे वायु की क्रिया को केवल गमनस्वरूप ही मानना चाहते हैं, उत्क्षेपण, अपक्षेपण आदि स्वरूप नहीं। परन्तु उत्क्षेपण और

अपक्षेपण भी वायु में हो सकता है यह बात पहले ही बतलायी जा चुकी है। इसके संबंध में यह विशेष ध्यान देने की बात है कि प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने जब कि पृथ्वी आदि अन्य भूतों की तरह वायु को भी शरीर-इन्द्रिय आदि में विभक्त किया है तब विषयस्वरूप वायु में भले ही उत्क्षेपण-अपक्षेपण आदि क्रियाएँ सन्दिग्ध हों परन्तु शरीर और इन्द्रिय-स्वरूप वायु में तो उत्क्षेपण और अपक्षेपण मानना ही होगा। क्योंकि शरीर और इन्द्रिय स्वरूप वायु को सुवर्णपिंड के समान अवश्य ही अन्य भूतों से संपृक्त आबद्ध वायु मानना होगा। ऐसी परिस्थिति में उसमें उत्क्षेपण आदि क्रियाएँ माननी चाहिए। फिर प्राच्य पदार्थशास्त्री यह कैसे कह सकते हैं कि वायु में केवल गमन क्रिया होती है, उत्क्षेपण और अपक्षेपण नहीं। अतः उनका अभिप्राय इस संबंध में यह समझना चाहिए कि विषयस्वरूप वायु में गमनात्मक क्रिया ही होती है अन्य नहीं। इस दृष्टि-कोण के आश्रयण करने पर पहले जो यह कहा गया है कि "वायु में आकुंचन और प्रसारण नहीं होता" वह विषयस्वरूप वायु के लिए समझना चाहिए।

फलितार्थ यह है कि यदि शरीर-इन्द्रिय स्वरूप वायु को भी वायु रूप से लिया जाय तो वायु में उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन पाँचों प्रकार की क्रियाएँ माननी होंगी।

प्राण-गति

यद्यपि उपनिषदों में प्राण शब्द से सारी इन्द्रियों का ग्रहण किया गया है किन्तु यहाँ प्राण शब्द से इन्द्रियों को न लेकर आध्यात्मिक वायु को लेना चाहिए। क्योंकि वहाँ भी इन्द्रियों को गौण रूप से प्राण कहा गया है। मुख्य प्राण आध्यात्मिक वायु को ही कहा गया है। "आध्यात्मिक वायु" का अर्थ है जीवित शरीर-गत वायु। इसका अनुभव सभी प्राणी किया करते हैं। अपने श्वास और प्रश्वास का अनुभव कौन नहीं करता? स्थावर हों या जंगम, सभी अन्य प्राणि-शरीरों में "भग्न-क्षत-संरोहण" से इसका अनुमान अनायास किया जा सकता है। "भग्न-क्षत-संरोहण" का अर्थ है कटे हुए शारीरिक स्थान की पूर्ति। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि किसी भी समर्थ प्राणी के शरीर के किसी भी स्थान से यदि थोड़ा मांस काटकर हटा दिया जाय तो कुछ दिन बाद पुनः उस स्थान की पूर्ति हो जाती है। मांस भर आता है, चमड़ा जुट जाता है। इससे समझना होगा कि खाये-पिये गये अन्न-जल आदि की रेणु मांस-शोणित आदि बनाते हुए भीतर से ही आकर उस कटे हुए स्थान को भरती हैं। उन भौतिक, आभ्यन्तर मांस-शोणित आदि का उस क्षति-स्थान में स्वतः आना संभव नहीं। क्योंकि ऐसा होने पर मृत प्राणिशरीर में भी उक्त प्रकार से क्षतिपूर्ति होनी चाहिए, जो कि होती नहीं। अतः अगत्या यह मानना होगा कि उन पूरक मांस-शोणित-रेणुओं को आभ्यन्तर

वायु उस स्थान में पहुँचाता है जिससे उक्त क्षति पूर्ण होती है। आजकल बड़े से बड़े रोगों को हटाने के लिए सूची-भेद (इंजेक्शन) चिकित्सा होती है। सूई के द्वारा दवाई कहीं अन्यत्र ही जाती है परन्तु उससे उपकार रूप उसका फल शरीर के अन्य अपेक्षित स्थान में हुआ करता है। यह बात तब तक कभी नहीं बन सकती जब तक शरीर के अन्दर होने वाली प्राणगति न मानी जाय। अन्यथा मृत शरीर में भी उक्त सूची-भेद चिकित्सा से उक्त प्रकार का फल मिलना चाहिए, जो वस्तुतः होता नहीं। अतः प्राण गति मानना अनिवार्य है।

यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि प्रकृत "प्राण-गति" एक व्यापक शब्द है। अतः प्राण-गति को—(१) प्राण-गति, (२) अपान-गति, (३) समान-गति, (४) उदान-गति, (५) व्यान-गति—इस प्रकार से पाँच भागों में विभक्त समझना चाहिए।

प्राण-गति वह है जो कि मुंह किंवा नाक के रास्ते से शरीर के अन्दर रहने वाले वायु का बाहर निर्गमन होता है, जिसे लोग श्वास कहा करते हैं।

अपान-गति वह है जिसमें मुँह अथवा नाक के रास्ते बाहरी वायु का शरीर में प्रवेशन होता है, जिसे प्रश्वास कहा जाता है। खाये-पिये गये खाद्य एवं पेय उसी के सहारे बाहर से शरीर के भीतर जाते हैं एवं मल-मूत्र तथा शुक्र आदि का शरीर से बाहर निर्गमन इसी अपान वायु की गति के सहारे होता है। कुछ लोगों की धारणा यह है कि गुद-मार्ग से होने वाली वायु-गति ही केवल "अपान-गति" है। किन्तु यह धारणा गलत है। वह भी एक अपान-गति है, किन्तु वही केवल अपान गति है ऐसी बात नहीं है।

समान-गति शरीर के अन्दर होने वाली उस वायुगति को कहते हैं, जो कि जठराग्नि को प्रज्वलित कर खाये एवं पिये गये अन्न-जल को पचाकर शरीरपोषक रस बनाती है। उदान-गति शरीर के अन्दर होने वाली वह वायुगति है जो कि खाये पिये गये अन्न-जल आदि को कभी-कभी धकेल कर कण्ठ तक ले आती है। फलतः डकार, हिक्का आदि ऊर्ध्वाभिमुख वायु की गति भी उदान-गति ही होती है। व्यान-गति शरीर में होने वाली उस वायु गति का नाम है जो कि खाद्यान्न से बने हुए रस, शोणित आदि को तत्तत् नाड़ियों द्वारा समग्र शरीर में उचित विभाजनपूर्वक पहुँचाने में अग्रसर होती है। सारांश यह कि शिराओं का वितनन अर्थात् फैलाव इसी गति के कारण होता है, जिससे उक्त रस-शोणितादि का सभी शरीर-प्रदेश में गमन हो पाता है। फलतः किसी भी अंग का या सारे अंगों का स्पन्दन भी इसी व्यान-गति के कारण होता है।

कुछ लोग प्राणों की गति नहीं मानते, अतः "प्राणगति" शब्द के प्रयोग पर भी वे आपत्ति करते हैं। उनका कहना यह है कि प्राण स्वयं गतिस्वरूप अर्थात् कर्मरूप है। उसकी गति क्या होगी ? गति की गति नहीं होती। इस मतवाद को स्पष्ट रूप से यों समझना चाहिए—बहुत से चञ्चल पक्षियों को जब किसी पिंजड़े में रख दिया जाता है तब उसके अंदर रखे गये सभी पक्षी उस पिंजड़े के अन्दर फड़-फड़ाते हैं। परिणाम यह होता है कि उन पक्षियों के सम्मिलित चलन से वह पिंजड़ा, जिसके अन्दर रखे गये सभी पक्षी अलग-अलग चलनशील रहते हैं, डोलने लगता है, चलनशील हो जाता है। इसी प्रकार देहरूप पिंजड़े के अन्दर विद्यमान इन्द्रियाँ अलग-अलग अपने-अपने प्रयोजन के लिए चलनशील होती हैं। इन्द्रियों के उन सम्मि-लित चलनों से यह देहरूप पिंजड़ा भी चलनशील होता है, अर्थात् चेष्टाशील होता है। अतः इस शरीर को सचेष्ट बनाने वाले इन्द्रियों के सम्मिलित चलन को ही प्राण मानना चाहिए। अतः उक्त चलनात्मक होने के कारण प्राण स्वयं गति-स्वरूप है। गति की गति नहीं होती। सुतरां "प्राण की गति" यह नहीं कहा जा सकता। इस सिद्धान्त के अनुयायियों में भी कुछ आपसी मतभेद है। कुछ लोग तो सारी इन्द्रियों की सम्मिलित क्रिया को प्राण मानते हैं और कुछ लोग मन, अहंकार और बुद्धि इन तीन भेदों में विभक्त अन्तःकरण की सम्मिलित क्रिया को प्राण मानते हैं। अवा-न्तर ऐसा मतभेद होने पर भी इस विषय में सर्वथा दोनों का मतैक्य है कि प्राण इन्द्रियों का एक प्रकार से सम्मिलित व्यापार मात्र है। अतः उसकी गति नहीं कही जा सकती।

परन्तु यह मतवाद इसलिए उचित नहीं प्रतीत होता कि इन्द्रियों के अन्दर मन-रूप अन्तःकरण एवं आँख कान आदि ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ज्ञानेन्द्रिय का काम होता है विषयों का प्रकाशन, अन्य कुछ नहीं। ऐसी परिस्थिति में ये इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का प्रकाशन मात्र ही करा सकती हैं, ज्ञान मात्र करा सकती हैं। जिनमें अलग-अलग जो सामर्थ्य बिलकुल नहीं होता उनका समुदाय भी उस सामर्थ्य को प्राप्त नहीं कर पाता। अतः इन समग्र इन्द्रियों का कोई सम्मिलित व्यापार होता है या कोई सम्मिलित क्रिया होती है यह कहना कठिन है। जब कोई सम्मिलित व्यापार ही इन इन्द्रियों का नहीं तब "वह प्राण है" यह कथन अत्यन्त दूर चला जाता है। मन, अहंकार और बुद्धि इस प्रकार अन्तःकरणों का विभाजन भी तात्त्विक नहीं है। जब एक मन से ही सारा काम चल सकता है तो तीन अन्तःकरणों को मानने का कोई प्रयोजन नहीं। अतः अन्तःकरणों का सम्मिलित व्यापार प्राण है यह कथन भी निस्तत्त्व हो जाता है। जब अन्तःकरण तीन होते ही नहीं तब उनका सम्मेलन ही क्या ? और सम्मिलित व्यापार

कैसा ? जो प्राण कहलायेगा ।

यदि कहा जाय कि केवल आँख-कान आदि इन्द्रियों से अपने विषय का ज्ञान नहीं होता। मन के साथ जुटने पर ही आँख आदि इन्द्रियाँ अपने विषयों को समझ पाती हैं। अतः इन्द्रियों का कोई सम्मिलित व्यापार नहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता। तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि मन और आँख आदि दोनों में ज्ञान-जनन-सामर्थ्य है, अतः दोनों मिलकर ज्ञान उत्पन्न कर सकते हैं। किन्तु जीवनयोनि नामक यत्न के द्वारा शरीरगत चलनसंपादक व्यापार मन में होने पर भी आँख आदि में वह क्रिया बिलकुल नहीं है, अतः उसे सम्मिलित व्यापार नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः विचार करने पर मन और आँख आदि किसी एक का भी कोई सम्मिलित व्यापार नहीं होता, क्योंकि प्रथमतः मन में क्रिया होने पर वह किसी आँख आदि एक बाह्य ज्ञानेन्द्रिय से जा जुटता है। उसके अनन्तर मन से संयुक्त आँख आदि में विषय से जुटने के अनुकूल क्रिया होती है। विभिन्नकालिक व्यापारों को सम्मिलित व्यापार नहीं कहा जा सकता एवं किसी एक काल में निष्क्रिय एवं सक्रिय होने वाले अनेक का कोई सम्मिलित व्यापार नहीं होता। उक्त पक्षी और पिंजड़े के दृष्टान्त स्थल में पिंजड़े के अन्दर विद्यमान सभी पक्षी समान काल में चलनशील होते, फड़फड़ाते रहते हैं। अतः वहाँ कथञ्चित् सम्मिलित व्यापार कहा भी जा सकता है, किन्तु मन की क्रिया और आँखों आदि के अन्दर किसी एक की क्रिया एक काल में नहीं अपितु विभिन्न कालों में होती है। यह बात अभी ऊपर बतलायी जा चुकी है।

यदि यह कहा जाय कि शरीर में इन्द्रियाँ रहती हैं यह निर्विवाद है और वे निष्क्रिय होकर कभी रहती हैं इसमें कोई प्रबल प्रमाण नहीं। ऐसी परिस्थिति में उक्त पक्षी और पिंजड़े के दृष्टान्त के अनुसार इन्द्रियों का एक सम्मिलित व्यापार क्यों न मान लिया जाय ?

इसका उत्तर यह है कि इन्द्रियों का उद्गम स्थान शरीर में ही नियत होने पर भी उनकी क्रियाशीलता शरीर के अंदर ही होती है ऐसी बात नहीं। क्योंकि कृष्ण-ताराग्र गोलक आँख नहीं अपितु उससे निकलकर विषय की ओर जाने वाली रश्मि आँख होती है। ऐसी परिस्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि शरीर के अन्दर इन्द्रियाँ सतत क्रियाशील रहती हैं ?

यहाँ एक बात और ध्यान में रखने की यह है कि कान है आकाश और आकाश है निष्क्रिय, सर्वथा क्रियारहित। ऐसी परिस्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि सारी इन्द्रियों का एक सम्मिलित चलन होता है, सम्मिलित व्यापार होता है। सर्वथा निश्चल में चलन हो ही नहीं सकता। अतः इन्द्रियों का सम्मिलित चलन प्राण है यह

नहीं कहा जा सकता। जरा गंभीरतापूर्वक विचार करने पर उक्त पक्षी-पिंजड़े वाला दृष्टान्त भी टिकाऊ नहीं जँचता। क्योंकि वहाँ भी प्रत्येक पक्षी के पृथक्-पृथक् होने वाले चलन से अतिरिक्त कोई सम्मिलित चलन नहीं है। उन्हीं चलनों में "यह सम्मिलित एक व्यापार है" ऐसी दृष्टि मात्र लोग कर लेते हैं, वस्तुतः एक सम्मिलित व्यापार नहीं है।

इस पर भी यदि यह कहा जाय कि सम्मिलित एक व्यापार वहाँ हो चाहे न हो इससे कोई मतलब नहीं। वहाँ जैसा होता है, विचारणीय स्थल में भी अर्थात् इन्द्रिय और शरीर के चलन स्थल में भी वैसा ही होता है; यही कहना है। तो यह भी इसलिए ठीक नहीं है कि वहाँ सभी पक्षियों का एक ही प्रकार का चलनात्मक व्यापार होता है, यहाँ ऐसा नहीं है। विभिन्न इन्द्रियों के व्यापार विभिन्न प्रकार के हैं अतः सम्मिलित एक व्यापार नहीं कहा जा सकता। यह बात अभी बतलायी जा चुकी है। अतः यह मानना ही होगा कि प्राण सकल इंद्रियों का या अन्तःकरणों का सम्मिलित गतिस्वरूप नहीं है, किन्तु "शरीर के अन्दर संचरणशील वायु" ही प्राण है इसलिए उसकी गति होती है, जिसका विभाजन दिखलाया जा चुका है।

एक बात यहाँ और भी समझ रखने की यह है कि कुछ लोगों ने "अशनाया" और "पिपासा" को अर्थात् भूख और प्यास को प्राण का धर्म बतलाया है। प्राण को इन्द्रियों के गतिस्वरूप मानने पर उसमें भूख-प्यास का होना अति असंगत हो जाएगा, क्योंकि खाने की इच्छा है भूख और पीने की इच्छा है प्यास। चलनस्वरूप प्राण में वह कैसे हो सकेगा? गुण-कर्म आदि में गुण-कर्म नहीं रहते यह बात प्रथम प्रकरण में बतलायी जा चुकी है। यद्यपि इच्छा है चेतन आत्मा का धर्म, अतः वायुस्वरूप प्राण में उसका होना असंगत कहा जा सकता है। तथापि जीवात्मा है प्राणी, उसे ही भूख-प्यास लगती हैं परमात्मा को नहीं। इस अर्थ की अभिव्यंजना के लिए उन्हें आत्मधर्म न कहकर प्राणधर्म कहना संगत हो सकता है। विशेष्य में होने वाले अन्य धर्म का व्यवहार अधिकतर लोग विशेषण में किया करते हैं। अतः वह वैसा असंगत नहीं जैसा कि भूख-प्यास रूप इच्छा को क्रिया का धर्म मानना।

बाह्य गति और आन्तर गति रूप से कर्म का विभाजन कुछ पहले किया गया है। किंतु उक्त पाँच प्राणों को एक मान लेने पर "आन्तर-बाह्य गति" भी एक प्रकार से कर्म का तृतीय विभाग हो जाता है। क्योंकि श्वासात्मक प्राण की गति बाह्याभिमुख होती है। इसी प्रकार मल मार्ग से निर्गत अपान वायु की गति भी बाह्याभिमुख होती है और समान, उदान, व्यानों की गति नियमतः आंतर ही होती है। इन्द्रियों

की गतियों पर भी दृष्टिपात करने पर 'आन्तर-बाह्य गति' नामक क्रिया का तृतीय भेद स्वीकर्तव्य ही प्रतीत होता है।

व्यापक द्रव्यों में किसी प्रकार की क्रिया नहीं

पृथ्वी, जल आदि नौ द्रव्यों के अन्दर, जिनकी चर्चा प्रारम्भ में ही विस्तृत रूप से हो चुकी है, आकाश, काल, दिक् और आत्मा ये चार व्यापक द्रव्य हैं। यहाँ व्यापक शब्द का अर्थ है सभी क्रियाशील अल्प परिमाण वाले द्रव्यों के साथ संयुक्त होने वाला द्रव्य। जैसे किसी कमरे में यदि कोई चद्दर या टाट फैला दें तो उस कमरे में रहनेवाली सभी छोटी वस्तुओं से उस चद्दर या टाट का संयोग होना आवश्यक है। उसी प्रकार आकाश, काल, दिक् और आत्मा ये चार विश्व-ब्रह्माण्ड में सर्वत्र फैले हुए हैं। अतः विश्व-ब्रह्माण्ड के अन्दर वर्तमान सारे अविभु द्रव्यों से उक्त चार द्रव्यों का संयोग सर्वदा रहता ही है। सुतरां आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा ये चारों व्यापक द्रव्य हैं। क्रिया का चरम प्रयोजन होता है संयोग। उक्त व्यापकों का संयोग सर्वत्र सर्वदा रहता ही है अतः क्रिया उनमें क्यों होगी? दूसरी बात यह कि क्रिया है चलन। किसी भी द्रव्य का चलन आगे या पीछे, अगल या बगल, ऊपर या नीचे किसी भी ओर स्वरहित स्थान में ही हुआ करता है, यह अनुभवसिद्ध है। व्यापक द्रव्य सर्वत्र ठसाठस भरा हुआ रहता है। सारे स्थान व्यापक द्रव्य से परिपूर्ण या आक्रान्त रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में स्वरहित स्थान न मिल सकने के कारण वे कहाँ चल सकेंगे? अतः उक्त चारों द्रव्यों में उत्क्षेपण, अपक्षेपण आदि कोई प्रकार की क्रिया नहीं रह सकती।

शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा और गन्ध तन्मात्रा शब्दों से कहे जाने वाले पाँचों भूतों के सूक्ष्मांश से पाँच महाभूतों की उत्पत्ति मानने वाले दार्शनिकों के मत में पार्थिव परमाणु, द्व्यणुक आदि के समान आकाशीय परमाणु, द्व्यणुक आदि अव्यापक आकाश-द्रव्य होते हैं। अतः उनके मत में उक्त युक्ति से अन्त्यावयवी आकाश में देशतः परिच्छिन्न अर्थात् अव्यापक न होने के कारण क्रिया न हो सकने पर भी मध्यावयवी आकाश में क्रिया होती है।

कश्मीरी शैव सिद्धान्त में जिसे अन्य शब्दों में प्रत्यभिज्ञा दर्शन कहते हैं, आत्मा में भी क्रिया मानी जाती है। वे लोग आत्मा को भी निष्क्रिय नहीं मानते जिसका विशद वर्णन उन्होंने "स्पन्दकारिका" आदि ग्रन्थों में किया है। परन्तु व्यापक द्रव्य में क्रिया मानना युक्तिविरुद्ध है। आत्मा को मध्यम परिमाण वाला मानने पर उसकी अनित्यता हो जायेगी। बहुत छोटा अणु परिमाण मानने पर उसे देहव्यापी सुख का अनुभव, जिसका अस्वीकार करना कठिन है, नहीं हो सकेगा। अतः उसे

मध्यम या अणु परिमाण वाला नहीं कहा जा सकता। ऐसी परिस्थिति में उसे क्रियाशील, चलनशील कैसे माना जा सकता है।

आकाश को व्यापक मानना आवश्यक है। अन्यथा जर्मन, जापान, अमेरिका आदि अति दूर देशों का शब्द भारत में जो रेडियो से सुनाई देता है नहीं सुनाई देगा। व्यापक द्रव्य नियमतः नित्य हुआ करता है। ऐसी परिस्थिति में आकाशीय परमाणु, द्वयणुक आदि के क्रम से आकाश की उत्पत्ति होती है यह बात नहीं मानी जा सकती। सुतरां आकाशीय परमाणु से लेकर मध्यावयवी आकाश तक में क्रिया होती है यह बात बिलकुल नहीं कही जा सकती। व्यापक, अखण्ड, एक काल द्रव्य में क्रिया न होने पर भी अन्यगत क्रिया से उसको सीमित किया जाता है। अर्थात् किसी अव्यापक द्रव्य में होने वाली क्रिया को काल का परिच्छेदक अर्थात् भेदक बनाकर क्षण, पल, दण्ड, पहर, दिन, रात, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष आदि खण्ड काल बनाये जाते हैं। इस संबंध में प्रथम प्रकरण के 'काल विचार' शीर्षक में पहले प्रकाश डाला गया है।

कुछ मुख्य भौतिक गतियाँ

बाह्य क्रियाएँ और आन्तर क्रियाएँ इस प्रकार जैसे क्रियाओं का विभाजन होता है, उसी प्रकार भौतिक क्रियाएँ एवं अभौतिक क्रियाएँ इस रूप से भी क्रियाओं का विभाजन होता है। कहने का अभिप्राय यह कि सारी बाह्य गतियाँ और मन की गति को छोड़कर अन्य सभी आभ्यन्तर गतियाँ भौतिक गतियों में अन्तर्भुक्त होती हैं। बाह्य का अर्थ है शरीर से बाहर और आन्तर का अर्थ है शरीर के अन्दर। बाह्य भौतिक क्रियाओं के अंदर आज वायुयान, जहाज, रेल, मोटर, तोप, राइफल, बन्दूक, बम, राकेट, स्फुतनिक आदि की गतियाँ मुख्य मानी जाती हैं। प्राचीन पदार्थशास्त्रियों ने जिन बाण-गति आदि की चर्चा की है वे आज के विकसित भौतिक युग में युद्धोपयोगी न होने के कारण नगण्य सी हो पड़ी हैं। आभ्यन्तर भौतिक गतियों के अन्दर भोजन, पान, परिपाक, स्टोमक की गति, रस की गति, शोणित की गति, कफ गति, पित्त गति, वात गति, हृद् गति, नाड़ी गति, अँतड़ियों की गति आदि गतियाँ मुख्य भौतिक गतियाँ हैं, जिनसे शरीर की सुव्यवस्था होती रहती है।

पाक भी वस्तुतः क्रिया है

प्राणियों की जीवनयात्रा में पाक का एक बहुत बड़ा स्थान है। क्योंकि कोई भी वस्तु पक्व होने पर ही अपेक्षित उपभोग के लिए उपयुक्त होती है। अधिकतर खाद्य वस्तुएँ अग्निपक्व होने से उपयुक्त होती हैं। जहाँ अग्नि से पाक की अपेक्षा नहीं होती है वहाँ भी सूर्यकिरणों से होने वाले पाक की अपेक्षा होती है। आम-अमरूद

आदि विविध फल सूर्यताप से पककर ही लोगों के अपेक्षित उपभोग में आते हैं। इनसे अतिरिक्त और भी पाक का प्रभेद है जहाँ संभवतः लोगों को पाक मानने में प्रायः विप्रतिपत्ति हो। परन्तु विचार करने पर वहाँ भी पाक मानना पड़ेगा। जैसे किसी वस्तु को जब हम सिल-लोढ़े आदि से खूब पीस डालते हैं तो उस वस्तु में गुणों का परिवर्तन हो जाता है। अतः पिसी हुई वस्तु में पाक हुआ है ऐसा मानना पड़ेगा। पिसी हुई मेंहदी में रूप गुण का परिवर्तन स्पष्ट देखा जाता है। हरी मेंहदी पिस जाने पर लाल हो जाती है यह प्रत्यक्षसिद्ध है। मकरध्वज आदि रस-औषधों को खरल में जितना पीसा या महीन किया जाय उतनी ही वे अधिक गुणकारी होती हैं यह अनुभूत है। काबुली बादाम को जितना पीसा जाय उतना वह शरीर पोषक होता है। भाँग खाने वालों का कहना है कि उसे जितना अधिक रगड़ा जाय वह उतनी ही अधिक मादक तथा अन्य गुणद होती है। इन सब दृष्टान्तों से यह मानना ही होगा कि सूर्यकिरण के या अग्नि के संपर्क से ही केवल पाक नहीं होता किन्तु और तरह से भी होता है।

प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इनके अन्दर किसी एक किंवा एकाधिक को बदल देने वाले तेजसंयोग को पाक कहा है। उनका कहना यह है कि किसी भी पार्थिव वस्तु में अग्नि आदि किसी तेज का संयोग होने पर उस पार्थिव द्रव्य में रूप रस आदि अवश्य बदल जाते हैं। अतः "रूपादि-परावर्तक तेजसंयोग" अर्थात् रूपादि को बदल देने वाला तेज का संयोग ही पाक है। सिल-लोढ़े, कुण्डी-सोटे या खरल-इमामजिस्ते आदि से किसी पार्थिव द्रव्य को कूटने-पीसने आदि के स्थल में भी घर्षणप्रयुक्त उद्‌गत सूक्ष्म तेज का संयोगस्वरूप पाक होता ही है। अतः प्राच्य पदार्थशास्त्रियों की "पाक" की यह व्याख्या अव्यापक या अतिव्यापक नहीं होती।

व्याख्येय में यदि कोई व्याख्या लागू न हो तो वह कहलाती है "अव्यापक", क्योंकि सारे व्याख्येय स्थलों का वह व्यापन नहीं कर पाती अतः "अव्यागक" कहलाती है। यह उस व्याख्या के लिए एक महान् दोष होता है कि वह सभी संग्राह्य व्याख्येय का संग्रह नहीं कर पाती। उदाहरण यथा —यदि कोई व्यक्ति गाय के संबंध में व्याख्या करे कि गैया उस पशु को समझना चाहिए जिसकी सफेद "सास्ना" हो, तो यह व्याख्या सारी गायों को व्यापन न कर सकेगी। बिल्कुल काली किसी गाय की 'सास्ना' सफेद नहीं भी होती है। उसमें उक्त व्याख्या लागू नहीं होती, अतः वह व्याख्या "अव्यापक" कहलायेगी। व्याख्या का अतिव्यापक होना भी उसके लिए एक महान् दोष है। व्यापन की सीमा का अतिक्रमण कर जाना है "अति व्यापक" होना। अर्थात् की गयी व्याख्या यदि व्याख्येय वस्तु की सीमा का उल्लंघन कर

अव्याख्येय में भी लागू हो जाय तो वह व्याख्या "अतिव्यापक" हो जायगी। क्योंकि वह अपनी व्याख्येय सीमा का अतिक्रमण अर्थात् लंघन कर जायगी। उदाहरण यथा—कोई व्यक्ति यदि गाय के संबंध में ऐसी व्याख्या करे कि जिसे "सींग" हो वह गैया होगी, तो यह व्याख्या अतिव्यापक होगी। क्योंकि यह व्याख्येय गायों की सीमा का लंघन कर भैंस आदि में भी लागू हो जाती है। सींग तो भैंस आदि अन्य पशुओं के भी हैं जो गैया नहीं हैं। प्रकृत स्थल में प्राच्य पदार्थशास्त्रियों से की गयी उक्त पाक की व्याख्या अव्यापक या अतिव्यापक न होने के कारण सही है। क्योंकि जहाँ 'यह पका है' इत्यादि रूप से पाक संबंधी शब्दप्रयोगात्मक व्यवहार किंवा ज्ञान होता है वहाँ प्राच्य पदार्थशास्त्रियों की उक्त "पाक" की व्याक्ख्या लागू होती है—किसी न किसी प्रकार के तेज का संयोग एवं उससे प्राचीन रूप-रस आदि के नाशपूर्वक नवीन रूप-रस आदि पैदा होते ही हैं। जहाँ "यह पक गया", "पका है" इत्यादि वाक्यप्रयोग या ज्ञान की स्वरूपयोग्यता नहीं अथवा संभावना नहीं रहती, वहाँ उक्त रूपादि-परावर्तक तेज-संयोगस्वरूप पाक भी नहीं रहता।

परन्तु कुछ गंभीर भाव से चिन्ता करने पर उक्त रूपादि-परावर्तक तेजसंयोग को पाक न मानकर उस संयोग से होने वाली द्रव्यगत क्रिया को पाक मानना अधिक उचित प्रतीत होता है। यदि यह कहा जाय कि क्रिया तो अपनी उत्पत्ति के पश्चात् क्षण में प्रायः नष्ट हो जाती है। किन्तु "आम पका है", "केले पके हैं", "पपीते पके हैं" इत्यादि पाक संबंधी वाक्यों का प्रयोग अथवा ज्ञान तो पीछे तब तक होता रहता है जब तक वह आम आदि नष्ट न हो जाय। ऐसी परिस्थिति में उक्त क्रिया को पाक कैसे माना जा सकता है? उक्त वाक्यों को अप्रमाण और उक्त ज्ञान को अप्रमा, अयथार्थ मान बैठना तो सर्वथा असंगत ही होगा। तो इसके उत्तर में अनायास यह कहा जा सकता है कि यह दोष तो उक्त संयोग के पाक मानने पर भी समान ही रहेगा। क्योंकि आँवे में घड़ा पक जाने के बाद आग बुझ जाने पर तो घड़े के साथ आग का संयोग-स्वरूप पाक स्थायी नहीं रहता। पानी में अनेक काल तक डुबाये गये पानीभरे घड़े आदि में भी अन्त तक आग घुसी ही रहती है। अतः उक्त तेजसंयोगस्वरूप पाक उसमें सर्वदा विद्यमान नहीं रहता यह कहना तो धृष्टता ही होगी।

जिन लोगों ने रूप आदि के बदलने में अनुकूल होने वाले संयोग को पाक माना है उनका अभिप्राय यह था कि—जिनमें या जिनके अवयवों में अग्नि आदि तेज के संयोग से क्रिया नहीं भी होती वे केवल उक्त संयोग मात्र से पक जाते हैं। अतः क्रिया को पाक नहीं कहा जा सकता। अगत्या उक्त रूपादि के परावर्तक तेज के संयोग को ही पाक मानना चाहिए।

किन्तु प्राच्य पदार्थशास्त्रियों के मत में पाकस्थल में सर्वत्र द्वयणुक तक का नाश होने पर ही पाक होता है। यह बात भी पहले बतलायी जा चुकी है। और अवयवी द्रव्य का नाश क्रिया के बिना हो नहीं सकता। अतः सर्वत्र पाकस्थल में पाच्य द्रव्य के परमाणुओं में क्रिया होगी ही। सुतरां पूर्व रूप विनाश एवं नवीन रूप उत्पत्ति के प्रति निकटवर्ती क्रिया को पाक न मानकर उस क्रिया के जनक संयोग को पाक मानना कहाँ तक संगत कहा जा सकता है।

यदि यह कहा जाय कि तेज के संयोग को पाक न मानकर तज्जन्य क्रिया को पाक मानने पर पूर्वरूप-विनाश एक क्षण विलम्ब से होगा, और तेज के संयोग को पाक मानने पर क्रिया के क्षण में ही रूप नाश भी हो जाने के कारण कार्य एक क्षण पहले चालू हो जायेगा। तो यह भी इसलिए संगत नहीं कहा जा सकता कि तेज के संयोग को पाक कहने वाले भी 'उक्त संयोग के अव्यवहित उत्तर क्षण में ही पहले रूप का विनाश हो जाता है' यह प्रमाणित नहीं कर सकते। अतः वस्तुस्थिति यह माननी होगी कि तेज के संयोग से प्रथमतः परमाणु में कंपन होता है, अनंतर उसके अव्यवहित पर क्षण में उसमें संयुक्त अन्य परमाणु से विभाग होता है। फिर दो परमाणुओं का पूर्व संयोग नष्ट होता है, तब क्रिया के नाशक्षण में परमाणुगत पूर्व रूप का नाश होता है। इस रूपनाश-क्षण के अव्यवहित पहले क्षण तक क्रिया रहती है अतः वह रूप नाश के प्रति कारण हो सकती है, कोई बाधा नहीं है।

सबसे बड़ी बात तो ध्यान रखने लायक यह है कि यदि कहीं परमाणुओं में अग्नि का संयोग होते ही पर क्षण में परमाण्वन्तर के साथ विभाग करने वाली-जैसी, अग्नि के साथ भी विभाग कर देने वाली क्रिया उस परमाणु में हो जाय तो उसके परवर्ती तृतीय क्षण में वह अग्निसंयोग मर जायगा। चतुर्थ क्षण में अग्निसंयोग स्वरूप पाक रहेगा ही नहीं, फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि अग्निसंयोग स्वरूप पाक से परमाणु-गत क्रियोत्पत्ति के पंचम क्षण में परमाणु में पूर्वतन श्याम आदि रूप का नाश होता है? अतः वह अग्निसंयोगादि तेजसंयोग ही पाक है। प्राचीनों ने पाक से रूप की उत्पत्ति की प्रक्रिया बतलाने के हेतु रूपनाश तक की प्रक्रिया यों बतलायी है—

(१) अग्नि के संयोग से परमाणु में कंपन होता है।

(२) तब परमाणुओं का परस्पर विभाग होता है।

(३) तब परमाणुओं का पूर्व संयोग नष्ट होता है।

(४) तब क्रियाशील परमाणु का कहीं उत्तर-देश-संयोग होता है। तब द्वयणुक मरता है।

(५) तब परमाणु का पूर्व रूप मरता है।

अब यहाँ यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि संख्या (१) क्षण में होने वाली क्रिया की की प्रक्रिया से पूर्वतन अग्निसंयोग भी परमाणु-द्वयसंयोग के नाश क्षण संख्या (३) में ही नष्ट हो जायेगा, संख्या (४) क्षण में कभी नहीं रह सकता। सुतरां उससे संख्या (५) क्षण में पूर्व संयोग का नाश उस अग्निसंयोग स्वरूप पाक से कैसे हो सकता है जो अग्निसंयोग संख्या (३) क्षण में ही नष्ट हो गया। अतः संयोगजन्य क्रिया ही है 'पाक'। "चावल पक रहे हैं" इत्यादि प्रयोगस्थल में भी खौलते हुए जल के साथ चंचल चावलों में होने वाली अवयवशैथिल्यानुकूल क्रिया ही "पाक" होती है। जलसंपृक्त ताप से चावलों के अवयव शिथिल हो जाते हैं अतः उनमें विद्यमान कठोरता के स्थान पर भात में कोमलता आ जाती है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

कुछ लोग पके हुए चावल, फल आदि की परिस्थिति मात्र को सामने रखते हुए अवयवगत शिथिल संयोग की निष्पादक क्रिया को ही सर्वत्र पाक शब्द का अर्थ कहते हैं। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। क्योंकि पाक से सर्वत्र अवयवों के पारस्परिक बंधन स्वरूप संयोग ढीले ही नहीं पड़ते; बहुतेरे स्थलों में अपक्व अवस्था से पक्व अवस्था में ही अवयवसंयोग दृढ़ हो जाते हैं। उदाहरण के लिए--आग में पके हुए खपरे, ईंट, घड़े आदि को सामने अनायास ही रखा जा सकता है। हाँ, यदि यह कहा जाय कि "शिथिल अवयवसंयोग और दृढ़ अवयवसंयोग इन दोनों प्रकार के संयोगों के अन्दर किसी एक के प्रति कारण होने वाली क्रिया 'पाक' है।" तो पाक की यह भी व्याख्या की जा सकती है। शरीर में हुए फोड़ा-फुंसी आदि के पाकस्थल में भी उक्त दोनों प्रकार की व्याख्याएँ लागू होती हैं। शारीरिक तेज के संयोग से उनमें भी क्रिया होती है। यह उनके पकते समय भली भाँति अनुभव किया जाता है। पके हुए फोड़े ढीले हो जाते हैं यह भी प्रत्यक्ष सिद्ध ही है।

अब यहाँ यह प्रश्न उठ खड़ा हो सकता है कि गुण-प्रकरण में यह स्पष्ट कहा गया है कि "वह पाक भी संयोग ही है जिसके सहारे रूप रस-आदि का परिवर्तन द्रव्य में हुआ करता है।" फिर यहाँ उसके विरुद्ध "संयोग पाक नहीं हो सकता, क्रिया पाक है" यह कथन कैसे संगत हो सकता है? इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि जो लोग पिण्ड-पाकवादी हैं वे सर्वत्र पाक स्थल में आ-परमाणवन्त भंग नहीं मानते, नियमतः वहाँ द्रव्य में क्रिया का उत्पादन ही मानते एवं विलक्षण तेज का संयोग होते ही अव्यवहित पर क्षण में पूर्व रूप का नाश मानते हैं, उनके मत से वह कहा गया है। गुण-प्रकरण में विस्तृत रूप से इस प्रकार क्रिया का विवेचन करना भी उचित नहीं होता, अतः प्रसिद्ध मत का उल्लेख कर दिया गया है। यहाँ आपरमाणवन्त भंग मानने वाले

परमाणु-पाकवादी प्राच्य पदार्थशास्त्रियों के मत में संयोग को पाक मानना ठीक नहीं यह बतलाया गया है। खाये हुए अन्न आदि के परिपाक स्थल में भी उक्त व्याख्या का समन्वय अच्छी तरह होता है। क्योंकि जठरानल के ताप द्वारा जो स्तोमक की गति से भुक्त वस्तु में हलक के नीचे जाते ही क्रिया हो जाती है, उससे उस खाये हुए अन्न आदि का आपरमाण्वन्त अर्थात् द्व्यणुक तक नाश होता है। फिर स्वतंत्र खाद्य परमाणुओं में उक्त प्रकार के जठरानलसंयोग से जो क्रिया होती है वही है परिपाक। उससे उन में पूर्व रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का नाश होता है और नये रूप-रस आदि का उत्पाद परमाणुओं होता है। अत: शोणित आदि में खाद्य वस्तु के रूप-रस आदि से भिन्न रूप-रस आदि होते हैं। पशुओं के खाद्य घास-चारे आदि के रूप-रस आदि से उसके दूध आदि में अन्य रूप-रस आदि स्पष्ट पाये जाते हैं। घास हरी रहती किन्तु दूध सफ़ेद होता है। घास मधुर नहीं रहती किन्तु दूध में मधुर रस होता है।

आधुनिक शरीरतत्त्व के अन्वेष्टा लोगों का कहना है कि खाद्य के प्रथम परिपाक से स्त्री-मनुष्य और पशु में दूध नहीं बन जाता एवं पुरुष-मनुष्य और पशु में शुक्र नहीं बन जाता। अर्थात् जठरानल के ताप आदि जन्य पाक से ही दूध के रूप-रस आदि हो जाते हैं। अनेक क्रमिक पाकयुक्त अन्न आदि के रस जब स्तनयन्त्र में आते हैं तब वहाँ दूध में उपलब्ध रूप-रस आदि उसमें होते हैं। इसी प्रकार अण्डकोष यंत्र में उक्त रस के आने पर उसमें शुक्र के रूप-रस-गन्ध आदि होते हैं। फलितार्थ यह कि उससे पूर्व उन दोनों का पूर्व-रूप और तरह का ही रहता है। इस पक्ष में स्तन तथा अण्डकोष में आने पर एक और पाक मानना होगा, जिससे उपलब्ध होने वाले रूप रस आदि उनमें बन सकेंगे।

यहाँ यह भी एक ध्यान रखने की बात है कि पाक से रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारों बदलते हैं यह बात सही है। परन्तु चारों युगपत् एक ही पाक से नहीं बदलते, अलग-अलग पाकों से अलग रूप-रस आदि होते हैं। क्योंकि फलों के पाक स्थल में यह स्पष्ट देखा जाता है कि पाक से रूप तो बदल गया किन्तु रस अभी पहला ही है। कभी इसके ठीक विपरीत यह देखा जाता है कि रस तो बदल गया किन्तु रूप ज्यों का त्यों ही है। अत: प्रत्येक के लिए अपेक्षित पाक अलग-अलग होता है यह मानना चाहिए। जो लोग तेज के विलक्षण संयोग को पाक मानते हैं वे लोग भी इस बात से सहमत हैं कि रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन चारों को बदलने वाला एक पाक नहीं होता परन्तु रूप को बदलने वाला अलग, रस को बदलने वाला अलग इस प्रकार समझना चाहिए।

जिस पक्ष में तेज के संयोग को पाक, और उसे अवयवीगत भी मानकर रूपादि

की परावृत्ति अर्थात् उत्पाद और नाश माना जाता है, उस पक्ष में परमाणु में पाकज रूप या रस आदि होने के लिए जितने क्षणों की अपेक्षा होगी, घट आदि किसी महावयवी में भी पाकज रूप के लिए उतने ही क्षणों की अपेक्षा होगी। क्योंकि जैसे परमाणु के साथ अग्नि का संयोग होने पर दूसरे क्षण में उस परमाणु में पूर्ववर्ती श्याम रूप नष्ट होगा और तीसरे क्षण में नवीन लाल रूप उत्पन्न हो जायेगा, वैसे ही घट में पाकज रूप के उत्पत्तिस्थल में प्रथम क्षण में अग्नि का घट से संयोग होगा, द्वितीय क्षण में पहला श्याम रूप नष्ट होगा और अनन्तर तृतीय क्षण में उस घट में लाल रूप उत्पन्न होगा। अतः दोनों स्थलों के लिए क्षणों की अपेक्षा समान ही होगी। परन्तु क्रिया को पाक मानकर प्रथमतः परमाणु में रूपपरिवर्तन और तदनन्तर द्व्यणुक की उत्पत्ति और फिर उस में अपाकज अर्थात् कारण-गुण क्रम से रूप-रस आदि की उत्पत्ति होगी। उस पक्ष में प्रत्येक असमान संख्यक परमाणुसापेक्ष द्रव्य में पाकज रूप रस की उत्पत्ति असमान क्षणों की अपेक्षा करेगी। अर्थात् परमाणु में जैसे तीन क्षण में ही नवीन रूप होता हुआ दिखलाया गया है, द्व्यणुक में रूप उत्पन्न होने के लिए उतने ही क्षणों से काम नहीं चलेगा। इसी प्रकार आगे भी क्षणों की अपेक्षा की विषमता जारी रहेगी। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझना चाहिए—

(१) प्रथमतः अग्नि के संयोग से कच्चे द्व्यणुक के अवयव परमाणु में कंपन हुआ।

(२) फिर द्व्यणुक के अवयव कच्चे परमाणु आपस में अलग होंगे। विभक्त होंगे।

(३) अनन्तर उन दो परमाणुओं में विद्यमान पहले संयोग का नाश होगा।

(४) फिर कच्चा द्व्यणुक नष्ट होगा।

(५) बाद पञ्चम क्षण में श्यामता का नाश होगा।

(६) अनन्तर परमाणुओं में लाल रूप उत्पन्न होगा।

(७) फिर पूर्व द्व्यणुक के नाशक्षण में अन्यत्र किसी से संयुक्त लाल परमाणु में अब नवीन लाल द्व्यणुक के आरंभानुकूल क्रिया होगी।

(८) फिर उस जुटे हुए द्रव्य से विभाग होगा।

(९) अनन्तर आगन्तुक पूर्व संयोग का नाश होगा।

(१०) तब दोनों लाल परमाणु जुटेंगे।

(११) तब द्व्यणुक द्रव्य उत्पन्न होगा।

(१२) तब अपने कारण परमाणुओं के लाल रूप-स्वरूप कारण के बल से उस नवीन द्व्यणुक में लाल रूप उत्पन्न होगा।

इस प्रकार कच्चे द्व्यणुक के नाशानुकूल परमाणु-कंपन के क्षण से गिनने पर

बारहवें क्षण में, कच्चे द्वयणुक के नाश क्षण से गिनने पर नवें क्षण में और नवीन द्वयणुक की उत्पत्ति के द्वितीय क्षण में द्वयणुक में पाकज रूप की उत्पत्ति होगी। कच्चे त्र्यणुक के नष्ट होने पर पके त्र्यणुक में रूप आदि की उत्पत्ति के लिए पूर्व दर्शित द्वयणुक-स्थलीय प्रक्रिया के लिए अपेक्षित क्षणों से और अधिक क्षणों की अपेक्षा होगी। क्योंकि कच्चे त्र्यणुक के नाश के लिए एक अधिक क्षण की और पके त्र्यणुक की उत्पत्ति के लिए द्वयणुक क्रिया क्षण, विभाग क्षण, पूर्व संयोग नाश क्षण, द्वयणुक द्वय संयोग क्षण और त्र्यणुक की उत्पत्ति का क्षण; इन पाँच क्षणों की तथा त्र्यणुक में लाल रूप की उत्पत्ति के लिए एक क्षण की; इस प्रकार अधिक सात क्षणों की अपेक्षा होगी। इसी प्रकार आगे भी अधिक क्षणों की अपेक्षा बढ़ती चलेगी। त्र्यणुक में रूपोत्पत्ति की प्रक्रिया से चतुरणुक की रूपोत्पत्ति-प्रक्रिया में भी इसी प्रकार सात क्षण और बढ़ जायेंगे। बराबर अवयवस्थलीय प्रक्रिया से अवयविस्थलीय प्रक्रिया में सात-सात क्षण अधिक अपेक्षित होते जायेंगे। और किसी भी महावयवी के नाश के लिए उस अवयवी के गर्भ में पड़े हुए सारे द्वयणुक आदि मध्यावयवियों का नाश, उत्पाद और रूपोत्पत्ति इनकी अपेक्षा होने के कारण उनके लिए अपेक्षित क्षणों की संख्या अत्यधिक होती जायगी। नौ क्षण से कम समय में कार्य इसलिए नहीं किये जा सकते कि कच्चे द्वयणुक के नाशानुकूल क्रिया के रहते नवीन द्वयणुक-आरंभानुकूल क्रिया ही परमाणु में नहीं हो सकती। एक काल में एक द्रव्य में विरुद्ध-दिक्क दो क्रियाएँ कभी नहीं हो सकतीं यह पहले बतलाया जा चुका है।

परन्तु एक परमाणु में पूर्व द्वयणुक नाश के प्रति अनुकूल क्रिया और द्वितीय परमाणु में नवीन द्वयणुक के उत्पादानुकूल क्रिया मानी जाय तो परिस्थिति के भेद से कच्चे द्वयणुक के नाश-क्षण से पाँच, छः, सात और आठ क्षणों में भी नवीन द्वयणुक में रूपादि की उत्पत्ति हो सकती है। यथा—

एक परमाणु में कर्म हुआ। तब दूसरे परमाणु से विभाग हुआ। इसके बाद जब कि परमाणुओं के संयोग का नाश हो रहा है उसी क्षण में दूसरे परमाणु में नवीन द्वयणुक के आरंभानुकूल क्रिया भी हो गयी। उसके अनन्तर कच्चे द्वयणुक का नाश भी हुआ और देशान्तर से द्वितीय परमाणु का विभाग भी (१), अनन्तर परमाणुओं में पूर्व श्याम आदि रूप का नाश भी हुआ और देशान्तर से द्वितीय परमाणु के विद्यमान संयोग का नाश भी (२), फिर अनंतर क्षण में परमाणुओं में लाल रूप भी पैदा हुआ और नवीन द्वयणुक का आरंभक संयोग भी (३), तब पक्व द्वयणुक पैदा हुआ (४), तब उसमें रूप पैदा हुआ (५)। यदि परिस्थितिवश दूसरे परमाणु में होने वाली क्रिया और एक क्षण पीछे उत्पन्न हो, अर्थात् पूर्वसंयोग के नाशक्षण में परमा-

ण्वन्तर में क्रिया उत्पन्न न होकर कच्चे द्वचणुक के नाशक्षण में परमाण्वन्तर में द्वचणुक की उत्पत्ति के अनुकूल क्रिया उत्पन्न हो, तो कच्चे द्वचणुक के नाशक्षण से छठे क्षण में नवीन द्वचणुक में रूप की उत्पत्ति होगी। यथा—एक परमाणु में क्रिया हुई, दूसरे परमाणु से विभाग हुआ। दोनों परमाणुओं में होने वाला संयोग नष्ट हुआ। तब द्वचणुक का नाश हुआ और दूसरे परमाणु में क्रिया भी (१)। अनन्तर श्याम रूप का नाश हुआ और द्वितीय परमाणु का देशान्तर से विभाग भी (२), तब बाद में लाल रूप उत्पन्न हुआ और द्वितीय परमाणु के प्रदेशान्तर के साथ संयोग का नाश भी (३), तब दो लाल परमाणुओं का संयोग हुआ (४), अनन्तर द्वचणुक उत्पन्न हुआ, (५), उसके बाद उसमें लाल रूप उत्पन्न हुआ (६)। कच्चे त्र्यणुक के नाश के अनन्तर बने हुए पक्के त्र्यणुक में यदि नवीन रूपोत्पत्ति के लिए अपेक्षित क्षणों की संख्या का विचार किया जाय तो पूर्वप्रदर्शित द्वचणुकस्थलीय क्षणों से अधिक और सात क्षणों की अपेक्षा होगी। क्योंकि कच्चे द्वचणुक के नाश हो जाने के अनन्तर क्षण में कच्चे त्र्यणुक का नाश होगा। अतः नाश के लिए एक अधिक क्षण की आवश्यकता होगी। और द्वचणुक में नवीन रूप उत्पन्न हो जाने के अनन्तर ही पक्व त्र्यणुक की उत्पत्ति के अनुकूल द्वचणुक में क्रिया उत्पन्न होगी। क्योंकि जब तक द्रव्य निर्गुण रहता है तब तक उसमें क्रिया उत्पन्न नहीं होती। अतः पके द्वचणुक में क्रिया का क्षण (१), विभाग-क्षण (२), पूर्व संयोग नाश क्षण (३), द्वचणुकों के परस्पर-संयोग क्षण (४), त्र्यणुकों की उत्पत्ति का क्षण (५) और उसमें नवीन रूप उत्पत्ति का क्षण (६) —इन छः अधिक क्षणों की भी अपेक्षा होगी। सुतरां यह मानना ही होगा कि पूर्व-कथित नाश के लिए अपेक्षित एक क्षण के साथ इन छः क्षणों को मिलाकर कुल सात अधिक क्षणों की आवश्यकता त्र्यणुक में रूपोत्पत्ति के लिए होगी यह मानना ही पड़ेगा; जैसा कि पहले भी बतलाया जा चुका है।

यहाँ एक यह प्रश्न उठ खड़ा हो सकता है कि द्वचणुक तो दो परमाणुओं के ही संयोग से उत्पन्न होता है। अतः वहाँ उक्त क्षणप्रक्रिया ठीक बँधी हुई मानी जा सकती है। परन्तु त्र्यणुक तो तीन द्वचणुकों के संयोग से होगा, अतः अन्ततः दो द्वच-णुकों में विभिन्न क्रियाएँ अपेक्षित होंगी। ये दो क्रियाएँ यदि एक क्षण में न होकर विभिन्न दो क्षणों में होंगी तब तो क्षण की संख्या का बढ़ना नितान्त आवश्यक होगा। अतः सात ही अधिक क्षणों की अपेक्षा होगी यह बात निश्चित रूप से कैसे कही जा सकती है ?

इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि तीनों द्वचणुकों में त्र्यणुकारम्भक क्रिया साथ-साथ एक ही क्षण में हो जाती है। अतः तीनों द्वचणुकों के दोनों संयोग साथ ही

होते हैं। यत: द्वयणुक में क्रिया के उत्पत्तिक्षण के पञ्चम क्षण में ही नियमत: त्र्यणुक उत्पन्न होगा। यह इसलिए मानना पड़ता है कि दो द्वयणुकों में दो क्रियाएँ विभिन्न क्षणों में मानी जायेंगी तो द्वयणुक और त्र्यणुक के बीच में एक और अवयवी द्रव्य की व्यर्थ उत्पत्ति माननी होगी। क्योंकि पहले उत्पन्न होने वाले दो द्वयणुकों के संयोग से भी किसी द्वयणुक और त्र्यणुक से अतिरिक्त द्रव्य का उत्पाद पहले अनिवार्य होगा। यदि यह कहा जाय कि संयोग तो द्वयणुकों का होगा किन्तु उसे अतिरिक्त द्रव्य का आरम्भक न माना जायगा, तो यह भी कहना युक्तियुक्त नहीं होगा। क्योंकि दो परमाणुओं का संयोग द्वयणुक द्रव्य का उत्पाद करता है, दो कपालों का संयोग घड़े का उत्पाद करता है, किन्तु दो द्वयणुकों का संयोग द्रव्य का उत्पादक नहीं होगा; यह कहना तो प्रामाणिक नहीं हो सकता, मनमाना ही कहा जायगा। अत: द्वयणुकों के रूप की उत्पत्ति-स्थलीय क्षणप्रक्रिया से त्र्यणुक की रूपोत्पत्ति-स्थलीय क्षण-प्रक्रिया में सात क्षण का ही अन्तर पड़ेगा। इसी प्रकार आगे भी प्रत्येक अवयव द्रव्य की रूपोत्पत्ति की क्षणप्रक्रिया से उसके अवयवी द्रव्य में रूपादि गुण की उत्पत्ति की प्रक्रिया में सात-सात क्षण अधिक अपेक्षित होते जायेंगे। साथ ही किसी कच्चे अन्त्य अवयवी को नष्ट कर पक्व परमाणुओं से द्वयणुक आदि की उत्पत्ति के क्रम से नवीन निर्मित पक्व अन्त्य अवयवी में यदि पाकज रूप आदि की उत्पत्ति करनी होगी तो परमाणु और उस अन्त्य अवयवी के बीच जितने द्वयणुक-त्र्यणुक आदि मध्य अवयवी होंगे, सब के विनाश और उत्पाद तथा उनमें पाकज रूप की उत्पत्ति, इन सब के लिए जितने क्षण अलग-अलग अपेक्षित होंगे उन सब की अपेक्षा होगी। उदाहरण द्वारा इसे यों समझना चाहिए, यथा—पहले घड़ा कच्चा था, उससे वेगवान् आग का संयोग होने पर परमाणु में क्रिया उत्पन्न होकर पूर्व उक्त प्रक्रिया से कच्चा द्वयणुक मरा, उससे त्र्यणुक मरा। इस प्रकार आगे-आगे होने वाले मध्यावयवी मरते गये और कच्चा कपाल मरकर कच्चा घड़ा मरा। अत: इतने विनाश के लिए अपेक्षित क्षणों की अपेक्षा अवश्य होगी। इसी प्रकार पककर लाल हो जाने वाले सारे परमाणुओं में क्रिया होकर पूर्व उक्त पद्धति से प्रथमत: असंख्य पक्व द्वयणुक उत्पन्न होंगे। फिर उन असंख्य द्वयणुकों में क्रिया उत्पन्न होकर पूर्व प्रदर्शित प्रक्रिया से पक्व द्वयणुकों की संख्या से तृतीयांश संख्या वाले पक्व त्र्यणुक बनेंगे। इसी प्रकार पक्व चतुरणुक आदि के क्रम से अर्धाल्प संख्यक पक्व अवयवी उत्पन्न होते-होते दो मात्र पक्व कपाल उत्पन्न होंगे जिन दोनों से एक पका घड़ा उत्पन्न होगा। फिर उसमें लाल रूप उत्पन्न होगा। अत: द्वयणुक से लेकर कपाल तक की उत्पत्ति के लिए अपेक्षित सभी क्षणों की अपेक्षा पक्व घट की उत्पत्ति में होगी। साथ ही जितने अवयवी द्रव्य उत्पन्न होंगे प्रत्येक में रूप की

उत्पत्ति के लिए भी एक एक क्षण की अपेक्षा हुआ करेगी। ऐसी परिस्थिति में एक घड़े में पाकज रूप-रस आदि की उत्पत्ति के लिए कितने क्षणों की अपेक्षा होगी इसका आकलन करना एक विराट व्यापार है। फिर भी कुछ हद तक पहुँचने की चेष्टा करना बुद्धिमानों के लिए उचित है।

कुछ लोगों का कहना है कि यहाँ एक बात और ध्यान में रखने की यह है कि अभी तक जो यहाँ द्वयणुक में पाक की क्षणप्रक्रिया बतलायी गयी है वह एक ही परमाणु में पूर्व द्वयणुक-नाशानुकूल और अन्य परवर्ती द्वयणुक-उत्पादानुकूल क्रिया मान कर है। यदि एक परमाणु में द्वयणुकनाशानुकूल क्रिया और अपर परमाणु में द्वयणुक उत्पादानुकूल क्रिया होगी तो परिस्थिति की विभिन्नता के कारण उक्त अपेक्षित नौ-दस आदि क्षणों से कम क्षणों में भी कार्य का सम्पादन हो सकता है। पूर्ववर्ती कच्चे द्वयणुक के विनाशक्षण को प्रथम क्षण मानकर आठवें, सातवें, छठे और पाँचवें क्षणों में भी नये द्वयणुक में रूप की उत्पत्ति हो सकती है। उदाहरण द्वारा इसे यों समझा जा सकता है, यथा--कच्चे द्वयणुक के अवयव एक परमाणु में द्वयणुक-नाशानुकूल क्रिया होकर विभाग, पूर्व संयोग नाश एवं द्वयणुक नाश होने पर पूर्व रूप-नाश के अव्यवहित पर क्षण में अपर परमाणु में पक्व द्वयणुक के उत्पाद के अनुकूल क्रिया की उत्पत्ति हुई। उसके पर क्षण में पूर्वविभक्त पक्व परमाणु का अपने आश्रय से विभाग हुआ, फिर उस आश्रय के साथ पूर्व-संयोग का नाश हुआ। फिर पक्व परमाणु-द्वय का संयोगस्वरूप उत्तर-देशसंयोग हुआ और उसके बाद अव्यवहित क्षण में उस पक्व द्वयणुक में नवीन रूप की उत्पत्ति हुई। इस परिस्थिति में द्वयणुक-नाश क्षण के आठवें क्षण में ही नवीन द्वयणुक की रूपोत्पत्ति हुई। क्योंकि पहले जब नौ क्षण वाली प्रक्रिया थी तब परमाणु में रूपोत्पत्ति होने के दूसरे क्षण में नवीन द्वयणुक की उत्पत्ति के अनुकूल क्रिया होती थी। अब जब कि उससे एक क्षण पहले ही परमाण्वन्तर में द्वयणुक की उत्पत्ति के अनुकूल क्रिया हो गयी तब अन्तिम कार्य द्वयणुक में रूप की उत्पत्ति भी पहले से एक क्षण पहले हो यह स्वाभाविक ही है। जैसे कोई व्यक्ति एक घंटे के रास्ते को तय करने के लिए १२ बजे चलकर एक बजे गन्तव्य स्थान पर पहुँचता है, यदि वह पूर्वसमान गति से चलने वाला व्यक्ति कभी ११ बजकर ५९ मिनट पर ही अपने स्थान से चल पड़ता है तो १२ बजकर ५९ मिनट पर ही वहाँ पहुँच जाता है। उसी प्रकार जब द्वयणुकोत्पत्ति के अनुकूल होने वाली क्रिया परमाणु में रूपोत्पत्ति-क्षण के अनन्तर उत्तर क्षण में न होकर उससे एक क्षण पहले रूपोत्पत्ति-क्षण में ही उत्पन्न हो जायगी तब द्वयणुक की उत्पत्ति भी पूर्वापेक्षया एक क्षण पहले होगी। अतः उसमें रूप भी पूर्व क्रिया की अपेक्षा से एक क्षण पहले उत्पन्न

होगा। ऐसी परिस्थिति में द्वयणुक-नाशक्षण के आठवें क्षण में द्वयणुक में रूप की उत्पत्ति होगी। यहाँ ही यदि सर्वप्रथम परमाणु में होने वाले द्वयणुकनाश के प्रति अनुकूल क्रिया की उत्पत्ति के क्षण से गणना की जाय तो पूर्व द्वयणुक-नाशानुकूल परमाणु-कंपन क्षण से ११वें क्षण में नये द्वयणुक में नवीन रूप की उत्पत्ति होगी। क्योंकि सर्वत्र परमाणुकंपन-क्षण के चतुर्थ क्षण में नियमत: पूर्व द्वयणुक का नाश होता है। सुतरां आठ क्षणों से अधिक द्वयणुक नाश के पूर्व-तीन क्षणों को जोड़ने से क्षणों की संख्या ग्यारह हो जायगी। स्पष्ट उदाहरण द्वारा इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—

(१) कच्चे द्वयणुक के अवयव परमाणु में क्रिया हुई। (२) तब दोनों परमाणुओं का विभाग हुआ। (३) फिर पूर्व संयोग का नाश हुआ। (४) तब द्वयणुक का नाश हुआ (१)। (५) अनन्तर परमाणुओं में पूर्वरूप का नाश हुआ (२)। (६) तब परमाणुओं में नवीन रूप की उत्पत्ति हुई और दूसरे परमाणु में नवीन द्वयणुकानुकूल क्रियाशील द्वयणुकाभिमुख क्रिया भी हुई (३)। (७) फिर क्रिया-जन्य विभाग उस दूसरे परमाणु में देशान्तर से हुआ (४)। (८) तब उस क्रियाशील दूसरे परमाणु का देशान्तर के साथ विद्यमान संयोग नष्ट हुआ (५)। (९) फिर दोनों पक्व रूपसंपन्न परमाणु आपस में जुटे (६)। (१०) तब नवीन द्वयणुक उत्पन्न हुआ (७)। (११) तब नवीन द्वयणुक में नवीन रूप उत्पन्न हुआ (८)। यहाँ बायीं ओर के अंकों पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि प्रथम परमाणुकंपन-क्षण के परवर्ती ग्यारहवें क्षण में नवीन द्वयणुक में नवीन रूप की उत्पत्ति होती है और दायीं ओर की संख्याओं पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कच्चे द्वयणुक के नाशक्षण से आठवें क्षण में नवीन द्वयणुक में रूपोत्पत्ति होती है। इसी प्रकार अन्य परमाणु में यदि नवीन द्वयणुकोत्पाद क्रिया, परमाणु में होने वाले नवीन रूपोत्पत्ति-क्षण के और एक क्षण पहले अर्थात् पूर्व रूपनाश क्षण में ही उत्पन्न हो जायगी, तो अपेक्षित क्षणसंख्या एक क्षण और कम हो जायगी। जहाँ द्वयणुकनाश के अष्टम क्षण में नवीन द्वयणुक में नवीन रूपोत्पाद होता था वहाँ अब उसके सप्तम क्षण में ही और प्रथम परमाणुकंपन के क्षण से दशम क्षण में ही हो जायगा। जैसे—(१) परमाणु क्रिया, (२) परमाणु विभाग, (३) परमाणु-पूर्व संयोग नाश, (४) द्वयणुक नाश (१), (५) परमाणु-पूर्वरूप नाश और अन्य परमाणु में पूर्व परमाण्वभिमुख क्रिया (२)। (६) परमाणु में नवीन रूप की उत्पत्ति और द्वितीय परमाणु का देशान्तर विभाग (३) (७) और परमाणुओं का संयोग नाश (४), (८) परमाणुओं में परस्पर संयोग (५), (९) नवीन द्वयणुक

की उत्पत्ति (६), (१०) उसमें नवीन रूप की उत्पत्ति (७)।

इसी प्रकार यदि नवीन द्व्यणुकारम्भक क्रिया पूर्वरूप नाश-क्षण में न होकर उससे भी एक क्षण और पहले द्व्यणुक-नाश-क्षण में ही उत्पन्न हो जायगी तो अपेक्षित संख्या में और एक क्षण की कमी हो जायगी। द्व्यणुक-नाश-क्षण से छठे और प्राथमिक परमाणुकंपन-क्षण से नवें क्षण में ही द्व्यणुक में रूपोत्पाद संपन्न हो जायगा। यथा—(१) परमाणु में क्रिया। (२) दो परमाणुओं का विभाग। (३) परमाणु-पूर्व-संयोग नाश। (४) द्व्यणुक नाश और परमाण्वन्तर में क्रिया (१)। (५) परमाणुओं में पूर्व रूप का नाश और अन्य परमाणु का देशान्तर से विभाग (२)। (६) परमाणु में रूपांतर की उत्पत्ति और अन्य परमाणु का देशान्तर-संयोग नाश (३)। (७) परमाणुद्वय का पुनः संयोग (४)। (८) द्व्यणुकोत्पत्ति (५)। (९) द्व्यणुक में रूपोत्पत्ति (६)।

इसी प्रकार द्व्यणुकोत्पत्ति के अनुकूल क्रिया की उत्पत्ति यदि एक क्षण और पहले हो जाय अर्थात् परमाण्वन्तर में द्व्यणुक-उत्पादानुकूल क्रिया पूर्व द्व्यणुक-विनाश क्षण से भी एक क्षण पहले पूर्व-संयोग-नाश के क्षण में ही अर्थात् प्राथमिक परमाणु-कंपन क्षण के परवर्ती तृतीय क्षण में ही उत्पन्न हो जाय तो नवीन द्व्यणुक में नवीन रूप-उत्पाद के लिए द्व्यणुकनाश-क्षण से पाँच ही परवर्ती क्षणों की अपेक्षा होगी। अर्थात् प्राथमिक परमाणुकंपन-क्षण से अष्टम और द्व्यणुकनाश-क्षण से पंचम क्षण में ही नवीन द्व्यणुक में नवीन रूपोत्पाद हो जायगा। जैसे—

(१) एक परमाणु में क्रिया। (२) विभाग। (३) पूर्व संयोग नाश और परमाण्वन्तर में क्रिया। (४) द्व्यणुकनाश और अन्य परमाणु का देशान्तर से विभाग (१)। (५) परमाणु में पूर्व रूप नाश और देशान्तरीय परमाणु-पूर्वसंयोग नाश (२)। (६) परमाणु में नवीन रूपोत्पत्ति और परमाणुद्वय का पुनः संयोग (३)। (७) द्व्यणुक की उत्पत्ति (४)। (८) उसमें नवीन रूप की उत्पत्ति (५)।

इससे अधिक क्षण-लाघव इसलिए नहीं किया जा सकता कि परमाण्वन्तर में होने वाले कर्म को आरंभक होने के कारण अपर परमाण्वभिमुख मानना होगा। और जब तक दो परमाणुओं के पूर्व संयोग का नाश नहीं हो रहा है तब तक दोनों संयुक्त ही हैं। तब तक परमाण्वन्तर में होने वाली क्रिया पूर्व परमाण्वभिमुख कैसे हो सकती है? अतः अगत्या पूर्वसंयोगनाश क्षण से पहले वह नहीं मानी जा सकती और विभाग-क्षण से पूर्व एक परमाणुगत क्रिया के उत्पत्तिक्षण में परमाण्वन्तर में क्रिया की उत्पत्ति मानने पर भी क्षण-लाघव में कोई उपकार प्राप्त नहीं हो सकता।

वस्तुतः विचार करने पर यह उचित नहीं प्रतीत होता कि परमाण्वन्तर में नवीन

द्व्यणुक के आरंभानुकूल क्रिया की उत्पत्ति मानकर, क्षण-लाघव युक्त उक्त पाँच, छः, सात और आठ क्षण वाली क्षणप्रक्रिया मानी जाय। क्योंकि प्रदर्शित लाघवयुक्त चार प्रक्रियाओं के अन्दर सर्वाधिक क्षणसापेक्ष आठ क्षण वाली प्रक्रिया में भी परमाणु-रूपोत्पत्ति क्षण में परमाण्वन्तर में द्रव्यारम्भानुकूल क्रिया माननी पड़ती है जो कि अनुभवविरुद्ध है। निर्गुण द्रव्य में क्रिया नहीं उत्पन्न होती है यह बात पहले बतलायी जा चुकी है। जब कि रूप की उत्पत्ति हो रही है उस क्षण में द्रव्य को सगुण नहीं कहा जा सकता। यत: उसमें द्रव्यारम्भानुकूल क्रिया उत्पन्न हो सकेगी। सुतरां पूर्व रूप-नाश क्षण में भी परमाण्वन्तर में नवीन द्व्यणुकारंभानुकूल कंपन नहीं माना जा सकता। यह तो कहा नहीं जा सकता कि परमाण्वन्तर में रूप की उत्पत्ति पहले हो गयी थी। क्योंकि कच्चे द्व्यणुक के दोनों ही परमाणु एक से ही थे। पाक स्थल में आ-परमाण्वन्त भंग मानने वाले यह तो कह नहीं सकते कि कच्चे द्व्यणुक का अवयवभूत एक परमाणु अपक्व था और दूसरा पक्व। सुतरां यह नहीं कहा जा सकता कि इससे पहले ही वह परमाण्वन्तर जो कि कच्चे द्व्यणुक का एक अपक्व अवयव था वह पहले ही सगुण हो गया था। जब निर्गुणता के कारण रूपोत्पत्तिक्षण में परमाण्वन्तर में उक्त क्रिया नहीं हो सकती और उससे भी पूर्व पूर्वरूप-नाश क्षण में नवीन आरंभानुकूल क्रिया उत्पन्न होगी यह कैसे कहा जा सकता है? अत: आठ और सात क्षण वाली प्रक्रिया खण्डित हो गयी। रही पाँच और छ: क्षण वाली प्रक्रिया, जहाँ यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि सामान्यत: निर्गुणता के कारण उसमें क्रिया की उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि तब तक उन पूर्ववर्ती रूप आदि को लेकर सगुणता वर्तमान ही थी। परन्तु वहाँ भी यह तो कहा ही जा सकता है कि सामान्यत: क्रिया की उत्पत्ति में जैसे सामान्यत: सगुणता, अर्थात् क्रियाश्रय द्रव्य को क्रिया की उत्पत्ति से पहले ही सगुण हो जाना अपेक्षित है, उसी प्रकार क्रियाविशेष की उत्पत्ति के लिए उससे पूर्व ही उसमें गुणविशेष को लेकर होने वाली सगुणता अपेक्षित होती है। पाक स्थल में अन्यत्र सर्वत्र जब कि यही अव्यभिचरित रूप में देखा जाता है कि पाकविनष्ट द्व्यणुक के अवयव में होने वाली क्रिया पाकोत्पन्न गुणपूर्वक ही होती है, तब पूर्वरूपवान् कच्चे परमाणु के अवयवभूत किसी परमाणु में तब तक नवीन द्व्यणुकारंभक क्रिया कैसे हो सकती है, जब तक पाकज रूप को लेकर वह परमाणु सगुण न हो जाय। अत: द्व्यणुक-नाश या पूर्व संयोगनाश क्षण में नवीन द्रव्यारंभानुकूल क्रिया की उत्पत्ति नहीं कही जा सकती। सुतरां ५ व ६ क्षण वाली प्रक्रिया भी संगत नहीं कही जा सकती।

मन की गति

क्रियाएँ पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन इन पाँचों द्रव्यों में ही होती हैं जिन्हें

मूर्त कहा जाता है। सभी प्रकार की गतियों के अन्दर मनोगति अर्थात् मन की क्रियाएँ अपना विशेष स्थान रखती हैं। क्योंकि मूलतः इस मनोगति के ही सौष्ठव या औचित्य से प्राणी प्रेय एवं श्रेय अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस यानी सुभोग और मोक्ष को प्राप्त करते हैं। मन क्यों माना जाता है, उसका क्या स्वरूप है? ये सारी बातें पूर्व प्रकरण में बतलायी जा चुकी हैं। उत्क्षेपण, अपक्षेपण आदि पूर्वविभक्त क्रियाविशेषों के अन्दर मन में उत्क्षेपण और अपक्षेपण तथा गमन ये तीन प्रकार की क्रियाएँ हो सकती हैं। आकुंचन और प्रसारण ये दो प्रकार की क्रियाएँ नियमतः सावयव द्रव्यों में ही हो सकती हैं। मन सावयव द्रव्य नहीं किन्तु निरवयव द्रव्य है यह बात भी पहले ही बतलायी जा चुकी है। सुतरां यह मानना ही होगा कि आकुंचन और प्रसारण ये दो क्रियाएँ मन में नहीं होती हैं। उत्क्षेपण और अपक्षेपण ये दो क्रियाएँ भी मन में क्वाचित्क अति विरल होती हैं। अतः स्वभावतः मन की क्रियाएँ गमनात्मक ही हुआ करती हैं। उत्क्षेपणात्मक क्रिया मन में वहाँ ही होती है जहाँ योगी अधःस्थित मन को ऊर्ध्ववर्ती किसी शरीरप्रदेश में आबद्ध करते हैं, अर्थात् उपरितन शरीर देश में इच्छा-पूर्वक "धारणा" करते हैं। मन को किसी भी शरीर प्रदेश में आबद्ध करना ही धारणा है। पहले यह बात स्पष्ट बतलायी जा चुकी है कि जो ऊर्ध्वदेश-संयोगानुकूल क्रिया प्राणी के इच्छा-प्रयत्न पूर्वक होती है वही उत्क्षेपण कहलाती है। योगी उक्त स्थल में इच्छा एवं प्रयत्नपूर्वक ही किसी भी शारीरिक ऊर्ध्वस्थित प्रदेश में मन को लगाते हैं, अतः वह मन की क्रिया अवश्य उत्क्षेपण कहलायेगी। इसी प्रकार योगी जब ऊपर-स्थित मन को किसी भी निम्नवर्ती शारीरिक प्रदेश में लगायेगा तो वहाँ की मनोगति अपक्षेपण कहलायेगी। उत्क्षेपण के समान अपक्षेपण क्रिया के लिए भी क्रिया-विषयक इच्छा अपेक्षित है, यह बात पहले अपक्षेपण के विचारावसर पर स्पष्ट रूप में बतलायी जा चुकी है।

इन दो स्थलों के अतिरिक्त मन की सारी क्रियाएँ गमनरूप ही परिशेषवश होंगी। मुक्ति और सुषुप्ति इन दो परिस्थितियों को छोड़कर जीव की अन्य ऐसी कोई भी परिस्थिति नहीं होती जब कि मन निष्क्रिय अर्थात् गमनात्मक क्रिया से रहित हो। कोई भी विवेकी यह भली भाँति समझ सकता है कि मेरा मन उक्त दो परिस्थितियों के अतिरिक्त कभी स्पन्दनहीन—निष्क्रिय नहीं होता। आज तो "मनोविज्ञान" एक स्वतंत्र शास्त्र बन गया है जिसके द्वारा मनोगति के सम्बन्ध में विशेष रूप से अध्ययन किया जाता है। जो लोग मन को मध्यम परिमाण वाला अर्थात् सावयव जन्य द्रव्य पृथ्वी जल आदि की तरह मानते हैं उनके मत में मन में आकुंचन और प्रसारण क्रिया भी होती है। अनेकावधान स्थल में नाना इन्द्रियों के साथ मन को एक काल में

जुटाने के लिए ही वे लोग मन को सावयव मानते हैं। मन को सावयव मानने पर भी यदि उसमें आकुंचन और प्रसारण क्रियाएँ न मानेंगे तो एक काल में अनेक विषयों के विभिन्न इंद्रियजन्य ज्ञान की उत्पत्ति-स्वरूप अनेकावधान फिर भी उनके मत में न बन सकेगा। अतः वे लोग मन में आकुंचन और प्रसारण भी रबड़ की तरह मानते हैं। परन्तु सिद्धान्ततः यहाँ द्रव्य-निरूपण में यह स्पष्ट रूप से बतलाया जा चुका है कि एक काल में अनेक ज्ञानों की उत्पत्तिस्वरूप अनेकावधान होता नहीं। कमल-दल-शतक के युगपत् सूचीभेदन-भ्रम के समान अविलम्बेन क्रमिक उत्पन्न विभिन्न ज्ञानों में एकता एवं एककालता का विभ्रम मात्र होता है। अतः मन निरवयव और परमाणु-परिमाण है। सुतरां उसमें आकुंचन और प्रसारण कभी नहीं हो सकता।

विचार करने पर बौद्ध विद्वानों का आत्मा रूप से या 'सत्' रूप से स्वीकृत "क्षणिक विज्ञान" इस मनोगति के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो पाता। उन लोगों के मत में धर्म-धर्मिभाव केवल साम्वृतिक व्यावहारिक होने के कारण उसे क्षणिक विज्ञान (मन) कह दिया जाय या मनोगति कह दिया जाय, सब सही निकलेगा। "विज्ञायते अनेन इति विज्ञानम्" अर्थात् जिससे अपना आकारभूत विषय विषयीकृत अर्थात् प्रकाशित हो उसका नाम होता है 'विज्ञान', इस व्याख्या से यह अनायास स्पष्ट प्रतीत होता है कि मन के अतिरिक्त कोई विज्ञान पदार्थ नहीं हो सकता। विज्ञान में क्षणिकत्व उसे क्रियारूप मानने पर हो सकता है, सुतरां उसे मनोगति ही कहना होगा। यद्यपि यह सूझ कुछ नयी जैसी अवश्य है किन्तु है निःसन्देह तथ्य। सिद्धान्ततः यहाँ मन नित्य है—उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः वह क्षणिक नहीं हो सकता। गति और गतिमान् दोनों एक नहीं हो सकते। क्योंकि कभी गतिविहीन होकर द्रव्य पड़े रहते हैं इत्यादि बातें प्रथम भाग में स्पष्ट की जा चुकी हैं।

कुछ लोग मनोगति को मन का परिणमन स्वरूप मानते हैं। वे इसी मनोगति को चार भागों में विभक्त समझते हुए इसके सहारे मन के भी चार प्रकार बना डालते हैं। उनका कहना यह है कि (१) संशय, (२) निश्चय, (३) गर्व और (४) स्मरण ये चार प्रकार के आन्तर कार्य अर्थात् परिणाम अनुभवसिद्ध हैं, अतः उक्त कार्यभेद-प्रयुक्त इनके कारण में भी अर्थात् परिणामी में भी तदनुरूप भेद होना चाहिए। अतः (१) मन, (२) बुद्धि, (३) अहंकार और (४) चित्त ये चार प्रकार के आन्तर करण हैं। परन्तु सिद्धान्ततः उक्त संशय आदि मन आदि के परिणाम नहीं, अपितु एक ही मन की विभिन्न स्पन्दनात्मक गति से आत्मा में उत्पन्न होने वाले कार्य हैं. परिणामस्वरूप नहीं। कार्य के भेद से यदि मन को बाँटा जाय तो उसके प्रभेद चार ही क्यों असंख्य होंगे। क्योंकि वह स्वसम्पृक्त विभिन्न इन्द्रियों के सहारे असंख्य

विभिन्न विषयक प्रत्यक्ष एवं स्वतंत्रतया असंख्य सुख-दुःख आदि का प्रत्यक्ष, असंख्य अनुमिति, उपमिति, शाब्दबोध आदि कार्यों का उत्पादन करता है। अतः कार्यभेद से विभक्त करने पर विभक्तों की संख्या चार मात्र नहीं रखी जा सकती। जातीयता के आधार पर कार्यों का वर्गीकरण करने पर भी संख्या चार से कहीं अधिक हो जायगी। अतः मन एक ही प्रकार का होता है और उसकी गति को एक ही मनोगति शब्द से कह सकते हैं। इसका कार्य आत्मा में ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, धर्म-अधर्म और भावना नामक गुणों को उत्पन्न करना है। ज्ञान, इच्छा आदि गुण एवं उनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन गुण-निरूपण में किया जा चुका है।

कुछ मनःपरिणामवादी लोग मन को व्यापकमानने के कारण उसमें स्पन्दनात्मक गति नहीं मानते, क्योंकि ऐसी गति नियमतः अव्यापक द्रव्य में ही हो सकती है। यही कारण है कि आत्मा, आकाश आदि व्यापक द्रव्यों में क्रिया नहीं हो पाती, सुतरां व्यापक मन में भी क्रिया कैसे होगी। परन्तु मन तत्त्वतः व्यापक नहीं यह बात अनेक बार बतलायी जा चुकी है, अतः मन में स्पन्दनात्मक गति अबाध रूप से हो सकती है। यहाँ यह एक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि योगियों के कायव्यूह स्थल में एक काल में ही बहुसंख्यक विभिन्न शरीरों में विभिन्न प्रकार का उपभोग कैसे बन सकेगा? यह तो कहा नहीं जा सकता कि कायव्यूह की चर्चा योगियों की प्रशंसा मात्र के लिए है। तत्त्वतः कायव्यूह अर्थात् यौगिक साधना के बल से युगपत् विभिन्न प्रकार के भोग के लिए विभिन्न शरीरों का निर्माण और उनके सहारे एकदा ही विभिन्न प्रकार के सुख और दुःखों का उपभोग होता ही नहीं। क्योंकि इस गये गुज़रे ज़माने में आज भी योग बल का चमत्कार देखने को मिलता है। योग ही एक ऐसी वस्तु है जहाँ पर समस्त आस्तिक और नास्तिक दर्शनों के लिए समन्वय की नींव निहित है। योग को कड़ी आलोचना करने वाले कर्ममीमांसक तथा ब्रह्ममीमांसक भी कायव्यूह आदि योगबल के कार्य का खण्डन नहीं करते। यदि यह कहा जाय कि अनेक नवीन शरीरों के साथ अनेक मन भी उत्पन्न होते हैं, तो वह इसलिए नहीं कहा जा सकता कि प्रथम प्रकरण में मन को नित्य कहा जा चुका है। साथ ही एक आत्मा के लिए एक काल में नाना मन मानने पर प्राधान्य और अप्राधान्य का भी झगड़ा उठ खड़ा हो जायगा। अतः मन को व्यापक मानना ही पड़ेगा और व्यापक में स्पन्दनात्मक क्रिया हो नहीं सकती। सुतरां मनोगति शब्द से मन की स्पन्दनात्मक क्रिया नहीं ली जा सकती।

इसका उत्तर यह समझना चाहिए—योगी अपने अलौकिक योग बल से एक दीर्घ स्वप्नसृष्टि करता है जिसमें बहु-दिनसाध्य, बहु प्रकार के भोग शीघ्र संपन्न कर लिये जाते हैं। स्वप्न में बहु-दिनसाध्य कार्य भी शीघ्र संपन्न होता देखा ही

जाता है। उस समय स्वप्नद्रष्टा अपने एक शरीर को अनेक देखता हुआ सब में भोगाभिमान करता है, अतः उसे कायव्यूह कहते हैं। अथवा योगी अपने योगबल से अति शीघ्र से शीघ्र विभिन्न शरीरों के साथ अपने एक ही मन को जोड़ कर अविलम्बेन भोग संपन्न करता है। कहने का अभिप्राय यह कि अनेक भोग युगपत् नहीं होते किन्तु अविलम्बतः सम्पन्न होने वाले उन भोगों में यौगपद्य का, उक्त उत्पल-शतपत्र-भेदन स्थल के समान अभिमान अर्थात् भान मात्र होता है। कर्ममीमांसक लोग भी सन्निहित क्रमिक क्रियाओं को सह-सम्पन्न कह दिया करते हैं, तद्वत् यहाँ भी समझना चाहिए। अतः न नाना मनों की उत्पत्ति मानने की जरूरत है और न मन को व्यापक मानने की। अतः मन की गति मानने में कोई बाधा नहीं।

कुछ लोग स्वप्न-अनुभव के बल पर ही मन को सावयव मानते हैं और उसका परिणमन भी। उनका कहना है कि स्वप्न में जो वस्तुएँ देखी जाती हैं वे तो तत्त्वतः वहाँ रहती नहीं यह बात सर्ववादिसिद्ध है। यदि यह कहा जाय कि वे वस्तुएँ उसी समय उत्पन्न हो जाती हैं, तो कारण का प्रश्न उठ खड़ा हो जाता है कि किस उपादान से वे वहाँ तुरन्त बन जाती हैं? व्यावहारिक द्रव्यवस्तुएँ अपने सजातीय अवयवों के संयोग से हुआ करती हैं जिनका जुटना वहाँ अति असम्भूत रहता है। ऐसी परिस्थिति में चारा एक यही रह जाता है कि द्रष्टा व्यक्ति का मन ही वहाँ विभिन्न दृश्य विषय के आकार में परिणत हो जाता है। परिणमन कभी निरवयव वस्तु का होता नहीं। अतः उन स्वाप्न विभिन्न दृश्यों के रूप में परिणामी होने वाले मन को सावयव भी मानना ही होगा। अतः मनोगति शब्द से मन का परिणमन ही कहा जाना चाहिए; स्पन्दनात्मक क्रिया नहीं।

किन्तु प्रथम गुणनिरूपण में यह बात सिद्ध की जा चुकी है कि स्वाप्न ज्ञान या तो अन्यथाख्याति स्वरूप भ्रमात्मक ज्ञान है या स्मरणात्मक। दोनों में ही वहाँ उस समय दृश्य विषय की सत्ता अपेक्षित नहीं होती। अन्य ही विद्यमान या अविद्यमान पूर्वानुभूत विषय वहाँ अदृष्ट-वैभव से दृश्य रूप में उपस्थित हो जाते हैं। सुतरां स्वाप्न दृश्य वस्तुओं की उत्पत्ति के लिए कारण की चिन्ता उठती ही नहीं, जिसके निराकरण के लिए मन को परिणामी अतः सावयव माना जाय। अतः यह सिद्धान्त सर्वथा अक्षुण्ण है कि मन अति अणु है और स्पन्दनात्मक-क्रियाशील है।

नाड़ीतन्त्र

इदानींतन शरीरविवेचकों का कहना है—मस्तिष्क, सुषुम्नाकाण्ड और अन्य नाड़ियाँ, इनके द्वारा नाड़ीतंत्र गठित होता है। मस्तिष्क के दो प्रभेद हैं। यथा एक गुरु मस्तिष्क और दूसरा लघु मस्तिष्क। दोनों ही मस्तिष्क खोपड़ी के अंदर

अग्र-पश्चात् भाव से अवस्थित हैं। घड़ से मलद्वार तक लंबायमान मेरुदंड के मध्यवर्ती छिद्र में जो नाड़ीकोश अवस्थित है, जिससे निर्गत नाड़ियों का जाल समग्र शरीर में व्याप्त है उसे ही कहते हैं "सुषुम्नाकाण्ड"। सुषुम्नाकाण्ड से अर्थात् नाड़ीकोश से निर्गत उन नाड़ियों को दो भागों में विभक्त समझना चाहिए, यथा एक (१) चैष्टिक और द्वितीय (२) सांवेदनिक। सुषुम्नाकाण्ड से उठकर बाहर की ओर जाती हुई नाड़ियाँ कहलाती हैं चैष्टिक और शरीर के विभिन्न भागों से लौटकर उक्त सुषुम्नाकाण्ड में प्रवेश करने वाली नाड़ियाँ कहलाती हैं सांवेदनिक। इन दोनों प्रकार की नाड़ियों का जाल चर्म, पेशी, आभ्यन्तरिक यन्त्रसमूह तक में अर्थात् प्राणिदेह के प्रत्येक भाग में बिछा रहता है।

इन शरीरविवेचकों का कहना है कि इस नाड़ीतंत्र की तुलना अनायास आधुनिक टेलीफ़ोन यंत्र से कर सकते हैं। टेलीफ़ोन यंत्र के द्वारा जिस प्रकार अति अल्प समय में एक स्थान से अन्य स्थान तक संवाद का आदान-प्रदान किया जा सकता है, उसी प्रकार शरीर के किस भाग में क्या हो रहा है यह संवाद इस नाड़ीतंत्र के सहारे मस्तिष्क तक पहुँच जाता है। इतना ही नहीं कि सांवेदनिक नाड़ियों के द्वारा मस्तिष्क शरीर के विभागों में घटी घटनाओं को केवल समझता है; किन्तु चैष्टिक नाड़ियों के द्वारा अपेक्षित प्रतिविधान भी करता है। उदाहरण के द्वारा इसे यों अनायास समझा जा सकता है कि शरीर के किसी स्थान में यदि चींटी या मच्छर भी काटता है तो उसके प्रतिविधान के लिए हाथ तुरंत वहाँ पहुँच जाता है। क्योंकि काटने के स्थान में संलग्न सांवेदनिक नाड़ी के सहारे मस्तिष्क तक उस काटने की खबर पहुँच जाती है और चैष्टिक नाड़ी के सहारे वह मस्तिष्क तुरंत हाथ को प्रतिविधान का आदेश देकर वहाँ खबर भेज देता है।

टेलीफ़ोन के तार कट जाने पर किंवा व्यवस्थालय की गड़बड़ी होने पर जिस प्रकार संवाद का आदान-प्रदान नहीं बन पाता है, उसी प्रकार किसी नाड़ी के कट जाने पर अथवा अकर्मण्य हो जाने पर किंवा व्यवस्थाकेन्द्र मस्तिष्क में किसी प्रकार की गड़बड़ी उपस्थित होने पर सुव्यवस्थित रूप से शारीरिक कार्यों का संचालन नहीं हो पाता।

मस्तिष्क ही नाड़ीतंत्र का केन्द्र है। देह की अधिकांश नाड़ियाँ सुषुम्नाकाण्ड द्वारा मस्तिष्क के साथ संयुक्त रहती हैं। किसी प्रकार से किसी भी नाड़ी का मस्तिष्क के साथ संयोग विच्छेद होने पर वह नाड़ी मस्तिष्क के अधीन नहीं रह जाती। अतः उस नाड़ी के द्वारा उस नाड़ी के देह प्रदेश का कार्य ठप हो जाता है। सुषुम्नाकाण्ड के ऊर्ध्वतम प्रदेश को सुषुम्नाशीर्षक कहा जाता है। इसी स्थान में हृत्पिण्ड और श्वास-प्रश्वास का केन्द्र अवस्थित रहता है। इसीलिए इस स्थान पर अकस्मात् आघात प्राप्त

होने पर तत्क्षण श्वास बन्द होकर प्राणी मर जाता है ।

सार यह कि मस्तिष्क ही इस देहराज्य का कर्त्ता राजा है । इसी के सुशासन में शरीर के विभिन्न भागों में विभिन्न नियमित क्रियाएँ सुव्यवस्थित रूप से सम्पादित होती हैं । यह मस्तिष्क दो भागों में विभक्त है, जैसे (१) दक्षिणार्ध और (२) वामार्ध । सारी ज्ञानेन्द्रियाँ या यों कहा जाय कि सारी ज्ञानेन्द्रिय-नाड़ियाँ इसी से सम्बद्ध हैं। इस नाड़ीतांत्रिक सिद्धान्त में मन, बुद्धि, विवेक, इच्छा, प्रयत्न आदि सभी आन्तर भाव इस मस्तिष्क के विकास मात्र हैं । मस्तिष्क को बाद दे देने पर शरीर चालकविहीन रेलगाड़ी, स्टीमर या विमान की तरह अकर्मण्य हो जाता है । मस्तिष्क ही हम लोगों के शरीरयंत्र का चालक है। सब प्राणियों में मनुष्य ही श्रेष्ठ है, इसका कारण भी यही है कि मनुष्यों का मस्तिष्क पूर्ण परिपुष्ट है इत्यादि; आज के नाड़ी-तान्त्रिकों का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त में क्रिया की महत्ता और अत्यधिक बढ़ जाती है। क्योंकि मस्तिष्क एवं नाड़ियाँ सभी भौतिक ही हैं, अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज और वायु स्वरूप भूतों से ही निर्मित हैं। अतः इनकी बदलती हुई कर्मण्यता, क्षमता क्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती । सुतरां चेतना भी इस सिद्धान्त में क्रिया ही हो जाती है ।

परन्तु प्राच्य पदार्थशास्त्री चेतना को भौतिक धर्म नहीं मानते । अतः चेतना क्रिया नहीं है। वह एक स्थायी आत्मा का गुण है यह ज्ञान के विचार में बतलाया जा चुका है । इस प्रकरण में "ज्ञान या ध्यान क्रिया नहीं" इस विचार के द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि चेतना क्रिया नहीं है ।

कहने का अभिप्राय यह है कि नाड़ीजाल एवं प्रत्येक नाड़ी की क्रियाएँ तथा मस्तिष्क की क्रियाएँ इन सब की मान्यता तो सर्वथा स्वीकार्य है। किन्तु यह कदापि स्वीकार्य नहीं कि मस्तिष्क ही चेतनावान् है या बुद्धिपूर्वक शारीरिक विभिन्न कार्यों का संपादक है। वह भी एक भौतिक यंत्र मात्र है, यन्ता नहीं ।

नित्य-नैमित्तिक आदि रूप से क्रिया का विभाजन

कुछ लोग क्रियाओं का (१) नित्य, (२) नैमित्तिक और (३) काम्य रूप से भी विभाजन या वर्गीकरण करते हैं । उनका कहना है कि जिनका न होना अनिष्टकर हो वे क्रियाएँ होती हैं नित्य । जैसे सहज हृद्गति, सहज नाड़ीगति इत्यादि । नैमित्तिक क्रियाएँ वे होती हैं जो किसी आगन्तुक निमित्तवश की जाती हैं, जैसे गुरु की आज्ञा से या राजा की आज्ञा से कहीं जाना-आना इत्यादि । काम्य वे क्रियाएँ हैं जो अपनी इच्छा से की जाती हैं, जैसे अपनी इच्छा के अनुसार खाना

पीना इत्यादि। इन लौकिक उदाहरणों के आधार पर लौकिक क्रियाओं के समान वे लोग शास्त्रीय क्रियाओं का भी विभाजन इसी प्रकार करते हैं। जैसे वेद को शास्त्र मानने वाले अर्थात् मानकर चलने वाले "सन्ध्यावन्दन" आदि क्रियाओं को नित्य क्रिया मानते हैं। बालक की उत्पत्ति के कारण किये जाने वाले "नामकरण" आदि नैमित्तिक होते हैं। क्योंकि विधायक शास्त्र ने बच्चे के जन्मस्वरूप निमित्त प्राप्त होने पर ही "नामकरण" आदि क्रियाओं के करने का विधान रखा है। काम्य क्रियाएँ होती हैं तीर्थ-गमन आदि। क्योंकि शास्त्र में वैसी क्रिया करने का विधान वैसे ही लोगों के लिए रखा गया है जो उससे होने वाले फल को चाहते हों। यहाँ शास्त्र शब्द से वेदों का ग्रहण केवल इसीलिए किया गया है कि भारत के अधिक संख्यक लोग वेद को शास्त्र मानते हैं। जो लोग वेद को अपने लिए शास्त्र नहीं मानते हैं उनके लिए शास्त्र उसे ही विवक्षित समझना चाहिए जिसे वे अपने लिए शास्त्र अर्थात् विधि-निषेध का ज्ञापक मानते हों। कोई भी और किसी भी देश का शास्त्र क्यों न हो, विचार करने पर उससे प्रतिपादित क्रियाओं का उक्त रूप में वर्गीकरण होगा ही। क्योंकि शास्त्रीय कर्मों का इस प्रकार किया जाने वाला विभाजन या वर्गीकरण लोकबाह्य कल्पना का विषय नहीं। उक्त विभाजन सर्वथा लोकसिद्ध है यह बात उदाहरण सहित अभी बतलायी गयी है।

परन्तु पदार्थदृष्टि से विचार करने पर क्रिया का यह विभाजन स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि यदि यह विभाजन माना जाय तो इस विभाजन के पहले क्रियाओं को (१) काम्य और (२) अकाम्य इन दो भागों में विभक्त करना होगा। फिर अकाम्य क्रियाओं को नित्य और नैमित्तिक इन दो भागों में विभक्त करना होगा। कामना क्रिया का धर्म नहीं प्राणी का धर्म है। उसका विषय होने के कारण यदि क्रिया को काम्य कहा जायगा तो नैमित्तिक क्रियाएँ भी काम्य हो जायँगी। क्योंकि निमित्त प्राप्त होने पर भी उस क्रिया को कोई भी व्यक्ति कामना पूर्वक अर्थात् क्रिया की इच्छा होने पर ही करेगा। ऐसी परिस्थिति में काम्य कर्मस्थल में कामना का विषय, फल को मानना होगा। अर्थात् क्रिया से होने वाले फल की इच्छा से जो क्रिया की जायगी उसे काम्य कहा जायगा। जब कि क्रिया न कामना का आश्रय होगी और विषय तक भी न होगी तब कामना के आधार पर क्रिया का विभाजन अर्थात् वर्गीकरण कैसे किया जा सकता है? अतः उक्त विभाजन को वस्तुदृष्टि के आधार पर कृत नहीं कहा जा सकता। उत्क्षेपण और अपक्षेपण को यद्यपि उद्गति और अधोगति से अलग इच्छा-स्वरूप कामना के ही आधार पर माना गया है। किन्तु कामना के आश्रय न होने पर भी कामना के विषय तो वे दोनों कम से कम होते ही हैं, अतः उन्हें इच्छा के आधार

पर अलग मानना अनुचित नहीं कहा जा सकता। प्रकृत में यह बात नहीं है। अतः काम्य, अकाम्य रूप से या नित्य, नैमित्तिक, काम्य इन रूपों से कर्म का विभाजन पदार्थदृष्टि के अनुकूल नहीं। यही कारण है कि प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने भी क्रियाओं का इस प्रकार से विभाजन नहीं किया है।

सामान्य-निरूपण

सामान्य का स्वरूप

यों तो बहुत लोगों की धारणा, यह है कि द्रव्य, गुण और कर्म ये तीन ही पदार्थ अर्थात् वस्तुएँ तात्त्विक हैं क्योंकि ये तीनों आ-पामर साधारण रूप से प्रतीत एवं व्यवहृत हुआ करतो हैं। प्राणियों की प्रवृत्तियाँ भी इन्हीं तीनों के अन्दर किसी के लिए होती दीख पड़ती हैं। आम-अमरूद आदि अभिप्रेत द्रव्यों के लिए लोग सचेष्ट पाये जाते हैं। अच्छे रूप, अच्छे रस, अच्छी गन्ध आदि गुण के लिए भी कामना और प्रयत्न-पूर्वक चेष्टा प्राणियों में देखी जाती है। खाना-पीना आदि क्रियाओं के लिए भी प्राणी सचेष्ट होते हैं। अतः इन तीनों का अस्तित्व अनिवार्य है। किन्तु इनसे अधिक "सामान्य" नामक कोई वस्तु है, यह अनुभव के आगे नहीं टिकता। "सामान्य" शब्द की ओर दृष्टिपात करने पर भी इसी बात की पुष्टि होती है। क्योंकि समानों में रहने वाला धर्म ही 'सामान्य' शब्द का अर्थ हो सकता है। तब तो अनायास कहा जा सकता है कि समानता के अतिरिक्त 'सामान्य' नाम की और कोई वस्तु नहीं है। 'समानता' और 'सादृश्य' ये दोनों शब्द पर्याय हैं। सादृश्य, अनेक में रहने वाले एक धर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। उदाहरण के द्वारा इसे इस तरह अनायास समझा जा सकता है, यथा—किसी आकर्षक मुख को चन्द्रमा के समान कहा जाय, सदृश कहा जाय तो पर्यवसित यही होगा कि "वह मुख और चन्द्रमा दोनों ही सुन्दर हैं, फलतः यह दोनों समान हैं, दोनों सदृश हैं।" ऐसी प्रतीति एवं ऐसे वाक्य-प्रयोग के आधार पर बाध्य होकर यही कहना पड़ता है कि वहाँ "सामान्य" कहें या समानता कहें या सादृश्य कहें, वह मुख और चन्द्रमा इन दोनों में रहने वाले सौन्दर्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सौन्दर्य का विश्लेषण करने पर वहाँ उसे विलक्षण रूप, विलक्षण स्पर्श आदि गुणों के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। फलतः वहाँ का सामान्य उक्त गुणों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। इसी प्रकार अन्यत्र भी समानता, सादृश्य आदि शब्दों के पर्याय 'सामान्य' शब्द का प्रतिपाद्य अर्थ द्रव्य, गुण एवं क्रिया इन्हीं के अन्दर कोई हो जायगा। जहाँ दो पुष्प एक ही वृक्ष के

होने के कारण समान कहे जायँगे या समझे जायेंगे, उनका सामान्य उक्त वृक्षरूप होने के कारण 'द्रव्य' पदार्थ हो जायगा। वहीं यदि उन दोनों पुष्पों को वायु के झोकों से क्रियाशील होने के कारण समान कहा जायगा, या समझा जायगा, तो वहाँ का सामान्य 'क्रिया' पदार्थ हो जायगा। ऐसी परिस्थिति में 'सामान्य' को द्रव्य, गुण और कर्म से पृथक् कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानना चाहिए।

परन्तु यह उन लोगों की धारणा उचित नहीं है। क्योंकि इस धारणा के मूल में गलती यह है कि ऐसी धारणा वाले व्यक्ति "सामान्य" शब्द को ब्राह्मण्य, साधारण्य, सामानाधिकरण्य आदि शब्दों के समान यौगिक समझते हैं। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। यहाँ का "सामान्य" शब्द यौगिक नहीं है अपितु योगरूढ़ है। योगरूढ़ शब्द का परिचय गुण-प्रकरण में दिया जा चुका है। तदनुसार यह सामान्य शब्द केवल अवयवशक्तिस्वरूप योग के सहारे अनेक आश्रयों में रहने वाले द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष, समवाय या अभाव को नहीं समझा सकता, किन्तु उक्त योग और समुदायशक्ति-स्वरूप रूढ़ि दोनों के सहारे उक्त छः पदार्थों से भिन्न एवं अनेक धर्मियों में 'समवाय' नामक सम्बन्ध से रहने वाली नित्य वस्तु को समझाता है। अतः द्रव्य, गुण, कर्म आदि भले ही सादृश्य बन सकें किन्तु 'सामान्य' होने के अधिकारी नहीं हो पाते। यदि उक्त छः पदार्थों से अतिरिक्त पदार्थ में "सामान्य" शब्द की केवल रूढ़ि मानी जाय तो "सामान्य" शब्द को रूढ़ मानकर भी काम चल सकता है। अथवा अनेक आश्रयों में "समवाय" नामक सम्बन्ध से रहने वाली नित्य वस्तु में, पाणिनि के 'ई' 'ऊ' आदि में नदी आदि की तरह, परिभाषा मान ली जाय तो उक्त "सामान्य" शब्द को पारिभाषिक मानकर भी काम चल सकता है। आपत्ति केवल यौगिक मानने में है, जिसका दिग्दर्शन ऊपर प्राप्त हो चुका है।

उक्त प्रकार के सामान्य का परिचय यदि किसी उदाहरण के द्वारा प्राप्त करना हो तो वह किसी एक सामान्य को लेकर अनायास प्राप्त किया जा सकता है। यथा "पुष्पत्व", जो कि विविध प्रकार के फूलों में रहने वाला एक धर्म है, उसमें हम अनायास उक्त 'सामान्य' का स्वरूप देख सकते हैं। क्योंकि वह केवल किसी एक ही पुष्प व्यक्ति में नहीं रहता किन्तु असंख्य फूलों में समवाय नामक सम्बन्ध से रहता है, एवं एक-एक करके पुष्प व्यक्ति के नश्वर होने पर भी 'पुष्पत्व' नश्वर नहीं अतः नित्य भी है। अतः अनेक आश्रयों में समवाय नामक संबंध से रहते हुए नित्य होने के कारण वह पुष्पत्व भली भाँति 'सामान्य' कहलाने का अधिकारी होता है। समवाय सम्बन्ध का परिचय तथा सामान्य नित्य क्यों माना जाता है; इत्यादि आगे विस्तारपूर्वक बतलाया जायगा। इसी 'पुष्पत्व' के समान

'घटत्व', 'पटत्व' आदि असंख्य सामान्यों को भी समझना चाहिए।

सामान्य को अतिरिक्त स्वतन्त्र पदार्थ न मानने के पक्ष में जो यह कहा गया है कि—द्रव्य, गुण और क्रिया इन तीनों के समान 'सामान्य', जनता के किसी उपयोग में नहीं आता है, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि उपयोग में न आने का अर्थ क्या है ? यदि यह कहा जाय कि आदान-प्रदान आदि किसी प्रकार की क्रिया सामान्य की नहीं होती, यही उसका 'उपयोग में न आना' है। तो गुण और क्रिया का भी तो आदान-प्रदान नहीं किया जा सकता, उनमें भी तो किसी प्रकार की क्रिया नहीं होती। फिर वे कैसे स्वतन्त्र पदार्थ हो सकेंगे ? द्रव्यों के अन्दर भी तो पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन इन पाँचों में ही कोई क्रिया होती है आकाश आदि व्यापक द्रव्यों में नहीं, यह बात विस्तृत रूप से पहले ही बतलायी जा चुकी है। ऐसी परिस्थिति में वे व्यापक द्रव्य भी पदार्थ नहीं हो सकेंगे। क्योंकि आदान-प्रदानादि उनका भी नहीं हो पाता। अव्यापक पृथ्वी आदि सब द्रव्य भी सब के लेने-देने में नहीं आते, फिर वे भी सब के लिए पदार्थ कैसे बन पायेंगे ? अतः जनता के उपयोग में आने का अर्थ अवश्य यही करना होगा कि जनता जिसे अभ्रान्त रूप से समझती हो एवं दूसरों को समझाने के लिए जिसे बराबर किसी शब्द से कहती आती हो वह अवश्य पदार्थ होगा। सार अर्थ यह कि किसी भी वस्तु को यथार्थ रूप से समझना एवं औरों को समझाने के लिए तद्वाचक शब्द का प्रयोग करना यही है उसको अपने उपयोग में लाना। ऐसी परिस्थिति में 'सामान्य' को पदार्थ मानना ही होगा। क्योंकि यथार्थ ज्ञान और तद्वाचक शब्द का प्रयोग सामान्य के सम्बन्ध में भी होता ही है। प्रत्येक फूल में रूप, रस, गंध आदि गुण, पार्थिव रेणुस्वरूप उपादान, एवं अवयव-सन्निवेशस्वरूप आकृति, इनके अलग अलग होने पर भी सारी आपामर साधारण जनता "यह फूल है" इस प्रकार सभी फूलों को एक रूप से समझती है एवं वाक्य प्रयोग करती है। द्रव्यात्मक पुष्प व्यक्तिओं को उक्त ज्ञान का विषय एवं प्रयुक्त 'पुष्प' शब्द का वाच्य अर्थ कभी नहीं माना जा सकता। क्योंकि सारी जनता जब कि प्रत्यक्षरूप से पुष्प व्यक्तियों एवं उनकी आकृतियों को असंख्य समझती है तब 'पुष्पत्व' सामान्य को विषय किये बिना, वह अनुगत रूप से "यह पुष्प है" इस प्रकार सारे फूलों को कैसे समझ पायेगी ? एवं कैसे एक अनुगत पुष्प शब्द से कह सकेगी ? अतः सारी जनता के उक्त ज्ञान एवं वाक्यप्रयोग के आधार पर पुष्पत्व आदि जातियाँ अवश्य माननी होंगी। पुष्पत्व और पुष्प इन दोनों के विश्लेषण में, पार्थक्य-प्रवचन में अतिमूढ़ जनता भले ही असमर्थ हो परन्तु 'पुष्पत्व' से वह अपरिचित है यह नहीं कहा जा सकता। अन्यथा उक्त सार्वजनीन ज्ञान एवं वाक्यप्रयोग कभी नहीं हो सकता। यह तो सभी विषयों

में हुआ करता है कि अधिकतर लोग अनुभूयमान वस्तुओं का भी ठीक से प्रवचन नहीं कर पाते, उन्हें वे अपने दैनंदिन प्रयोगों में नहीं ला पाते। किन्तु इसीलिए उस अनुभूयमान वस्तु की अमान्यता नहीं घोषित की जा सकती। अन्यथा, गूँगा निर्वचन नहीं कर पाता इसलिए उससे आस्वादित गुड़-माधुर्य भी अमान्य हो बैठेगा। अतः पुष्प से अलग पुष्पत्व-सम्बन्धी शब्द-प्रयोग आपामर-साधारण न होने पर भी उसका एवं उसके सम्बन्ध में होने वाले सार्वजनीन अनुभव का अपलाप नहीं किया जा सकता।

यदि यह कहा जाय कि पुष्पत्व आदि सामान्य को मानने में तो कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु उसे एक स्वतन्त्र सातवाँ पदार्थ क्यों माना जाय? तो इस पर यह पूछना चाहिए कि उस पुष्पत्व आदि सामान्य को द्रव्य माना जायगा या गुण माना जायगा या कर्म, विशेष, समवाय, अभाव इनमें से कोई एक माना जायगा? द्रव्य उसे इसलिए नहीं माना जा सकता कि द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व आदि सामान्य व्यापक द्रव्य, गुण, कर्म में भी रहते हैं किन्तु कोई द्रव्य उनमें नहीं रहता। अतः द्रव्य, गुण, कर्म के स्वभाव का उल्लंघन करने वाले सामान्य को द्रव्य, गुण या कर्म कभी नहीं कहा जा सकता। सामान्य को विशेष नामक पदार्थ इसलिए नहीं कहा जा सकता कि विशेष केवल नित्य द्रव्य में रहा करते हैं। सामान्य तो जन्य द्रव्य, गुण और कर्म इनमें भी रहता है। सामान्य को विशेष इसलिए भी नहीं कह सकते कि विशेष एक ही आश्रय में रहते हैं और सामान्य कभी एक आश्रयमात्र में नहीं रहता। इस प्रकार सामान्य और विशेष के स्वभाव में महान् अन्तर होने के कारण सामान्य को विशेष पदार्थ कभी नहीं कहा जा सकता। सामान्य को समवाय इसलिए नहीं कहा जा सकता कि समवाय किसी में किसी का हुआ करता है, किन्तु प्रकृत सामान्य किसी में किसी का नहीं हुआ करता। इसलिए भी सामान्य को समवाय नहीं कहा जा सकता कि सामान्य समवाय को सम्बन्ध बनाकर उसके सहारे अपने आश्रय में रहा करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सामान्य को सम्बन्ध रूप में समवाय की अपेक्षा होती है किन्तु समवाय को अपने आश्रय में रहने के लिए अन्य समवाय की अपेक्षा नहीं होती। अतः सामान्य और समवाय के स्वभावों में महान् अन्तर होने के कारण सामान्य को समवाय नहीं कहा जा सकता। अभाव के आश्रय अन्य सभी पदार्थ हुआ करते हैं किन्तु सामान्य केवल द्रव्य, गुण और कर्म इन्हीं तीन पदार्थों में रहता है। अभाव "नहीं है" इत्यादि निषेध-ज्ञान एवं निषेध-व्यवहार का विषय होने के कारण निषेधात्मक होता है। किन्तु सामान्य ठीक इसके अति विपरीत "है" इस प्रकार के ज्ञान एवं व्यवहार का विषय होने के कारण अनिषेधात्मक भाव रूप है। सुतरां सामान्य को अभाव नहीं कहा जा सकता।

ऐसी परिस्थिति में कोई उपाय नहीं रह जाता कि सामान्य को अतिरिक्त पदार्थ न माना जाय।

यह जो विपक्ष में कहा गया था कि आम-अमरूद आदि के समान जनता के उपयोग में न आने के कारण सामान्य सर्वसाधारण नहीं हो पाता, इसलिए सामान्य का अस्तित्व सन्देहास्पद है। उसके सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि आम-अमरूद की तरह लेना-देना आदि क्रिया का वह आश्रय भले ही न हो किन्तु लेना देना आदि क्रिया के लिए वह अन्यत्र अपेक्षित अवश्य है। कोई भी गाय का इच्छुक व्यक्ति किसी से गैया ही लेना चाहता है, आकृतियुक्त मिट्टी की गैया नहीं लेता। पुण्य की इच्छा से गोदान करने वाला आदमी नकली मिट्टी की गैया दान नहीं करता किन्तु असली गैया ही दान करता है। ऐसा क्यों होता है? इसके उत्तर में केवल यही कहा जा सकता है कि 'गोत्व' यह सामान्य असली गाय में ही है नकली में नहीं, इसी लिए ऐसा होता है। इस प्रकार यह अति स्पष्ट प्रतीत होता है कि लेना-देना आदि दैनन्दिन जनता के क्रियात्मक व्यवहार में भी सामान्य का बहुत बड़ा हाथ है।

गम्भीर भाव से विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह सामान्य पदार्थ जनता के व्यवहार में अत्यधिक आया करता है। क्योंकि यह बात प्रथम प्रकरण में विस्तृत रूप से बतायी जा चुकी है कि प्राणियों के जीवन-व्यवहार में अनुमान का जितना बड़ा हाथ है उतना अन्य प्रमाणों का नहीं। आगे पीछे के विषयों का अनुमान करके ही कोई किसी फल के लिए किसी उपाय के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है। सारा वैज्ञानिक विकास जो कि आज का सर्वश्रेष्ठ आविष्कार माना जाता है अनुमान के ऊपर ही आधारित है। कोई भी आविष्कारक वस्तुस्वभाव के अनुमान पर ही अवलम्बित होकर आगे कदम बढ़ाता है और अनुमान की सच्चाई या कच्चाई के अनुसार सफल या विफल होता है। वह अनुमान सर्वथा इस "सामान्य" पदार्थ के ऊपर ही आधारित है। पर्वत में धुआँ देखकर आग का अनुमान करना सर्वविदित है। ऐसा होता क्यों है? इस प्रश्न के उत्तर में अवश्य ही कहना होगा कि अनुमाता उस अनुमान से पूर्व रसोईघर आदि में अनेक बार यह देख चुका रहता है कि "यहाँ धूम है और आग भी, अतः धुआँ और आग इन दोनों का सम्बन्ध स्वाभाविक है, औपाधिक अर्थात् अन्य-प्रयुक्त नहीं।" इस प्रकार समझने के कारण ही वह अनुमाता फिर धुआँ को देखकर यह अनुमान कर लेता है कि "यहाँ आग भी है।"

परन्तु इतना कहने से ही उक्त शंका की पूरी शान्ति नहीं हो पाती, क्योंकि दूसरा प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि अनुमाता ने रसोईघर के धुआँ से प्रत्यक्षतः सम्बन्ध तो वहाँ की ही आग का देखा था, फिर उसने सर्वत्र धुआँ से सब आगों का स्वाभाविक

सम्बन्ध कैसे समझ लिया ? और यदि सब धुओं से सब आगों का स्वाभाविक सम्बन्ध उस अनुमाता ने नहीं समझा तो अनुमानस्थल में केवल धुआँ को ही देखने के कारण उससे आग का सम्बन्ध कैसे समझ लिया ? और यदि नहीं समझा तो धुआँ ही देखकर आग का अनुमान क्यों करता है ? इन सारे प्रश्नों का उत्तर एकमात्र यही हो सकेगा कि रसोईघर में अनुमाता से दृष्ट धुआँ में जो "धूमत्व सामान्य" रहता है एवं अग्नि में "अग्नित्व सामान्य", वही 'धूमत्व' सामान्य संसार के सभी धूमों में रहता है, और वही 'अग्नित्व' सब आगों में रहता है। अनुमाता उस 'धूमत्व' सामान्य-स्वरूप केन्द्र में सारे धूम को और उस 'अग्नित्व' सामान्यस्वरूप केन्द्र में सारी आग को केन्द्रित देखता है। अतः सब धुआँ और सब आग इन दोनों में स्वाभाविक सम्बन्ध का निर्णय कर लेता है कि "जहाँ कोई धुआँ रहेगा वहाँ कोई आग अवश्य रहेगी।" ऐसा समझने पर आगे सब सहज हो जाता है। वह धुआँ को देखकर आग का अनायास अनुमान कर लेता है। 'धूमत्व', 'अग्नित्व' आदि सामान्य के न मानने पर कभी समस्या हल नहीं हो पाती। इन कुछ उदाहरणों के बाद यह अवश्य स्पष्ट हो गया होगा कि सामान्य पदार्थ माने विना जनता की सारी अनुमानमूलक प्रवृत्तियाँ ठप हो जाती हैं।

इस सामान्य के वारे में यह भी एक ध्यान देने की बात है कि यदि सामान्य पदार्थ न माना जाय तो केवल अनुमान ज्ञान में ही बाधा नहीं पहुँचेगी; प्रत्यक्षात्मक ज्ञान में भी बाधा पड़ेगी। यह अनुभवसिद्ध है कि प्रत्येक प्राणी किसी भी इन्द्रिय से अपेक्षित किसी भी वस्तुविशेष को देखकर तत्सजातीय सारी, विभिन्न देश एवं काल में होने वाली वस्तुओं को सदा के लिए असंदिग्ध भाव से देख लेता है, पूर्णरूपेण पहचान जाता है, जिससे वह अपने जीवन के विभिन्न उपयोगों में उसे लाता है। यह विभिन्न दैशिक एवं विभिन्न कालिक एकजातीय सभी व्यक्तियों का प्रत्यक्ष इस 'सामान्य' के सहारे ही हो सकता है, अन्यथा कभी नहीं। क्योंकि अति व्यवहित विभिन्न देश एवं विभिन्न कालों में होने वाली उन वस्तुओं के साथ आँख का संयोग सम्बन्ध उस प्रकार तो कभी हो नहीं सकता जिस प्रकार सामने विद्यमान व्यक्ति के साथ होता है। और असम्बद्ध वस्तु का प्रत्यक्ष किसी भी इन्द्रिय से हो नहीं सकता, अन्यथा सब वस्तुओं का सर्वदा सब इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होने लगेगा, जैसा कि होता नहीं। अतः द्रष्टव्य विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध नितान्त अपेक्षित है, यह बात ज्ञान के प्रकरण में विस्तृत भाव से बतायी जा चुकी है। इसे उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है, यथा राम ने श्याम के आगे एक आम लाकर रख दिया, श्याम की आँख रश्मि रूप से उस आम के साथ जा जुटी। आत्मा से मन का एवं मन से आँख का, आँख

से उस एक मात्र आम का संयोग होने के कारण श्याम को "यह आम है" ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ। इसके अनन्तर श्याम को तत्सजातीय सभी आमों को विषय करने वाला प्रत्यक्ष हुआ। यह बात अभी बतलायी जा चुकी है कि व्यवहित और विप्रकृष्ट आमों से आँख का संयोगस्वरूप साक्षात् सम्बन्ध तो सम्भव नहीं। अगत्या उस संयुक्त एक आम में रहने वाले 'आम्रत्व' सामान्य को, जो कि सब व्यवहित, विप्रकृष्ट आमों तक में विद्यमान है, सम्बद्ध बनाकर ही आँख सब आमों से सम्बन्ध प्राप्त करेगी। इसका फल यह होगा कि श्याम को एक आम के चाक्षुष प्रत्यक्ष के बाद तुरन्त अव्यवहित उत्तर क्षण में सभी भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान आमों का प्रत्यक्ष होगा। जैसा कि सभी को हुआ करता है। अब यह स्पष्ट है कि यदि 'आम्रत्व' को सकल आमों में रहने वाला एक सामान्य पदार्थ न माना जाय तो अनुभवसिद्ध अव्यवहित उक्त परिस्थिति कभी नहीं बन सकेगी। कोई भी प्राणी किसी विशेष व्यक्ति के सामान्य तक पहुँचकर ही अन्य तत्सजातीय व्यक्तिविशेष तक पहुँच सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अतः दो व्यक्तिविशेषों को एक सूत्र में आबद्ध करने वाले सामान्य पदार्थ का बहिष्कार या तिरस्कार नहीं किया जा सकता।

आशा है मननशील पाठक इस विवेचन से यह भी भली भाँति समझ गये होंगे कि—उपमान प्रमाण से होनेवाली उपमिति भी तब तक नहीं बन सकती जब तक 'सामान्य' नामक पदार्थ न माना जाय। उपमान और उपमिति का विशेष रूप से परिचय ज्ञान प्रकरण में दिया जा चुका है। वहाँ यह भी स्पष्ट रूप से बतलाया जा चुका है कि "गाय के जैसा गवय पशु होता है" इस अतिदेश वाक्य को पहले से सुन रखने वाला "गवय" से अपरिचित व्यक्ति जब वन में उस परिचेय (गवय) पशु में उपदेष्टा के कथन के अनुसार गाय का सादृश्य देखता है, तो "यह गवय है" ऐसी उपमिति नहीं होती, किन्तु "इस जाति के सभी पशु गवय हैं" ऐसी उपमिति होती है। अन्यथा अन्य गवय पशु अपरिचित रह जायँगे, जो कि होता नहीं। अब यह स्पष्ट है कि सभी गवय पशुओं में यदि 'गवयत्व' सामान्य न माना जाय तो 'जाति' शब्द को लेकर "इस जाति के सभी पशु" क्या ऐसा कहा जा सकेगा ?

इस सामान्य पदार्थ को न मानने पर शब्द सुनने से होने वाले शाब्दबोध में बड़ी गड़बड़ी पहुँचेगी। क्योंकि श्रूयमाण पद से पदार्थ की उपस्थिति होने पर ही शाब्द-बोध होता है, इत्यादि बातें गुण-प्रकरण में अच्छी तरह बतलायी जा चुकी हैं। वह पदार्थ की उपस्थिति वाच्यतास्वरूप पदशक्ति के ज्ञान से ही होती है। पुष्प आदि पदों की शक्ति केवल पुष्प व्यक्तियों में नहीं मानी जा सकती। क्योंकि तब असंख्य फूलों में पुष्प-पदात्मक एक वाचक की असंख्य वाच्यता माननी होंगी जिसमें महा-

गौरव होगा। अतः पुष्पत्व सामान्य के सहारे एकीकृत समग्र फूलों में पुष्प पद की एक वाच्यता माननी होगी। उस वाच्यता का ज्ञान जब श्रोता को होगा तब उस श्रुत पुष्प पद से या पुष्प पद के श्रवण से पुष्पत्व-सामान्य-युक्त रूप में पुष्प का वह श्रोता स्मरण करेगा। अनन्तर पुष्पत्वयुक्त रूप में पुष्प-विशेष का शाब्दबोध उसे होगा। सभी वाक्य-प्रयोग स्थलों में शाब्दबोध की प्रक्रिया यही होगी जो कि गुण-प्रकरण में विस्तृत भाव से बतलायी जा चुकी है। सुतरां यह अनायास समझा जा सकता है कि यदि पुष्पत्व आदि सामान्य नहीं माने जायँ तो कैसे तत्पुरस्कारेण शक्ति ज्ञान या उपस्थिति किंवा शाब्दबोध हो पायेगा ? जो कि अनादि काल से होता चला आ रहा है और अनन्त काल तक होता रहेगा।

यह अनुपपत्ति तो जाति और व्यक्ति दोनों में पदों की शक्ति मानने वाले लोगों की दृष्टि से बतलायी गयी है। जो लोग पुष्प आदि व्यक्तियों अर्थात् धर्मियों में पदों की शक्ति न मानते हुए पुष्पत्व आदि जातियों में ही शक्ति मानते हैं और पदों के सुनने पर पुष्पत्व आदि जातियों की ही उपस्थिति अर्थात् स्मरण मानकर लक्षणा किंवा आक्षेप अर्थात् अर्थापत्ति प्रमाण से पुष्प आदि धर्मियों का शाब्दबोध मानते हैं, उनके मत में तो और कठिनाई पड़ेगी। क्योंकि जब पुष्पत्व आदि सामान्य ही न माने जायंगे तो पुष्प आदि पदों का वाच्य अर्थ ही उस मत में कौन हो सकेगा ? पदों के श्रवण से किसका स्मरण होकर लक्षणा या आक्षेप से पुष्प आदि का शाब्दबोध हो पायेगा ? इन विस्तृत विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सामान्य पदार्थ न मानने पर सारे प्रमाणों से होने वाली प्रमाणों की उत्पत्ति अस्त-व्यस्त हो जाती है। अतः सामान्य पदार्थ की मान्यता अनिवार्य है।

इनसे अतिरिक्त इस सम्बन्ध में यह भी विशेष रूप से ध्यान रखने की बात है कि प्रत्यक्ष ज्ञान के सविकल्पक और निर्विकल्पक रूप दो प्रभेद प्रायः सभी दार्शनिक मानते हैं, जिनका परिचय गुण के प्रकरण में दिया जा चुका है। धर्मी के अंश में सामान्य आदि धर्म जब कि विशेषण रूप से भासते अर्थात् विषय होते हैं, तब वह प्रत्यक्ष ज्ञान सविकल्पक कहलाता है, अन्यथा निर्विकल्पक। जब कि पुष्प आदि का सविकल्पक ज्ञान होगा तो उसकी सविकल्पकता के लिए यह अवश्य अपेक्षित होगा कि वहाँ ज्ञान में पुष्पत्व-स्वरूप सामान्य विशेषण रूप से भासे। सूतरां यदि सामान्य पदार्थ न माना जाय तो उक्त विभाजन असंगत हो जायगा। इस प्रकार का विभाजन और सविकल्पक का उक्त स्वरूप बौद्ध विद्वान् लोग भी इसी प्रकार मानते हैं। अतः सामान्य पदार्थ मानना ही होगा।

इस सम्बन्ध में एक और बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि किसी अभाव

को समझने के लिए उसके प्रतियोगी अर्थात् विरोधी भाव-वस्तु का भी ज्ञान नितान्त अपेक्षित होता है। प्रतियोगी-भूत भाव-वस्तु का ज्ञान हुए बिना उसका अभाव कभी नहीं समझा जा सकता। ऐसा न मानने पर "यह बन्ध्या का पुत्र नहीं है" इस प्रकार अप्रसिद्ध बन्ध्यापुत्र का अभाव भी समझा जाने लगेगा, जैसा कि होता नहीं है। ऐसी परिस्थिति में जब कि कोई भी व्यक्ति भावी किसी पुष्प का वर्तमान काल में अभाव समझता है, अर्थात् वह इस प्रकार समझता है कि "वह फूल अभी नहीं है, होने वाला है", तो उक्त युक्ति के अनुसार उस समय में अविद्यमान और पीछे होने वाले उस पुष्पात्मक प्रतियोगी को, जिसका ज्ञान उसके अभावज्ञान के लिए होना आवश्यक है, कैसे समझा जा सकेगा? क्योंकि वह पुष्प उस समय है नहीं कि आँख से देखा जाय। जो है नहीं उससे अव्यभिचरित सम्बन्ध रखनेवाला अनुमापक कोई हेतु भी कैसे मिल सकता है कि उसे अनुमान से समझा जाय? जो अभी हुआ ही नहीं उसका साक्षात्कार तब तक किसी को भी न होने के कारण कोई भी व्यक्ति उस पुष्प के सम्बन्ध में आप्त अर्थात् यथार्थ उपदेष्टा कैसे माना जाय? जिसके कथन से उस भावी पुष्प का शाब्दबोधात्मक ज्ञान भी हो सके। और बिना प्रतियोगी को समझे अभाव को समझा नहीं जा सकता। सुतरां यही एक मात्र उपाय रह जाता है कि वह उस पुष्प का प्रागभावदर्शी व्यक्ति जिस विद्यमान पुष्प को देख रखा है उस पुष्प और जिसको भावी समझने के कारण अभी उसका अभाव समझ रहा है उस भावी पुष्प दोनों में रहने वाले 'पुष्पत्व' सामान्य का सहारा लेकर सामान्यतः पुष्पत्वेन उस भावी पुष्प का ज्ञान करे। अनन्तर इस प्रकार उस भावी पुष्पात्मक प्रतियोगी का ज्ञानस्वरूप कारण प्राप्त हो जाने के कारण वह अनायास उस भावी फूल के विद्यमान अभाव को अर्थात् प्रागभाव को समझेगा। सामान्य पदार्थ न मानने पर और कोई उपाय उस भावी फूल के ज्ञान का नहीं हो पाता यह बात अभी बतलायी गयी है। अतः सामान्य नामक पदार्थ मानना ही होगा। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना होगा।

यदि यहाँ यह प्रश्न उपस्थित किया जाय कि आकाशकुसुम, बन्ध्यापुत्र आदि का भी अभाव तो समझा जाता ही है। यदि कोई किसी से इस प्रकार पूछे कि "बन्ध्यापुत्र है या नहीं", "आकाशकुसुम है या नहीं?" तो इसका उत्तर क्या दिया जायगा? यही तो उत्तर दिया जायगा कि 'बन्ध्यापुत्र नहीं है", "आकाशकुसुम नहीं है।" वहाँ प्रतियोगी बन्ध्यापुत्र या आकाशकुसुम अत्यन्त अप्रसिद्ध है, अतः उसका ज्ञान होना असम्भव है। फिर प्रतियोगी का ज्ञानस्वरूप कारण न होने पर उक्त अभाव का ज्ञान कैसे होगा? अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अभाव के प्रत्यक्ष के लिए प्रतियोगी का ज्ञान आवश्यक है। फिर भावी फूल का वर्तमान में अभाव समझने के लिए उस

भावी फूल को भी वर्तमान में समझने की कोई आवश्यकता न रहेगी जिसके सम्पादनार्थ प्रदर्शित पद्धति से पुष्पत्व आदि सामान्य की जरूरत है। फिर इस युक्ति से सामान्य पदार्थ का अस्तित्व क्यों माना जाय ?

इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि उक्त "बन्ध्यापुत्र नहीं है" अथवा "आकाशकुसुम नहीं है" इसका विषय यह नहीं होता कि बन्ध्यापुत्र का अभाव है अथवा आकाशकुसुम का अभाव है, किन्तु विषय यह है कि "बन्ध्या को पुत्र नहीं है" अथवा "पुत्र बन्ध्या का नहीं है।" इसी प्रकार "आकाशकुसुम नहीं है" इसका भी विषय "आकाश में फूल का अभाव है" किंवा "फूल में आकाश-सम्बन्ध का अभाव है।" अब यह नहीं कहा जा सकता कि अप्रसिद्ध होने के कारण अभाव के प्रतियोगी का ज्ञानस्वरूप कारण वहाँ कैसे सम्पन्न होगा ? क्योंकि अब अभाव का प्रतियोगी बन्ध्यापुत्र या आकाशकुसुम होगा ही नहीं, किन्तु केवल 'पुत्र' या 'बन्ध्या-सम्बन्ध' तथा 'कुसुम' किंवा 'आकाश-सम्बन्ध' मात्र होंगे। वे अप्रसिद्ध नहीं होते। क्योंकि प्रतियोगी होने वाले दूसरे व्यक्ति के पुत्र भी प्रसिद्ध ही रहते हैं। और बन्ध्या स्त्री के विद्यमान सम्बन्धी व्यक्तियों में उसका सम्बन्ध भी प्रसिद्ध ही रहता है। इसी प्रकार प्रतियोगी होनेवाले कुसुम भी प्रसिद्ध ही रहते हैं एवं शब्द आदि में आकाश-सम्बन्ध भी प्रसिद्ध ही रहता है जो कि प्रतियोगी होता है। अतः वहाँ प्रतियोगी के ज्ञान में बाधा नहीं दिखलायी जा सकती, जिससे यह कहा जा सके कि प्रतियोगी के ज्ञान को अभाव के ज्ञान के प्रति कारण नहीं माना जा सकता, जिसके उक्त प्रकार के सम्पादनार्थ सामान्य पदार्थ मानने की आवश्यकता हो। अतः प्रकृत में भावी पुष्पस्वरूप प्रतियोगी के ज्ञान के लिए सामान्य पदार्थ मानना ही होगा।

सामान्य अपोह नहीं

हीनयान के बौद्ध विद्वानों ने इस सामान्य पदार्थ की आवश्यता को मानते हुए भी उसे स्वतंत्र पदार्थ के रूप में मानना नहीं चाहा। उनका कहना यह है कि सामान्य कोई स्वतंत्र भाव पदार्थ नहीं है किन्तु वह 'अपोह' है। अपोह का अर्थ है "अतद्व्यावृत्ति" अर्थात् 'तद्भिन्न भेद'। उन लोगों के कहने का अभिप्राय यह है कि सभी वस्तुओं में स्वभिन्न भेद रहा करता है। जैसे घड़े से भिन्न होंगी घड़े को छोड़कर अन्य सारी वस्तुएँ, और उन का भेद उलटकर घड़े में ही आता है। वही उलटकर आने वाला भेद घटत्व शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार भेदात्मक अभावस्वरूप हो जाने के कारण घटत्व को अलग कोई सामान्य नामक स्वतन्त्र पदार्थ नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार पटत्व, मठत्व आदि सभी सामान्य शब्द से कहे जाने वालों को समझना चाहिए। क्योंकि घट, पट, मठ आदि सभी समान रूप से अपने से भिन्न

रहने वाले सभी से भिन्न होते ही हैं। घट जैसे घटभिन्न पट आदि सभी से अन्य है, उसी प्रकार पट भी पटभिन्न घटादि सभी से अन्य है। उसी प्रकार मठ भी स्वभिन्नों से भिन्न होता है। अतः सर्वत्र इसी प्रकार समझना चाहिए। सुतरां सामान्य को स्वतंत्र एक पदार्थ होने का कोई भी स्थान नहीं मिलता।

अधिकतर प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने प्रायः इसके संबन्ध में यही उत्तर देकर अपना कर्त्तव्य पूरा किया है कि अभाव का ज्ञान निषेध-मुख हुआ करता है। अर्थात् अभाव को "न", "नहीं है" आदि नकारात्मक शब्द से ही कहा जाता है, किन्तु "घटत्व है", "पटत्व है" इत्यादि ज्ञान या वाक्यों के प्रयोग-स्थल में 'न', 'नहीं है' इत्यादि रूपों में निषेध की बिल्कुल गन्ध भी नहीं पायी जाती। अतः उसे अभावात्मक नहीं माना जा सकता। सुतरां घटत्व आदि को 'स्वभिन्न भेद' कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि भेद तो अन्योन्याभाव होने के कारण अभाव ही होता है। अतः घटत्व आदि सामान्य को 'स्वभिन्न भेद' नहीं कहा जा सकता।

प्राच्य पदार्थशास्त्रियों के इस प्रतिवाद का सारांश यह होता है कि अभाव कभी निष्प्रतियोगिक रूप में अर्थात् प्रतियोगि-रहित रूप में प्रतीत नहीं होता। घटत्व आदि का ज्ञान जब होता है तब नियमतः प्रतियोगी से रहित रूप में ही हुआ करता है अतः घटत्व आदि को अभावात्मक कभी नहीं कहा जा सकता। जिसका अभाव माना जाता है वह होता है अभाव का प्रतियोगी। उससे सम्पृक्त रूप में ही अभाव का ज्ञान हुआ करता है।

यहाँ उक्त 'अपोह सामान्यवाद' को तर्क की कसौटी पर कसकर पाठकों के समक्ष रखना आवश्यक है।

वस्तुतः भावात्मक सामान्य पदार्थ माने बिना उक्त प्रकार के अपोह का स्वरूप भी नहीं खड़ा हो सकता, और यदि सामान्य को मानकर ही अपोह को खड़ा किया जाय तो उसे खड़ा करने का प्रयोजन ही नहीं रह जाता, और यदि खड़ा भी हो तो वह अपने अवलम्बभूत सामान्य पदार्थ का हनन कैसे कर सकता है ? अपने ही आश्रय को कौन अपने हाथों नष्ट करता है ?

उदाहरण के द्वारा इसे यों समझना चाहिए कि घटभिन्न भेद को ही घटत्व मानने वाले लोग "घटभिन्न" यहाँ पर 'घट' पद से किसी एक खास घट को लेंगे या सभी घटों को ? यदि यह कहा जाय कि हाँ हम खास घट व्यक्तिविशेष को लेंगे, तो एक घड़े से भिन्न जैसे पट, मठ आदि होंगे उसी प्रकार उस एक घड़े से भिन्न असंख्य घड़े भी होंगे। उन सब का, अर्थात् पट-मठ आदि असंख्य अघट और प्रकृत घट पद से गृहीत

उस एकमात्र घट से अतिरिक्त असंख्य घट इन सब का, भेद केवल उस एक घड़े मात्र में ही आ सकेगा, सब घड़ों में नहीं। फल यह होगा कि यह घट-भिन्न भेद प्रत्येक घड़े मात्र में रहने के कारण अलग-अलग तत्तत् घटत्वस्वरूप हो जाने के कारण एक-एक घड़े में ही रहेगा, सभी घड़ों में नहीं। इस प्रकार असंख्य घटत्व मानने से लाभ ही क्या होगा ? अलग-अलग प्रतीति के लिए तो तत्तत् घटस्वरूप व्यक्ति ही पर्याप्त हैं। साथ ही इस प्रकार असंख्य घड़ों में स्वीकृत असंख्य घटत्व एक एक मात्र घड़े में रहने के कारण 'विशेष' हो जायँगे, सामान्य कहलाने के अधिकारी नहीं हो सकेंगे। किसी के सामान्य होने के लिए यह अति आवश्यक है कि वह अनेक आश्रयों में समान रूप से रहने के कारण उन आश्रयों को एक ज्ञान में युगपत् विषय बना सके। प्रदर्शित विचार के आधार पर जब कि घट-भिन्न भेदस्वरूप घटत्व एक-एक घट मात्र में रहने वाला स्थिर हुआ है तब वह कैसे अनेक में रहने के कारण उन अनेक आश्रयों को एकदा एक ज्ञान का विषय बना सकेगा ? अतः वह सामान्य कहलाने का अधिकारी कभी नही हो सकेगा।

यदि यह कहा जाय कि 'घटभिन्न भेद' इसके अन्दर आने वाले 'घट' पद से एक ही बार सभी घड़ों को लेंगे—जो कि कभी हो चुके हैं या होने वाले हैं एवं होंगे। अतः "घटभिन्न" पद से कोई भी घट नहीं आ सकेगा किन्तु सभी घड़ों से अतिरिक्त होने वाली पट-मठ आदि असंख्य वस्तुएँ ही आ सकेंगी। सुतरां उन सब का भेद अनायास सभी घड़ों में एक बार ही आ जायगा। इस प्रकार असंख्य घड़ों में एक ही बार "घट-भिन्न भेद" आ जाने के कारण वह घटभिन्न भेद सकल घटसाधारण "घटत्व" सामान्य बन सकेगा।

तो यह कथन भी इसलिए संगत नहीं हो सकता कि प्रथमतः उक्त भेदस्वरूप घटत्व से अतिरिक्त स्वतंत्र "घटत्व" नामक सामान्य पदार्थ माने बिना यह बात कभी बन नहीं सकती। क्योंकि "घटभिन्न भेद" यहाँ पर तब तक एक घट पद से असंख्य सारे घटों को एक बार कैसे लिया जा सकता है जब तक कि सभी घड़ों में अनुगत एक घटत्व नामक सामान्य न मान लिया जाय ? एक घट पद की वाच्यतात्मक शक्ति भी तब तक उन असंख्य घड़ों में एक नहीं मानी जा सकती जब तक आश्रयभूत घड़ों की असंख्यता के आधार पर असंख्य होने के लिए तत्पर वाच्यता को स्वगत एकत्व के प्रभाव से एक बनाने वाला सकल घटगत एक घटत्वसामान्य न मान लिया जाय। कहने का तात्पर्य यह कि घट पद की वाच्यता के नियामक रूप में यदि सभी घड़ों में एक "घटत्व" सामान्य न माना जाय तो असंख्य घड़ों में एक घट पद की एक वाच्यता नहीं मान्य हो पायेगी। और ऐसा होने पर एक बार उक्त घट पद से सभी घट नहीं

समझे जा सकेंगे, जैसा कि समझे जाते हैं। पहले ही सकल-घटसाधारण एक घटत्व सामान्य मान लेने पर फिर उसके सहारे पर घटभिन्न भेद-स्वरूप घटत्व बनाने का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता। अतः लौटकर घट में आने वाले घटभिन्न भेद को घटत्व नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार सर्वत्र पटत्व-मठत्व आदि स्थल में समझना चाहिए। सुतरां तद्भिन्न भेद स्वरूप अपोह को सामान्य नहीं कहा जा सकता।

एक बात यहाँ ध्यान में रखने योग्य यह है कि अभाव को समझने के लिए पहले उसके प्रतियोगी को एवं अभाव के आश्रय को समझ लेना नितान्त आवश्यक होता है। यह पहले भी कहा जा चुका है। इसके अनुसार जब तक असंख्य भूत, भविष्य और वर्तमान घड़ों में असंख्य भूत, भविष्य और वर्तमान घटभिन्न पट-मठ आदि का सामान्य के सहारे ज्ञान न हो जाय, तब तक उक्त प्रकार का अतद्व्यावृत्यात्मक अपोह ही नहीं बन सकता, जिसके सहारे सामान्य की अमान्यता घोषित की जा सके? सामान्य माने बिना उस भेद के आश्रयभूत असंख्य भूत एवं भविष्यत्, व्यवहित एवं विप्रकृष्ट घड़ों को, जो कि लौटने वाले घटभिन्न भेद के आश्रय होंगे, तथा उन असंख्य भूत, भविष्यत् और वर्तमान, व्यवहित और विप्रकृष्ट पट-मठ आदि घटभिन्नों को, जो कि लौटने वाले भेद के प्रतियोगी होंगे अलग अलग विशेष रूप से भला कौन असर्वज्ञ व्यक्ति पहले समझ पायेगा? अतः उक्त आश्रयों एवं प्रतियोगियों को एक रूप से समझने के लिए सामान्य उन्हें भी मान ही लेना होगा जो कि घटत्व को घटभिन्न-भेद-स्वरूप अपोह मानते हैं।

व्यक्ति-समष्टि का भी सामान्य में ही पर्यवसान

सामान्य के सम्बन्ध में कुछ लोगों का कहना है कि यह व्यक्तियों के समुदाय से अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे "जनता" शब्द का अर्थ जन-समष्टि के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता, "गजता" शब्द का अर्थ हाथियों के समुदाय के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता, तद्वत् "घटता" या 'घटत्व' आदि शब्दों का अर्थ भी घटसमुदाय से अतिरिक्त कोई सामान्य नामक पदार्थ नहीं होता है। असंख्य घटों के अन्दर एक-एक घट कहलाता है विशेष, और सब घटों को एक ही साथ लेने पर, उन विशेषों का समुदाय कहलाता है सामान्य। इसी प्रकार पटत्व, मठत्व आदि सभी सामान्यों की व्याख्या समझनी चाहिए।

परन्तु तर्क की कसौटी पर कसने पर यह कथन भी टिक नहीं पाता। क्योंकि यदि घटसमुदाय को घटत्व कहा जाय तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वह "समुदाय" क्या वस्तु है। उसे समुदायी अर्थात् विशेष रूप प्रत्येक-घटात्मक तो कहा नहीं जा सकता। क्योंकि तब विशेष हो जाने के कारण वह सामान्य कहलाने का अधिकारी

नहीं बन सकेगा। यदि प्रत्येक घट ही "समुदाय" कहलाये तो "घटसमुदाय" कहने का प्रयोजन ही क्या रह जायगा ? और उस समुदाय को समझाने के लिए केवल घट शब्द का प्रयोग न कर "घटत्व" शब्द का प्रयोग क्यों किया जायगा ? अतः यह मानना ही होगा कि प्रत्येक घट से अलग कोई वस्तु "घटसमुदाय" शब्द से कही जाती है। यदि यह कहा जाय कि जहाँ बहुत तन्तु एकत्र हुए रहते हैं वहाँ "तन्तुसमुदाय" शब्द का प्रयोग होता है। वहाँ यह बात तो सही है कि प्रत्येक तन्तु को 'तन्तुसमुदाय' नहीं कहा जा सकता, किन्तु उन तन्तुओं में विद्यमान संयोग सम्बन्ध को तो समुदाय कहा जा सकता है। इसी प्रकार 'घटसमुदाय' को भी घटों में विद्यमान पारस्परिक सम्बन्ध-स्वरूप, अनायास कहा जा सकता है ? तो यह कथन भी इसलिए उचित नहीं होगा कि उक्त संयुक्त तन्तुओं के अस्तित्व स्थल में तो कथंचित् 'समुदाय' को संयोग सम्बन्ध-स्वरूप मानकर काम चल सकता है, परन्तु 'घटसमुदाय' स्थल में समुदाय को किस सम्बन्ध स्वरूप मानेंगे ? संयोग सम्बन्ध कहा नहीं जा सकता। क्योंकि विभिन्न कालिक, विभिन्न दैशिक, व्यवहित और विप्रकृष्ट घटों में परस्पर संयोग सम्बन्ध की सम्भावना नहीं की जा सकती। समुदाय को समवाय सम्बन्ध इसलिए नहीं कहा जा सकता कि उन घटों में अवयवावयविभाव नहीं। अर्थात् उनके अन्दर कोई घट किसी घट का अवयवी नहीं। द्रव्यों के अन्दर उन्हीं अनेक द्रव्यों का समवाय सम्बन्ध होता है जिनमें एक अवयव और दूसरा अवयवी होता है। यथा कपाल और घट, तन्तु और पट, इनका समवाय सम्बन्ध होता है। प्रकृत में कोई घट किसी घट का अवयव नहीं। फिर कैसे वहाँ समवाय सम्बन्ध माना जाय ? उक्त घटसमुदाय को "स्वरूप-सम्बन्ध" इसलिए नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक घट के स्वरूप में अन्तर हुआ करता है। इसी प्रकार समुदाय को कालिक सम्बन्ध भी इसलिए नहीं कहा जा सकता कि विभिन्न-कालिक घड़ों में कालिक सम्बन्ध नहीं हो सकता। एक घड़े में अपर घड़े का तादात्म्य भी नहीं हो सकता, अतः उक्त समुदाय को तादात्म्यस्वरूप भी नहीं कहा जा सकता। सुतरां ऐसी परिस्थिति में घड़े आदि के समुदाय को प्रदर्शित संयुक्त तन्तुओं के समुदाय की तरह घड़ों का पारस्परिक सम्बन्धस्वरूप नहीं कहा जा सकता। अतः 'घटसमुदाय' आदि प्रयोगस्थल में समुदाय को घटत्व नामक सामान्यस्वरूप अतिरिक्त पदार्थ मानना ही होगा।

वस्तुतः विचार करके देखा जाय तो प्रदर्शित दृष्टान्त स्थल में भी उस समुदाय को संयोगस्वरूप नहीं माना जा सकता। क्योंकि एक संयोग नियमतः दो द्रव्यों में ही हुआ करता है बहुत द्रव्यों में नहीं। तब वहाँ विद्यमान बहुत संयोगों को एक समुदाय कैसे कहा जा सकेगा। अतः वहाँ के समुदाय को बहुत्व संख्यारूप मानना होगा। घट-

समुदाय स्थल में समुदाय को बहुत्व संख्यारूप इसलिए नहीं कहा जा सकता कि अति विभिन्नकालीन असंख्य घटों में अपेक्षा बुद्धि उत्पन्न न हो सकने के कारण सकल-घटसाधारण बहुत्व संख्या उत्पन्न ही नहीं हो सकती। अतः घटसमुदाय को सामान्य नामक अतिरिक्त पदार्थ ही मानना होगा। 'जनता', 'गजता' आदि के प्रयोगस्थल में भी इसी प्रकार विचार के आधार पर उन शब्दों को सामान्य वाचक मानना ही होगा। अभिप्राय यह है कि वहाँ 'जनत्व', 'गजत्व' आदि सामान्य के सहारे ही अभिप्रेत बहु-संख्यक जन एवं गज को वह जनता या गजता शब्द समझाता है ऐसा मानना चाहिए।

जहाँ विभिन्नजातीय घट-पट आदि एकत्र विद्यमान बहुसंख्यक वस्तुओं के अर्थ में समुदाय शब्द का प्रयोग होगा वहाँ यद्यपि 'समुदाय' शब्द सामान्य पदार्थ का वाचक नहीं बन सकेगा, किन्तु वहाँ प्रयुक्त समुदाय पद उन एकत्र उपस्थित बहुसंख्यक विभिन्न-जातीय घट, पट आदि-गत सामानाधिकरण्य अर्थात् "एक आश्रय में रहना" इस अर्थ को बतलाएगा।

वस्तुतः यह आशंका ही निरवकाश है, क्योंकि 'समुदाय' पद भी अधिकरण, आधेय आदि पदों के समान नियमतः ससम्बन्धिक अर्थात् साकांक्ष पद है। अतः केवल समुदाय पद का प्रयोग हो ही नहीं सकता। उन उपस्थित विभिन्नजातीय बहुसंख्यक वस्तुओं के अर्थ में घटसमुदाय, पटसमुदाय आदि शब्दों का प्रयोग भी नहीं किया जा सकता। क्योंकि उन समुदायों के सारे समुदाय केवल घटजातीय या केवल पटजातीय नहीं रहेंगे। अतः 'वस्तु' आदि किसी साधारण शब्द के साथ ही समुदाय पद को जोड़कर "वस्तुसमुदाय" जैसे किसी शब्द का प्रयोग करना होगा। उसमें कोई अनुपपत्ति भी नहीं रहेगी। क्योंकि वहाँ समुदाय पद अनायास वस्तुत्वसामान्य को बतलाते हुए उसके द्वारा उन एकत्र स्थित विभिन्नजातीय वस्तुओं को समझा सकेगा। अतः सामान्य को समुदाय मानकर भी उसके अतिरिक्त पदार्थ मानने का खण्डन नहीं किया जा सकता।

सामान्य और उपाधियों में अन्तर

कुछ लोग अतिरिक्त पदार्थ रूप से स्वीकृत सामान्य के असली स्वरूप को न पह-चानने के कारण जहाँ भी त्वल् या तल् प्रत्यय का प्रयोग देखते हैं, अर्थात् प्रयुक्त शब्द के अन्त में 'त्व' या 'ता' लगा हुआ देखते हैं वहाँ उसे सामान्य रूप अतिरिक्त पदार्थ मान बैठते हैं। इसका आभास अनेकत्र बौद्ध विद्वानों द्वारा कृत 'कृतकत्व', 'अनित्यत्व' आदि की सामान्यता के खण्डन से अनायास प्राप्त होता है। क्योंकि प्राच्य पदार्थ-शास्त्रियों ने जो सामान्य पदार्थ का स्वरूप बतलाया है उस पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उक्त कृतकत्व, अनित्यत्व आदि धर्मों को वे सामान्य

नामक पदार्थ नहीं मानते। क्योंकि ध्वंस का सम्पर्क है अनित्यता और प्रागभाव का सम्बन्ध ही मान्य है कृतकता। किन्तु घटत्व-पटत्व आदि शब्दों के समान अनित्यत्व-कृतकत्व आदि शब्दों में भी अन्त में "त्व" का प्रयोग देखकर उन्हें पदार्थशास्त्रियों द्वारा स्वीकृत सामान्य पदार्थ समझ लिया गया है और उसके आधार पर खण्डन किया गया है।

पदार्थशास्त्री लोग उपाधि शब्द से उसे कहते हैं जो कि तत्वतः कोई स्वतंत्र पदार्थ नहो, अर्थात् स्वीकृत सामान्य से अतिरिक्त द्रव्य-गुण आदि छः पदार्थों के अन्दर ही किसी न किसी में अन्तर्मुक्त होता हो किन्तु व्यवहार के लिए ज्ञानतः निकटवर्ती किसी आश्रय में धर्म रूप से आहित हो अर्थात् आरोपित होता हो। उदाहरण के लिए उक्त कृतकत्व, अनित्यत्व आदि को भली भाँति लिया जा सकता है। क्योंकि "यह शरीर अनित्य है, कृतक है" इस तरह के, व्यवहार के लिए अर्थात् वाक्य प्रयोग के लिए शरीर आदि धर्मी में अनित्यता अर्थात् नश्वरता और उत्पन्नता आदि की कल्पना कर लेते हैं। तत्वतः वह आश्रयभूत नश्वर और उत्पत्तिशील शरीर के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं होती। इसका कारण यह है कि उत्पत्ति, विनाश आदि के कारण एक न होकर विभिन्न होते हैं, अतः सब अनित्यों में अर्थात् नश्वर वस्तुओं में उत्पन्नता-स्वरूप कृतकत्व एवं नश्वरतास्वरूप अनित्यत्व कोई अखण्ड स्वतंत्र पदार्थ नहीं हो सकता। सुतरां उन्हें विभिन्न उत्पत्तिशील एवं नाशशील शरीर आदि अननुगत, धर्मी-स्वरूप ही मानना पड़ता है। गोत्व आदि सामान्यों में यह बात नहीं होती। क्योंकि गोत्व आदि में मान्य नित्यता, जिसका विवेचन स्वतन्त्र रूप से किया जाने वाला है, तब तक नहीं स्थिर हो सकती जब तक इसे स्वरूप-प्रतिष्ठ अर्थात् आश्रयों के बिना भी रहनेवाली न मान लिया जाय, और स्वरूपप्रतिष्ठ होने पर वह अन्य किञ्चित् प्रयुक्त नहीं हो सकती, अतः सभी गौ आदि पशुओं में अनुगत होती है और उसी के सहारे गाय-बैल आदि गाय बैल कहलाते हैं। अतः उसे सभी गाय आदि-स्वरूप न मानकर आश्रय के नियामक रूप में आश्रय से अतिरिक्त एवं अनुगत मानना अनिवार्य हो जाता है। कहने का सारांश यह है कि गोत्व आदि सामान्य अपने आश्रय को लोक-परिचित करा देते हैं। किन्तु उपाधियाँ आश्रयों का परिचय कहाँ से दे सकती हैं, वरन वे स्वयं आश्रयों से परिचित होती हैं और परिचय विवेचित होने पर वे अपने तत्तत् आश्रय से अतिरिक्त और कुछ नहीं ठहर पाती हैं।

कुछ सूक्ष्म भाव से विचार करने पर सामान्य और उपाधियों में यह भी एक महान् पार्थक्य पाया जाता है कि सामान्य नियमतः किसी न किसी व्याप्य-व्यापक भाव के परम्परा-सूत्र में आबद्ध रहते हैं। परन्तु उपाधियाँ इससे वंचित, उच्छृंखल

हुआ करती हैं। जैसे गोत्व, घटत्व आदि जातियाँ पशुत्व, पृथिवीत्व आदि की व्याप्य होती हैं। उक्त अनित्यत्व, कृतकत्व आदि ऐसे नहीं होते हैं। इसका विशेष परिचय आगे दिया जायगा। उक्त अनित्यत्व, कृतकत्व आदि के समान प्रतियोगित्व, अनुयोगित्व, कारणत्व, अवच्छेदकत्व आदि को भी उपाधि समझना चाहिए।

कुछ लोग उपाधियों के सखण्ड उपाधि और अखण्ड उपाधि भेद से दो प्रकार मानते हैं। किन्तु तत्वतः इस विभाजन में कोई मौलिक महत्व नहीं है। लोग जहाँ निर्वचन में कठिनाई देखते हैं वहाँ अखण्ड धर्म मानकर छुटकारा लेना चाहते हैं। किन्तु इसका परिणाम यह होता है कि पदार्थसंख्या में वृद्धि के कारण उनका पदार्थ-विभाजन अस्त-व्यस्त ही नहीं छिन्न-भिन्न हो जाता है। जो भी कुछ हो, सामान्य उक्त दोनों प्रकार की उपाधियों से अन्य है। इसका कारण यह बतलाया जा चुका है कि सामान्य स्वतः सिद्ध-सत्ता वाली वस्तु है और उपाधि आश्रय की या निर्वचनघटक अन्य वस्तु-बुद्धि की अपेक्षा करके ही लब्धसत्ता वाली अतएव आगन्तुक हुआ करती है। अतः सामान्य और उपाधि दोनों में महान् अन्तर है। सामान्य उपाधि की तरह समीपस्थ अर्थात् बुद्धिस्थ आश्रय पर आहित अर्थात् बुद्धिनिक्षिप्त नहीं होता।

सामान्य के अर्थ में जाति आदि शब्द का प्रयोग

सामान्य वस्तु को समझाने के लिए अनेक पदार्थशास्त्रियों ने 'जाति' शब्द का प्रचुर प्रयोग किया है। अति प्राचीन सूत्रकार अक्षपाद गौतम ने भी इस सामान्य अर्थ में जाति शब्द का सिद्धवत् प्रयोग किया है। यद्यपि जाति के परिचयार्थ उन्होंने जिस "समानप्रसवात्मिका जातिः" इस सूत्र का प्रणयन किया है, वह कुछ भ्रामक सा प्रतीत होता है। आपाततः मालूम ऐसा होता है जैसे कि वे भी "विपाको जात्यायुर्भोगाः" इस योगदर्शन-सूत्र में पठित जाति शब्द से कहे जानेवाले जन्म को ही जाति शब्द से कह रहे हैं। परन्तु पदशक्ति के विचार के अवसर पर जो उन्होंने "व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः" यह सूत्र कहा है उससे भ्रम दूर हो जाता है। यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि जाति शब्द से वे गोत्व, अश्वत्व आदि सामान्य को ही कहते हैं, जन्मात्मक जाति को नहीं। क्योंकि किसी भी वस्तु का प्रथम क्षण के साथ होनेवाला कालिक सम्बन्ध ही जन्म है। उसे पद का वाच्यार्थ नहीं माना जाता। कारण, शाब्दबोध में पद से प्रतिपादित होने वाली वस्तु का विषय जन्म नहीं बनता, उसका बोध नहीं होता, जिसके लिए उसमें पद की शक्तिस्वरूप वाच्यता गौतम बत-लायेंगे। इसी बात की ओर दृष्टिक्षेप कर भाष्यकार वात्स्यायन ने उक्त भ्रामक सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की है कि जो समान आकारयुक्त बुद्धियों का अर्थात् ज्ञानों का प्रसव करे वह जाति है। इस व्याख्या से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि

गोत्व, घटत्व आदि सामान्य जाति शब्द से कहे जाते हैं। क्योंकि गोत्व के सहारे ही विभिन्न गौएं 'गाय' प्रतीत होती हैं और कही जाती हैं। उसी के कारण असंख्य घड़े "घट हैं' इस प्रकार प्रतीत एवं कथित होते हैं। इसलिए भी जाति को सामान्य का वाचक मानना आवश्यक है कि आगे कही जाने वाली द्रव्यत्व, सत्ता आदि जातियाँ उन आत्मा, आकाश आदि नित्य द्रव्यों में भी रहती हैं जिनका जन्म कभी नहीं होता। सामान्य और जन्म इन दोनों से अतिरिक्त "असमीचीन उत्तरवाक्य" अर्थात् स्वव्याघातक उत्तरवाक्य अर्थ में भी महर्षि गौतम ने आगे जाकर जाति शब्द का प्रयोग किया है। कुछ लोगों की धारणा है कि स्वव्याघातक उत्तर अर्थ में 'जाति" शब्द का प्रयोग महर्षि अक्षपाद की निजी परिभाषा है अतः वहाँ उनका जाति शब्द पारिभाषिक है। किन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नही है, क्योंकि बौद्ध विद्वानों ने भी स्वव्याघातक उत्तरवाक्यों को जाति शब्द से कहा है। अथवा यह हो सकता है कि महर्षि अक्षपाद की इस परिभाषा को उन लोगों ने अपना लिया हो।

गोत्व, घटत्व आदि सामान्य-वाचक और जन्मवाचक जाति शब्द के पार्थक्य को न समझने के कारण अधिकतर विद्वान् भी भटकते हुए देखे जाते हैं। आज-दिन समाज में सब से बड़ा विचार्य-प्रश्न यह पाया जाता है कि "जाति कर्मणा होती है या जन्मना ?" अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय आदि का विभाजन कर्म से है या जन्म से ? इस प्रश्न पर पक्ष एवं विपक्ष से ज़ोरों का तर्क उपस्थापित होता है। बड़े-बड़े मनीषी इस विचार में भाग लेते पाये जाते हैं। फिर निर्णय होने की आशा ही क्या की जा सकती है ? परन्तु यदि जाति शब्द के वास्तविक अर्थ का परिचय प्राप्त कर लिया जाय तो उक्त प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो पाता।

विशद रूप में इसे यों समझा जाय कि उक्त प्रश्न वाक्य के अन्दर आने वाले "जाति" शब्द का अर्थ यदि गोत्व, घटत्व आदि सामान्य के समान ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व जैसा सामान्य लिया जाय तो वह उक्त गोत्व घटत्व आदि के समान नियमतः स्वतः-सिद्ध नित्य ही होगा। नित्य वस्तु की उत्पत्ति ही नहीं होती, फिर यह प्रश्न कैसे उठ सकेगा कि जाति अर्थात् ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदि नित्य सामान्य कैसे उत्पन्न होंगे ? कर्म से या जन्म से? क्या कभी किसी के मन में यह प्रश्न उठता है कि गोत्व किससे उत्पन्न होता है ? घटत्व किससे उत्पन्न होता है ? यदि गोत्व आदि सामान्यात्मक जातियों के सम्बन्ध में ऐसा प्रश्न नहीं उत्पन्न होता है तो ब्राह्मणत्व-क्षत्रियत्व आदि का ही क्या अपराध है कि उनके बारे में यह प्रश्न उठाया जाता है ? यदि जाति शब्द का अर्थ जन्म लिया जाय तो जाति से ब्राह्मण वा क्षत्रिय की जाति इस प्रकार समझना होगा, जिसका अर्थ होगा ब्राह्मण-जन्म, क्षत्रिय-जन्म आदि। इस पक्ष में जाति स्वयं

जन्मस्वरूप हो जाती है, अतः वह जन्मना होती है या नहीं यह प्रश्न कभी नहीं किया जा सकता। क्योंकि जन्म का जन्म अप्रसिद्ध होने के कारण उसके साथ जन्म शब्द प्रयुक्त होने की आशंका नहीं की जा सकती। सुतरां यही मानना होगा कि जाति शब्द का अर्थ ठीक से न समझना ही इस प्रश्न का मूल कारण है।

यहाँ एक बात और ध्यान रखने योग्य है कि लोग सामाजिक वर्ण और सामाजिक जाति को एक समझते हैं यह भी बड़ी भूल है, क्योंकि इन दोनों का पार्थक्य विज्ञानसिद्ध है। जैसे सोना चाँदी आदि धातुएँ खानों से उत्पन्न होती हैं, वह उत्पत्ति उनकी जाति होती है। किन्तु अपेक्षित शुद्ध वर्ण उनमें जन्म काल में ही नहीं पाया जाता, पीछे सोहागा, नौसादर, फिटकरी आदि रासायनिक वस्तुओं के साथ आग पर संतापस्वरूप संस्कार प्राप्त होने पर उनमें अपेक्षित वर्ण उपलब्ध होता है। इसी प्रकार कोई प्राणी किसी भी कुल में अर्थात् साक्षात् परम्परा में एवं अवान्तर परम्परा में प्रथमतः उत्पन्न होता है, जन्म लेता है। यह जन्म ही होता है उसकी जाति, जैसे मानव जाति, पशु जाति आदि। पीछे अपेक्षित शिक्षण की परम्परा में दीक्षित होकर वह कान्तिमान् होता है, उसमें कौलिक दीप्ति आती है। परवर्त्ती काल में प्राप्त होने वाली यही दीप्ति होती है—'वर्ण'। सुतरां जाति व वर्ण को एक नहीं माना जा सकता। यह जन्मात्मक जाति पूर्व जीवन के सत् या असत् कर्मों से होती है और उक्त आगन्तुक 'वर्ण' वर्तमान जन्म की सत् या असत् क्रिया से होता है। इस प्रकार आपामर प्रसिद्ध सामाजिक जाति का अर्थ जन्म समझना चाहिए "सामान्य" नहीं। पूर्व जन्म की सिद्धि प्रथम प्रकरण में की जा चुकी है।

असत् उत्तर-वाक्य अर्थ में जो महर्षि गौतम ने 'जाति' शब्द को परिभाषित किया है वह भी जन्ममूलक ही है। क्योंकि उक्त असत् उत्तरवाक्य से पूर्ववादी द्वारा कथित विषय में आपत्ति की उद्भावनात्मक सृष्टि की जाती है। सृष्टि शब्द एवं जन्म शब्द पर्यायवाची हैं। बीच में इस प्रकार इतना विचार उपस्थित करने का तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत सामान्य पदार्थ का स्वरूप पाठक ठीक से पहचान सकें। कहीं विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त जाति शब्द के स्थान-स्थान में कथित होने के कारण उसका स्वरूप कुछ और ही न समझ बैठें।

आचार्य शंकर ने सामान्य पदार्थ को अनेक बार आकृति शब्द से कहा है। यद्यपि 'आकृति' शब्द से प्रमुखतया किसी भी अवयवी द्रव्य के अवयवों का गठन कहा जाता है, किन्तु उक्त आचार्य ने आकृति शब्द से उसे नहीं कहा है। क्योंकि वे आकृति शब्द से कही जाने वाली वस्तु को व्यावहारिक नित्य मानते हैं। संस्थान अर्थात् अवयवों

का गठन नित्य नहीं हो सकता। सम्भव है आचार्य ने "आकृति" शब्द की यौगिकता की ओर दृक्पात करके सामान्य को आकृति कहा है। आकृति, आकारण अर्थात् सम्बोधन, फलतः कथन जिससे हो, अर्थात् यत्प्रयुक्त हो वह है आकृति। इस व्याख्या के आधार पर सामान्य को अनायास आकृति कहा जा सकता है। क्योंकि इस व्याख्या के अनुसार प्रवृत्ति-निमित्त अर्थात् जिसके कारण कोई पद अर्थ को समझाने के लिए प्रवृत्त होता है, वह अर्थगत स्वाभाविक धर्म ही "आकृति" कहलाने का अधिकारी होता है। गायों में गोत्व होने के कारण ही गौ, गाय आदि पद उसे समझाने के लिए प्रवृत्त होते हैं। अतः उस प्रवृत्ति-निमित्त गोत्व को उक्त व्याख्या के अनुसार अनायास "आकृति" कहा जायगा। इस प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

सामान्याभास

कुछ धर्म ऐसे भी हैं जो सामान्य नामक पदार्थ न होते हुए भी आपाततः सामान्य जैसे प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए आकाशत्व को लिया जा सकता है। विवेचक दृष्टि से उसे सामान्य मानना कठिन है। किसी को सामान्य होने के लिए उसका अनेक आश्रयों में दण्डायमान होकर रहना नितान्त आवश्यक है। किन्तु आकाशत्व वैसा नहीं है। उसका आश्रय आकाश एक ही है, अतः वह अनेक आश्रयों में रहनेवाला नहीं है। सुतरां आकाशत्व को सामान्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार कालत्व, दिक्त्व, ईश्वरत्व, तद्व्यक्तित्व आदि को भी सामान्य नहीं माना जा सकता। अपने अनेक आश्रयों को एक रूप से समझाने के लिए ही सामान्य की मान्यता होती है। उक्त आकाशत्व, कालत्व आदि के आश्रय ही जब अनेक नहीं हैं तब वे किन्हें एक रूप से समझाने के कारण सामान्य बन पायेंगे। अतः ऐसे धर्मों को सामान्य न कहकर "सामान्याभास" ही कहना होगा।

इसी प्रकार सामान्य के लक्षण से आक्रान्त समनियत अनेक धर्मों के अन्दर किसी एक को ही सामान्य माना जा सकता है। अतः अन्य तत्समनियत को भी सामान्याभास समझना चाहिए। समनियत का अर्थ होता है समान आश्रयों में आश्रित। उदाहरण के लिए घटत्व, कलशत्व, कम्बुग्रीवादिमत्त्व आदि को लिया जा सकता है। इनके अन्दर किसी एक को ही सामान्य समझना चाहिए, अन्य सभी को सामान्याभास समझना चाहिए। क्योंकि आश्रयों को एक रूप से समझाना-स्वरूप प्रयोजन जब कि एक किसी के ही सामान्य मानने से सम्पन्न हो जाता है तो अन्य को फिर सामान्यस्वरूप अतिरिक्त क्यों माना जाय?

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि नियामक के अभाव में किसे सामान्य माना जाय और किसे सामान्याभास, यह निर्णय करना कठिन होगा। सुतरां सब को

सामान्य मानना अनिवार्य हो जायगा। इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि आश्रय-वाचक शब्द के प्रयोगाधिक्य के आधार पर यह निर्णय करना सहज हो जायगा। जहाँ घड़े को समझाने के लिए "घट", "घड़ा" इन शब्दों का प्रयोग अधिक होता हो वहाँ घटत्व को सामान्य और अन्य को सामान्याभास मानना चाहिए और जहाँ कलश शब्द का अधिकतर प्रयोग होता हो वहाँ "कलशत्व" को सामान्य और अन्य को सामान्याभास मानना चाहिए।

ऐसी परिस्थिति में यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि तब यहाँ पूर्व में प्रदर्शित सामान्य के स्वरूप निर्वचन में कुछ सुधार करना आवश्यक होगा। क्योंकि—"नित्य होते हुए समवाय नामक सम्बन्ध से अनेक आश्रयों में रहनेवाले को सामान्य" कहा गया है। इसके अनुसार तो प्रकृत सामान्याभास भी सामान्य कहलाने का अधिकारी हो जाता है। इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि कहीं कुछ सुधार कर लेना कठिन बात नहीं है। यह अनायास कहा जा सकता है कि "जो नित्य एवं समवाय सम्बन्ध से अनेकाश्रित होता हुआ किसी सामान्य का समनियत न हो वह कहलायेगा सामान्य।" घटत्व यदि सामान्य रूप से पहले निश्चित हो गया रहेगा तो कलशत्व उसका समनियत अर्थात् समान आश्रय में रहनेवाला ही हो जायगा, "समनियत" न होने वाला नहीं हो सकेगा। अतः पश्चात् उपस्थित कलशत्व सामान्य नहीं हो सकेगा। तब कोई आपत्ति नहीं रह पायेगी।

वस्तुतः यह विचार यहाँ पर घटत्व और कलशत्व को समनियत किन्तु दो धर्म मानकर किया गया है। यदि शब्द मात्र का भेद मानकर दोनों में तत्वतः अभेद मान लिया जाय तो एक की सामान्याभासता का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। प्राच्य पदार्थ-शास्त्रियों ने "तुल्यत्व" को सामान्यता का बाधक बतलाया है, जिससे प्रतीत होता है कि वे इस तरह के समनियत धर्मों को भिन्न मानते हैं। उसकी रक्षा के लिए ही यहाँ यह विचार करना पड़ा है।

किसी के सामान्य होने के लिए यह भी आवश्यक है कि वह किसी अन्य के साथ एकत्र कहीं रहता हुआ उस अन्य के अभाव के साथ किसी स्थान में न रहे। ऐसा न होने पर वह सामान्य न होकर सामान्याभास हो जायगा। उदाहरण के लिए भूतत्व और मूर्तत्व इन दो धर्मों को लिया जा सकता है। इन दोनों के अन्दर कोई भी सामान्य नहीं होता। क्योंकि ये दोनों ही पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चारों आश्रयों में एकत्र रहते हैं और आकाश में मूर्तत्व के अभाव के साथ भूतत्व रहता है तथा मन में भूतत्व के अभाव के साथ मूर्तत्व रह जाता है। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच भूत कहलाते हैं तथा पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन ये कहलाते हैं मूर्त्त यह

बात प्रथम प्रकरण में बतायी जा चुकी है। अतः भूतत्व और मूर्तत्व ये सामान्य नहीं सामान्याभास होते हैं। इसी प्रकार कृतकत्व और अनित्यत्व को भी सामान्याभास समझना चाहिए। क्योंकि कृतकत्व है उत्पन्नत्व और अनित्यत्व होता है विनाशित्व। अनादि प्रागभाव में विनाशित्व रहता है किन्तु कृतकत्व नहीं रहता, क्योंकि अनादि होने के कारण उसकी उत्पत्ति नहीं होती और सादि अनन्त प्रध्वंसाभाव में कृतकत्व तो रहता है किन्तु अनन्त होने के कारण विनाशित्व उसमें नहीं रहता। किन्तु घट-पट आदि में कृतकत्व और अनित्यत्व दोनों ही रहते हैं। अतः भूतत्व और मूर्तत्व के समान इन्हें भी सामान्याभास समझना चाहिए। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

किन्तु यहाँ एक बात ध्यान रखने की यह है कि जहाँ ऐसी परिस्थिति होगी वहाँ यदि उक्त प्रकार के दो धर्मों के अन्दर किसी एक की सामान्यता का स्थापक कोई प्रमाण मिलेगा तो एक सामान्य होगा और अपर सामान्याभास। और जहाँ दोनों समान रहेंगे वहाँ दोनों ही सामान्याभास हो जायेंगे। उदाहरण के लिए पृथिवीत्व और शरीरत्व को लिया जा सकता है। यहाँ भी उक्त परिस्थिति होती है। क्योंकि पृथिवीत्व के बिना शरीरत्व तैजस सूर्य-शरीर में भी रहता है, और शरीरत्व के बिना पृथिवीत्व घट आदि में, मानव-शरीर में शरीरत्व और पृथिवीत्व दोनों रहते हैं। परन्तु पृथिवीत्व सामान्याभास नहीं सामान्य ही माना जाता है। क्योंकि समस्त पार्थिव वस्तुओं में गन्ध गुण की उत्पत्ति के लिए अनुगत पृथिवीत्व सामान्य के सहारे ही विभिन्न असंख्य पार्थिव वस्तुओं को अनुगत रूप से उत्पादक कहा जा सकता है। अतः शरीरत्व ही केवल सामान्याभास होगा। जहाँ दोनों सामान्याभास हो जाते हैं उसका उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। ऐसी परिस्थिति में ही प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने सांकर्य को सामान्यता का बाधक माना है। सांकर्य की परिभाषा उन्होंने यही की है कि दो धर्मों का परस्पर को प्रायः छोड़कर और कहीं मिलकर भी रहना सांकर्य है। भूतत्व और मूर्तत्व में यह बात बतलायी जा चुकी है।

कुछ लोग सांकर्य को सामान्यता का बाधक नहीं मानते, अर्थात् उक्त परिस्थिति में भी वे लोग दोनों धर्मों को सामान्य ही मानते हैं, सांकर्य दोष को जाति होने में बाधक नहीं मानते हैं। परन्तु यह बात उचित नहीं है। क्योंकि प्रत्येक जाति का यह स्वभाव पाया जाता है कि वह किसी व्याप्य-व्यापक परम्परा के अन्दर आबद्ध होती है। वह व्याप्य-व्यापक की परम्परा या श्रृंखला का उल्लंघन नहीं करती है। उदाहरण के लिए किसी भी सामान्य को लिया जा सकता है। जैसे सर्वप्रथम सामान्य 'सत्ता' पदार्थत्व की व्याप्य और द्रव्यत्व, गुणत्व एवं कर्मत्व इन तीनों की व्यापक होती है। उक्त द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व "सत्ता" के व्याप्य

एवं पृथिवीत्व, रूपत्व, उत्क्षेपणत्व आदि अपने-अपने व्याप्यों के व्यापक होते हैं। परन्तु उक्त भूतत्व एवं मूर्तत्व सामान्य के स्वभाव की रक्षा नहीं कर पाते, किसी व्याप्य-व्यापक की परम्परा के अन्दर अपने को आबद्ध नहीं रखना चाहते। विशद रूप से इसे यों समझना चाहिए, यथा—भूतत्व और मूर्तत्व को पदार्थत्व का साक्षात् व्याप्य और "सत्ता" का व्यापक नहीं माना जा सकता। अर्थात् पदार्थत्व और सत्ता इन दोनों के बीच उन्हें स्थान नहीं दिया जा सकता। क्योंकि सत्ता केवल पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश या मन इनमें ही नहीं रहती। वह नौ द्रव्य, चौबीस गुण और पाँच कर्मों में रहती है, जिसका विशेष परिचय आगे दिया जायगा। ऐसी परिस्थिति में सत्ता भूतत्व या मूर्तत्व की व्याप्य नहीं बन सकेगी। अतः सत्ता ही पदार्थत्व की साक्षात् व्याप्य बन जायगी। सुतरां भूतत्व और मूर्तत्व को सत्ता के नीचे अर्थात् उसकी व्याप्य कोटि में अपना स्थान खोजना होगा परन्तु वह भी नहीं मिल सकेगा। क्योंकि द्रव्यत्व, गुणत्व आदि भी अपने से ऊपर अर्थात् व्यापक कोटि में उन्हें नहीं रहने देंगे। क्योंकि द्रव्यत्व नौ द्रव्यों में रहने के कारण पाँच-पाँच मात्र में रहने वाले उनसे अधिक स्थान में रहने से व्यापक बन बैठेगा। अतः उन्हें द्रव्यत्व के नीचे अपना स्थान ढूंढ़ना पड़ेगा। अर्थात् उसके साक्षात् व्याप्य बनकर रहना चाहेंगे वे दोनों, परन्तु यह भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि तब भूतत्व और मूर्तत्व इन दोनों में ही व्यापक बनने के लिए प्रतिद्वन्द्विता उपस्थित हो जायगी जिसका निपटारा कभी होने का नहीं। व्याप्य के सारे आश्रय नियमतः व्यापक के आश्रयों में अन्तर्भुक्त हुआ करते हैं। परन्तु यहाँ यह बात नहीं होती। आकाश में मूर्तत्व न होने के कारण भूतत्व के सारे आश्रय मूर्तत्व के आश्रयों में अन्तर्भुक्त नहीं हो पाते। और मन में भूतत्व नहीं होने के कारण मूर्तत्व के सारे आश्रय भूतत्व के आश्रयों में अन्तर्भुक्त नहीं हो पाते। गुणत्व और कर्मत्व की व्याप्य-व्यापक परम्परा में इनको कभी स्थान मिल ही नहीं सकता। क्योंकि जो दो कहीं कभी एक जगह रहते ही नहीं उन दोनों में व्याप्य-व्यापक-भाव की कभी सम्भावना ही नहीं रह जाती। पृथिवी आदि पञ्च भूत या पञ्च मूर्त गुणी होते हैं गुण नहीं, सुतरां गुणत्व और भूतत्व या मूर्तत्व सर्वथा असमानाधिकरण अर्थात् अत्यन्त विरुद्ध हो जाते हैं, जिससे व्याप्य-व्यापक भाव की आशा नहीं की जा सकती है।

उक्त प्रकार से भूतत्व और मूर्तत्व में प्रतिद्वन्द्विता न निपटने के कारण पृथिवीत्व, जलत्व आदि द्रव्यत्व के साक्षात् व्याप्य हो जाते हैं। सुतरां भूतत्व और मूर्तत्व को किसी व्याप्य-व्यापक परम्परा में स्थान नहीं मिलता है। इस प्रकार सामान्य के स्वभाव का उल्लंघन करने के कारण वे दोनों सामान्य नहीं कहे जा सकते अतः उन्हें सामान्याभास ही कहना होगा। यदि यह कहा जाय कि जैसे एक द्रव्यत्व के पृथिवीत्व,

जलत्व आदि अनेक साक्षात् व्याप्य माने जाते हैं, तद्वत् भूतत्व और मूर्तत्व को एक द्रव्यत्व के स्वतंत्र दो व्याप्य क्यों न मान लिया जाय ? परस्पर में व्याप्य-व्यापक भाव न होने पर भी एक के प्रति स्वतंत्र दो व्याप्य मानने में तो कोई बाधा नहीं प्राप्त हो सकती। किंतु यह भी इसलिए नहीं कहा जा सकता कि एक के प्रति स्वतंत्र रूप से व्याप्य होने वाले दो नियमत: असमानाधिकरण होते हैं, किसी एक जगह मिलकर रहने वाले नहीं होते। भूतत्व और मूर्तत्व में यह बात नहीं है। एक में कौन कहे पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार अधिकरणों में दोनों ही मिलकर रहते हैं, अत: वे किसी भी व्याप्य-व्यापक की परम्परा के अन्दर नहीं आ पाते। सुतरां स्वभावातिक्रमण के कारण उन्हें सामान्य-बाह्य होना ही पड़ता है। जो जिस वर्ग के स्वभाव का उल्लंघन करता है वह कभी उस वर्ग के अन्दर नहीं रहता यह विज्ञानसिद्ध बात है। अत: भूतत्व और मूर्तत्व को सामान्याभास ही मानना होगा। इसी प्रकार अन्यत्र समझना चाहिए। इसी प्रकार सामान्यत्व को भी सामान्याभास समझना चाहिए, क्योंकि सामान्यत्व को सामान्य मानने का अर्थ है सामान्य पर सामान्य मानना। परन्तु ऐसा होने पर अनवस्था चल पड़ेगी। प्रथम सामान्य में माने जाने वाले नवीन सामान्य पर भी फिर तुल्ययुक्त्या तीसरा सामान्य मानना होगा और उसी प्रकार उस पर फिर चौथा, इस प्रकार जाति की संख्या की सीमा न रहेगी। संख्या की असीमता सह्य नहीं। क्योंकि परार्ध से आगे कोई संख्या नहीं होती। अत: यह मानना ही होगा कि सामान्य पर कोई अलग सामान्य नहीं रहता। ऐसी परिस्थिति में यह सुतरां प्राप्त हो जाता है कि सामान्यत्व सामान्य नहीं किन्तु सामान्याभास है।

सामान्य के समान विशेषत्व भी सामान्य नहीं हो सकता, वह भी सामान्याभास ही होगा। क्योंकि विशेषत्व को सामान्य मानने पर विशेष विशेष ही नहीं रह सकता, क्योंकि विशेष स्वत: व्यावृत्त अर्थात् अन्य से भिन्न रूप से ज्ञात होता है। स्वत: व्यावृत्त वही होगा जो कि किसी सामान्य का आश्रय नहीं होगा। यह बात पहले कही जा चुकी है कि सामान्य स्वतंत्र हुआ करते हैं, आश्रय के अधीन नहीं। आश्रयों को ही उनके अधीन होना पड़ता है, अत: अपने आश्रय के ऊपर उनका पूरा आधिपत्य हो जाता है। अत: वे अपने अस्तित्व-प्रयुक्त आश्रय को अन्य से भिन्न होने एवं ज्ञात होने देते हैं। सुतरां सामान्य रूप से स्वीकर्तव्य विशेषत्व अपने आश्रय विशेष को स्वयं व्यावृत्त अर्थात् औरों से भिन्नतया ज्ञात नहीं होने दे सकता। विशेष और उसकी स्वतो-व्यावृत्ति आदि का विशद विचार आगे किया जायगा। इस प्रकार विशेषत्व को सामान्य मानने पर विशेष विशेष ही नहीं रह सकता। फिर उसका आश्रयण कर रहनेवाला विशेषत्व भी विशेषत्व कैसे कहला सकेगा; सामान्य होना तो दूर रहा।

अतः विशेष की स्वरूप-हानि की आशंका से विशेषत्व को सामान्य नहीं माना जा सकता। सुतरां वह सामान्याभास ही होगा।

किसी के सामान्य होने के लिए यह भी आवश्यक है कि वह समवाय सम्बन्ध से अपने आश्रय में रहता हो। इसीलिए "समवायत्व" सामान्य नहीं होता। क्योंकि समवाय में समवायत्व समवाय नामक सम्बन्ध से रहता है यह नहीं कहा जा सकता। ऐसा मानने पर एक समवाय पर दूसरा समवाय मानना होगा और उस पर भी समवायत्व सामान्य को रखने के लिए तीसरे समवाय की अपेक्षा होगी। इसी प्रकार समवायों की भी संख्या असीम हो जायगी। अतः समवायत्व भी सामान्याभास ही है ऐसा मानना होगा।

अब प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि ये सामान्याभास यदि सामान्य नहीं हैं तो इन्हें अलग स्वतंत्र पदार्थ मानना होगा। फिर सात ही पदार्थ कैसे माने जा सकते हैं? इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि जैसे सादृश्य स्वतंत्र कोई पदार्थ नहीं माना जाता है, तत्तत् स्थलों में द्रव्य गुण आदि स्वीकृत पदार्थों में ही सादृश्य का अन्तर्भाव हो जाता है, जैसा कि प्रथम प्रकरण में बतलाया जा चुका है। तद्वत् सामान्याभासों को भी अनियत भाव से यथासम्भव द्रव्य-गुण आदि स्वीकृत पदार्थों में अन्तर्भुक्त समझना चाहिए। अतः पदार्थों के विभाजन में कोई गड़बड़ी नहीं उपस्थित होगी। उदाहरण के लिए उक्त सामान्याभासों को लिया जा सकता है। जैसे—आकाशत्व आकाश में रहने वाली एकत्व संख्या-स्वरूप हो जायगा, अतः वह गुण के अन्दर चला जायगा। भूतत्व आत्मा में नहीं रहने वाला विशेष गुण हो जायगा। मूर्तत्व भी अपकृष्ट परिमाण स्वरूप होने के कारण गुण में ही अन्तर्भुक्त हो जायगा, अतिरिक्त पदार्थ नहीं होगा। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

कुर्वद्रूपत्व सामान्य नहीं

अब प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि सामान्य नामक अतिरिक्त पदार्थ मानने पर घटत्व आदि के समान "कुर्वद्रूपत्व" को भी सामान्य मानना होगा। क्योंकि किसी भी कार्य की उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्व क्षण में रहने वाले सारे उत्पादक होंगे "कुर्वद्रूप" और उन कार्य की उत्पत्ति करते हुए असंख्य कारणों को अनुगत रूप से समझने और व्यवहार करने के लिए सबका अनुगमक कुर्वद्रूपत्व-स्वरूप सामान्य मानना ही होगा।

इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि पदार्थशास्त्रियों के यहाँ क्षणभंग अप्रामाणिक है। अतः अंकुर के प्रति बीजत्वेन बीज, कपड़े के प्रति तन्तुत्वेन तन्तु, घड़े के प्रति कपालत्वेन कपाल ही कारण होते हैं, अतः कुर्वद्रूपत्व नाम की कोई वस्तु ही नहीं

मानी जा सकती। फिर उसके सामान्य होने की शंका ही कैसे की जा सकती है। दूसरी बात यह कि जो लोग कार्य-कारण भाव बनाने के लिए कुर्वद्रूपत्व मानना चाहते हैं उनसे यह पूछा जाय कि असमान-कालिक असंख्य विभिन्न कार्यों के प्रति कारण होने वाले असंख्य असमान कालिक कारणों में वह कुर्वद्रूपत्व माना जायगा या नहीं ? यदि कहा जाय हाँ, तो वह कुर्वद्रूपत्व ही क्षणभंग सिद्धान्त की बलिवेदी बन जायगा। क्योंकि असमान-कालिक असंख्य कारणों में रहने के कारण वह अनेककालस्थायी हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि सभी कारणों में रहनेवाला एक कोई कुर्वद्रूपत्व नहीं होता किन्तु अलग-अलग कारण व्यक्ति में अलग-अलग कुर्वद्रूपत्व होते हैं, तो उसे फिर सामान्य मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि जो स्वयं अननुगत होगा वह विशेष रूप बन जायगा, वह दूसरे का अनुगमन कैसे कर सकेगा ? सुतरां कुर्वद्रूपत्व को अनुगत ज्ञान या वाक्यप्रयोग-स्वरूप व्यवहार के लिए सामान्यस्वरूप वे लोग नहीं कह सकते जो उसे मानने का असफल प्रयत्न करते हैं।

सामान्य की नित्यता

यह बात पहले बतलायी गयी है कि सामान्य नित्य होता हुआ अनेक आश्रयों में समवाय नामक सम्बन्ध से रहने वाला होता है। इस विषय में प्रश्न यह उपस्थित किया जा सकता है कि आश्रय के नष्ट होने पर वह कैसे रह सकता है ? क्या घड़े, कपड़े आदि के नष्ट हो जाने पर भी उनमें रूप रस आदि रहते हैं ? यदि नहीं तो रूप रस आदि के ही समान घटत्व और पटत्व आदि सामान्य को भी अनित्य ही मानना होगा। फिर पूर्वोक्त बात कैसे संगत कही जा सकती है ? इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि यदि यह बात थोड़ी देर के लिए मान भी ली जाय कि रूप-रस के समान आश्रय के बिना घटत्व-पटत्व आदि सामान्य नहीं रह सकते, फिर भी उन्हें अनित्य नहीं बनाया जा सकता। क्योंकि एक आश्रय के मरने पर भी विद्यमान असंख्य आश्रयों में वे अनायास रह सकते हैं। एक घड़े के नष्ट होने पर भी अन्य अनेक घड़े पड़े रहते ही हैं। यदि यह कहा जाय कि प्रलय काल में तो कोई घड़ा नहीं रहता फिर किसके सहारे घटत्व रह पायेगा ? इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि एक ब्रह्माण्ड के नष्ट होने पर भी अन्य ब्रह्माण्ड रहते हैं। अतः वहाँ विद्यमान घड़े का आश्रयण कर घटत्व अनायास उसमें रह सकता है। वस्तुतः व्यापक वस्तु आश्रय के बिना भी रहती है, जैसे आकाश। सुतरां तद्वत् सामान्य भी प्रलयकाल में रहता है। यदि एक एक आश्रय के मरने पर घटत्व आदि सामान्य मरने लगें तो उसे सामान्य ही नहीं कहा जा सकता और उसे मानने का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता। अतः सामान्य को नित्य मानना चाहिए।

कुछ आधुनिकों का इस सम्बन्ध में वक्तव्य यह है कि उत्तरोत्तर होने वाले नूतन वैज्ञानिक आविष्कार की ओर दृष्टिपात करने पर यह मानना ही होगा कि सामान्य अनित्य होता है। जहाँ पहले भी वैसे पदार्थ हैं और पीछे भी होते हैं वहाँ तो यह कथंचित् कहा जा सकता है कि सामान्य पहले से था किन्तु जहाँ आज से पहले वे नूतन आविष्कृत आश्रयभूत वस्तुएँ थीं ही नहीं वहाँ यह कैसे कहा जा सकता है कि उनमें रहनेवाला सामान्य पहले भी था। उदाहरण के लिए इस युग के नव आविष्कार रेल, वायुयान, राकेट, बिजली, उपग्रह आदि को लिया जा सकता है। ये सब वस्तुएं पहले बिल्कुल नहीं थीं सुतरां वायुयानत्व, धूमयानत्व, विद्युत्त्व आदि सामान्यों को नित्य कभी नहीं माना जा सकता। ज्ञान एवं व्यवहार के अनुगमक अर्थात् एकरूपता के सम्पादक होने के कारण उन्हें घटत्व आदि की तरह सामान्य तो मानना ही होगा। वे जब नित्य नहीं हो सकेंगे तो उन्हें अनित्य सामान्य ही मानना होगा। इसके उत्तर दो हैं। एक यह कि जो लोग सामान्य नामक पदार्थ मानने वाले हैं उनका कथन यह है कि कोई भी आविष्कार अति नूतन, अत्यन्त विजातीय नहीं हुआ करता है। इसके कारण दो हैं; एक यह कि इस अति प्राचीन अनादि संसार में ऐसी वस्तु, जिसे अति नवीन अपूर्व कहा जाता है, कभी नहीं हुई यह निर्णय करना आत्मवञ्चना है। तभी तो कुछ रूसी भूत-वैज्ञानिक यहाँ तक कहने लगे हैं कि आज से दो लाख वर्ष पूर्व—अन्तरिक्ष में छोड़े गये मानवनिर्मित उपग्रह अब भी आकाश में चक्कर मार रहे हैं। और एक ने तो अभी-अभी यहाँ तक कहा है कि अन्तरिक्षस्थित लोकान्तरीय मानव इस धरती पर उतरे थे और अपने उतरने की स्मृति में उन्होंने टैरेस क्षेत्र में विशाल प्रस्तरमंच बनाया था। इसी प्रकार यह भी निर्णय करना कठिन है कि वर्तमान काल में भी अनन्त ब्रह्माण्डों के अन्दर कहीं भी ऐसी वस्तु नहीं है। मनुष्य को अपने ज्ञान की परिधि को ध्यान में रखते हुए ही कोई दावा करना चाहिए। यह हो सकता है कि कोई वस्तु कभी कहीं न पायी जाती हो। किन्तु इतने से सामान्य पदार्थ की सत्ता अथवा नित्यता में कोई बाधा नहीं आ पाती, क्योंकि उसमें कालिक और दैशिक दो प्रकार की व्यापकता मानी जाती है। दूसरा उत्तर यह है—आविष्कृत वस्तु अधिकतर किसी न किसी दृष्टान्त से आश्रयीकृत अवश्य हो जाती है। उदाहरण के लिए पूर्वपक्ष की ओर से उदाहरण रूप में प्रदर्शित वस्तुओं को भी अनायास उपस्थित किया जा सकता है। यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि वायुयान आज से पहले कभी न था, फिर भी यह मानना ही होगा कि विविध प्रकार के यान अर्थात् एक स्थान से अन्य स्थान पर जाने के साधन थे, ऐसी परिस्थिति में "यानत्व" सामान्य मानना ही होगा। उसे ही वायु से विशेषित कर आज "वायुयानत्व" सामान्य कहा जायगा। इस प्रकार आका-

णीय विद्युत् प्राचीन होने के कारण "विद्युत्त्व" सामान्य मानना ही होगा। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए। कहने का सारांश यह है कि प्राच्य पदार्थशास्त्री आरम्भवादी होने पर भी सजातीयारम्भवादी थे, अति विजातीयारम्भवादी नहीं। अतः उन्हें उक्त आक्षेप का भागी नहीं बनाया जा सकता।

सामान्य के सम्बन्ध में कुछ लोग यह सोचते हैं कि कोई भी वस्तु पहले पहल नमूने के रूप में एक ही बनती है। जब तक किसी वस्तु की संख्या प्रचुर नहीं होती तब तक उक्त प्रकार के अनुगम के लिए सामान्य की अपेक्षा नहीं होती है, अतः तब तक सामान्य की कल्पना भी नहीं होती है। जब उस नमूने के आधार पर बहुत सी वस्तुएं बनायी जाती हैं तब उन सदृश वस्तुओं को एक रूप से समझने एवं समझाने के लिए सामान्य की कल्पना होती है। सुतरां सामान्य को नित्य नहीं कहा जा सकता। परन्तु बात ऐसी नहीं है, क्योंकि अभी ऊपर यह बतलाया गया है कि प्राच्य पदार्थशास्त्री सजातीयारम्भवादी हैं। अतः उनके यहाँ यह परिस्थिति ही नहीं प्राप्त होती। दूसरी बात यहाँ यह ध्यान देने की है कि "पीछे सामान्य की कल्पना होती है" इस कथन का अर्थ क्या है? क्या कल्पना का अर्थ यह है कि ज्ञान मात्र होता है, सामान्य का वहाँ वस्तुत्व नहीं? तो यह इसलिए उचित नहीं होगा कि पदार्थशास्त्री निर्विषयक ज्ञान नहीं मानते। भ्रान्ति भी अन्यत्र प्रसिद्ध वस्तु की ही कहीं अन्यत्र दोषवश होती है। अतः कल्पना का अर्थ "ज्ञान" न करके "उत्पत्ति" करना होगा। परन्तु यह भी नहीं बन सकेगा। क्योंकि उत्पत्ति कभी अकारण नहीं होती। यदि सामान्य की उत्पत्ति मानी जायगी तो उसके लिए कारण खोजना ही पड़ेगा। यदि उसके आश्रय के विषयों को ही कारण माना जायगा तो वह सामान्य अपने आश्रयों से अलग नहीं हो सकेगा। जैसे "घटत्व" घटस्वरूप ही हो जायगा। परन्तु यह भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि आश्रयों के अनुगम के लिए ही सामान्य माना जाता है। विभिन्न आश्रयों से उन्हीं आश्रयों का अनुगम कैसे हो पायेगा? सुतरां सामान्य को धर्मरूप मानना होगा और कोई कारण न होने के कारण उसे नित्य भी मानना होगा। विभिन्न घट आदि आश्रयों की बात अलग रहे, यदि घटत्व आदि सामान्य को अनित्य माना जाय तो किसी भी घट को एक घट समझना या कहना कठिन हो जायगा। क्योंकि वायु, जल आदि के अभिघात से परमाणु-क्रिया की अनिवार्यता के कारण त्र्यणुक-नाश आदि के क्रम से बीच-बीच में घड़े का नाश मानना ही होगा। सुतरां किस की एकता और स्थायिता को लेकर घड़ों को स्थायी रूप से प्रत्यभिज्ञात अर्थात् "यह वही घड़ा है" इस प्रकार से ज्ञान का विषय किया जा सकेगा? अतः सामान्य को नित्य मानना ही होगा। सामान्य को इसलिए भी नित्य मानना होगा कि व्यापक वस्तु कभी अनित्य नहीं होती। आकाश,

काल, दिक् और आत्मा ये इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। यदि कहा जाय कि आकाश आदि द्रव्य हैं सामान्य तो द्रव्य नहीं, तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि स्वाभाविक सम्बन्ध नित्यता और व्यापकता का है, आश्रय कोई भी हो इससे क्या ? धूम और अग्नि इन दोनों में व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध होने के कारण धूम से कहीं भी अग्नि का अनुमान किया जा सकता है, किया जाता ही है। उसी प्रकार प्रकृत में भी व्यापकता से कहीं भी नित्यता का अनुमान किया जा सकता है। जब और जगह ऐसा किया जा सकता है तो सामान्य का ही क्या अपराध है कि वहाँ व्यापकता के सहारे नित्यता का अनुमान न हो सके।

सामान्य का व्यापन

गोत्व, घटत्व आदि प्रत्येक सामान्य कालतः एवं देशतः उभयथा व्यापक होते हैं। कालतः व्यापक का अर्थ यह है कि कोई भी काल उनके बिना नहीं होता। भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों ही काल, या यों कहा जाय कि प्रत्येक क्षण कालिक सम्बन्ध से सामान्य का आश्रय होता है। इस प्रकार कालत्व और गोत्व आदि सामान्यों के बीच "अविनाभाव" होता है अर्थात् किसी भी सामान्य के बिना कालत्व नहीं रह सकता। जो काल होगा उसे सामान्य का वहन करना ही होगा। सामान्य का सम्बन्ध प्रत्येक खण्ड काल से भी होगा ही। देशतः व्यापक होने का अर्थ यह है कि प्रत्येक गोत्व आदि सामान्य पूर्व-पश्चिम आदि दसों दिशाओं में अतएव सभी दिक्-विभाजक दैशिक मूर्त वस्तुओं में रहता है। अभिप्राय यह है कि कोई भी ऐसा दिक्-खण्ड एवं उसमें अवस्थित वस्तु नहीं होगी जहाँ गोत्व आदि सामान्य न होंगे।

सामान्य को कालतः व्यापक इसलिए मानना पड़ता है कि उसे आश्रयानधीन स्वतः सिद्ध वस्तु बतलाया जा चुका है। कभी-कभी उत्पन्न होने वाले--गौ, घट आदि ही उसके सम्बन्ध से "गौ", "घट" आदि कहलाने के अधिकारी बनते हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि सामान्य को कालतः व्यापक न माना जाय अर्थात् सभी कालों में रहने वाला न माना जाय तो एक के पीछे एक उत्पन्न होने वाले घड़ों को किसका आश्रय होने के कारण घट रूप से समझा या कहा जा सकेगा। अतः घटत्व आदि सामान्यों को सभी समय रहनेवाला माना जाता है। जब भी घट की उत्पत्ति होगी तभी घटत्व से उस उत्पन्न वस्तु का सम्बन्ध हो जायगा, जिससे वह अपने अस्तित्व काल में बराबर घट रूप से समझी जायगी और कही जायगी। इसी प्रकार सामान्य को देशतः व्यापक भी मानना पड़ता है, अन्यथा विभिन्न दिशाओं में उत्पन्न सभी घड़े कैसे घट रूप से समझे जायँगे एवं व्यवहृत हो पायेंगे। घटत्व आदि को सब दिशाओं में अवस्थित मान लेने पर जिधर भी घड़ा उत्पन्न होगा उधर ही घटत्व उपस्थित रहने के कारण

उस सामान्य से अनायास सम्बद्ध हो जायेगा और सभी जगह के घड़े घड़े समझे जायँगे एवं घट शब्द या उसके पर्यायवाचक शब्दों से कहे जायँगे।

इस पर प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि यदि इस प्रकार सामान्य को व्यापक माना जायगा तो वस्तुपरिच्छेद अर्थात् वस्तुओं का पारस्परिक भेद लुप्त हो जायगा। क्योंकि गोत्व व्यापक होने के कारण सर्वत्र रहेगा, सुतरां घट-पट आदि में भी गोत्व सामान्य रह जायगा। इसी प्रकार घटत्व सामान्य गाय-पट आदि सभी में रह जायगा। फिर किसे गाय कहा जाय और किसे नहीं इसका कोई ठिकाना नहीं रहेगा। सुतरां सारा जागतिक व्यवहार अस्त-व्यस्त हो जायगा। इसके उत्तर के दो प्रकार हैं—एक यह कि कालिक सम्बन्ध से किसी वस्तु को काल में ही रखा जा सकता है अन्य में नहीं। इसी प्रकार दैशिक सम्बन्ध से उसे दिक् में रखा जा सकता है अन्य में नहीं। घट-पट आदि विभिन्न द्रव्य काल या दिक् नहीं किन्तु सीमित व्यावहारिक रूप रखने के कारण वे "कालोपाधि" होते हैं। अतः कालिक या दैशिक सम्बन्ध से सब में सब सामान्य नहीं रहेंगे किन्तु काल और दिक् में ही रहेंगे। काल और दिक् द्रव्य का परिचय प्रथम प्रकरण में दिया जा चुका है। सामान्य की व्यापकता का अर्थ उसका सभी कालों में रहना एवं सभी दिशाओं में रहना ही है; सभी वस्तुओं में रहना यह नहीं। अतः गोत्व सामान्य घट-पट आदि में या घटत्व-पटत्व आदि सामान्य गाय, महिष आदि में न जायँगे।

दूसरा उत्तर यह है कि सूर्य-चन्द्र की किरणें जैसे सब जगह पड़ती हैं किन्तु प्रतिबिम्ब जल, दर्पण आदि स्वच्छ वस्तु में ही पड़ते हैं। उसी प्रकार गोत्व-घटत्व आदि स्वतः व्यापक रूप से सर्वत्र रहते हैं सही परन्तु उनका समवाय नामक विशेष सम्बन्ध सर्वत्र नहीं होता। गोत्व का समवाय सम्बन्ध गाय में ही एवं घटत्व का वह सम्बन्ध घटों में ही होता है। उस सम्बन्ध के ही सहारे ज्ञान या वाक्य-प्रयोगात्मक व्यवहार हुआ करता है। अतः सभी सब नहीं समझे या कहे जाते हैं। सारकथा यह है सामान्य समवाय सम्बन्ध से व्यापक नहीं होता, अतः उक्त प्रकार की आपत्ति नहीं की जा सकती।

सामान्य के आश्रय

सामान्याभास के विचार के समय यह बात बतलायी जा चुकी है कि सामान्य पर भी सामान्य मानने पर सामान्यों की संख्या असीम हो जायगी। विशेषों में सामान्य मानने पर स्वतोव्यावृत्त न हो सकने के कारण विशेष विशेष ही न रहने पायेगा। समवायत्व को सामान्य मानने पर समवाय की अव्यवस्थित परम्परा चल पड़ेगी, अनवस्था हो जायगी। अभावत्व सामान्य इसलिए नहीं हो सकता कि वह समवाय नामक सम्बन्ध से कहीं नहीं रहता। ऐसी परिस्थिति में सात पदार्थों के अन्दर सामान्य,

विशेष, समवाय और अभाव इन चारों के छूट जाने के कारण केवल द्रव्य, गुण और कर्म ये तीन रह जाते हैं। अतः इन तीनों को ही किसी प्रकार के सामान्य का आश्रय समझना चाहिए। घट-पट-मठ आदि द्रव्यों में सत्ता, द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, घटत्व, पटत्व, मठत्व आदि सामान्य रहते हैं। अतः द्रव्यों को सामान्य का आश्रय मानना पड़ता है। रूप-रस-गन्ध आदि गुणों में सत्ता, गुणत्व, रूपत्व, रसत्व, गन्धत्व आदि सामान्य रहते हैं, अतः गुणों को भी सामान्य का आश्रय मानना होता है। उत्क्षेपण-अपक्षेपण आदि क्रियाओं में सत्ता, कर्मत्व, उत्क्षेपणत्व, अपक्षेपणत्व आदि सामान्य रहते हैं। अतः कर्मों को भी सामान्य का आश्रय समझना चाहिए।

सामान्य का विभाजन

सामान्य पदार्थ को पदार्थशास्त्रियों ने तीन भागों में विभक्त किया है। यथा (१) पर सामान्य, (२) अपर सामान्य, तथा (३) परापर सामान्य। पर सामान्य वह कहलाता है जो कि अन्य सभी सामान्यों की अपेक्षा से अधिक आश्रयों में रहनेवाला हो। अपर सामान्य वह कहलाता है जो कि अन्य सभी सामान्यों की अपेक्षा से अल्प आश्रय में ही रहने वाला हो। तीसरा परापर सामान्य वह कहलाता है जो कि अपेक्षाकृत किसी सामान्य से अधिक आश्रयों में रहता हुआ किसी सामान्य से अपेक्षाकृत अल्प स्थान में भी रहता हो। सत्ता या सत्त्व नामक सामान्य 'पर सामान्य' होता है। क्योंकि इससे अधिक आश्रयों में रहनेवाला सामान्य और कोई नहीं होता। द्रव्यत्व भी एक सामान्य है परन्तु वह पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि वर्णित नौ द्रव्यों में ही रहता है गुण और कर्मों में नहीं। गुणत्व भी एक प्रकार का सामान्य है, किन्तु वह रूप रस आदि प्रथम वर्णित २३ गुणों में ही रहता है, द्रव्य और कर्मों में नहीं। कर्मत्व भी एक सामान्य अवश्य है किन्तु वह उत्पक्षेपण-अपक्षेपण आदि पाँच कर्मों में ही रहता है, द्रव्य या गुण में नहीं। किंतु सत्ता या सत्त्व नामक सामान्य नौ द्रव्य, तेईस गुण और पाँच कर्म इन सभी में रहता है। पृथिवीत्व, रूपत्व, उत्क्षेपणत्व आदि सामान्य तो क्रमशः द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व से भी अल्प स्थान में रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह स्पष्ट है कि सत्ता अन्य सभी सामान्यों से अधिक आश्रय में रहनेवाली है। अतः उक्त परिभाषा के अनुसार सत्ता को 'पर सामान्य' मानना ही होगा। घटत्व, पटत्व आदि सामान्य 'अपर सामान्य' होते हैं, क्योंकि ये सभी सत्ता, द्रव्यत्व, पृथिवीत्व जैसे अपनी परम्परा के सामान्यों से अल्प आश्रयों में रहते हैं। घटत्व सामान्य केवल घटों में रहता है किन्तु पृथिवीत्व घट-पट आदि सभी पार्थिव द्रव्यों में रहता है। इस प्रकार पृथिवीत्व ही घटत्व से अधिक स्थानों में रहनेवाला सिद्ध होता है। अतः पृथ्वी, जल आदि सभी द्रव्यों में रहनेवाले द्रव्यत्व सामान्य और

द्रव्य-गुण-कर्म सभी में रहने के कारण उससे भी अधिक स्थानों में रहने वाली सत्ता सुतरां घटत्व से अधिक आश्रयों में रहनेवाली होती है। अतः यह बात सुस्पष्ट है कि घटत्व सभी सामान्यों से अल्प स्थान में रहता है, अतः वह अपर सामान्य होता है। इसी प्रकार पटत्व-मठत्व आदि को भी समझना चाहिए।

यहाँ एक प्रश्न किसी के मन में यह उपस्थित हो सकता है कि घटत्व कैसे सब से कम स्थानों में रहने वाला सामान्य है ? क्योंकि नील घटत्व, पीत घटत्व आदि से तो घटत्व अधिक स्थान में रहने वाला होता है। इसी प्रकार पटत्व, मठत्व आदि के बारे में भी कहा जा सकता है। इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि पर होने के लिए किसी सामान्य से अधिक स्थान में रहनेवाला होना अपेक्षित है। नील घटत्व सामान्य पदार्थ नहीं किन्तु वह एक प्रकार का सामान्याभास है। क्योंकि किसी के सामान्य होने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह अखण्ड धर्म हो। नील घटत्व अखण्ड धर्म नहीं है। नील घटत्व का अर्थ होता है नील-रूप-समानाधिकरण घटत्व अर्थात् नील-रूप के अधिकरण में रहनेवाला घटत्व। ऐसी परिस्थिति में नील घटत्व को अखण्ड नहीं कहा जा सकता है, किन्तु समान आश्रय में केन्द्रित होने के कारण नील रूप-सम्बद्ध घटत्व मानना होगा। अतः वह अखण्ड धर्म नहीं कहला सकता, अतः सामान्य भी नहीं कहा जा सकता। सुतरां घटत्व को किसी भी सामान्य से अधिक आश्रयों में रहनेवाला सामान्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार पटत्व-मठत्व आदि के विचार स्थल में भी समझना चाहिए।

जब सत्त्व सामान्य 'पर सामान्य' हुआ और घटत्व-पटत्व आदि सामान्य 'अपर सामान्य' हुए, तो बीच में होने वाले द्रव्यत्व और पृथिवीत्व 'परापर सामान्य' होंगे यह सुस्पष्ट है। क्योंकि पट-मठ आदि रूप पृथिवी में भी रहने वाला पृथिवीत्व घटत्व से अधिक स्थानों में रहने के कारण पर सामान्य हो जायगा और उक्त सत्ता तथा द्रव्यत्व की अपेक्षा अल्प स्थानों में रहने के कारण उन दोनों से अपर हो जायगा। सुतरां पृथिवीत्व पर और अपर दोनों होने के कारण परापर सामान्य होगा। इसी प्रकार द्रव्यत्व भी इस तृतीय श्रेणी का ही सामान्य होगा। क्योंकि वह सभी द्रव्य, सभी गुण व सभी कर्मों में रहनेवाली सत्ता से अपर होगा और घटत्व, पृथिवीत्व आदि से अधिक आश्रयों में रहने के कारण पर सामान्य भी होगा। इसी प्रकार सत्ता, गुणत्व, रूपत्व और नीलत्व इस परम्परा में गुणत्व और रूपत्व को तथा सत्ता, कर्मत्व, उत्क्षेपणत्व की परम्परा में कर्मत्व को परापर सामान्य समझना चाहिए।

सामान्य-विभाजन के सम्बन्ध में इस प्रकार विचार करने पर निष्कर्ष यह निकलता है कि इस सामान्य पदार्थ की पर, परापर, अपर धारा त्रिपथगा के समान तीन

रूपों में मुख्यतया बहती है। यथा सत्ता, द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, घटत्व आदि रूप एक; सत्ता, गुणत्व, रूपत्व, नीलत्व आदि स्वरूप दूसरी और सत्ता, कर्मत्व, उत्क्षेपणत्व आदि स्वरूप तीसरी धारा।

कुछ लोग यहाँ यह प्रश्न उठा सकते हैं कि जब अधिक और अल्प आश्रयों में रहने के आधार पर ही पर सामान्य और अपर सामान्य होने की परिभाषा बनायी गयी है तब गुणत्व भी घटत्व की अपेक्षा से पर सामान्य और घटत्व भी गुणत्व की अपेक्षा से अपर सामान्य क्यों नहीं होगा? और यदि होगा, तो की गयी सामान्य-त्रिधारा की कल्पना संगत नहीं कही जा सकती। घटत्व की अपेक्षा से गुणत्व इसलिए अधिक स्थानों में रहेगा कि घटत्व सब घटों में ही रहेगा और गुणत्व सभी घटों के गुणों में और घट से अतिरिक्त पट-मठ आदि असंख्य द्रव्यों के असंख्य गुणों में भी रहता है। दोनों की आश्रयगत संख्या में महान तारतम्य होने के कारण गुणत्व को अधिक आश्रयों में रहनेवाला और घटत्व को उससे अल्प आश्रयों में रहनेवाला मानना ही होगा। इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि यह परापर-भाव की कल्पना केवल आश्रय के बहुत्व और अल्पत्व के ही ऊपर आधारित नहीं है। किन्तु अपर सामान्य के आश्रयों को पर सामान्य के आश्रयों का अन्तःपाती होना नितान्त अपेक्षित है। जैसे सामन्त राजा का राज्य-क्षेत्रफल चक्रवर्त्ती सम्राट् के राज्य-क्षेत्रफल के अन्तर्गत ही होता है, अतः चक्रवर्ती सम्राट् "पर" अर्थात् श्रेष्ठ राजा कहलाता और सामन्त राजा अपर अर्थात् चक्रवर्त्ती राजा की अपेक्षा से अश्रेष्ठ राजा कहलाता है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। दो राजाओं का राज्यक्षेत्रफल न्यूनाधिक होने पर भी यदि दोनों परस्पर निरपेक्ष स्वतंत्र होते हैं तो वे दोनों मैत्री या अमैत्री के सूत्र में ही आबद्ध हो सकते हैं, परापर भाव के सूत्र में अर्थात् श्रेष्ठता और अश्रेष्ठता के सूत्र में आबद्ध नहीं होते, उसी प्रकार गुणत्व और घटत्व आदि में परापर भाव की कल्पना नहीं की जा सकती।

प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने कहीं कहीं "पर" को सामान्य और "अपर" को विशेष शब्द से पुकारा है। अतः इस सामान्य-विशेष भाव को अवान्तर सामान्य-विशेष भाव समझना चाहिए। इस तरह सामान्य पदार्थ को फिर (१) सामान्य, (२) विशेष, (३) सामान्यविशेष इन तीन भागों में विभक्त समझना चाहिए। परापर नामक तृतीय प्रकार का ही नाम "सामान्यविशेष" ऐसा समझना चाहिए।

सत्ता

द्रव्य, गुण और कर्म ये तीनों पदार्थ जिस प्रकार विज्ञ से लेकर अति साधारण अज्ञ जन तक के लिए सत् रूप से प्रतीत होते हुए व्यवहार में अर्थात् उपयोग में आते

हैं, सामान्य-विशेष आदि उसी प्रकार ज्ञात होकर सब के लिए उपयोग में नहीं आते हैं। अतः द्रव्य, गुण और कर्म ये तीनों पदार्थ "सत्" शब्द से कहे जाते हैं। तत्तत् व्यक्ति के रूप में उक्त द्रव्य, गुण और कर्मों के असंख्य होने पर भी "सत्" रूप से उन्हें एक अर्थात् समान समझा जाता है। अतः असंख्य घट-पट आदि के अनुगमक घटत्व पटत्व आदि सामान्य के समान असंख्य द्रव्य, गुण, कर्म स्वरूप सत् को अनुगत करने वाला अर्थात् "ये सभी सत् हैं" इस प्रकार ज्ञान और वाक्य प्रयोग का सम्पादक सत्त्व या सत्ता रूप सामान्य माना जाना सर्वथा स्वाभाविक है। इसी सत्ता जाति का आश्रय होने के कारण कोई भी द्रव्य या गुण किंवा कर्म सत् रूप से अर्थात् साधारण जन की दृष्टि में अर्थ-क्रिया-समर्थ भावरूप से प्रतीत होता है और तत्प्रयुक्त वह 'सत्' शब्द से व्यवहृत भी होता है।

कुछ लोग यहाँ यह प्रश्न उपस्थित कर सकते हैं कि "सत्" का अर्थ होता है विद्यमान अर्थात् वर्तमानकाल-सम्बन्धी। अतः काल-सम्बन्ध को ही सत्ता मानना चाहिए। काल-सम्बन्ध से अतिरिक्त सत्ता नामक सामान्य क्यों मानना चाहिए? इसी से वर्तमान द्रव्य, गुण या कर्म आकाशपुष्प, बन्ध्यापुत्र आदि के समान अलीक नहीं हैं यह सूचना भी हो ही जाती है। क्योंकि उक्त आकाश-कुसुम आदि किसी काल में होते नहीं अतः कालसम्बन्ध-स्वरूप सत्ता उनमें कभी नहीं हो सकती।

इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि यदि काल-सम्बन्ध अथवा वर्तमान काल-सम्बन्ध को ही सत्ता माना जाय, उसे स्वतंत्र एक सामान्य नहीं माना जाय तो द्रव्य, गुण और कर्म के समान कालसम्बन्धस्वरूप सत्ता सामान्य, विशेष और समवाय इन तीनों में भी रहेगी। ऐसी परिस्थिति में फिर केवल द्रव्य, गुण और कर्म ही सत् नहीं कहला सकेंगे, सामान्य आदि भी सत् कहलाने लगेंगे। क्योंकि काल-सम्बन्ध रूप से मन्तव्य सत्ता तो उनमें भी रहेगी ही। यदि यह कहा जाय कि जो लोग प्रत्यक्ष-दृष्ट द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों से अतिरिक्त भाव पदार्थ मानते नहीं, वे यह आपत्ति कर ही नहीं सकते, क्योंकि वे सामान्य आदि पदार्थ मानते ही नहीं जिनमें सत्ता की आपत्ति का उन्हें भय होगा। और जो लोग सामान्य, विशेष आदि परवर्त्ती पदार्थ मानते हैं उन्हें उनको सत् मानना ही चाहिए, और उनमें स्वीकर्त्तव्य सत्ता का भी अस्तित्व मानना ही चाहिए। अतः काल-सम्बन्ध को ही सत्ता मानना उचित है। तो यह कथन इसलिए उचित नहीं होगा कि पूर्वप्रदर्शित सामान्य पदार्थ की उपयोगिता के रहते उसे न मानना उचित नहीं होगा। सामान्य आदि के स्वीकार पक्ष में उनमें 'सत्ता' का भी मानना इसलिए उचित न होगा कि आपामर साधारण जनता अर्थ-क्रियासमर्थ अर्थात् किंचित्कर धर्मी रूप से ज्ञात होने वाली वस्तु को ही "सत्" शब्द से कहती

और समझती है। सामान्य आदि अर्थ-क्रियासमर्थ होते हुए भी धर्मी रूप से ज्ञात होने वाले नहीं हैं जिससे उनमें सत्ता की आपत्ति या स्वीकृति औचित्य प्राप्त कर सके। इसीलिए अर्थक्रिया-सामर्थ्य को अर्थात् कुछ करने की क्षमता मात्र को सत्ता नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इसके आधार पर सामान्य, विशेष आदि भी सत् कहलाने के अधिकारी हो जाते हैं। किन्तु उचित यह इसलिए नहीं कि वे धर्मी रूप से प्रतीत होने वाले नहीं होते। अर्थ-क्रियासामर्थ्य को इसलिए भी सत्ता नहीं कहा जा सकता कि वह अखण्ड न होने के कारण सामान्य ही कहलाने की अधिकारी नहीं हो पाती फिर सत्ता रूप सामान्य वह हो पायेगी यह प्रश्न तो अति दूर चला जाता है।

महर्षि कणाद ने इस सत्ता को अनेक स्थान में "भाव" शब्द से कहा है। इससे इतना तो अवश्य इंगित मिलता है कि किसी को भी सत् होने के लिए अर्थ-क्रियासमर्थ होना आवश्यक है। क्योंकि "भाव" शब्द व्याकरण की परिभाषा में क्रियावाचक है। परन्तु उसका यथाश्रुत अर्थ नहीं रखा जा सकता क्योंकि उत्क्षेपण आदि क्रिया सब द्रव्यों में भी नहीं होती, गुण-कर्मों में तो वह होती ही नहीं। अतः उसका भी अभिप्राय यही समझना होगा कि "सत्" होने के लिए किंचित्कर होना अपेक्षित है। किंचित्कर का भी अर्थ किंचित्कर जातीय समझना होगा। अन्यथा परमाणु और द्व्यणुक गत अणुत्वस्वरूप पारिमाण्डल्य सत् नहीं कहलायेगा। उसमें किसी भी कार्य के प्रति कारणता नहीं रहती, यह बात प्रथम प्रकरण में बतलायी जा चुकी है। अतः उसे किंचित्कर नहीं कहा जा सकता। स्वतः किंचित्कर न होने पर भी अन्य द्रव्य, गुण, कर्म आदि किंचित्करों में रहनेवाला सत्ता नामक सामान्य उसमें रहता है। अतः किंचित्कर-जातीयता अर्थात् किसी भी किंचित्कर का सजातीय होना उसके लिए भी अक्षुण्य रह जाता है। अतः वह भी सत् कहलाने का अधिकारी हो जाता है। इससे भी यह सुस्पष्ट हो जाता है कि सत्ता नाम का एक सामान्य अवश्य मन्तव्य है।

कुछ लोगों का कहना यह है कि भावत्व का ही अपर नाम सत्ता है। महर्षि कणाद ने जो सत्ता को "भाव" शब्द से कहा है उससे भी यही द्योतित होता है। परन्तु यह बात उचित नहीं सिद्ध हो सकती, क्योंकि तब द्रव्य, गुण और कर्म के समान सामान्य, विशेष और समवाय भी भाव पदार्थ होने के कारण मुख्य रूप से सत् कहलाने लगेंगे। ऐसा होने में प्रबल बाधा यह है कि सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म मात्र में ही रहता है। यह बात पहले बतलायी जा चुकी है। हाँ, इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि भावत्व सत्ता नामक सामान्य से अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अभिप्राय यह है कि मुख्य रूप से या गौण रूप से सत्ता सामान्य के आश्रय बनने वाले को भाव कहा जा सकता है। समवाय नामक सम्बन्ध से सत्ता के आश्रय

द्रव्य, गुण और कर्म होते हैं अतः वे भी भाव कहलाते हैं। साथ ही द्रव्य, गुण एवं कर्म के अन्दर किसी में भी उस सत्ता के साथ रहने के कारण सामान्य, विशेष और समवाय भी गौण रूप से सत्ता का आश्रय हो जाने से भाव हो जाते हैं।

गम्भीर भाव से इस सत्ता सामान्य के ऊपर ध्यान देने पर एक बात अवश्य प्रतीत होती है कि महर्षि कणाद से पहले भाव रूप में द्रव्य, गुण और कर्म ये तीन ही प्रायः लोगों के बुद्धिपथ में आये थे। महर्षि ने आवश्यकता का अनुभव कर वस्तु-स्थिति को प्रकट किया कि सामान्य, विशेष और समवाय भी भाव पदार्थ हैं।

इस सत्ता सामान्य की यह विशेषता है कि इसका प्रत्यक्ष सभी इन्द्रियों से होता है। अन्य कोई ऐसा सामान्य नहीं जिसका प्रत्यक्ष सभी इन्द्रियों से हो सकता हो। सब इन्द्रियों से इसके प्रत्यक्ष होने का कारण यह है कि यह द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में रहता है। अतः द्रव्य की ग्राहक हों या गुण की ग्राहक, सभी इन्द्रियों से द्रव्य और गुणों में रहने वाली इस सत्ता का प्रत्यक्ष हो जाता है। जिस इन्द्रिय से जो वस्तु प्रत्यक्ष की जाती है उसमें रहने वाला सामान्य भी उससे प्रत्यक्ष हो जाया करता है। यह बात प्रथम प्रकरण में बतलायी जा चुकी है। इसके प्रत्यक्ष में संयुक्त-समवाय, संयुक्त-समवेत-समवाय और समवेत–समवाय ये तीन प्रकार के सन्निकर्ष काम आते हैं। इन सन्निकर्षों का परिचय पहले दिया जा चुका है।

द्रव्यत्व

द्रव्यत्व भी एक स्वतंत्र सामान्य है। इसी के सहारे तत्तत् व्यक्ति भेद से असंख्य और पृथिवी आदि रूप से नौ संख्यक होने वाले द्रव्यों को अनुगत रूप से द्रव्य समझा एवं कहा जाता है। इस द्रव्यत्व सामान्य को न मानकर असंख्य द्रव्य व्यक्तियों को एक रूप से समझना एवं समझाना असम्भव है। अतः सभी घट पट आदि एवं पृथिवी जल आदि द्रव्यों को अनुगत रूप से समझने एवं समझाने के लिए द्रव्यत्व सामान्य का स्वीकार आवश्यक है। उत्पत्तिमान् द्रव्य, गुण और कर्म तीनों प्रकार के कार्यों के प्रति उपादान कारण अर्थात् समवायि-कारण द्रव्य ही हुआ करता है। यह बात पहले बतलायी जा चुकी है। यह समवायिकारणता गुण और कर्मों में रहने वाली अनुपादानकारणता से भिन्न है। इसे समझने एवं समझाने के लिए भी द्रव्यत्व नामक सामान्य मानना आवश्यक है। क्योंकि एकत्र संगत होने वाले अनागन्तुक एवं अनागन्तुक दो व्यक्तियों के अन्दर आगन्तुक का परिचय वहाँ रहने वाला आगन्तुक व्यक्ति ही दे सकता है, यह बात लोकसिद्ध है। तदनुसार द्रव्य में आगन्तुक समवायि-कारणता का परिचय अर्थात् गुण और कर्म में रहने वाली असमवायिकारणता से भिन्न होने का परिचय उस समवायिकारणता के आश्रय द्रव्यों में स्वाभाविक रूप से

रहने वाला द्रव्यत्व सामान्य ही दे सकता है अन्य कोई नहीं। कहने का सरल अभिप्राय यह कि समवायिकारणता द्रव्यत्व के साथ द्रव्यों में रहती है और असमवायिकारणता गुण और कर्मों में ही रहने के कारण द्रव्यत्व के साथ द्रव्यों में नहीं रहती है। अतः समवायिकारणता और असमवायिकारणता दोनों को एक नहीं कहा जा सकता। भिन्न ही मानना होगा। इस प्रकार दोनों कारणताओं में होनेवाले पारस्परिक भेद को द्रव्यत्व ही समझाता है। द्रव्यत्व के साथ रहना और उसके साथ न रहना इन विलक्षणताओं के आधार पर ही तो उक्त दो कारणताएँ अलग समझी जाती हैं। उक्त कारणताओं के परिच्छेदक, अवच्छेदक, अर्थात् भेद के ज्ञापक रूप में द्रव्यत्व सामान्य की मान्यता अनिवार्य होती है। कारणताओं का परिचय पहले दिया जा चुका है। इसी प्रकार कारणताओं के परिच्छेदार्थ अर्थात् भेद ज्ञानार्थ अन्य सामान्य की भी मान्यता होती है।

यहाँ किये गये इस विचार से अनेक लोगों के मन में उठ सकने वाली यह आशंका भी अनायास दूर हो जायगी कि जब समवायिकारणता भी द्रव्यों में ही रहती और द्रव्यत्व भी द्रव्यों में ही रहता है, तब द्रव्यत्व को समवायिकारणता ही क्यों न मान लिया जाय? यह शंका अनायास दूर इसलिए हो जायगी कि द्रव्यत्व है द्रव्यों का स्वाभाविक धर्म। यतः जब कार्य नहीं भी उत्पन्न होते हैं तब भी द्रव्य द्रव्य ही रहते हैं, उनमें द्रव्यत्व सामान्य विद्यमान ही रहता है। उसमें कारणता कार्य की अपेक्षा करके कल्पित अतएव आगन्तुक होती है। अतः इन दोनों को एक नहीं कहा जा सकता। परिच्छेदक और परिच्छेद्य अर्थात् भेद का ज्ञापक और ज्ञाप्यभेद का आश्रय इन दोनों को एक कैसे कहा जा सकता है? चिह्न और चिह्नी कभी एक नहीं हो सकते। अतः उपादानकारणता स्वरूप समवायिकारणता का ज्ञापक द्रव्यत्व सामान्य अवश्य मन्तव्य होगा।

द्रव्यत्व सामान्य उक्त सता नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सत्ता गुण और कर्मों में भी रहती है तथा द्रव्यत्व गुण और कर्मों में नहीं रहता। द्रव्यत्व को पृथिवीत्व या जलत्व आदि स्वरूप भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि पृथिवीत्व केवल पृथिवी में और जलत्व केवल जल में रहता है, किन्तु यह द्रव्यत्व पृथिवी, जल, तेज आदि सभी द्रव्यों में रहता है। इस द्रव्यत्व को पृथिवीत्व जलत्व आदि की समष्टि भी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि तब एक घट या पट आदि को एवं एक पृथिवी, एक जल आदि को द्रव्य कहना कठिन हो जायगा। साथ ही यह भी बड़ी कठिनता होगी कि पृथिवी आदि द्रव्यों के अन्दर आनेवाले आकाशत्व, कालत्व और दिक्त्व ये सामान्य पदार्थ नहीं हैं और पृथिवीत्व, जलत्व ये सामान्य हैं। ऐसी परिस्थिति में एक ही

द्रव्यत्व को, जिसे उक्त समष्टयात्मक माना जायगा, विरुद्ध प्रकार का सामान्य एवं असामान्य कैसे माना जा सकेगा ? अतः पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में अनुगत एक सामान्य स्वरूप से द्रव्यत्व का स्वीकार आवश्यक है। यह उक्त सत्ता जाति का साक्षात् अपर है और पृथिवीत्व, जलत्व, तेजस्त्व, वायुत्व, आत्मत्व और मनस्त्व इन छः सामान्यों का साक्षात् पर है। पर और अपर की परिभाषा की जा चुकी है। अतः यह द्रव्यत्व परापर सामान्य नामक तृतीय धारा के अन्दर है।

यों तो इस द्रव्यत्व सामान्य का आँख, त्वचा और मन तीन इन्द्रियों से संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्ष भी होता है; किन्तु यह सब द्रव्यों में विद्यमान-रूप से प्रत्यक्षतः ज्ञात नहीं हो पाता है। क्योंकि आकाश आदि अनेक द्रव्य अतीन्द्रिय होते हैं। अतः तद्गत-रूप से इसका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता, अतः युक्ति के सहारे इसकी सिद्धि की जाती है।

गुणत्व

गुणत्व भी द्रव्यत्व के समान सत्ता की अपेक्षा से अपर और रूपत्व, रसत्व आदि की अपेक्षा से पर अतएव परापर सामान्य है। रूप रस आदि सभी को एक गुण शब्द से इसीलिए कहा जा सकता है कि गुणत्व नामक सामान्य रूप रस आदि सभी पूर्ववर्णित गुणों में रहता है। वाचक शब्द, प्रयुक्त होकर उन्हें ही समझाने में समर्थ होता है जिनमें उस वाचक शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त अर्थात् शक्यतावच्छेदक रहता है। सुतरां "गुण" शब्द रूप, रस आदि रूप से वर्गीकृत असंख्य गुणव्यक्तियों को तभी समझा सकेगा जब कि उस शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त अर्थात् वाच्यता का नियामक होनेवाला गुणत्व सामान्य उन रूप रस आदि में माना जाय। अतः रूप रस आदि में गुणत्व सामान्य का अस्तित्व मानना पड़ेगा। कहने का सरल अभिप्राय यह कि गुण पद को रूप-रस आदि का वाचक मानना आवश्यक है। प्रत्येक वाचक शब्द के लिए उसका वाच्यार्थ और उसमें रहने वाली वाच्यता और उस आगन्तुक वाच्यता के साथ वाच्य अर्थों में स्वाभाविक रूप से रहने वाला वाच्यता का अवच्छेदक अर्थात् नियामक होना आवश्यक है। ये सारी बातें गुण के प्रकरण में बतलायी जा चुकी हैं। ऐसी परिस्थिति में "गुण" पद के वाच्य रूप, रस आदि में वाच्यता और उसके साथ उन्हीं रूप, रस आदि में रहने वाला गुणत्व-सामान्यस्वरूप उक्त वाच्यता के नियामक रूप से गुणत्व सामान्य मानना ही होगा।

कुछ लोग द्रव्यत्व की तरह गुणत्व सामान्य की भी सिद्धि कारणता के अवच्छेदक अर्थात् नियामक, फलतः व्यावर्तक रूप से बतलाते हैं। उनका कहना यह है कि द्रव्य और कर्म इन दोनों से भिन्न सामान्यवान् होनेवाले रूप, रस आदि में रहने वाली कार-

णता का भी कोई नियामक होना अवश्य चाहिए। अन्यथा द्रव्य और कर्म में रहने वाली कारणता से गुणों में रहनेवाली कारणता भिन्न नहीं बतलायी जा सकेगी। गुणत्व सामान्य मानने पर उससे नियमित होने के कारण गुण में रहने वाली कारणता द्रव्यों या कर्मों में नहीं जा सकेगी, अतः कारणताओं में ऐक्य की आपत्ति नहीं की जा सकती।

परन्तु यह कथन इसलिए उचित नहीं प्रतीत होता कि द्रव्यत्व सामान्य के सिद्धि-स्थल से यहाँ महान् अन्तर है। वह यह कि वहाँ सभी द्रव्य किसी न किसी के प्रति अन्ततः विभाग गुण के समवायिकारण अवश्य होते हैं। अतः उस सर्वद्रव्य-साधारण समवायिकारणता के नियामक रूप में सिद्ध होने वाला द्रव्यत्व सामान्य अनायास सब द्रव्यों में रह जाता है। उसका वास्तविक स्वरूप उक्त युक्ति से निखर आता है। किन्तु प्रकृत में यह बात नहीं है। समवायिकारणता गुण में रहती नहीं। असमवायिकारणता भी सब गुणों में नहीं रहती। ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि आत्मा के विशेष गुण किसी के प्रति असमवायिकारण नहीं होते, यह बात गुण-निरूपण में बतलयी जा चुकी है। निमित्तकारणता भी सभी गुणों में नहीं रहती। क्योंकि अणुत्व जिसे अन्य शब्द में पारिमाण्डल्य कहा जाता है, वह किसी प्रकार भी कारण नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में यदि कारणता के अवच्छेदक अर्थात् नियामक रूप में गुणत्व सामान्य माना जायगा तो वह एकदेशी हो जायगा, सभी गुणों में रहने वाला नहीं हो सकेगा, जो कि अनुगत प्रत्यय एवं व्यवहार के लिए नितान्त अपेक्षित है।

यदि यह कहा जाय कि रूप, रस आदि जो गुण असमवायिकारण हो सकते हैं, तत्स-जातीय सभी गुण होते हैं। अतः तत्सजातीयता सब गुणों में रहेगी। उसके अवच्छेदक अर्थात् नियामक रूप में गुणत्व जाति की सिद्धि हो सकेगी। तो यह कथन भी सर्वथा असंगत होगा, क्योंकि जाति शब्द और सामान्य शब्द पर्याय हैं। सुतरां सभी गुणों को सजातीय अर्थात् एकजातीय बनाने के लिए पहले सकल गुण मात्र में रहने वाले किसी एक सामान्य की आवश्यकता होगी, जिसके सहारे सभी गुणों को सजातीय बनाया जा सकेगा। सत्ता सामान्य को इसलिए नियामक नहीं माना जा सकता कि वह गुण मात्र में रहने वाला नहीं। उसको उक्त रूप में लेने पर उसके सहारे द्रव्य, गुण और कर्म सभी सजातीय बन बैठेंगे, जिसका परिणाम यह होगा कि सजातीयता के अवच्छेदक रूप में स्वीकृत सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म सब को आक्रान्त कर लेगा, जिसकी ज़रूरत नहीं। वैसी तो सत्ता स्वयं है। रूपत्व आदि सकल गुणों में रहने वाले नहीं कि उनके अन्दर किसी को लेकर सभी गुणों को सजातीय बनाया जा सके। गुणत्व को लेकर सभी गुण सजातीय बन सकते हैं, परन्तु वह अभी तक स्वयं असिद्ध

रहेगा। अतः द्रव्यत्व के समान कारणता के नियामक रूप में गुणत्व जाति की सिद्धि नहीं की जा सकती।

रूप आदि में यह गुणत्व प्रत्यक्षतः भी संयुक्त-समवेत-समवाय सन्निकर्ष से ज्ञात होता है।

कर्मत्व

उत्क्षेपण आदि पूर्व प्रदर्शित कर्मों में रहने वाला कर्मत्व सामान्य प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध हो जाता है। क्योंकि उक्त उत्क्षेपण आदि पाँच कर्मों के अन्दर कोई एक भी अतीन्द्रिय नहीं, अतः उनमें रहने वाला अनुगत कर्मत्व भी संयुक्त-समवेत-समवाय सन्निकर्ष से अनायास देखा जा सकता है। आँख से संयुक्त हुई वृक्ष की शाखा, उसमें समवाय सम्बन्ध से रहने के कारण समवेत हुआ कम्पनात्मक कर्म और उसमें समवाय होता है कर्मत्व सामान्य का। इस प्रकार आँख से इस कर्मत्व सामान्य का सम्बन्ध निश्चित होने के कारण इसका प्रत्यक्ष अनायास हो जाता है। अतः इस कर्मत्व सामान्य को सिद्ध करने के लिए युक्ति का अन्वेषण नहीं करना पड़ता। इसे माने बिना उक्त उत्क्षेपण आदि को अनुगत रूप से कर्म नहीं समझा एवं समझाया जा सकता। अतः युक्ति से भी इसकी पुष्टि होती है। यह कर्मत्व भी सत्ता की अपेक्षा से अपर अर्थात् अल्पस्थानाश्रित और उत्क्षेपणत्व आदि सामान्यों से पर अर्थात् अधिक स्थानों में आश्रित होने के कारण परापर नामक तृतीय सामान्य श्रेणी में अन्तर्भुक्त होता है। सत्ता सामान्य से निकलने वाली सामान्य-त्रिपथगा की तीसरी धारा में यह एक ही परापर सामान्य होता है, यह इसकी विशेषता है। क्योंकि सत्ता पर सामान्य ही होती है और उत्क्षेपणत्व-अपक्षेपणत्व आदि पाँच अपर सामान्य ही होते हैं। क्योंकि उनके अनन्तर और कोई उनके अन्दर किसी का भी व्याप्य सामान्य नहीं पाया जाता। अतः यह सामान्य धारा उत्क्षेपणत्व-अपक्षेपणत्व आदि में ही आकर विश्रान्त हो जाती है। सारकथा यह है कि कर्मत्व के व्याप्य उत्क्षेपणत्व आदि सामान्य का कोई व्याप्य सामान्य नहीं होता। अतः द्रव्यत्व और गुणत्व सामान्य की धारा से यह धारा छोटी होती है। जो लोग उत्क्षेपण और अपक्षेपण आदि को भी गमन ही मानते हैं उनके मत में तो यह धारा अपने उद्गम स्थल में ही अवरुद्ध हो जाती है अर्थात् कर्मत्व में ही उसका विश्राम हो जाता है, अतः उसका व्याप्य अन्य कोई सामान्य नहीं हो पाता।

आक्षेप परिहार

हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदायों के बौद्ध विद्वानों ने इस सामान्य पदार्थ को (१) 'सभी क्षणिक हैं', (२) 'सभी स्वलक्षण अर्थात् असम्पृक्त हैं', (३) 'सभी दुःख

हैं' और (४) 'सभी शून्य अर्थात् असत् हैं' इन निर्वाण-प्रयोजक भावनाओं का अति बाधक देखकर इसके खण्डन पर खूब जोर लगाया है। उन लोगों का कहना है कि विवेचक बुद्धि के सामने यह सामान्य पदार्थ टिक नहीं सकता। वे पूछते हैं कि आश्रय के पैदा होने पर सामान्य पदार्थ उनके साथ कैसे जुट जाता है? यह नहीं कहा जा सकता कि कहीं अन्यत्र सामान्य था और धर्मी के उत्पन्न होने पर वहाँ से उस धर्मी में चला आया। क्योंकि सामान्य मानने वाले भी क्रिया का होना द्रव्य में ही मानते हैं। अतः सामान्य में गमन क्रिया वे नहीं मान सकते। इसी प्रकार धर्मी अर्थात् आश्रय के नष्ट हो जाने पर वह कहाँ रहेगा? क्रिया रहित होने के कारण कहीं अन्यत्र भी तो नहीं जा सकता। धर्मी की उत्पत्ति के पूर्व और उसके नाश के पश्चात् भी वह वहाँ ही रहता है यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि 'वहाँ' का अर्थ उसका अपना धर्मी उक्त दोनों कालों में रहता ही नहीं जिस पर वह सामान्य रहेगा। तज्जन्य अन्य वस्तु में वह सामान्य रहता है यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तब वस्तु का नियम नहीं रह पायेगा। किसको क्या कहा जाय इसकी कोई व्यवस्था नहीं रह पायेगी। आश्रय के साथ वह भी उत्पन्न होता है यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि तब वह प्रति व्यक्ति-पर्यवसायी हो जायगा, उसकी सामान्यता ही नष्ट हो जायगी। सुतरां ज्ञान और व्यवहार के अनुगमक रूप में उसका अस्तित्व नहीं माना जा सकता। यह भी एक बड़ी कठिनता है कि अवयवी द्रव्यों के समान उसे सावयव माना जायगा, या नहीं? यदि सावयव माना जायगा तो वह नित्य नहीं हो सकेगा, निरवयव मानने पर बाधा यह होगी कि प्रत्येक आश्रय में वह पूर्ण रूप से रहता है ऐसा मानना होगा, और ऐसा मानने पर फिर वह प्रत्येक व्यक्ति-पर्यवसायी हो जायगा, बहुसंख्यक हो जायगा, सामान्य नहीं रह सकेगा।

उदाहरण के द्वारा इसे इस प्रकार समझना चाहिए, यथा—घट के पैदा होते ही उसमें घटत्व सामान्य कैसे जुट जाता है? यह नहीं कहा जा सकता कि घटत्व अन्यत्र कहीं था और घट के उत्पन्न होते ही उस प्राचीन स्थान से चलकर वह घटत्व घट में आ जाता है, क्योंकि चलन क्रिया किसी द्रव्य में ही हुआ करती है अतः घटत्व में चलन नहीं हो सकता कि वह अन्य स्थान से लुढ़ककर नवीन उत्पन्न घट में आ जायगा। इसी प्रकार उस घड़े के नष्ट होते ही वह घटत्व सामान्य कहाँ और कैसे चला जायगा? क्योंकि चलनात्मक क्रिया उसमें है नहीं। घड़े के उत्पन्न होने से पहले और नष्ट होने के बाद भी घटत्व सामान्य वहीं रहता है, न कहीं से आता और न कहीं जाता है; यह भी कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि कथित "वहाँ" का अर्थ यदि उस घटत्व का आश्रय घड़ा लिया जाय तो वह उत्पत्ति के पहले और विनाश के बाद रहेगा ही नहीं, कि

उसमें घटत्व पहले भी था और पीछे भी रहेगा ऐसा कहा जाय। उक्त "वहाँ" शब्द से जिस भूभाग आदि में घड़ा उत्पन्न हो रहा है उसे या उस भूभाग पर रहने वाले मठ आदि को लेकर, घट होने के पहले और विनाश के बाद भी उन निकटवर्ती भाव वस्तुओं में घटत्व रहता है यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि कौन घट कहलायेगा और कौन नहीं यह निर्णय कठिन हो जायगा। घट के समान जब पट-मठ में भी घटत्व रहेगा तब घड़ा ही क्यों घड़ा कहलायेगा ? इससे भारी अव्यवस्था हो पड़ेगी। सारा व्यवहार अस्त-व्यस्त सा हो पड़ेगा। कोई यदि प्रयोजनवश घड़ा लाने के लिए किसी से कहेगा तो वह श्रोता घड़ा न लाकर कपड़ा ले आयेगा, क्योंकि उसमें घटत्व के रहने के कारण घट कहलाने का अधिकारी कपड़ा भी होगा। घड़े के साथ ही घटत्व सामान्य भी उत्पन्न होता है और उसके साथ ही विनष्ट भी हो जाता है—यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तब प्रत्येक घट में अलग अलग घटत्व होगा। अतः वह "विशेष" हो जायगा। सामान्य कैसे कहलायेगा ? अनेकों में अनुगत होने से ही तो वह सामान्य कहलाता है। फिर ऐसा घटत्व मानने का प्रयोजन ही क्या रहेगा। यह भी एक जटिलता उपस्थित होती है कि वह घटत्व जिसे कि सब घटों में रहने वाला कहा जाता है, घट-पट आदि अवयवी द्रव्यों के समान सावयव होगा या नहीं ? यदि दूरवर्ती विभिन्न देशस्थित घड़ों में रखने के लिए घटत्व को सावयव माना जाय तो वह अवयवी द्रव्यों के समान अनित्य, नश्वर हो जायगा और फिर भावी एवं भूत घड़ों का अनुगम नहीं करा पायेगा। घटत्व को निरवयव मानने में दिक्कत यह है कि तब वह विभिन्न-देशस्थित घड़ों में एक नहीं हो सकेगा, प्रत्येक घट-पर्यवसायी होगा। वह बहुसंख्यक होगा, फिर सामान्य कैसे हो पायेगा ?

घटत्व के स्थान में पटत्व, मठत्व आदि प्रत्येक सामान्य को रखकर सब जगह इसी प्रकार आक्षेप अनायास किये जा सकते हैं, जिनसे सामान्य पदार्थ की मान्यता संकट में पड़ जाती सी मालूम पड़ती है।

इस प्रकार बौद्ध विद्वानों की अग्रसरता में चार्वाक, जैन, सांख्य, योग एवं अद्वैत वेदान्त दर्शनों के विशेषज्ञों ने भी अपने-अपने तत्त्व-संख्या-सिद्धान्तरथ के मार्ग में इस सामान्य पदार्थ को अटकते हुए रोड़ा देखकर बौद्ध विद्वानों के स्वर में अपना स्वर मिलाने में पश्चातपद नहीं रहना चाहा है।

परन्तु यहाँ जो इससे पूर्व विस्तृत रूप से इस सामान्य पदार्थ के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है उसे अच्छी तरह सामने रख लेने पर कोई भी आपत्ति टिक नहीं पाती। यथा—सामान्य को युक्तिपूर्वक व्यापक मानने के कारण जाने-आने का प्रश्न नहीं उठता। इसे आकाश के समान नित्य और निरवयव मानने के कारण सावयव है

कि निरवयव यह प्रश्न ही नहीं उठता। इसे व्यापक मानने पर भी स्वच्छ वस्तु में ही प्रतिबिम्ब-पात नियम के समान सामान्य का समवाय सम्बन्ध नियत भाव से ही रहता है सब वस्तुओं में नहीं रहता। अतः सभी वस्तुओं की एकजातीयता की भी आपत्ति नहीं की जा सकती। आश्रय की उत्पत्ति के पहले एवं उसके नाश के बाद सामान्य कहाँ रहता है एवं प्रलयकाल में वह कहाँ रहता है—इसका सरल उत्तर है कि काल एवं दिक् में आश्रित होकर सामान्य सर्वदा रहता है। वस्तुतः व्यापक वस्तु अनाधारित भी रहती है, जैसे आकाश, अतः आधारविषयक प्रश्न किया ही नहीं जा सकता। शंकर मिश्र ने बौद्ध विद्वानों के उक्त आक्षेपों के परिहार के अवसर पर "सामान्य कहाँ रहता है ?" इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि "जहाँ वह प्रतीत होता है" और फिर "कहाँ प्रतीत होता है ?" इस प्रश्न के उत्तर में कहा है "जहाँ रहता है"। शंकर मिश्र जैसे विद्वान् के लिए यह उत्तर उचित नहीं प्रतीत होता। यदि कोई किसी से पूछे कि "तुम किसके लड़के हो ?" तो दूसरा यह उत्तर दे कि "जो मेरे पिता हैं उनका" और फिर उससे पूछा जाय कि "तुम्हारे पिता कौन हैं ?" और उत्तर मिले कि "जिनके हम लड़के हैं" तो यह उत्तर क्या उचित कहा जायगा ? इस प्रकार के उत्तर से कोई सभ्य प्रष्टा मौन धारण अवश्य कर लेगा परन्तु विवेचक इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हो सकते। जल्पकथा के अन्दर ऐसा उत्तर विजयप्रद भले ही हो जाय।

यहाँ जिस ढंग से सामान्य का स्वरूप वर्णन किया गया है उस पर पूर्ण ध्यान देने के बाद उक्त आक्षेप अंशतः भी नहीं रह जाते यह बात पहले भी कह दी गयी है।

विशेष-निरूपण

स्वरूप और आवश्यकता

प्रथम प्रकरण में प्रदर्शित पदार्थ विभाजन के अनुसार पाँचवाँ पदार्थ होता है विशेष। यों तो जगह जगह पर प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने अपर सामान्य को भी विशेष शब्द से कहा है, जैसे घटत्व-पटत्व आदि को; परन्तु वह विशेष, सामान्य होते हुए विशेष होता है अर्थात् पर सामान्य होते हुए अपर सामान्य भी होता है। किन्तु यहाँ उसकी चर्चा नहीं की जा रही है। यह सामान्य विशेष होते हुए भी विशेष नहीं है; अति विशेष है। यह कभी अनेक में अर्थात् एकाधिक में नहीं रहता, अतएव यह सर्वथा और सर्वदा अपने आश्रय को अपने अनाश्रय से, अर्थात् अपना आश्रय न होनेवाले से सर्वथा विशेषित करता है, अर्थात् भिन्न बतलाता है। कहने का सारांश यह है कि यहाँ विशेष शब्द का अर्थ विशेषक अर्थात् भेदक समझना चाहिए। इतना कह देने के बाद अब यह भी प्रश्न नहीं उठता कि यह विशेष पदार्थ क्यों माना जाय? क्योंकि जहाँ एकाधिक वस्तुओं में होनेवाले भेद को अर्थात् अन्योन्याभाव को और कोई नहीं समझा पाता और उसे समझना आवश्यक होता है तो वहाँ यही काम देता है। यही उस ज्ञातव्य रूप से अपेक्षित भेद को बतलाता है।

अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि किसी भी वस्तु को किसी भी वस्तु से गुण, क्रिया, जाति और आश्रय इनकी विभिन्नता से अनायास भिन्न समझा जाता है एवं समझा जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में विशेषक अर्थात् भेदक होने के नाते उक्त गुण, क्रिया, जाति आदि ही "विशेष" हो जायँगे। फिर अलग विशेष नामक पदार्थ कैसे माना जा सकता है? यथा द्रव्य से गुण को भिन्न या गुण से द्रव्य को भिन्न द्रव्यत्व, गुणत्व जाति के सहारे अनायास समझा जा सकता है। क्योंकि द्रव्यत्व द्रव्य में ही रहता है, गुण में नहीं और गुणत्व गुण में ही रहता है, द्रव्यों में नहीं। इसी प्रकार घट और पट में, रूप और रस में, उत्क्षेपण और अपक्षेपण में तथा अन्यत्र सामान्य के सहारे वस्तुओं को अनायास परस्पर भिन्न समझा जा सकता है। एकजातीय दो वस्तुओं में होनेवाले पारस्परिक भेदों को जाति के सहारे न समझ सकने पर भी गुण

और क्रिया के सहारे अनायास अलग समझा जा सकता है। यथा नील घड़े से उजले घड़े को रंग के आधार पर अनायास भिन्न समझा जा सकता है। क्रियाशील वृक्षशाखा को निष्क्रिय शाखा से क्रिया के आधार पर अनायास भिन्न समझा जा सकता है। जहाँ गुण, क्रिया और जाति के सहारे भेद नहीं समझा जाता है, वहाँ आश्रय के सहारे भेद समझा जा सकता है। यथा विभिन्न आश्रयस्थित सामान्य, समवाय और अभाव इनमें होने वाले भेदों को आश्रय के भेद से समझा जा सकता है, और एक आश्रय में रहने वाले इनको सम्बन्ध-सम्बन्धी भाव या प्रतियोगी-अनुयोगी-भाव के आधार पर अलग समझा जा सकता है। अर्थात् सामान्य होता है समवाय का सम्बन्धी, यानी उस सम्बन्ध से रहने वाला, और समवाय होता है सामान्य का सम्बन्ध। अतः समवाय को सामान्य से भिन्न मानना होगा। इसी प्रकार घटत्व सामान्य का अभाव जब कि पट में समझते हैं तो घटत्व होता है अभाव का प्रतियोगी और अभाव होता है अनुयोगी। अतः घटत्व सामान्य को और उसके अभाव को एक नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार वस्तुओं में विद्यमान पारस्परिक भेद अनायास सर्वत्र "विशेष" नामक इस अजनबी पदार्थ को बिना माने भी समझा जा सकता है। तब विशेष पदार्थ क्यों माना जाय?

इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि गुण एवं क्रिया को सर्वत्र भेदक अर्थात् भेद का ज्ञापक नहीं माना जा सकता। क्योंकि ऐसा मानने पर जहाँ एक ही वस्तु में पाक अर्थात् अग्निसंयोग के सहारे रूप, रस आदि गुण बदलते हैं किन्तु गुणी वही अर्थात् एक ही रहता है, वहाँ क्रमिक रूप, रस आदि के भेद से एक को अनेक मानना पड़ेगा, जो कि अनुभवविरुद्ध है। कहने का सारांश यह कि पिठर-पाकवादी अर्थात् अवयवि-पाकवादी के मत में प्रत्यभिज्ञात एक घड़े आदि को अनेक मानना अनिवार्य हो पड़ेगा, जैसा कि माना नहीं जाता। परमाणु-पाकवादी के मत में क्रमिक पाकवश विभिन्न रूप-रस आदि वाले एक परमाणु को विभिन्न मानना पड़ेगा, जो कि अनुभव-विरुद्ध है। विभिन्न जातियों का पारस्परिक भेद भले ही सामान्य के आधार पर समझा जा सके, जैसा कि उदाहरण ऊपर दिखलाया गया है, परन्तु एकजातीय दो वस्तुओं को सामान्य के सहारे अलग नहीं समझा जा सकता। जैसे एक पार्थिव परमाणु को अपर पार्थिव परमाणु से सामान्य के आधार पर भिन्न करना असम्भव है। क्योंकि दोनों ही एकजातीय होते हैं। अवयवस्वरूप आश्रय के सहारे भी उन्हें भिन्न समझना असम्भव है। क्योंकि परमाणु निरवयव होते हैं यह बात पहले बतलायी जा चुकी है।

यदि यह कहा जाय कि उन परमाणुओं को स्वलक्षण अर्थात् स्वतः भिन्न मान लिया जाय, अतः भेदक रूप में विशेष नामक स्वतंत्र पदार्थ मानने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। तो यह कथन इसलिए उचित नहीं होगा कि कोई भी धर्मी स्वतः भिन्न

नहीं पाया जाता। परमाणु भी धर्मी हैं अतः उन्हें स्वलक्षण, स्वतः भिन्न कैसे माना जा सकता है ? अतः उन परमाणुओं को परस्पर भिन्न समझने के लिए विशेष पदार्थ का मानना आवश्यक है ।

यहाँ कुछ लोग यह प्रश्न उठा सकते हैं कि परमाणु तो अव्यवहार्य हैं, वे किसी के उपयोग में आनेवाली वस्तु नहीं । उनसे द्व्यणुक उत्पन्न होने के बाद उन द्व्यणुकों से लेकर परवर्ती त्र्यणुक, चतुरणुक आदि में उपभोजकता होती है। इसे यों समझा जाय कि पार्थिव परमाणु को न तृण कहा जा सकता, न दूध कहा जा सकता और न दही कहा जा सकता है। वह पार्थिव परमाणु मात्र होता है। अतः वैषयिक उपभोग उससे प्राप्त होने वाला नहीं । ऐसी परिस्थिति में परमाणुओं को या उनमें विद्यमान पारस्परिक भेदों को समझने की आवश्यकता नहीं रह जाती, कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। फिर पारमाणविक भेदों को समझने के लिए विशेष नामक पदार्थ क्यों मानना चाहिए ? आज जिसे पाश्चात्य वैज्ञानिक लोग "एटम" आदि शब्दों से पुकारते हैं एवं जिसे विविध स्पष्ट उपयोग में लाते हैं वह उन लोगों का पारिभाषिक परमाणु हैं, प्रकृत परमाणु नहीं । यह बात आरम्भ में बतलायी गयी है ।

इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि ज्ञान स्वतः प्रयोजन है। अतएव अच्छे लोग ज्ञान की प्राप्ति के लिए निरन्तर चेष्टाशील पाये जाते हैं। सुतरां यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि पारमाणविक पारस्परिक भेद के ज्ञान की क्या आवश्यकता है। यदि ज्ञान को स्वतः प्रयोजन न भी माना जाय, फिर भी उक्त भेद को समझना इसलिए आवश्यक है कि जब तक दो परमाणुओं को भिन्न नहीं समझा जायगा तब तक उनमें "यह एक और वह एक" इस प्रकार 'अपेक्षा बुद्धि' नामक ज्ञान नहीं हो सकता और जब तक अपेक्षा बुद्धि न होगी तब तक द्वित्व संख्या उन परमाणुओं में नहीं हो सकती, उन्हें "दो" नहीं समझा जा सकता । जब तक उन परमाणुओं को "दो" नहीं समझा जायगा तब तक यह कभी नहीं समझा जायगा कि दो पार्थिव परमाणुओं के जुटने से पार्थिव द्व्यणुक-स्वरूप प्राथमिक कार्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार जलीय द्व्यणुक, तैजस और वायवीय द्व्यणुक की भी उत्पत्ति नहीं समझी जा सकेगी। सृष्टि की प्रक्रिया मानवजीवन के लिए अज्ञात ही रह जायगी। इसी प्रकार प्रलय भी नहीं समझा जा सकेगा। क्योंकि प्रलय दो सजातीय परमाणुओं के विभाजनानन्तर ही होता है। परमाणुओं को दो तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक परमाणुओं में विद्यमान भेद को न समझा जा सके और भेद तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक भेदक "विशेष" को न मान लिया जाय। अतः विशेष नामक एक स्वतंत्र पदार्थ पारमाणविक पारस्परिक भेद के ज्ञापक रूप में मानना अनिवार्य है।

अब यहाँ यह एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि उन भेदों के ज्ञापनार्थ विशेष माना जाता है, तब वह विशेष स्वयं अज्ञात ही रहता हुआ परमाणु में विद्यमान पारस्परिक भेद को बतलाता है या ज्ञात होकर ? प्रथम पक्ष इसलिए नहीं उचित हो सकता कि अज्ञात होते हुए दूसरे का ज्ञापक होना अर्थात् दूसरे को समझाना यह केवल इन्द्रियों का स्वभाव है। विशेष पदार्थ इन्द्रिय नहीं कि उसे ऐसा समझा जाय। वह तो जैसे धूम आग को समझाता है उसी प्रकार दो एकजातीय परमाणुओं में विद्यमान भेद को समझायेगा। अतः अज्ञात धूम से कभी आग समझी नहीं जाती। अतः अज्ञात धूम से जैसे आग नहीं समझी जाती है तद्वत् अज्ञात विशेष से उक्त भेद को नहीं समझा जा सकता। द्वितीय पक्ष इसलिए असम्भावित मालूम पड़ता है कि परमाणु होते हैं अतीन्द्रिय, अतः उनमें विद्यमान विशेष पदार्थ का भी प्रत्यक्ष होना कठिन है। यदि यह कहा जाय कि द्वयणुक का आरम्भक होने के कारण पहले परमाणु में विशेष की अनुमिति होगी। अनन्तर ज्ञात अर्थात् अनुमित विशेष से परमाणुभेद की अनुमिति की जायगी। तो यह कहना भी इसलिए संगत नहीं होगा कि तब उक्त "द्वयणुकारम्भकता" से ही अर्थात् उस द्वयणुक के आरम्भक होने से ही परमाणुगत भेद को समझा जा सकता है, फिर मध्य में विशेष नामक स्वतंत्र पदार्थ क्यों माना जाय ?

इस प्रश्न का उत्तर यह समझना चाहिए कि विशेष केवल परमाणु में ही नहीं माना गया है किन्तु सभी नित्य द्रव्यों में। सुतरां मानस प्रत्यक्ष के विषय आत्मा में होने वाले विशेष को प्रत्यक्षतः समझा जा सकता है। अतः आत्मा के समान निरवयव होने के कारण काल, आकाश, दिक् एवं परमाणु में विशेष की अनुमिति अनायास की जा सकती है। अनन्तर उस अनुमित अर्थात् अनुमान द्वारा ज्ञात विशेष से परमाणु में भेद समझा जायगा। सारांश यह है कि परिमाण-तारतम्य की आवश्यक विश्रान्ति के आधार पर अनुमित परमाणु में निरवयव द्रव्य होने के कारण अनुमित विशेष से परमाणुओं में विद्यमान पारस्परिक भेद की अनुमिति होगी। इसमें कोई बाधा नहीं दिखलायी जा सकती। तत्परमाणुत्व हेतु से परमाणु में विशेष की अनुमिति होगी यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि भेद की अनुमिति के लिए हेतुभूत विशेष के ज्ञान में जो कठिनता प्राप्त होती है वह तत्परमाणुत्व को समझने के लिए भी समान ही बनी रहेगी। परमाणु की सिद्धि पहले बतलायी जा चुकी है।

गम्भीरतापूर्वक दृष्टि डालने पर उक्त प्रश्न इसलिए निरवकाश है कि विशेष को स्वतोग्राह्य माना जाता है। क्योंकि जब तक वह स्वतोग्राह्य नहीं होगा तब तक उसे स्वतः व्यावृत्त नहीं माना जा सकता। कहने का सरल अभिप्राय यह कि परिमाण-तारतम्य की विश्रान्ति के लिए सिद्ध होनेवाला परमाणु विशेष पदार्थ से युक्त रूप

में ही सिद्ध अर्थात् अनुमित होता है। अतः अलग रूप से उस परमाणु में विशेष को समझने के लिए कोई आयास अपेक्षित नहीं होता।

विशेष की निर्विशेषता

इस विशेष पदार्थ के सम्बन्ध में कुछ लोग यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि प्रत्येक परमाणु में यदि विशेष नामक पदार्थ अलग नहीं माना जायगा तो यह परमाणुओं को भिन्न नहीं कर सकेगा। जो स्वयं भिन्न नहीं होगा अर्थात् प्रत्येक आश्रय में अलग-अलग नहीं होगा वह आश्रयों को अलग कैसे बतला सकेगा? घटत्व घटों में रहता है पटों में नहीं। इसी प्रकार पटत्व पटों में ही रहता है घटों में नहीं। सारांश यह कि घटत्व और पटत्व स्वतः भिन्न हैं, अतएव अपने आश्रयों को—घटों और पटों को परस्पर में भिन्न कर सकते हैं। इसी प्रकार जब प्रत्येक परमाणु में अलग अलग विशेष होगा तभी उसके सहारे प्रत्येक परमाणु आपस में भिन्न अर्थात् अलग अलग हो सकेगा, यह मानना होगा। ऐसी परिस्थिति में कठिनता यह उपस्थित होती है कि विशेषों को कैसे भिन्न किया जाय? विशेषों पर भी अतिरिक्त विशेष मानकर यदि काम चलाया जाय तो अनवस्था चल पड़ती है, जिससे विशेष की विशेषता ही सन्दिग्ध हो जाती है। क्योंकि यदि विशेषों को सविशेष माना जाय अर्थात् विशेष की अपर परम्परा भी मानी जाय तो विशेष नामक अतिरिक्त पदार्थ मानने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता एवं वह वैज्ञानिक नहीं हो पाता। यदि भेदक होने के कारण ही वह विशेष होगा तो सर्व-स्वलक्षणतादी बौद्ध विद्वानों के मतानुसार द्रव्य-गुण आदि-स्वरूप होकर ही रह जायगा, यतः किसी न किसी प्रकार से किसी के भेदक सभी होते हैं। जिस घर में घड़ा है उसे, जिस घर में घड़ा नहीं है उससे भिन्न, घड़े के रहने और न रहने से ही किया जाता है। जिसे कपड़ा है और जिसे नहीं है उन दोनों को उस कपड़े के आधार पर ही अलग किया जाता है। अतः इस प्रकार से सभी विशेष हो जायँगे। फिर विशेष को अलग पदार्थ कैसे माना जा सकता है? जैसा कि प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने माना है। अतः यह मानना होगा कि यह विशेष पदार्थ विशेषक होता हुआ निर्विशेष होता है। अर्थात् अपने आश्रय परमाणु को परस्पर में भिन्न समझाता हुआ स्वतः भिन्न होता है। विशेष एकजातीय परमाणुओं में विद्यमान पारस्परिक भेद को समझाता है। किन्तु विशेष में होने वाले पारस्परिक भेद को और कोई नहीं समझाता है, वह स्वतः भिन्न समझा जाता है। कहने का सारांश यह कि "विशेष" यह नाम ऐसे पदार्थ को बतलाता है जो कि अन्य किसी द्वारा पारस्परिक भेद का आश्रय न समझा जाय, किन्तु दूसरे अर्थात् अपने आश्रयभूत परमाणु को दूसरे से भिन्न समझाये। इसी रहस्य को समझाने के लिए प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने इस विशेष पदार्थ को "स्वतोव्याव-

र्तक" कहा है। "स्वतः" शब्द से अन्य की अपेक्षा का अभाव बतलाया जाता है और "व्यावर्तक" शब्द से "भेदक होना"। अतः "स्वतोव्यावर्तक" शब्द का यह स्पष्ट अर्थ होता है कि विशेषों को परस्पर भिन्न समझाने के लिए और किसी की भी आवश्यकता नहीं होती है और परमाणुओं को परस्पर भिन्न समझने के लिए इस विशेष की आवश्यकता होती है। अतः सर्वथा मन्तव्य है कि विशेष निर्विशेष होता है और उस पर कोई विशेष नहीं होता। वह स्वभावतः भिन्न होता है अतः उसके भेदक रूप में उस पर और विशेष मानने की आवश्यकता नहीं होती। अब परमाणु को ही स्वतोव्यावृत्त अर्थात् स्वतः भिन्न क्यों न मान लिया जाय ? विशेष नामक स्वतंत्र पदार्थ क्यों माना जाय ? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जा चुका है कि कोई भी धर्मी स्वतः भिन्न नहीं हो सकता। परमाणु द्व्यणुक का तथा परमाणुत्व आदि का धर्मी, है अतः वह स्वतः व्यावृत्त, स्वतः भिन्न नहीं हो सकता।

कुछ लोग यहाँ यह प्रश्न उपस्थित कर सकते हैं कि "विशेष" परमाणु का भेदक होता है; इस वाक्य का तात्पर्य क्या है ? भेदक का अर्थ भेद का जनक, उत्पादक प्रतीत होता है। परन्तु वह अर्थ यहाँ संगत नहीं होता। क्योंकि सभी परमाणु अनादि और अनन्त होते हैं। सुतरां उनमें परस्पर में विद्यमान भेद भी स्वाभाविक सार्वदिक ही होता है; आगन्तुक नहीं। फिर उस भेद का जनन कैसा और जनक कैसा ? अतः विशेष को भेदक कैसे कहा जा सकता है ? आकाश, आत्मा आदि के भेद भी नित्य ही होंगे, अतः किसी भी भेद का जनक होने के नाते विशेष को भेदक कहना कठिन है। इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि यहाँ भेदक का अर्थ भेद का जनक नहीं, अनुमापक है। नित्य परमाणु, आकाश आदि में विद्यमान भेद को यह समझाता है, हेतु बनकर अनुमान कराता है अतः यह विशेष भेदक कहलाता है। इसी अभिप्राय से प्राच्य पदार्थ-शास्त्रियों ने विशेषों को व्यावर्तक, स्वतोव्यावर्तक आदि शब्दों से कहा है।

इस विचार से यह भी यहाँ स्पष्ट हो गया कि विशेष स्वतः पारस्परिक भिन्न रूप से ज्ञात होकर आश्रयभूत परमाणु आदि में विद्यमान भेद को समझाता है, अतः विशेष का ही ज्ञान पहले कैसे हुआ ? इस प्रश्न का बिल्कुल अवकाश ही नहीं रह जाता। कहने का सारांश यह कि जैसे कोई व्यक्ति घट और पट में अलग-अलग विद्यमान पारस्परिक भेद को समझा देता है कि "यह घट इस पट से भिन्न है, क्योंकि दोनों की आकृतियाँ अलग-अलग हैं।" तद्वत् जिन्हें परमाणु के तारतम्य की विश्रान्ति की आवश्यकतावश मुख्य विशेष-युक्त परमाणु का यह निर्णय हो चुका होता है, उन्हें धर्मीग्राहक प्रमाण से ही अर्थात् परमाणुग्राहक अनुमान से ही परमाणुगत विशेष भी परिचित हो जाते हैं। अतः वे उस विशेष को हेतु बनाकर अनुमान द्वारा परमाणुओं के

पारस्परिक भेद को अनायास समझ सकते हैं।

विशेष की निस्सामान्यता

इस विशेष के सम्बन्ध में एक नया प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब सभी नित्य द्रव्यों में अलग अलग विशेष रहते हैं, तो यह निश्चित है कि इन विशेषों की संख्या और नित्य द्रव्योंकी संख्या समान होगी। परमाणु जब कि गणनातीत हैं असंख्य हैं अतः उनमें विद्यमान विशेषों को भी असंख्य मानना ही होगा। बहुसंख्यकों को एक रूप में समझने और समझाने के लिए उनमें एक अनुगमक सामान्य की आवश्यकता होती है। इसी युक्ति से द्रव्यत्व, गुणत्व और घटत्व, पटत्व आदि सभी सामान्य माने जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में असंख्य नित्य परमाणुओं में विद्यमान असंख्य विशेषों को भी एक रूप से समझने और समझाने के लिए विशेषत्व नामक सामान्य मानना आवश्यक होगा, वह क्यों नहीं माना जाता ?

इसके उत्तर अनेक हो सकते हैं। एक यह कि विशेषों पर विशेषत्व नामक सामान्य मानने पर विशेष का "स्वतः व्यावर्तक होना" यह स्वभाव ही नष्ट हो जायगा, अतः विशेषत्व सामान्य नहीं सामान्याभास है। यह सामान्याभास शीर्षक विचार के अवसर पर बताया जा चुका है। जैसे हेत्वाभास से भी कभी सदनुमिति हो जाती है, मणि की प्रकाशशिखा को मणि समझकर अनुधावनकारी व्यक्ति भी जैसे मणि प्राप्त कर लेता है, तद्वत् विशेषत्व सामान्याभास से भी विशेषों का अनुगतीकरण मूलक अनुगत रूप से समझना और समझाना चलता है। बाधा प्राप्त नहीं होती। अनुगत रूप से समझना और समझाना जब कि सामान्याभास से भी बनता है फिर विशेषत्व के समान अन्य सभी सामान्यों को सामान्याभास क्यों न मान लिया जाय ? यह प्रश्न इसलिए नहीं उपस्थापित हो सकता कि किसी के सामान्य होने पर ही कोई अन्य सामान्याभास हो सकता है। अतः जिनके सामान्य होने में कोई बाधा प्राप्त नहीं होगी उन्हें तुल्ययुक्ति के आधार पर सामान्य मानना ही होगा। प्रकृत में विशेषत्व को सामान्य मानने में विशेष की "स्वभाव हानि" स्वरूप बाधा बतलायी जा चुकी है। अतः विशेषत्व को सामान्य नहीं माना जा सकता। अतः विशेष का सामान्य नहीं माना जाता है।

दूसरा उत्तर यह कि किसी भी सामान्य का आश्रय बनने के लिए "समवाय" सम्बन्ध का होना और सामान्य होने के लिए समवाय सम्बन्ध से रहना नितान्त अपेक्षित होता है। परन्तु विशेष और विशेषत्व इन दोनों के बीच समवाय नामक सम्बन्ध न होने के कारण दोनोंही बातें नहीं हैं। न विशेषत्व सामान्य उक्त सम्बन्ध से रहता है और न विशेष समवाय सम्बन्ध वाला ही है। अतः विशेषत्व को विशेष में रहने वाला सामान्य नहीं माना जा सकता।

तीसरा उत्तर यह है कि जितने सामान्य हैं वे प्राय: किसी न किसी रूढ़ पद के ही प्रवृत्ति-निमित्त अर्थात् शक्ति-परिच्छेदक हुआ करते हैं। इस नियम के आधार पर विशेषत्व को भी किसी रूढ़ पद का प्रवृत्ति-निमित्त होना आवश्यक होगा। परन्तु इसमें बड़ी बाधा यह है कि "वि-शेष" शब्द नित्य-यौगिक है, शेष शब्द अंग का वाचक है। विशेषण उपसर्जन होने के कारण गौण हुआ करते हैं। इस दृष्टिकोण से "विगत हो शेष अर्थात् विशेषण जिससे वह है विशेष", इस व्याख्या को ध्यान में रखते हुए ही प्राच्य पदार्थ-शास्त्रियों ने "विशेष" शब्द का प्रयोग किया है, जिससे इस विशेष नामक पदार्थ को विशेषण रहित समझा जाय। ऐसी परिस्थिति में विशेषत्व को सामान्य बनाकर उसे विशेष में रखने की चेष्टा कैसे की जा सकती है? क्योंकि विशेषत्व यौगिक "विशेष" शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त अर्थात् शक्ति का परिच्छेदक होने के कारण किसी रूढ़ पद का प्रवृत्ति-निमित्त कहाँ हो पाता है? जो कि सामान्य होने के लिए अपेक्षित है। अत: विशेष का सामान्य नहीं माना जा सकता।

चतुर्थ उत्तर यह है कि विशेष का ज्ञान एवं व्यवहार अर्थात् वाक्यप्रयोग अनुगत होता ही नहीं। विशेष अननुगत रूप से ही प्रतीत एवं कथित होते हैं। इसीलिए संस्कृत भाषा में इसके सम्बन्ध में "विशेषा:" इस प्रकार नियमत: बहुवचन से ही उल्लेख किया गया है। जब कि अननुगत रूप से ही विशेष ज्ञात एवं प्रयुक्त होते हैं, तब अनुगति के लिए विशेषों में विशेषत्व मानना चाहिए, यह कहने का स्थान ही नहीं रह जाता। अत: विशेष में सामान्य नहीं मानना चाहिए।

विशेष के आश्रय

विशेष पदार्थ की आवश्यकता से यह सिद्ध हो जाता है कि ये विशेष सभी नित्य द्रव्यों में रहते हैं। क्योंकि नित्य द्रव्यों में विद्यमान पारस्परिक भेदों को और किसी के द्वारा नहीं समझा जा सकता यह बात बतायी जा चुकी है। यहाँ यह प्रश्न करना उचित नहीं होगा कि विशेषों को केवल परमाणुओं में माना जाय, व्यापक, नित्य आत्मा, आकाश आदि में नहीं। क्योंकि आत्माओं में विशेष न मानने पर सुषुप्त आत्माओं एवं मुक्त आत्माओं में भेद का ज्ञान नहीं हो सकेगा। क्योंकि उस अवस्था में कोई ऐसे गुण भी असाधारण रूप से आत्माओं में विद्यमान नहीं होते कि उनके आधार पर भेद का भान किया जा सके। सुषुप्त आत्माओं में पाप-पुण्य रहते भी हैं; तो वे अतीन्द्रिय होने के कारण स्वयं अज्ञात होते हैं। उस समय सुख और दु:ख की भी उपलब्धि नहीं होती कि उसके सहारे पाप-पुण्य को समझकर उससे भेद का भान किया जा सके। मुक्त आत्माओं में तो पाप-पुण्य रहते ही नहीं कि उनसे उनके पारस्परिक भेद समझे जा सकें। काल और दिक् इनमें भी विशेषों का मानना आवश्यक ही

है। अन्यथा इन दोनों में विद्यमान पारस्परिक भेद को समझा नहीं जा सकता। क्योंकि कोई भी विशेष गुण इनमें रहता नहीं और संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये पाँच गुण दोनों में समान रूप से ही रहते हैं। अतः उनमें से कोई भी उक्त भेद का ज्ञापक अर्थात् समझाने वाला नहीं हो सकता। यहाँ यद्यपि यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जो एकत्व संख्या काल में है वह तो दिक् में नहीं है एवं जो एकत्व दिक् में है वह तो काल में नहीं है। इसी प्रकार परिमाण आदि में भी समझा जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में गुण के आधार पर काल और दिक् इन दो द्रव्यों के अन्दर विद्यमान भेदों को क्यों नहीं समझा जा सकेगा ?

परन्तु यह उचित इसलिए नहीं होता कि जब तक काल और दिक् इन दोनों को भिन्न नहीं समझ लिया जाता है, अलग नहीं समझ लिया जाता है तब तक यह भी समझना सर्वथा कठिन है कि इन दोनों में विद्यमान एकत्व आदि गुण विभिन्न हैं, अलग हैं। अतः गुणभेद से काल और दिक् इनका पारस्परिक भेद समझा जा सकता है यह नहीं कहा जा सकता। अतः इन दोनों में अलग-अलग विशेष मानना आवश्यक है।

आकाश यद्यपि शब्द गुण का आश्रय होने के कारण काल, दिक् आदि से भिन्न सिद्ध हो सकता है और आकाश अनेक है ही नहीं कि आत्मा के समान अवान्तर पारस्परिक भेद को समझने के लिए आकाश में विशेष पदार्थ माना जाय। किन्तु आकाश में विद्यमान शब्द-कारणता के नियमनार्थ आकाश में भी विशेष पदार्थ मानना होगा। कहने का अभिप्राय यह है कि कोई भी कल्पित वस्तु किसी अन्य के नियन्त्रण से ही नियंत्रित होकर स्थानान्तर में कल्पित नहीं हो पाती। प्रकृत स्थल में यदि आकाश में विशेष पदार्थ नहीं माना जायगा तो "आकाश में ही शब्द क्यों उत्पन्न होते हैं?" "आकाश में ही शब्द के प्रति कारणता क्यों है?" इन प्रश्नों का समाधान नहीं मिल सकता। अतः नियामक रूप में आकाश में भी विशेष मानना ही पड़ेगा। अथवा शब्द के सहारे आकाश को काल, दिक् आदि अन्य व्यापकों से इसलिए भिन्न नहीं समझा तथा समझाया जा सकता कि जो लोग एक ही व्यापक मानेंगे वे शब्द को काल आदि का गुण मानेंगे ही। सुतरां शब्द भेदक नहीं बन सकता। अतः आकाश में भी विशेष मानना आवश्यक होगा। विशेष के बारे में इस तरह का प्रश्न नहीं उठाया जा सकता कि काल और आकाश दोनों में एक ही विशेष है। क्योंकि विशेष स्वतः व्यावृत्त एवं धर्मीग्राहक प्रमाण से धर्मी के साथ ही स्वतः प्रतीत हो जाता है, यह बात पहले बतलायी जा चुकी है।

अनन्त मनों में अनन्त विशेषों का अस्तित्व उसी प्रकार मन्तव्य होगा जैसे असंख्य परमाणुओं में असंख्य विशेष बतलाये जा चुके हैं।

विशेष की नित्यता

यद्यपि यह कोई नियम नहीं है कि नित्य में रहने वाले धर्म नित्य ही हों। नित्य आकाश का धर्म शब्द अनित्य होता है, जीवात्मा के धर्म ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि अनित्य होते हैं। नित्य काल और दिक् में पैदा होनेवाली द्वित्व आदि संख्याएँ अनित्य होती हैं। नित्य मन में होनेवाली क्रियाएँ अनित्य होती हैं। पार्थिव परमाणु में होनेवाले रूप, रस, गन्ध और स्पर्श अनित्य होते हैं। अतः इस युक्ति से विशेष को नित्य कहना कठिन है कि विशेष के आश्रय नित्य ही होते हैं, अतः विशेष को नित्य मानना चाहिए। तथापि विशेषों को नित्य इसलिए मानना होगा कि जिन कार्यों के लिए विशेष माने जाते हैं वे कादाचित्क नहीं सार्वदिक हैं, अतः उनके नियामक रूप में विशेषों का सार्वदिक होना आवश्यक है अर्थात् उनका सदा रहना अवश्य मानना होगा। सारांश यह कि विशेष के जितने भी आश्रय हैं वे सभी नित्य हैं यह बात बतलायी जा चुकी है। जैसे वे आश्रय नित्य हैं वैसे ही उनमें होने वाले पारस्परिक भेद भी नित्य होते हैं। सुतरां उन भेदों के नियामक विशेषों को भी नित्य ही मानना होगा। अन्यथा उन नित्य परमाणु आदि में होने वाले पारस्परिक भेद कादाचित्क अर्थात् किंचित्काल मात्र स्थायी हो जायँगे। अतः भेदक विशेषों को नित्य, त्रिकालस्थायी मानना होगा। यही कारण है कि मोक्षकाल में जीवात्मा का परमात्मा के साथ अभेद हो जाता और संसारकाल में जीव और परमात्मा का भेद रहता है—यह भेदाभेदवादी निम्बार्क आदि दार्शनिकों का मत नहीं टिक पाता। क्योंकि जीव और परमात्मा दोनों के भेदक विशेष उन दोनों में सर्वदा ही विद्यमान रहते हैं अतः भेद भी सदा उन दोनों में मोक्षकाल में रहता ही है। फिर उन दोनों का आगन्तुक अभेद कैसे हो सकता है? अतः मोक्षकाल में भी आत्मा और परमात्मा विभिन्न ही रहते हैं अभिन्न नहीं हो पाते। इन सब गम्भीर विचारों को सामने रखने पर यह मानना आवश्यक है कि विशेष नित्य ही होते हैं। उन्हें अनित्य नहीं माना जा सकता।

विशेष का सम्बन्ध

विशेष नित्य द्रव्यों में रहते हैं यह बात बतलायी गयी है। किसी भी आधार में किसी के भी रहने की बात आने पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वह रहने वाली वस्तु अपने उस आधार में किस सम्बन्ध से रहती है? अतः यह भी जिज्ञासा स्वाभाविक ही होगी कि नित्य द्रव्यों में विशेष किस सम्बन्ध से रहते हैं? क्योंकि लोक-परिचित सम्बन्धों के अन्दर किसी भी सम्बन्ध का होना वहाँ बनता नहीं। लोक में सर्वाधिक परिचित सम्बन्ध है "संयोग"। संयोग का पूर्ण परिचय गुण-प्रकरण में दिया जा चुका है। वह सम्बन्ध रूप से सर्वाधिक परिचित इसलिए है कि अधिकतर व्यावहारिक

दो द्रव्यों में परस्पर का सम्बन्ध संयोग ही होता है। यथा भूतल से घड़े, कपड़े, मानव-शरीर आदि का सम्बन्ध संयोग होता ही है। आम-अमरूद आदि कुछ भी हम हाथ में लेते हैं तो हाथ के साथ संयोग ही सम्बन्ध होता है। लोग कपड़े पहनते हैं, घड़ी बाँधते हैं तो उन कपड़े, घड़ी आदि से शरीर का, हाथ का सम्बन्ध संयोग ही होता है। इस सम्बन्ध के लिए उदाहरणों की कमी नहीं है। अतः यह कहना ही होगा कि संयोग सम्बन्ध सर्वाधिक सुपरिचित है। परन्तु वह सम्बन्ध प्रकृत विशेष के साथ इसलिए नहीं माना जा सकता कि "संयोग" दो पारस्परिक अवयवावयवि-भावरहित द्रव्यों का ही हो सकता है। यह बात पहले स्पष्ट रूप से बतलायी जा चुकी है। विशेष तो द्रव्य नहीं कि नित्य द्रव्य के साथ उसका संयोग सम्बन्ध माना जाय? अतः संयोग सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता

लोकपरिचय में संयोग के बाद दूसरा स्थान आता है कालिक का। क्योंकि "अभी' 'तभी' 'कभी' 'जभी' आदि का प्रयोग एवं तदनुरूप ज्ञान सभी किया करते हैं। उक्त प्रयोग व ज्ञान से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जो भी कुछ होता है। या रहता है वह किसी न किसी काल में रहता है। सुतरां काल के साथ सभी वस्तुओं का सम्बन्ध मन्तव्य है, उसी सम्बन्ध का नाम होता है कालिक। यह कालिक सम्बन्ध सभी नित्य द्रव्यों के साथ विशेष का इसलिए नहीं हो सकता कि कालिक सम्बन्ध से कोई भी वस्तु काल में ही रह सकती है। परमाणु, आकाश, आत्मा आदि काल नहीं है। यह बात प्रथम प्रलरण के विचारों से स्पष्ट हो चुकी है। ऐसी परिस्थिति में अपने आश्रय नित्य द्रव्यों के साथ विशेषों का क्या सम्बन्ध हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह समझना चाहिए कि अवयव और अवयवी आदि का जिस प्रकार पारस्परिक सम्बन्ध "समवाय" होता है, तद्वत् नित्य द्रव्यों के साथ विशेषों का सम्बन्ध भी समवाय ही होता है। अर्थात् नित्य द्रव्यस्वरूप आश्रयों में विशेष "समवाय" नामक सम्बन्ध से रहा करते हैं।

विशेष का मौलिक महत्व

इन विशेषों के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि निरवयव नित्य द्रव्यों की परस्पर भिन्नता एवं उसका ज्ञान इन दो कार्यों के लिए विशेष पदार्थ की आवश्यकता प्रतीत होने पर भी इसे द्रव्य-गुण आदि अन्य स्वीकृत छः पदार्थों से अतिरिक्त एक स्वतंत्र पदार्थ क्यों माना जाय? यह तो कोई बात नहीं कि स्वतंत्र पदार्थ होने पर ही विशेष नित्य द्रव्यों को परस्पर भिन्न कर सकेंगे एवं समझा सकेंगे।

इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि द्रव्याश्रित द्रव्य, अर्थात् द्रव्य के साथ समवाय

नामक सम्बन्ध से रहनेवाले द्रव्य नियमतः सावयव हुआ करते हैं, फलतः अनेकाश्रित हुआ करते हैं। घट-पट आदि जितने द्रव्याश्रित द्रव्य हैं वे अवयवी हैं। अपने अनेक समवायिकारणों में विद्यमान होने के कारण वे अनेकाश्रित होते हैं। किंतु विशेषों में यह बात नहीं पायी जाती, वे न तो सावयव होते हैं और न अनेकाश्रित, अतः विशेषों को द्रव्य नहीं माना जा सकता। विशेषों को गुण इसलिए नहीं कहा जा सकता कि उक्त रूप-रस आदि तेईस गुण (१) सामान्य गुण और (२) विशेष गुण इन दो भागों में विभक्त हैं। सामान्य गुण वे कहलाते हैं जो सभी द्रव्यों में रहते हैं, यथा संख्या, परिमाण, पृथक्त्व आदि। जो गुण सभी द्रव्यों में नहीं रहते हैं, पृथिवी जल-तेज-वायु-आकाश एवं आत्मा इनके अन्दर किसी एक में ही रह पाते हैं वे कहलाते हैं विशेष गुण। पाँचवें पदार्थ विशेषों को सामान्य गुण इसलिए नहीं माना जा सकता कि ये सावयव घट-पट आदि द्रव्यों में न रहने के कारण सभी द्रव्यों में रहने वाले नहीं हो पाते, जो कि सामान्य गुण होने के लिए अनिवार्य है। इन विशेषों को विशेष गुण इसलिए नहीं माना जा सकता कि परमाणु के सभी विशेष गुण सजातीयारम्भक, अर्थात् अपने आश्रय परमाणुओं से बने हुए द्वचणुक द्रव्य में समान जातीय गुण के उत्पादक हुआ करते हैं। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि तन्तुओं के रूप आदि के अनुरूप ही कपड़ों में रूप आदि उत्पन्न होते हैं। तदनुसार यह मानना ही होगा कि परमाणु के रूप-रस आदि द्वचणुक में अपने अनुरूप रूप आदि उत्पन्न करते हैं। किन्तु विशेषों में यह बात नहीं है। वे परमाणुओं में रहने पर भी द्वचणुकों में विशेषों को नहीं उत्पन्न करते। अतः विशेषों को परमाणु का विशेष गुण भी नहीं माना जा सकता। सामान्य गुण और विशेष गुण इन दोनों के अतिरिक्त गुण का कोई प्रकार हो ही नहीं सकता। अतः विशेषों को गुण नहीं कहा जा सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि रूप-रस आदि विशेष गुणों के समान द्वचणुक आदि में भी विशेषों की उत्पत्ति यदि मान ली जाय तो क्या क्षति है? भेदज्ञापनार्थ विशेष की आवश्यकता सर्वत्र समान हो सकती है, क्योंकि द्वचणुक आदि सावयव द्रव्य जब कि अपने अवयवों की विभिन्नता प्रयुक्त ही भिन्न हो जाते एवं समझे जाते हैं, तब उनमें विशेष नामक स्वतंत्र पदार्थ क्यों माना जाय? विशेषों को अवयव और अवयवी सभी द्रव्यों में विद्यमान विशेष गुण नहीं माना जा सकता।

यहाँ कुछ लोगों के मन में यह बात आ सकती है कि इन विशेषों को विशेष गुण-स्वरूप मानना ही उचित है। क्योंकि रूप-रस आदि गुणों का "सामान्य गुण" और "विशेष गुण" रूप में किया जानेवाला विभाजन तथा "विशेष गुण" शब्द का प्रयोग यह स्पष्ट बतलाता है कि "विशेष" गुण पदार्थ है, स्वतंत्र अतिरिक्त पदार्थ

नहीं। किन्तु यह कथन इसलिए उचित नहीं हो सकता कि युक्ति से यह सिद्ध कर दिया गया है कि प्रकृत विशेषों को, जो कि नित्य द्रव्यों के विभाजक होते हैं, गुण नहीं माना जा सकता। रही बात विशेष गुण रूप से विभाजन और "विशेष गुण" इस शब्द के प्रयोग की, तो इसका कारण यह है कि परमाणुओं के भेदक इन मौलिक विशेषों के समान रूप-रस आदि कतिपय गुण भी, जो कि सभी द्रव्यों में नहीं रहते, अपने आश्रयों के भेदक होते हैं। अतः उपचारवश "पुरुषसिंह" आदि औपचारिक प्रयोग के समान अपने आश्रयों के भेदक गुणों को भी विशेष-गुण कह दिया जाता है। ऐसे गौण प्रयोग या ज्ञान के आधार पर वास्तविक का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। कहने का सारांश यह कि सामान्य-प्रकरण में प्रदर्शित सामान्य और सामान्याभास के समान यहाँ भी विशेष और विशेषाभास का पार्थक्य समझना चाहिए। प्रकृत परमाणु आदि नित्य द्रव्य वृत्ति विशेषों को "मौलिक" विशेष और अवयव-द्रव्य तथा रूप आदि गुणों को विशेषाभास समझना चाहिए।

विशेषों को कर्म इसलिए नहीं माना जा सकता कि सभी कर्म अनित्य होते हैं। विशेष नित्य हैं यह बात स्पष्ट की जा चुकी है। विशेषों के सामान्य होने की तो सम्भावना भी नहीं की जा सकती। क्योंकि प्रत्येक विशेष एक-एक नित्य द्रव्य में ही रहते हैं और सामान्य नियमतः अनेक में ही रहता है। विशेषों को समवाय इसलिए नहीं कहा जा सकता कि विशेष समवाय सम्बन्ध से नित्य द्रव्यों में रहते हैं। सम्बन्ध और सम्बन्धी दोनों एक नहीं हो सकते। घड़ा जिस संयोग सम्बन्ध से भूमि पर रहता है वह तत्स्वरूप नहीं होता। दूसरी बात यह है कि समवाय केवल नित्य द्रव्यों में ही नहीं रहता—वह द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में रहता है। किन्तु विशेष केवल नित्य द्रव्यों में रहते हैं। विशेषों को अभाव इसलिए नहीं कहा जा सकता कि अभाव नियमतः निषेध रूप से प्रतीत होता है। वह "नहीं", "नहीं है।" आदि शब्दों से ही कहा जाता है। विशेषों में यह बात नहीं है। वे कभी भी "नहीं" आदि शब्दों से नहीं कहे जाते हैं। सुतरां नित्य द्रव्यों में रहनेवाले प्रकृत मौलिक विशेषों को एक स्वतंत्र पदार्थ मानना ही पड़ेगा।

बौद्ध मतानुसार विशेष की तुलना

कुछ आधुनिक विवेचक विशेष के सम्बन्ध में यह सोचते हैं कि यह विशेष कणाद आदि प्राच्य पदार्थशास्त्रियों का स्वमतसिद्ध मौलिक पदार्थ नहीं है। भौतिक वस्तुविवेचक हीनयानी बौद्ध विद्वान् आरम्भवाद को अस्वीकार करते हुए क्षणिक परमाणु मात्र की सत्ता मानते हैं एवं प्रत्येक परमाणु को स्वलक्षण मानते हैं। "स्व-लक्षण" शब्द का अर्थ होता है स्वतः अर्थात् अपने से ही लक्षित होने वाला। अर्थात्

अन्य वस्तुओं से भिन्न रूप में समझे जाने के लिए किसी और की अपेक्षा न करनेवाला। विशेष के स्वरूप का जो वर्णन हो गया है उस पर गम्भीरतापूर्वक दृष्टिपात करने पर यह बात अस्पष्ट नहीं रह जाती कि विशेष स्वलक्षण होता है। क्योंकि विशेष स्वतः-व्यावृत्त, स्वतः-व्यावर्त्तक माना गया है। अतः यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने बौद्धमत-सिद्ध "स्वलक्षण" को ही विशेष संज्ञा दे डाली है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी प्रतीत नहीं होती। क्योंकि हीनयानी बौद्ध लोग परमाणु को ही स्वलक्षण अर्थात् स्वतः-व्यावृत्त मानते हैं। अतः उनके मत में परमाणु आदि नित्य द्रव्य ही स्वलक्षण होने के कारण विशेष बन जाते हैं। सुतरां उनके मत में विशेषों को नित्य द्रव्यों पर आधारित नहीं माना जा सकता। प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने इसके विरुद्ध विशेषों को नित्य द्रव्यों पर आधारित माना है। हाँ यह बात सही जँचती है कि परवर्ती पदार्थविवेचक 'रघुनाथ शिरोमणि' आदि पर इस विशेष के विषय में बौद्ध आलोचकों की आलोचना का प्रभाव अवश्य पड़ा है। क्योंकि उन्होंने भी परमाणुओं को स्वतः-व्यावृत्त अर्थात् स्वतः-भिन्न मानकर विशेष पदार्थ का खण्डन किया है। अतः यह कहना उचित नहीं प्रतीत होता कि विशेष पदार्थ के अभ्युपगम में प्राच्य पदार्थ-मत बौद्ध मत का ऋणी है। वरं ठीक इसके विपरीत यह प्रतीत होता है कि उक्त नव्य पदार्थविवेचकों की तरह बौद्ध विद्वानों ने प्राच्य पदार्थशास्त्रियों द्वारा नित्य द्रव्यों पर बैठाये गये विशेषों को नीचे घसीटकर परमाणु-मात्र-स्वरूप को सिद्ध करने की प्रबल चेष्टा की है। विशेषों को द्रव्य नहीं माना जा सकता, यह बात बतलायी जा चुकी है। सुतरां उसे परमाणुस्वरूप नहीं माना जा सकता। परमाणु धर्मी होने के कारण स्वतः व्यावृत्त नहीं हो सकते—यह बात भी पहले बतलायी जा चुकी है।

प्राच्य पदार्थशास्त्री विशेष के सम्बन्ध में बौद्ध सिद्धान्त के ऋणी नहीं हैं—यह बात इससे भी मालूम पड़ती है कि हीनयानी सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक परमाणु-पुञ्ज के समान रूप-रस आदि गुणों एवं गमनात्मक कर्मों की भी सत्ता मानते हैं एवं प्रत्येक को स्वलक्षण मानते हैं। और प्रथम महायानी योगाचार द्रव्य-गुण आदि बाह्य वस्तुओं की सत्ता न मानते हुए भी प्रत्येक क्षणिक विज्ञान को स्वलक्षण मानते हैं, सुतरां ये सभी स्वतः-व्यावृत्त विशेष रूप हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में विशेष का स्वरूप बहुत व्यापक हो जाता है। गम्भीर भाव से दृष्टि डालने पर यहाँ तक प्रतीत होता है कि उक्त तीनों बौद्ध सम्प्रदायों में विशेष ही केवल सत्पदार्थ है। बाह्यास्तित्ववादी सौत्रान्तिक और वैभाषिक इन्हीं विशेषों में सामान्य की कल्पना मात्र मानते हैं एवं द्रव्य, गुण आदि को विशेष का ही प्रभेद मानते हैं। क्षणिक-विज्ञानवाद फलतः क्रियाद्वैत-वाद रूप ही सिद्ध होता है यह बात पहले बतला आये हैं। सभी विज्ञान स्वलक्षण,

स्वतः व्यावृत्त माने जाते हैं। फलतः ध्वंस-क्रियात्मक प्रत्येक विज्ञान स्वलक्षण, स्वतः व्यावृत्त होने के कारण विशेष बन जाता है। इस प्रकार बौद्धमत में विशेष का रूप बड़ा ही विस्तृत हो जाता है। किन्तु प्राच्य पदार्थशास्त्री लोग विशेषों को नित्य द्रव्यों का ही धर्म मानते हैं, अतः इनके मत में विशेषों को वह रूप प्राप्त नहीं हो सकता जो कि बौद्धमत में प्राप्त होता है। सुतरां यह मानना ही पड़ेगा कि बौद्धों के विशेष और प्रकृत विशेष में महान् अन्तर है। यद्यपि बौद्ध आचार्यों ने इस प्रकार स्पष्ट रूप से विशेष का स्वरूप नहीं बतलाया है जैसा कि यहाँ इनकी ओर से बतलाया गया है, परन्तु उनकी असंगता-स्वरूप स्वलक्षणता पर गम्भीर भाव से दृष्टिपात करने पर प्रत्येक विवेचक को यहाँ तक पहुँचने के लिए बाध्य होना पड़ेगा।

यहाँ एक बात और ध्यान में रखने लायक यह है कि "स्वलक्षण" का अभिप्रेतार्थ "सर्वथा असंग" है। असंग वही हो सकता है जो किसी का आश्रय न हो और जिसका कोई आश्रय भी न हो। प्राच्य पदार्थशास्त्री लोग विशेषों को किसी का आश्रय तो नहीं मानते किन्तु उनका आश्रय नित्य द्रव्यों को मानते हैं। अतः प्राच्य पदार्थशास्त्रियों के विशेषों में बौद्धों की स्वलक्षणता का एक ही अंश आता है अपर अंश नहीं। विज्ञानवादी बौद्धों के मत में विज्ञान को छोड़कर और कोई वस्तु है ही नहीं। अतः न विज्ञानों पर कोई और रह सकता और न विज्ञान ही किसी पर रह सकते हैं, अतः वे पूर्णतः स्वलक्षण हो सकते हैं।

समवाय-निरूपण

समवाय का स्वरूप

सात पदार्थों के अन्दर विशेष के अनन्तर छठा स्थान समवाय का है। इस समवाय का नाम पहले भी अनेक स्थानों में लिया गया है, अब यहाँ उसे विशेष रूप से समझाना है। समवाय शब्द का प्रयोग प्रायः एकजातीय वस्तुओं के समुदाय अर्थ में प्रचुर रूप से पाया जाता है। अल्पशिक्षित लोग भी "पुरुषों का समवाय", "स्त्रियों का समवाय" इत्यादि प्रयोग अनेक स्थानों में किया करते हैं। अनेक प्रवक्ता अपने प्रवचन के आरम्भ में उपस्थित जनसमुदाय को लक्ष्य कर "समवेत सज्जनो!" इस प्रकार सम्बोधन वाक्य का प्रयोग किया करते हैं। "समवेत" का अर्थ होता है "समवाय-प्राप्त", सुतरां यह स्पष्ट है कि "समवाय" इस नाम से जनता अति अपरिचित नहीं है। प्रकृत "समवाय" भी जनसाधारण-परिचित समवाय से बहुत कुछ सामञ्जस्य रखता है। प्राच्य पदार्थशास्त्रियों की समवाय-कल्पना भी लोक-बाह्य नहीं है यह बात आगे के विचारों से सुस्पष्ट हो जायगी। इस समवाय पदार्थ के ऊपर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राच्य पदार्थ-शास्त्रियों के आरम्भवाद का यह मेरुदण्ड है। इसे हटा देने पर आरम्भ-सिद्धान्त बिल्कुल टिक नहीं सकता। यही कारण है कि सत्कार्यवादी या सत्कारणवादी आदि दार्शनिकों ने इस समवाय के खंडनार्थ जी-तोड़ प्रयत्न किया है। समवाय को आरम्भवाद का मेरुदण्ड इस प्रकार समझा जा सकता है कि प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने आरम्भ की अर्थात् उत्पत्ति की व्याख्या करते हुए यह बतलाया है कि उपादान कारण में होनेवाले उपादेय के अर्थात् कार्य के समवाय, अथवा उपादेय में होनेवाले सत्ता जाति के समवाय का ही नाम होता है उस उपादेय का यानी कार्य का आरम्भ। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझना चाहिए कि तन्तुओं से कपड़े उत्पन्न होते हैं। यहाँ तन्तु होते हैं पट के उपादान और पट होता है तन्तु स्वरूप उपादानों अर्थात् कारणों का उपादेय। पट के उत्पादक कारण-कलाप के जुटने के अव्यवहित परवर्ती क्षण में जो पट के उपादान तन्तुओं में पट का समवाय प्रतिष्ठित हो जाता है अथवा पट में पूर्ववर्णित सत्ता सामान्य का जो समवाय प्रतिष्ठित हो जाता है, वह समवाय ही

"आरम्भ" एवं "उत्पत्ति" आदि शब्दों से कहा जाता है। इसी प्रकार सभी उत्पादों को समवाय स्वरूप समझना चाहिए।

जिन लोगों के अध्ययन और अध्यापन में इस समवाय की चर्चा होती है वे भी इसके तात्विक रूप से अत्यन्त अपरिचित हैं यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है। ग्रन्थों में भी इसका परिचय यही मिलता है कि यह एक प्रकार का नित्य सम्बन्ध है। अधिक से अधिक परिचय इस प्रकार दिया जाता है कि अपने अवयवों में अवयवी, जैसे तन्तुओं में पट, इसी सम्बन्ध से रहता है। गुणी में गुण, जैसे द्रव्यों में यथा-सम्भव रूप-रस आदि गुण इसी समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। इसी प्रकार पृथिवी आदि मूर्त द्रव्यों में उत्क्षेपण आदि क्रियाएँ तथा द्रव्य, गुण और कर्म इन में सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व आदि सामान्य और नित्य द्रव्यों में विशेष इस समवाय सम्बन्ध से ही रहते हैं। ये बातें सही हैं गलत नहीं हैं। परन्तु आज के वैज्ञानिक युग में इस प्रकार के परिचय दान से लोग सन्तुष्ट नहीं हो सकते। इससे प्राप्त होने वाले समवाय के परिचय को लोग परोक्ष-परिचय ही मानेंगे—अतः इसे और तरह से समझने और समझाने की नितान्त आवश्यकता है, इसलिए इसे यों समझना चाहिए—

सर्वप्रथम पूर्वकथित इस बात को याद कर लेना चाहिए कि "समवाय" शब्द समुदाय अर्थ का वाचक है। किसी भी भाव वस्तु की ओर यदि गहरी दृष्टि डाली जाय तो एक समुदाय सामने प्रतीत होगा, एक समष्टि नजर आयेगी। उसी समुदाय का, उसी समष्टि का अपर नाम है समवाय। उदाहरण के द्वारा इसे इस प्रकार समझा जाय, यथा—एक आम या अमरूद को यदि विचारपूर्वक गम्भीरता से देखें तो यह कहना और मानना ही होगा कि वह एक समुदाय है, एक समष्टि है। यदि उस आम या अमरूद में यह मान लिया जाय कि एक करोड़ परमाणु होंगे तो यह मानना ही होगा कि उन परमाणुओं में उतने रूप, उतने रस, उतनी गन्ध, उतने स्पर्श, उतने एकत्व, उतने परमाणुत्व-परिमाण, उतने पृथक्त्व, उतने संयोग आदि गुण, एक सत्ता, एक द्रव्यत्व, एक पृथिवीत्व, एक करोड़ विशेष भी उन परमाणुओं में अवश्य हैं। एवं पचास लाख द्व्यणुक एवं उतने ही उनमें उक्त रूप, रस आदि गुण और वे ही सत्ता, द्रव्यत्व आदि जातियाँ तथा एक द्व्यणुकत्व सामान्य भी है यह मानना पड़ेगा। साथ ही १६ लाख ६६ हज़ार ६ सौ ६६ त्र्यणुक उसके अन्दर अवश्य होंगे और उनमें फिर पूर्वोक्त क्रम से उतने रूप, उतने रस इस प्रकार गुण, त्र्यणुकत्व सामान्य तथा उक्त सत्ता, द्रव्यत्व, पृथिवीत्व आदि होंगे। इसी प्रकार चतुरणुक, पंचाणुक आदि अवयवों एवं उनके गुण, सामान्य आदि की संख्या सब मिलाकर अन्त्यावयवी उस आम या अमरूद तक पहुँचते-पहुँचते कितनी बड़ी हो जायगी यह ध्यान देने योग्य है। अतः

कहना ही होगा कि वह आम या अमरूद द्रव्यों, गुणों, कर्मों, सामान्यों एवं विशेषों का एक समुदाय है जिसे लोग एक आम या एक अमरूद देखते या कहते हैं। इसी प्रकार सभी अवयवी द्रव्यों को समझना होगा।

यहाँ कुछ लोग यह प्रश्न उठा सकते हैं कि तब तो बाह्य वस्तु की सत्ता मानने वाले बौद्ध विद्वानों के परमाणु-पुञ्जवाद का ही स्वीकार हो गया, उससे अन्तर क्या रहा ? इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि उस वाद से इस वाद में महान् अन्तर यह है कि यहाँ अन्त्यावयवी के अन्दर असंख्य मध्यावयवियों का भी अस्तित्व रहता है, किन्तु बौद्धमत-सिद्ध परमाणु पुञ्जवाद में यह बात नहीं होती। वहाँ मध्यावयवियों को कौन पूछता है; अन्त्यावयवी जो कि प्रत्यक्षतः देखा जाता है एवं सभी लोग अपने दैनन्दिन व्यवहार में जिसे लाया करते हैं उसे भी परमाणु-पुञ्ज से अतिरिक्त नहीं माना जाता है। सारांश यह कि परमाणु-पुंजवाद में पुंज-स्वरूप समुदाय का समुदायी प्रत्येक अतीन्द्रिय परमाणु होता है और इस समुदायवाद में समुदायी होते हैं परमाणु के अतिरिक्त बहुसंख्यक द्वचणुक, त्र्यणुक, चतुरणुक आदि मध्यावयवी एवं तत्तत् गुण, कर्म, सामान्य एवं परमाणुसंख्यक विशेष भी। सुतरां इस समुदायवाद को परमाणु पुंजवाद नहीं कहा जा सकता। यद्यपि लाघव गौरव का विचार करने पर बौद्धों के उक्त परमाणु-पुञ्ज में अति लाघव और इस समुदायवाद में गौरव प्रतीत होता है। किन्तु अनुभवसिद्ध वस्तुस्थिति के आगे लाघव-गौरव का विचार नहीं किया जाता। परमाणु-पुञ्जवाद की आलोचना प्रथम प्रकरण में की जा चुकी है अतः यहाँ फिर आलोचना करना पिष्टपेषण ही होगा। केवल अवयवी ही समुदायरूप है यह बात नहीं; एक परमाणु को लिया जाय तो वह भी एक समुदाय ठहरेगा, क्योंकि यथासम्भव उसमें अनेक गुण अवश्य होंगे, क्रिया भी कदाचित् होगी, सामान्य भी अनेक अवश्य होंगे। इसी प्रकार आकाश आदि व्यापक द्रव्यों को भी पदार्थों का समुदाय समझना चाहिए। केवल द्रव्य के ही लिए यह बात नहीं है; गुण, कर्म, सामान्य और विशेषों का भी यही स्वभाव है। ये भी अकेले कभी नहीं रहते हैं, अपितु समुदित ही रहते हैं, औरों के साथ मिलकर ही रहते हैं। इसे समझने के लिए किसी भी गुण, किसी भी एक क्रिया, किसी भी एक सामान्य और किसी भी एक विशेष को लिया जा सकता है। उदाहरण के लिए उक्त आम या अमरूद के रूप को ही लिया जाय। वह रूप स्वाश्रय आम-अमरूद के बिना नहीं रह सकता है, सुतरां वह उस आम या अमरूद में रहने वाले सभी गुणों, क्रियाओं एवं सामान्यों से तथा प्रदर्शित पद्धति के अनुसार उक्त आम या अमरूद के अन्दर अवयव स्वरूप से विद्यमान असंख्य मध्यावयवियों तथा असंख्य परमाणुओं, उन सब के असंख्य यथासम्भव रूप-रस आदि

गुणों, उत्क्षेपण आदि क्रियाओं, असंख्य सामान्यों एवं असंख्य पारमाणविक विशेषों से समुदित अर्थात् मिलित होकर ही रहता है। इसी प्रकार प्रत्येक गुण, प्रत्येक कम्पन, प्रत्येक सामान्य एवं प्रत्येक विशेष अपने और सहयोगियों से समुदित होकर ही रहता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि हम लोगों के समक्ष जो भी कोई वस्तु आती है, जो भी कुछ भाव वस्तु बुद्धिपथ में आरूढ़ होती है, "समुदित" रूप में ही आती है, समुदित रूप में ही आरूढ़ होती है। "समुदित" शब्द और समवेत शब्द परस्पर पर्यायवाचक हैं, अतः "समुदाय" शब्द और "समवाय" शब्द भी पर्यायवाचक हैं यह निर्विवाद कहा जायगा। अतः प्राणियों के प्रारब्ध पुण्य या पाप से--उनके उपभोग के लिए इकट्ठे हुए पदार्थों का, जिन्हें समुदित या समवेत कहा जा सकता है, समुदाय ही समवाय है।

समवाय की सम्बन्धता

प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने इस समवाय को सम्बन्ध कहा है। उनका कहना है कि जहाँ कहीं भी किन्ही दो वस्तुओं के अन्दर यदि एक को अपर से विशेषित कर समझा या समझाया जाता है वहाँ तीन वस्तुएँ नियमतः ज्ञान के विषयरूप में समक्ष आती हैं। किसी आम को "यह पीला है" इस प्रकार यदि समझा जाता है तो उस ज्ञान के विषय तीन होते हैं; (१) आम, (२) उसका पीला रूप तथा (३) उन दोनों का सम्बन्ध। उक्त तीनों वस्तुओं में आम फल है एक पार्थिव द्रव्य, पीला रूप है गुण और उन दोनों को सम्बद्ध करने वाला अर्थात् पीले रूप-स्वरूप विशेषण को विशेष्य-आम के साथ आबद्ध करने वाला होता है "समवाय"। जो किसी को किसी से सम्बद्ध करे अर्थात् जुटाये वह कहलाता है सम्बन्ध। यदि कोई व्यक्ति किसी दण्डधारी व्यक्ति को "यह दण्डी है" अर्थात् डन्डावाला है ऐसा समझता है, तो दण्ड और उस व्यक्ति के बीच होनेवाला संयोग सम्बन्ध कहा जाता है। क्योंकि विशेषण दण्ड और विशेष्य वह व्यक्ति इन दोनों के बीच रहता हुआ वह संयोग उन दोनों को जोड़ता है। तद्वत् उक्त "आम पीला है" इस ज्ञानस्थल में भी आम और उसका पीलापन इन दोनों के बीच विषय होने वाला एक सम्बन्ध अवश्य होगा। यहाँ समवाय को सम्बन्ध मानना चाहिए।

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह बात तो सही है कि विशेषण और विशेष्य के बीच एक सम्बन्ध का होना आवश्यक है। अतः प्रदर्शित "यह आम पीला है" इत्यादि ज्ञानस्थल में पीले रूप और आम इन दोनों के बीच कोई एक सम्बन्ध मानना आवश्यक है। परन्तु वह सम्बन्ध समवाय ही होना चाहिए यह नियम कैसे किया जा सकता है? इसका उत्तर प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने यह दिया है कि समवाय

को छोड़कर अन्य कोई सम्बन्ध वहाँ हो नहीं सकता। अतः उक्त स्थल में पीले रूप और आम के बीच होने वाले सम्बन्ध को समवाय मानना होगा, अन्य सम्बन्ध नहीं। इसे इस प्रकार समझना चाहिए कि सर्वाधिक प्रसिद्ध सम्बन्ध है संयोग। वह आम और रूप का इसलिए नहीं हो सकता कि संयोग जो कि एक प्रकार का गुण है वह विभक्त दो द्रव्यों का ही पारस्परिक हो पाता है। पीला रूप है गुण, उसका आम के साथ जो कि एक द्रव्य है संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता। कालिक सम्बन्ध इसलिए नहीं कहा जा सकता कि वह काल में ही किसी के रहने के लिए सम्बन्ध बनता है। आम तो पृथिवी द्रव्य है, काल नहीं कि वह पीला रूप उस आम में कालिक सम्बन्ध से रहेगा। यदि यह कहा जाय कि जन्य वस्तु मात्र अपरिच्छिन्न काल द्रव्य को परिच्छिन्न बनाती है, अतः काल के परिच्छेदक जन्य वस्तु मात्र को गौण काल मानकर उस आम में पीले रूप को कालिक सम्बन्ध से भी रखा जा सकता है। तब दोष यह होगा कि इस प्रकार कालिक सम्बन्ध से वह पीलापन केवल उसी आम में न रहकर अन्य लाल-काले आमों में भी रह जायगा, जिसका फल यह होगा कि लाल आम भी पीला कहलायेगा एवं ज्ञात होगा, जो कि कभी नहीं हो सकता। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि पीला रूप आम में कालिक सम्बन्ध से रहता है। इसी प्रकार दैशिक सम्बन्ध भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उस सम्बन्ध से कोई भी वस्तु किसी दिशा में ही रह सकती है। आम किसी दिशा में रहनेवाली वस्तु है; दिशा नहीं कि उसमें वह रूप दैशिक सम्बन्ध से रहे। यहाँ भी दिक्-परिच्छेदक जन्यों को गौण दिक् मानकर यदि उनमें दैशिक सम्बन्ध से आम में पीलापन रखने का आग्रह कोई करे तो कालिक मानने पर होने वाला उक्त दोष यहाँ भी होगा। लाल-हरा आम भी पीला हो पड़ेगा। पीला रूप और आम इन दोनों का स्वरूप सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि स्वरूप सम्बन्ध के दो प्रभेद होते हैं——भावीय स्वरूप और अभावीय स्वरूप। कालिक और दैशिक सम्बन्ध हैं भावीय स्वरूप। वे रूप के संबन्धी नहीं हो सकते यह बात बतलायी जा चुकी है। अभावीय स्वरूप——इसलिए प्रकृत में सम्बन्ध नहीं हो सकता कि वह कहीं भी अभाव को ही रख सकता है। प्रकृत पीला रूप अभाव नहीं किन्तु एक प्रकार का गुण है, यह बात पूर्व प्रकरण में कही जा चुकी है। इसके अतिरिक्त तादात्म्य भी एक प्रकार का स्वरूप सम्बन्ध है, वह उक्त स्थल में इसलिए नहीं हो सकता कि वह भिन्न दो वस्तुओं का सम्बन्ध नहीं होता। उस सम्बन्ध से वह पीला रूप अपने में ही सम्बद्ध हो सकता है आम में नहीं। दूसरी बात यह है कि तादात्म्य सम्बन्ध से आधार-आधेय भाव का भान नहीं होता। किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में "वह वस्तु अपने में रहती है" इस प्रकार ज्ञान या वाक्यप्रयोग नहीं होता। किन्तु "पीलापन आम में है" इस प्रकार

आधार-आधेय भाव समझा जाता है। अतः तादात्म्य सम्बन्ध को आम में रूप का सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। सुतरां आम में रूप का सम्बन्ध उक्त सम्बन्धों से अन्य समवाय है यह मानना ही होगा। इसी प्रकार सभी द्रव्यों में अपने-अपने सभी गुणों का, मूर्त द्रव्यों में क्रियाओं का, द्रव्य, गुण और क्रियाएँ इनमें अपने-अपने सामान्यों का एवं नित्य द्रव्यों में विशेषों का सम्बन्ध "समवाय" है यह मानना चाहिए।

इतना विचार करने पर भी यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह तो ठीक है कि कोई अलग अर्थात् अन्य सम्बन्धों से विलक्षण सम्बन्ध अवश्य मानना होगा, परन्तु उसे समवाय नाम से पुकारने में कारण क्या है? इसका सरल उत्तर तो लोग प्रायः यही देंगे कि किसी वस्तु के किसी नाम पर प्रश्न नहीं किया जा सकता। क्योंकि ऐसा करना अनुभवविरुद्ध है। कोई भी सद्योजात बालक का जो कि जन्म भर मूर्ख ही रह जाता है, वाचस्पति नाम रख छोड़ता है। क्या कोई उससे यह पूछता है कि तुम इसे वाचस्पति क्यों कहते हो?

किन्तु यह उत्तर रुचिकर नहीं हो सकता, सम्भवतः गम्भीर विवेचकों के लिए। अतः अन्य उत्तर का अन्वेषण आवश्यक ही माना जायगा। गम्भीर भाव से दृष्टि डालने पर उत्तर सहज ही है। पाठक यह बात भूले नहीं होंगे कि समुदाय का ही अपर नाम है समवाय। समुदित और समवेत ये दोनों भी समानार्थक शब्द हैं। अतः समुदाय क्या है इसका यदि विवेचन कर लिया जाय तो अनायास यह पता चल जायगा कि समवाय क्या है और वह सम्बन्ध हो सकता है या नहीं। गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह मानना ही होगा कि समुदाय सम्बन्ध है। समुदाय को प्रत्येक समुदायी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रत्येक समुदायी और समुदाय के कार्य में महान् अन्तर पाया जाता है। प्रत्येक तन्तु कपड़े का काम नहीं दे पाता। अलग-अलग एक-एक तन्तु जाड़े से नहीं बचा पाता। मिलित समुदायियों को भी समुदाय नहीं कहा जा सकता। क्योंकि केवल इकट्ठे किये गये फलतः विशृंखल रूप से संयुक्त मात्र तन्तुओं से भी कपड़े का काम नहीं होता। अतः अगत्या यह कहना पड़ता है कि जाड़े से बचाने वाले पट द्रव्य का उसके उपादानभूत तन्तुओं के साथ होने वाला सम्बन्ध ही तन्तु-समुदाय है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। अतः यदि समुदाय और समवाय दोनों शब्द पर्यायवाचक हैं तो समुदाय और समवाय के एक होने के कारण समवाय भी सम्बन्ध ही है यह मानना ही होगा।

अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि जहाँ किसी सभा-समिति के अन्दर उपस्थित बहुत लोगों को सम्बोधित करते हुए समवेत शब्द का प्रयोग किया जाता है वहाँ भी समवेत का अर्थ "समवायप्राप्त" होगा, परन्तु वहाँ पट की तरह तो कोई

अवयवी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक शरीर पूर्ण अर्थात् अन्त्यावयवी माना जाता है। अतः सभा में उपस्थित प्रत्येक मानव-शरीर को किसी का अवयव नहीं कहा जा सकता, एवं यह नहीं कहा जा सकता कि तन्तुओं को जोड़ने जैसे उनमें पट की उत्पत्ति होती है तद्वत् वहाँ एकत्र मानव शरीरों को जोड़कर कोई नया महावयवी बनाया जाता है। ऐसी स्थिति में वहाँ समुदाय, समवाय एवं तद्-घटित समुदित, समवेत आदि शब्दों का प्रयोग कैसे होता है ? इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि वहाँ समुदाय, समवाय, समुदित, समवेत आदि शब्दों का प्रयोग गौण, औपचारिक होता है। जैसे किसी पराक्रमी मानव को यह कहा जाता है कि "यह सिंह है", तद्वत् सभास्थित जनता को पट आदि अवयवी के समान प्रयोजन का सम्पादक होने के कारण एक महावयवी मानकर समुदाय, समवाय आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। सम्बोधक का तात्पर्य यह होता है कि जैसे तन्तुओं को आगे-पीछे के क्रम से संयुक्त करके शीत-निवारणरूप प्रयोजन के लिए पट प्राप्त होता है और शीत-निवारण फल उससे मिलता है, वैसे ही आगत प्रत्येक मानव की क्रमबद्ध उपस्थिति से ये सकल विराट पुरुष मुझे प्राप्त हुए हैं। अतः उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति के सहयोग से कार्य की सफलता निश्चित है। अतः यह सर्वथा उचित है कि वहाँ के समुदाय या समवाय शब्द को औपचारिक, सादृश्यप्रयुक्त गौण माना जाय। गौण प्रयोग नियमतः मुख्य प्रयोग-पूर्वक होता है। सिंह को सिंह कहने वाला ही कभी पराक्रम के समता-मूलक सिंह शब्द का प्रयोग किसी व्यक्ति विशेष के लिए करता है। सुतरां यह मानना ही होगा कि सभा-समितियों के अवसर पर सम्बन्ध अर्थ में गौणरूप से प्रयुक्त होने वाले समवाय शब्द का मुख्यतया अर्थ अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, सामान्य और सत्, विशेष और नित्य द्रव्य इनका सम्बन्ध होता है।

समवाय शब्द की ओर ध्यान देने पर भी यही प्राप्त होता है कि वह अवयव-अवयवी आदि का सम्बन्ध ही है और कुछ नहीं। सम रूप से "वयन" बुनना अर्थात् निर्माण हो जिससे उसका नाम है समवाय। अपेक्षित तन्तुओं में समान रूप से कपड़ा बुना जाता है, निर्मित होता है अर्थात् आबद्ध होता है यह बात प्रत्यक्षतः देखी जाती है। आबद्ध और सम्बद्ध पर्याय हैं। सुतरां वह आबन्ध या सम्बन्ध समवाय है। कुछ लोग यहाँ यह प्रश्न उठा सकते हैं कि वयन है बुनना जो एक प्रकार की क्रिया है। वह तन्तुओं में हुआ करती है। कथंचित् क्रियाजनित होने के कारण लक्षणा वृत्ति के सहारे वयन शब्द से तन्तुओं के, फलतः अवयवी के सभी अवयवों के संयोगों को लिया जा सकता है। तन्तु आदि अवयवों का संयोग होना ही कपड़ा आदि किसी अवयवी का बनना होगा। इसीलिए बुनकर को "तन्तुवाय" कहा जाता है। क्योंकि वह

तन्तुओं को बुनता है अर्थात् क्रिया द्वारा एक तन्तु को अपर तन्तु से संयुक्त करता है। ऐसी परिस्थिति में तो समवाय तन्तु-संयोग ही बन जाता है। तन्तुओं के संयोगों को तन्तुओं का पारस्परिक सम्बन्ध मानना होगा जो युक्तितः समवाय का स्थान ले लेगा। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि तन्तु आदि अवयवों से पट आदि अवयवियों का सम्बन्ध समवाय है ? इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि तन्तुवाय शब्द का अर्थ तन्तुओं का वयन करने वाला नहीं है; किन्तु तन्तुओं में वयन करनेवाला अर्थात् तन्तुओं में कपड़े का वयन करने वाला। अतः मानना होगा कि वयन तन्तुओं का नहीं अपितु कपड़े का होता है। इसलिए किसी बुनकर के बारे में कोई यह पूछता है कि वह क्या कर रहा है ? तो कोई जानकार यह उत्तर देता है कि कपड़ा बुन रहा है, यह नहीं उत्तर देता कि तन्तु बुन रहा है। सुतरां यह मानना अनिवार्य होगा कि तन्तु-गत क्रियामूलक संयोग से व्यक्त होने वाला तन्तु और कपड़े का, फलतः तदनुसार अवयव और अवयवी का सम्बन्ध ही समवाय है, अवयवों का संयोग नहीं। थोड़ी देर के लिए यदि तन्तु आदि अवयवों के संयोग को ही "वयन" अर्थात् बुनना मान लिया जाय, फिर भी उन संयोगों को तन्तुओं में आबद्ध करने या रखने के लिए समवाय सम्बन्ध मानना ही होगा। क्योंकि संयोग द्रव्य न होकर गुण होने के कारण अन्य संयोग सम्बन्ध से रह नहीं सकता। संयोग को रखने के लिए अलग संयोग सम्बन्ध मानने पर अनवस्था भी चल पड़ेगी। स्वरूप आदि सम्बन्धों से संयोग को तन्तु आदि अवयवों में नहीं रखा जा सकता, यह बात पहले दिखलायी जा चुकी है। संयोगों को अवयवों में रखने के लिए अपेक्षित समवाय और पट आदि को तन्तु आदि में रखने के लिए अपेक्षित समवाय एक ही होगा, दो समवाय नहीं होंगे; यह बात स्फुट रूप से आगे समझायी जाने वाली है। अतः अवयवों में अवयवी का सम्बन्ध भी समवाय ही होगा। सुतरां समवाय सम्बन्ध है इसमें अब कोई संशय नहीं किया जा सकता।

समवाय की नित्यता

पूर्वोक्त आम-अमरूद के दृष्टान्त से यह स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रत्येक व्यावहारिक वस्तु द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इनकी समष्टि स्वरूप होकर ही रहती है। समष्टि, समुदित, समवेत आदि शब्द पर्यायवाचक हैं इत्यादि। ऐसी वस्तु-स्थिति के आधार पर समवाय सम्बन्ध का नित्य होना अनिवार्य विज्ञानसिद्ध है। सब से अधिक वस्तुओं की विशृंखलता का समय प्रलय में होता है। क्योंकि उस समय प्रत्येक परमाणु विशृंखल हो जाता है। परन्तु उस समय भी समवाय का रहना आवश्यक है। अन्य द्रव्यों की समष्टि उस समय भले ही न हो परन्तु द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेषों की समष्टि उस समय भी रहती है। परमाणु, उनमें रहने वाले संख्या, परि-

माण आदि सामान्य गुण: परमाणुत्व, पृथिवीत्व, द्रव्यत्व, सत्ता सामान्य और प्रत्येक परमाणु के विशेष इनकी समष्टि अर्थात् समुदित स्वरूप अवश्य रहता है। अतः समुदायस्वरूप समवाय तब रहेगा ही। इसी प्रकार आकाश, काल, दिक्, प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक मन में भी अपने-अपने नित्य गुण सामान्य-विशेषों से सम्मिलित रूप में रहते हैं। अतः प्रलय काल में भी इन नित्यों का अस्तित्व समष्टि रूप में अर्थात् समुदित रूप में फलतः समवेत रूप में ही मानना होगा, अतएव, यह भी मानना होगा कि इन्हीं का समुदाय स्वरूप समवाय भी रहेगा। इसलिए समवाय को अनित्य किसी भी प्रकार नहीं कहा जा सकता। प्रलय काल में भी पार्थिव, जलीय, तैजस तथा वायवीय परमाणुओं में स्वकीय नित्य सामान्य-गुण, सामान्य और विशेष जब कि रहेंगे तो उन्हें रखने के लिए समवाय सम्बन्ध का भी उस समय अस्तित्व मानना ही होगा। इसी प्रकार नित्य आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन इनमें स्वकीय नित्य गुणों एवं विशेषों के रहने के लिए समवाय सम्बन्ध की अपेक्षा होगी ही। अतः सर्वथा समवाय का अस्तित्व प्रलयकाल में मानना ही होगा। सुतरां यह निर्विवाद है कि समवाय सम्बन्ध नित्य है। गोत्व, अश्वत्व आदि जन्य-द्रव्य-गत सामान्यों को भी सर्वदा रखने के लिए समवाय सम्बन्ध को नित्य मानना ही होगा। क्योंकि सारे ब्रह्माण्डों का नाश एकदा नहीं क्रमिक होता है। साथ ही यह भी ध्यान रखने की बात है कि भूत, भविष्य और वर्तमान सभी घट-पट आदि में जब एक ही घटत्व-पटत्व आदि सामान्य को रखना होगा तो तत्तत् सामान्य को रखने के लिए अपेक्षित समवाय सम्बन्ध को भी सर्वदा स्थायी, नित्य मानना ही होगा। अतः इसमें बिल्कुल संदेह नहीं कि समवाय सम्बन्ध नित्य है या अनित्य? समवाय नित्य है। जिसका उत्पादन और विनाश न हो वह होता है नित्य, जैसे आत्मा, आकाश आदि। समवाय का भी आत्मा, आकाश आदि के समान खण्ड काल से सीमितीकरण नहीं होता, अतः इसे भी नित्य ही समझना चाहिए। समुदाय सर्वदा बना ही रहता है यह बात दिखलायी जा चुकी है।

समवाय की एकता

समवाय सम्बन्ध को एक समझना चाहिए। इसे अनेक मानना अनुभवविरुद्ध, अवैज्ञानिक होगा। इसे अनेक माना जायगा तो एक आम या अमरूद के अन्दर असंख्य समवाय मानने होंगे। क्योंकि प्रदर्शित पद्धति से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि परमाणु, द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि से लेकर अन्त्यावयवी तक प्रत्येक पदार्थ के समष्टिस्वरूप होने के कारण सब का समुदाय रूप समवाय अलग-अलग हो जायगा। इसी प्रकार प्रत्येक अवयवी के अन्दर असंख्य समवायों की कल्पना होगी जिसे उचित नहीं कहा जा सकता। एक घर के अन्दर विद्यमान हजारों घड़ों के अन्दर सीमित होने के कारण

हजार कहे जाने वाले घटाकाशों को विवेचक दृष्टि से हजार नहीं कहा जा सकता अपितु एक गृहाकाश ही कहा जा सकता है। तद्वत् एक समवाय के अन्तर्वर्ती समवायों को भी एक समवाय मानना होगा। इसी प्रकार यदि कुछ और आगे गम्भीर दृष्टि डाली जाय तो यह समग्र विराट ब्रह्माण्ड भी उक्त पद्धति से महान्त्यावयवी अवश्य सिद्ध होगा। सुतरां वह भी अवयव और अवयवियों की समष्टि स्वरूप ही होगा, समुदित रूप ही होगा। वहाँ भी एक समुदाय और समवाय ही मानना होगा। अन्य सारे समवाय महाकाश के अन्दर गृहाकाश, घटाकाश आदि के समान उसी एक महासमवाय के गर्भ में आ जायेंगे। अतः पूर्वोक्त पद्धति से समग्र समवायों को एक समवाय मानना होगा। इसी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अति पूर्ववर्त्ती प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने समवाय को एक कहा था जिसे परवर्त्ती व्याख्याकारों ने ठीक से नहीं समझा।

अब यहाँ प्रश्न यह खड़ा हो सकता है कि जब सब का समवाय एक होगा तो अवयवी के गुण, कर्म, सामान्य और विशेष का आधायक अर्थात् अपने-अपने आश्रयों में स्थापक सम्बन्ध अलग न होने के कारण वस्तुभेद की व्यवस्था नहीं रह पायेगी। घटत्व का समवाय और पटत्व का समवाय एक हो जाने के कारण उस समवाय से पट में घटत्व और घट में पटत्व भी रह जायगा। सुतरां घट-पट की व्यवस्था नहीं रह पायेगी। तो इसके उत्तर तीन हो सकते हैं। प्रथम यह कि केवल सम्बन्ध को आधार भाव और आधेय भाव का अर्थात् कौन कहाँ रहेगा इसका निर्णायक नहीं माना जा सकता। ऐसा मानने पर जहाँ घड़े भर पानी रखा है वहाँ पानी में घड़ा है ऐसा भी प्रामाणिक ज्ञान और व्यवहार होने लगेगा। क्योंकि "संयोग" सम्बन्ध जैसे घड़े में पानी का है उसी प्रकार वही संयोग पानी में घड़े का भी है। अतः आधार-आधेय भाव का नियामक वस्तुस्वभाव को ही मानना होगा। अतएव समवाय सब का एक होने पर ही व्यवस्था बन सकेगी। स्वभावतः घटत्व का आधार घट ही होगा पट नहीं। पटत्व का आधार पट ही होगा घट नहीं। अतः उक्त अव्यवस्था की आपत्ति नहीं की जा सकती। द्वितीय उत्तर यह है कि महाकाश एक होने पर भी तद्गर्भस्थित महाकाश और वनाकाश में पारस्परिक और कथंचित् भेद रहता ही हैं। वृक्ष एक होने पर भी उनकी पूर्व तथा पश्चिम की ओर फैली हुई शाखाएँ आपस में भिन्न होती ही हैं। इन विभिन्न अवान्तर समवायों को आधायक अर्थात् विभिन्न वस्तुओं की आधेयता और आधारता का निर्णायक मानने पर कोई आपत्ति नहीं रह जाती। आकाश एक होने पर भी किसी घड़े में सुगन्धित द्रव्य रखने पर केवल उसी घटाकाश में सुगन्ध सीमित रह जाती है, अन्यत्र नहीं प्रतीत होती। तद्वत् तत्त्वतः समवाय एक होने पर भी औपाधिक घटत्व-समवाय

घट में ही रहता है पट में नहीं। एवं पटत्व-समवाय पट में ही रहता है घट में नहीं। अत: घट के पट या पट के घट हो जाने की आपत्ति नहीं दी जा सकती।

तीसरा उत्तर यह है कि चन्द्र सूर्य आदि का प्रकाश सर्वत्र समान रूप से पड़ने पर भी सर्वत्र प्रतिबिम्ब-सृष्टि नहीं होती। जल शीशे आदि में ही प्रतिबिम्ब पड़ते हैं। तद्वत् समवाय सर्वत्र एक होने पर भी घटत्व का आधार घट होता है पट नहीं। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

समवाय की व्यापकता

समवाय का जो स्वरूप दिखाया गया है उससे यह भी मानना ही होगा कि वह व्यापक है। यदि समवाय व्यापक न हो तो विभिन्न दिशाओं में विद्यमान घट-पट आदि में घटत्व-पटत्व आदि सामान्य कैसे समवाय सम्बन्ध से रह सकेंगे? व्यापक काल, दिक्, आत्मा और आकाश इनमें संख्या-परिमाण आदि सामान्य गुण व्यापक रूप से कैसे रह सकेंगे? ऐसा कौन सा स्थान बताया जा सकता है जहाँ समवाय से रहनेवाला कोई नहीं है? समवाय तत्त्वत: एक है यह बात अभी बतलायी जा चुकी है। सुतरां उसे व्यापक मानना पड़ेगा। अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि व्यापक की जो परिभाषा है वह यहाँ लागू नहीं हो सकती। क्योंकि व्यापक वह कहलाता है जो कि समग्र मूर्त द्रव्यों से संयुक्त हो। आकाश, आत्मा आदि सभी व्यापक मूर्त द्रव्यों के साथ संयुक्त होते हैं। आत्मा व्यापक है यह बात प्रथम प्रकरण में बतलायी जा चुकी है। यह व्यापकता समवाय में इसलिए सम्भव नहीं कि समवाय आकाश आदि की तरह द्रव्य पदार्थ नहीं, वह एक स्वतंत्र पदार्थ है। संयोग नियमत: दो द्रव्यों में ही हुआ करता है, यह बात अनेक बार कही जा चुकी है। अत: पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन इन मूर्त अर्थात् परिच्छिन्न द्रव्यों का संयोग समवाय में नहीं हो सकता, अत: समवाय को व्यापक कैसे कहा जा सकता है?

इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि वस्तुत: असीमता ही है व्यापकता। फलितार्थ यह कि जिस वस्तु का सीमितीकरण असम्भव हो, किसी प्रकार भी जो सीमित न की जा सके वह असीम वस्तु होती है व्यापक। किसी का भी सीमितीकरण खण्ड काल और देश से होता है। जो काल से सीमित नहीं होता उसमें रहती है कालिक व्यापकता, उसी का नाम है नित्यता। वह नित्यता जिसमें रहती है वह कहलाता है नित्य। समवाय किसी खण्ड काल से सीमित नहीं हो सकता। अत: वह कालिक व्यापक अर्थात् नित्य है यह बात सिद्ध की जा चुकी है। अभी जो व्यापकता समवाय में बतलायी जा रही है वह है उसका किसी देश से सीमित न होना। वह समवाय में है ही। यह नहीं कहा जा सकता कि यहाँ आकाश में महत्-परिमाण और

एकत्व संख्या का समवाय है और वहाँ नहीं। सब जगह आकाश एक ही है और महान् ही है, अतः एकत्व और महत्त्व का समवाय भी उसमें सर्वत्र है। सुतरां देश से सीमित अर्थात् आबद्ध न होने के कारण समवाय को व्यापक मानना ही होगा। सभी मूर्त द्रव्यों का संयोग होना व्यापकत्व है; यह व्यापकता की परिभाषा केवल व्यापक द्रव्यों के लिए समझनी चाहिए। सुतरां उसके आधार पर समवाय की व्यापकता के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं उठाया जा सकता।

समवाय अतिरिक्त पदार्थ है

समवाय द्रव्य नहीं वह एक अतिरिक्त पदार्थ है यह बात इससे अव्यवहित पूर्व विचार में कही गयी है। इस पर यह कहा जा सकता है कि द्रव्य वह भले ही न हो किन्तु उसको सबसे अतिरिक्त पदार्थ क्यों माना जाय? संयोग भी तो सम्बन्ध है, परन्तु वह गुण पदार्थ के अन्दर ही अन्तर्भुक्त माना जाता है, वह अतिरिक्त पदार्थ कहाँ होता है? तद्वत् इस समवाय सम्बन्ध को भी स्वीकृत किसी भी पदार्थ के अन्तर्गत माना जा सकता है, स्वतंत्र अतिरिक्त पदार्थ क्यों माना जाय? इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि यदि समवाय का किसी भी अन्य पदार्थ में अन्तर्भाव करेंगे तो वह अन्तर्भाव भाव पदार्थ में होगा या अभाव पदार्थ में? समवाय का अभाव में अन्तर्भाव इसलिए नहीं किया जा सकता कि वह "न", "नहीं" आदि ज्ञान या शब्द-प्रयोग का विषय नहीं होता। दूसरी बात यह कि समवाय सम्बन्ध आधाराधेय भाव का निर्वाहक होता है। क्योंकि तन्तु पट के समवायिकारण हैं। उनमें कपड़ा समवाय से रहता है यह ज्ञान एवं वाक्यप्रयोग हुआ करता है। अभाव को यदि सम्बन्ध माना भी जाय तो वह आधाराधेय भाव का निर्वाहक नहीं बन सकता। अभाव यदि सम्बन्ध बनेगा तो सर्वप्रथम अपने प्रतियोगी अर्थात् जिसका अभाव कहा जाय उसका सम्बन्ध बनेगा। परन्तु किसी भी सम्बन्ध से आधाराधेय भाव का ज्ञान वहाँ ही हो पाता है जहाँ दोनों सम्बन्धी और सम्बन्ध समसामयिक होते हैं। प्रतियोगी और अभाव ये दोनों समसामयिक होकर एकत्र नहीं रहते कि अभाव सम्बन्ध बनकर अपने प्रतियोगी को किसी आधार में रख सकेगा। अतः समवाय को अभाव के अन्दर नहीं अन्तर्भुक्त किया जा सकता। तीसरी बात यह कि अभाव कभी प्रतियोगी के बिना प्रतीत नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में समवायस्वरूप अभाव का प्रतियोगी किसको माना जायगा? द्रव्य से लेकर विशेष तक के भावों का वह सम्बन्ध ही बनना चाहेगा, अतः वे उसके प्रतियोगी नहीं बन सकेंगे। सुतरां निष्प्रतियोगिक होने के कारण समवाय को अभाव नहीं माना जा सकता। समवाय को द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष-स्वरूप इसलिए नहीं माना जा सकता कि वे इस सम्बन्ध से रहते हैं या रहने के लिए आधार

बनते हैं। ऐसी परिस्थिति में उन्हें समवाय नहीं माना जा सकता। क्योंकि सम्बन्ध और सम्बन्धी इनमें पारस्परिक भेद होना नितान्त आवश्यक है। जिस संयोग सम्बन्ध से घड़ा भूमि पर रहता है वह संयोग न तो घड़ास्वरूप होता है और न भूमिस्वरूप। भूमि और घट हैं द्रव्य और संयोग है गुण, यह बात पहले स्पष्ट बतलायी जा चुकी है।

समवाय को अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं

अनेक दार्शनिक इस समवाय को अपने दार्शनिक सिद्धान्त मार्ग में रोड़ा देखते हैं। उन्हें इसका अस्तित्व प्रत्येक पल खटकता है। बौद्ध दार्शनिक समवाय से इसलिए चिढ़ते हैं कि उनका भावना-चतुष्टय, अर्थात् "सभी क्षणिक हैं, सभी स्वलक्षण असंग विशेष रूप हैं, सभी क्षणिक विज्ञान मात्र हैं, और सभी शून्य हैं अर्थात् सत् नहीं" ये चारों भावनाएँ समवाय के रहते अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। उनका पैर नहीं जमता। अद्वैत-वेदान्ती लोग समवाय को इसलिए पसन्द नहीं करते कि उनके सामने अद्वैत-नित्य-असंग-व्यापक ब्रह्म का प्रतिस्पर्धी भाई जैसा यह उन्हें दीख पड़ता है। सांख्य-योग दर्शन वाले इसे इसलिए नहीं सुनना चाहते कि उन्हें यह अपने सर्वाधिक प्रिय परिणामवाद का गला घोटने वाला प्रतीत होता है। अत: ये सभी इस समवाय के खण्डनार्थ एकमत हो जाते हैं। सभी मिलकर इस पर इस प्रकार आक्षेप करते हैं कि यह आरम्भवादियों द्वारा सम्बन्ध रूप से ही स्वीकृत है। परन्तु यह बात ग़लत इसलिए है कि आश्रय के साथ स्वयं सम्बद्ध होकर ही कोई किसी और को उस आश्रय में रख सकता है। संयोग स्वयं भूमि पर रहकर ही घड़े को वहाँ रखता है। किन्तु समवाय के बारे में ऐसा आरम्भवादी नहीं कह सकते। क्योंकि तब उन्हें समवाय को रखने के लिए भी द्वितीय समवाय सम्बन्ध मानना होगा, जिससे अनवस्था चल पड़ेगी। बीज-अंकुर की अनवस्था के समान उसे क्षम्य भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि असंख्य समवाय हो जाने के कारण "समवाय एक है" यह आरम्भवादियों का सिद्धान्त ग़लत हो जायगा। अत: समवाय को सम्बन्ध रूप से नहीं माना जा सकता। यहाँ समवाय न मानने वालों का आशय यह समझना चाहिए कि जिस समवाय सम्बन्ध से अवयवी अवयवों में, गुण और कर्म यथासम्भव द्रव्यों में, सामान्य द्रव्य, गुण और कर्मों में और विशेष नित्य द्रव्यों में रहेंगे, वह समवाय अवयव आदि आश्रयों में सम्बन्धान्तर के बिना ही रह जायगा, या किसी अन्य सम्बन्ध से? यदि यह कहा जाय कि अवयवी आदि को अवयव में रखनेवाला समवाय अपने लिए सम्बन्धान्तर की अपेक्षा नहीं करता, वह अपने से ही रहता हुआ अवयवी आदि को अवयव आदि में रखता है। तो यह कथन इसलिए ठीक नहीं हो सकता कि समवाय यदि अपने रहने के लिए

सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं करता तो अवयवी आदि ही अवयव आदि में रहने के लिए समवाय की अपेक्षा क्यों करेंगे? घट-पट आदि अवयवी या रूप-रस आदि गुण, सत्ता-द्रव्यत्व आदि सामान्य एवं विशेष भी तो समवाय की तरह पदार्थ ही हैं, वे ही भला अवयव आदि में रहने के लिए समवाय की अपेक्षा क्यों करेंगे? अतः समवाय पदार्थ नहीं माना जा सकता है।

यदि कहा जाय कि अवयवी आदि अवयव आदि में रहने के लिए जिस प्रकार समवाय सम्बन्ध की अपेक्षा करते हैं उसी प्रकार समवाय भी संबन्धान्तर की अपेक्षा करता है, तो प्रश्न यह होगा कि समवाय के रहने के लिए अपेक्षित वह सम्बन्ध समवाय-जातीय होगा अर्थात् अन्य समवाय होगा या समवाय से अन्य-जातीय? यदि यह कहा जाय कि समवाय को रहने के लिए उससे अन्य-जातीय सम्बन्ध की अपेक्षा होगी समवाय की नहीं; तो यह कहना इसलिए कठिन होगा कि अवयव आदि आश्रयों में समवाय का वह सम्बन्ध संयोग, कालिक आदि सर्व-परिचित-स्वीकृत सम्बन्ध स्वरूप न हो सकने के कारण समवाय की तरह स्वीकृत पदार्थों से अतिरिक्त ही पदार्थ होगा। तब पदार्थों की संख्या बढ़ जायगी, प्रथम प्रकरण में किया गया द्रव्य-गुण आदि रूप से विभाजन असंगत हो बैठेगा। अपसिद्धान्त होगा। यदि समवाय के सम्बन्ध को अन्य-जातीय पदार्थ न मानकर समवाय-जातीय मानें तो उस द्वितीय समवाय को रखने के लिए फिर तृतीय समवाय भी मानना होगा। इस प्रकार समवायों की एक परम्परा, एक धारा चल पड़ेगी। अनवस्था हो जायगी। तब असंख्य समवाय सम्बन्ध मानने पर सब समवायों में अनुगत रूप से रहते हुए अनुगत ज्ञान और वाक्य प्रयोग का सम्पादक एक समवायत्व सामान्य मानना होगा। किन्तु ऐसा मानना इसलिए अपसिद्धान्त होगा कि सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म इनमें ही माना जाता है। यदि यह कहा जाय कि अनवस्था दो तरह की होती है; क्षम्य अनवस्था और अक्षम्य अनवस्था। बीज से अंकुर की उत्पत्ति और अंकुर से बीजों की उत्पत्ति प्रत्यक्षतः देखी जाती है। अतः अनवस्था वहाँ भी होती है, परन्तु उसे कोई दोष नहीं मानता है। तद्वत् समवाय की परम्परा मानने पर होनेवाली अनवस्था भी क्षम्य हो सकती है। तो यह कथन इसलिए उचित नहीं होगा कि दृष्टान्त में समानता नहीं है, बीजांकुर स्थल में अनवस्था दोष इसलिए नहीं होता कि वह प्रत्यक्ष-प्रमाणसिद्ध होने के कारण सर्वमान्य है। वह दोष कौन किसे दे सकेगा? परन्तु समवाय स्थल में होनेवाली अनवस्था सर्वमान्य नहीं हो सकती। अतः यहाँ अनवस्था का दोष मानना ही होगा। अतः समवाय पदार्थ नहीं माना जा सकता।

इस प्रश्न के उत्तर अनेक प्रकार के हैं। एक उत्तर यह है कि विभिन्न वस्तुओं के

विभिन्न स्वभावों का अपलाप अर्थात् अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अवयवी गुण, कर्म आदि अपने आश्रयों में रहने के लिए समवाय की अपेक्षा करेंगे; इसलिए समवाय भी रहने के लिए समवायान्तर की अपेक्षा करेगा ही यह नहीं कहा जा सकता। वस्तुओं के स्वभावों का भेद सब दार्शनिकों को मानना ही होगा। जो लोग आरम्भवादी नहीं हैं वे लोग आँख से क्यों नहीं गन्ध सूँघते और नाक से क्यों नहीं देखते; इसका उत्तर वस्तुस्वभाव के अतिरिक्त और वे क्या दे सकते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह भली भाँति कहा जा सकता है कि अवयवी, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष ये अपने आश्रयों में रहने के लिए तो समवाय सम्बन्ध की अपेक्षा करते हैं किन्तु उनका समवाय सम्बन्ध उन्हें आश्रयों में रखने के लिए अपने लिए किसी सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं करता।

अथवा यह उत्तर देना चाहिए कि समवाय सम्बन्ध भी रहने के लिए सम्बन्ध की अपेक्षा करता है, परन्तु वह उसका सम्बन्ध न समवायान्तर होता है और न कोई अतिरिक्त पदार्थ, किन्तु स्वरूप सम्बन्ध होता है। अर्थात् समवाय स्वयं सम्बन्ध और सम्बन्धी दोनों बन जाता है। अतः परम्परा की स्वीकृति न होने के कारण अनवस्था की सम्भावना नहीं रहती। इन दोनों को दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार हृदयंगम करना चाहिए कि एक कागज को यदि अन्य कागज से जोड़ना हो तो बीच में गोंद-लेई आदि कोई लसीली वस्तु रखनी पड़ेगी। वह लसीली वस्तु उन दोनों कागजों या अन्य तादृश वस्तुओं को बीच में रहकर जोड़ देगी। परन्तु बीच में रखी गयी उस लसीली वस्तु या लेई को दोनों कागजों से जोड़ने के लिए, चिपकाने के लिए और कोई वस्तु गोंद या लेइ तथा कागज के बीच में रखने की जरूरत नहीं होती। यह प्रत्यक्ष रूप से देखा जाता है। वहाँ यदि कोई यह कहे कि "गोंद और कागज को जोड़ने के लिए जैसे बीच में तीसरी किसी वस्तु की जरूरत नहीं होती तद्वत् दो कागज़ों को जोड़ने के लिए बीच में गोंद लेई आदि लसीली वस्तु की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए। अथवा दो कागज़ों के बीच में गोंद की जिस प्रकार आवश्यकता है, तद्वत् गोंद और कागज़ के बीच भी किसी तीसरी वस्तु की अपेक्षा होनी चाहिए", तो यह कहना क्या उसकी बुद्धिमत्ता होगी? कभी नहीं। इसी प्रकार समवाय के स्थल में भी समझना चाहिए। अवयव-अवयवी आदि को जोड़ने के लिए समवाय की अपेक्षा होने पर भी समवाय को उनसे जोड़ने के लिए अन्य किसी की अपेक्षा नहीं होती है। सुतरां समवाय मानने वाले को भी अनवस्था नहीं होगी।

वस्तुतः समवाय का जो स्वरूप चित्रित किया गया है उस पर यह प्रश्न ही स्थान नहीं पाता। क्योंकि यह बात स्पष्ट बतलायी जा चुकी है कि घटाकाश आदि के समान अवान्तर समवाय अनेक होने पर भी महासमष्टिभूत समुदित अतएव समवेत विश्व

का निर्वाहक समवाय एक ही होता है। घटाकाश-महाकाश दृष्टान्त के समान––जितने भी अवान्तर समवाय होंगे वे उस एक महासमवाय के पेट में आकर तद्रूप हो जायँगे। अतः समवाय एक ही होने के कारण समवायत्व जाति आदि की आपत्ति नहीं की जा सकती। यहाँ एक बात यह भी ध्यान में रखने की है कि ज्ञान का दर्पण है वाक्यप्रयोगात्मक व्यवहार। उसी से ज्ञान के स्वरूप का परिचय मिलता है। समवाय के समवाय आदि को विशेषण बनाकर कोई कभी किसी वाक्य का प्रयोग नहीं करता। अतः ज्ञान भी वैसा कभी किसी को होता है यह निर्णय नहीं किया जा सकता। सुतरां सर्वथा अप्रतीत अर्थात् अज्ञात होने के कारण समवाय के समवाय और उसके समवाय की आपत्ति नहीं की जा सकती।

समवाय की अन्य संबन्धों से विलक्षणता

यद्यपि किये गये समवाय के स्वरूप वर्णन से यह बात व्यक्त ही हो चुकी है कि समवाय अन्य सम्बन्धों से अलग एक स्वतंत्र सम्बन्ध है। फिर भी इस बात को विशेष रूप से समझ लेना अच्छा होगा। इस अवसर पर यह समझ लेना भी अच्छा है कि सम्बन्ध क्या वस्तु है और इसका साधारण वर्गीकरण, विभाजन किस प्रकार किया जा सकता है। संसार में सम्बन्ध को वही स्थान प्राप्त है जो स्थान एक फूल को दूसरे फूल से सम्पृक्त करने के लिए धागे का होता है। धागा जैसे एक फूल से दूसरे फूल को आबद्ध करता है, विवेचकों की दृष्टि में संयोग-समवाय आदि सम्बन्ध भी उसी प्रकार योग्य विशेषण वस्तु को योग्य विशेष्य वस्तु से सम्पृक्त-सम्बद्ध करते हैं। फलतः किसी वस्तु से किसी वस्तु के सम्पर्क स्थापन में साधन बनने वाली वस्तु का ही नाम होता है सम्बन्ध। प्रत्येक सम्बन्ध में यह बात अनायास देखी जा सकती है। यहाँ यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि सम्बन्ध दो वस्तुओं को परस्पर में आबद्ध करते हुए स्वयं भी वस्तु रूप ही रहता है। क्योंकि आरम्भ में किये गये द्रव्य-गुण आदि विभाजन के बाहर कोई जा नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि जो स्वयं वस्तु नहीं होगा वह भला अन्य दो वस्तुओं को क्या जोड़ेगा? दो ईंटों को जोड़ने वाले भी वस्तु ही होते हैं। दो फूलों को आबद्ध करने वाले धागे भी अवस्तु नहीं, वस्तु ही होते हैं।

सम्बन्धों का वर्गीकरण अर्थात् विभाजन प्रथमतः दो भागों में समझना चाहिए, यथा भेद सम्बन्ध और अभेद सम्बन्ध। अभेद सम्बन्ध का नामान्तर है तादात्म्य। यह तादात्म्य ही वस्तुता का नियामक है। जिसका तादात्म्य होता है वही तात्विक पदार्थ होता है। यही कारण है कि आकाशकुसुम, कूर्मरोम आदि तात्विक पदार्थ नहीं हो पाते। किन्तु तादात्म्य सम्बन्ध आधाराधेय भाव का नियामक नहीं होता। अर्थात् अपने को ही विशेष्य और विशेषण बनाकर कोई मनुष्य विशिष्ट बुद्धि नहीं करता।

जैसे "समवाय सम्बन्ध से रूपवाला घट है" यह ज्ञान या व्यवहार होता है, तद्वत् "घट तादात्म्य सम्बन्ध से घटवाला है" ऐसा न कोई समझता है और न कोई बोलता ही है। भेद सम्बन्ध को तीन भागों में विभक्त समझना चाहिए, यथा——समवाय, संयोग और स्वरूप। समवाय का अस्तित्व यहाँ दिखाया गया है। संयोग का विस्तृत परिचय पहले ही दिया जा चुका है। वह रूप आदि तेईस गुणों के अन्दर एक गुण है। स्वरूप सम्बन्ध को दो भागों में विभक्त समझना चाहिए, यथा——सखण्ड स्वरूप और अखण्ड स्वरूप। सखण्ड स्वरूप असंख्य हैं, यथा कार्यकारण भाव, विशेषण-विशेष्य भाव, प्रतियोग्यनुयोगिभाव, विषय-विषयिभाव इत्यादि। सखण्ड स्वरूप ये इसलिए होते हैं कि इनका गठन अनेक पदार्थों को जोड़कर होता है। एक कारण इन्हें सखण्ड कहने का यह भी है कि इनके अन्दर दो सम्बन्ध टुकड़े के रूप में जुटे होते हैं। यथा——कार्यकारण भाव को लिया जाय। इसके अन्दर पड़ा हुआ भाव शब्द कार्य और कारण दोनों से अलग-अलग जुटता है, जिससे उसका फलितार्थ होता है कार्य भाव और कारण भाव। भाव शब्द का अर्थ वही होता है जो कि 'त्व' प्रत्यय या 'तल्' प्रत्यय का अर्थ होता है। अतः कार्य भाव का अर्थ होता है कार्यता और कारण भाव का अर्थ होता है कारणता। कारण को यदि कार्य में रखना हो तो वह कार्यता सम्बन्ध से रहेगा और कार्य को यदि कारण में रखना हो तो वह कारणता सम्बन्ध से रहेगा। इसी प्रकार अन्य सखण्ड स्थलों में भी समझना चाहिए। सखण्ड सम्बन्ध को असंख्य इसलिए मानना पड़ता है कि ज्ञान एवं व्यवहार के आधार पर "पितृ-पुत्र भाव", "मातृ-पुत्र भाव", "श्वशुर-जामातृ भाव" आदि असंख्य मनमाने सम्बन्ध गठित होते हैं। इस प्रकार के सम्बन्धों के मूल में रहस्य यह छिपा हुआ है कि पिता मात्र को देखकर उसके पुत्र का स्मरण हो आता है। इसी प्रकार पुत्र मात्र को देखकर पिता का स्मरण हो आता है। यह नियत है कि एक सम्बन्धी के ज्ञान से अपर सम्बन्धी का स्मरण संस्कार के उद्बोध द्वारा हुआ करता है, यह बात आरम्भ में बतलायी जा चुकी है। अतः पिता और पुत्र के अन्दर एक कोई सम्बन्ध मानना आवश्यक है। इसीलिए "पितृ-पुत्र भाव" सम्बन्ध मान्य होता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

अखण्ड स्वरूप के तीन भेद हैं——कालिक स्वरूप, दैशिक स्वरूप और अभावीय स्वरूप। कालिक स्वरूप सम्बन्ध से प्रत्येक पदार्थ काल में रहा करता है। दैशिक स्वरूप सम्बन्ध से दिशाओं में प्रत्येक पदार्थ रहता है और अभावीय स्वरूप से अभाव मात्र कहीं भी रहते हैं।

इस प्रकार साम्बन्धिक रहस्य को समझ लेने के बाद यह अनायास स्पष्ट

हो उठता है कि समवाय अन्य सम्बन्धों से सर्वथा विलक्षण सम्बन्ध है। वह सबसे अपना अलग स्थान रखता है। समवाय को अभेद सम्बन्ध इसलिए नहीं कहा जा सकता कि आरम्भ-सिद्धान्त में अवयव और अवयवी, गुण और गुणी आदि एकात्मक नहीं माने जाते कि दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध हो सके। समवाय को संयोग सम्बन्ध इसलिए नहीं कहा जा सकता कि गुण और द्रव्य का संयोग नहीं होता। स्वरूप इसलिए नहीं कह सकते कि प्रत्येक स्वरूप सम्बन्ध द्रव्य आदि स्वीकृत पदार्थ-स्वरूप ही हो जाता है, किंतु समवाय ऐसा नहीं है, वह अतिरिक्त पदार्थ है, यह बात विस्तृत रूप से समझायी जा चुकी है। अन्य सम्बन्धों से समवाय सम्वन्ध की एक यह भी विलक्षणता स्पष्ट है कि यह अयुतसिद्ध दो का ही सम्बन्ध बनता है। अन्य सम्बन्धों में यह बात नहीं है। जिन दो के अन्दर एक नियमतः अवशिष्ट अपर को ही आश्रय बनाये वे दोनों अयुतसिद्ध कहलाते हैं और ऐसे न होने वाले युतसिद्ध कहलाते हैं। अन्य सभी सम्बन्ध नियमतः युतसिद्धों के ही सम्बन्ध बनते हैं, किन्तु समवाय सम्बन्ध कभी युतसिद्धों का सम्बन्ध नहीं बनता। अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, कर्म और मूर्त द्रव्य, सामान्य और द्रव्य-गुण-कर्म-स्वरूप सत्, विशेष और नित्य द्रव्य ये ही उक्त अयुतसिद्ध की परिभाषा के अनुसार अयुतसिद्ध होते हैं। क्योंकि अवयवी अपने विनाश क्षण को छोड़कर अन्य किसी भी समय में जब तक रहता है तब तक अवयवों में ही रहता है, इसी प्रकार गुण द्रव्यों में ही रहते हैं, कर्म भी मूर्त द्रव्यों में ही रहते हैं। सामान्य भी द्रव्य-गुण और कर्म में ही रहते हैं और विशेष भी नित्य द्रव्यों में ही। इन अयुतसिद्धों का सम्बन्ध समवाय होता है यह बात बतलायी जा चुकी है। अतः इस समवाय सम्बन्ध को अन्य सभी सम्बन्धों से विलक्षण सम्बन्ध मानना ही होगा।

कुछ लोग यहाँ यह प्रश्न उठा सकते हैं कि केवल एक विशेषण-विशेष्य भाव को सम्बन्ध मानकर सारी प्रतीति और व्यवहार का सम्पादन हो सकता है। अतः यहाँ प्रदर्शित सम्बन्धों के विभाजन को मान्यता नहीं दी जा सकती। परन्तु यह उनका कथन इसलिए मान्य नहीं हो सकता कि विशेषण-विशेष्य भाव होता है ज्ञान पर आधारित। उसे वस्तुसत्ता से कोई मतलब नहीं। अतएव यदि कोई "घर घटवाला है" ऐसा ज्ञान करे तो घट विशेषण और घर विशेष्य होता है, किन्तु वहीं यदि "घर में घट है" ऐसा ज्ञान किया जाय तो परिस्थिति विपरीत हो जाती है। घट जो कि पहले विशेषण का विशेष्य हो जाता है और घर जो कि पहले विशेष्य था विशेषण हो जाता है। सुतरां यह मानना ही होगा कि विशेषण-विशेष्य भाव वस्तुस्थिति का नियामक सम्बन्ध नहीं है। यह बात इससे और भी पुष्ट होती है कि विशेषण-विशेष्य भाव तो

भ्रम-ज्ञान के आधार पर भी होता है किन्तु वस्तुस्थिति वैसी नहीं होती। "जल अग्नि वाला है" इस भ्रम-ज्ञान स्थल में भी तो जल विशेष्य और अग्नि विशेषण बनती है किन्तु वस्तुस्थिति तो वैसी नहीं होती। अतः संयोग, समवाय आदि वस्तुस्थिति के नियामक सम्बन्धों को विशेषण-विशेष्य भाव से नहीं हटाया जा सकता।

वस्तुतः गम्भीर भाव से विचार करने पर मालूम यह होता है कि तत्वतः स्वरूप कोई सम्बन्ध नहीं होता। अभाव भी समवाय की तरह स्वभावतः आश्रय से सम्पृक्त रहता है। काल और दिशाएँ स्वभावतः अन्य वस्तुओं से सम्पृक्त रहती हैं। अतः स्वरूप सम्बन्ध नहीं सम्बन्धाभास है। विशेषण-विशेष्य भाव भी तात्त्विक सम्बन्ध नहीं, संबन्धाभास है। अतः तात्विक संयोग, समवाय आदि सम्बन्धों को उसके सहारे नहीं हटाया जा सकता। विशिष्ट बुद्धियाँ सम्बन्धाभास से भी होती हैं। अतः ज्ञान जैसे होते आये हैं वैसे ही होते रहेंगे। कोई अनुपपत्ति नहीं हो सकती। ऐसी परिस्थिति में उक्त प्रश्न का स्थान ही नहीं रह जाता।

समवाय की वाच्यता

समवाय की यह भी एक विशेषता है कि इसमें दो तरह की वाच्यता रहती है। एक तो वह असाधारण वाच्यता होती है जो कि अन्य वाच्य-वाचक स्थल के समान यहाँ भी असाधारणतया रहती है। यथा "समवाय" पद की वाच्यता। यह वाच्यता उसी तरह इसमें भी रहती है जैसे घड़े-कपड़े आदि में घट-पट आदि अपने असाधारण वाचक पदों को वाच्यता रहती है। जैसे घट-पट आदि शब्द धड़े-कपड़े आदि का बोध कराते हैं, तद्वत् समवाय शब्द भी समवायस्वरूप अपने वाच्य अर्थ को—अर्थात् अभिधा वृत्ति के सहारे स्वबोध्य समवाय-स्वरूप वस्तु को समझाता है। अतः समवाय पद में रहनेवाली वाचकता से सम्पृक्त वाच्यता समवाय में रहती है। दूसरी वाच्यता समवाय में वह रहती है जो कि घट-पट आदि सभी पदों में रहनेवाली वाचकता से सम्पृक्त होती है। कहने का तात्पर्य यह कि समवाय शब्द कहने पर जैसे समवाय का ज्ञान होता है उस प्रकार घट-पट आदि शब्द कहने पर भी समवाय का साधारण रूप में बोध होता है। अतः समवाय जैसे समवाय शब्द का वाच्य होता है, उसी प्रकार घट-पट आदि शब्दों का भी साधारण रूप से वह वाच्य होता है यह मानना ही होगा। क्योंकि घट आदि शब्द सुनने पर घट व्यक्ति, घटत्व सामान्य और उन दोनों का समवाय—तीनों का बोध होता है।

कुछ लोग यहाँ यह कह सकते हैं कि समवाय में रहनेवाली वाच्यता एक ही मानी जाय। वही वाच्यता कभी समवाय पद में रहने वाली वाचकता से सम्पृक्त भासती है और कभी घट-पट आदि में रहने वाली वाचकता से सम्पृक्त भासती है। ऐसा ही क्यों

न कहा जाय ? परन्तु यह कहना इसलिए मान्य नहीं हो सकता कि उक्त दोनों वाच्यताओं में स्पष्ट अन्तर यह देखा जाता है कि समवाय पद से जब समवाय समझा जाता है तो सम्बन्ध रूप से नहीं; घट-पट आदि शब्दों से घट-पट आदि वस्तु की तरह व्यक्ति रूप या धर्मी रूप में बोध का विषय होता है। किन्तु जब वह समवाय घट-पट आदि शब्दों से समझा जाता है तब वह घट-व्यक्ति और घटत्व सामान्य इन दोनों के सम्बन्ध रूप से समझा जाता है, व्यक्ति रूप से नहीं। उदाहरण के द्वारा इसे यों ससझना चाहिए कि कोई व्यक्ति यदि यह वाक्य बोले कि "यह घड़ा रूप का समवाय वाला है", तो यहाँ समवाय घड़े के विशेषण रूप से समझा जायगा सम्बन्ध रूप से नहीं। यदि यह कहा जाय कि "यह घड़ा है", तो यहाँ घटत्व सामान्य और निकटवर्ती घड़ा इन दोनों के सम्बन्ध रूप से समवाय समझा जाता है, घड़े के विशेषण रूप से नहीं। इस महान् अन्तर को सामने रखने पर यह कहना ही होगा कि समवाय में रहनेवाली वाच्यता दो प्रकार की है। कुब्ज शक्तिवादियों के मत में घट-पट आदि शब्दों से जब समवाय का ज्ञान होता है तो वहाँ की वाच्यता स्वरूपतः बोध के प्रति कारण होती है, ज्ञात होकर नहीं। अर्थात् शाब्दबोध के लिए अति अपेक्षित विश्रृंखल वस्तु-स्मृतियों के अन्दर समवाय की स्मृति वाच्यता के ज्ञान की अपेक्षा नहीं करती। अज्ञात वाच्यता से ही वहाँ समवाय की उपस्थिति होकर शाब्दबोध हो जाता है। इस कुब्ज शक्तिवाद की चर्चा गुण-प्रकरण में की जा चुकी है, वहाँ इसे समझ लेना चाहिए।

समवाय का प्रत्यक्ष

समवाय पदार्थ के होने में प्रमाण क्या है? इस प्रश्न पर विवेचकों में मतभेद है। कुछ लोग अनुमान प्रमाण मात्र से इसकी सिद्धि मानते हैं। उनका कहना है कि विशिष्ट ज्ञान अर्थात् विशेषण युक्त विशेष्य के प्रत्येक ज्ञान के विषय नियमतः तीन हुआ करते हैं—विशेषण, विषेष्य और इन दोनों का सम्बन्ध। सुतरां जहाँ अवयवी द्रव्य या गुण आदि को विशेषण बनाकर उनसे युक्त रूप में जब अवयव या अन्य द्रव्य आदि को विशिष्ट रूप से समझा जाय तब इस ज्ञान के भी विषय तीन अवश्य होंगे। इन तीन के अन्दर सम्बन्ध रूप से विषय समवाय होगा। वह सम्बन्ध समवाय ही क्यों होगा और क्यों नहीं होगा इसका पूर्ण विवेचन किया जा चुका है।

परन्तु अन्य कुछ लोगों का कहना है कि अनुमान से ही केवल इस समवाय की सिद्धि नहीं होती। प्रत्यक्ष प्रमाण से भी समवाय सिद्ध होता है। घट आदि किसी भी वस्तु का सविकल्पक प्रत्यक्ष होने पर समवाय सम्बन्ध से घटत्व आदि विशेषण से युक्त घट आदि का ही प्रत्यक्ष होता है। तीनों जब प्रत्यक्ष होते हैं तो समवाय का

भी प्रत्यक्ष होता ही है। अतः समवाय प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध है। जब घटत्व आदि के प्रत्यक्ष के लिए चक्षुस्संयुक्त समवाय को ही सन्निकर्ष बनाना पड़ता है तब समवाय के साथ आँख का सन्निकर्ष नहीं है यह कैसे कहा जा सकता है ? अतः समवाय का प्रत्यक्ष होता है। उसके अस्तित्व में प्रत्यक्ष प्रमाण है। वस्तुतः समवाय की जो व्याख्या की गयी है उस पर ध्यान देने पर यह सन्देह बिल्कुल नहीं उठ पाता कि समवाय प्रत्यक्ष प्रमाण से अवगत होता है या नहीं। अन्य लोगों की आँखें समवाय को न देख पायें परन्तु विवेचकों की आँखें तो समवाय को अवश्य देखती हैं।

समवाय की अद्भुत उपादेयता

संसार का कुछ नियम ऐसा ही दीख पड़ता है कि अच्छी वस्तुएँ प्रायः भाग्य-हीन जनता से उपेक्षित हो जाती हैं। समवाय भी इसका एक स्फुट उदाहरण प्रतीत होता है। वर्तमान सयय से कुछ पूर्व लोगों की धारणा हो गयी थी कि मानवों को निर्वाण-मुक्ति मात्र दिलाने वाले ज्ञान एवं ज्ञापक शास्त्र दर्शन कहलाने के अधिकारी हैं। परन्तु आज के अनेक भारतीय तथा अभारतीय विवेचक अब इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि दर्शन की आवश्यकता ऐहिक जीवन के लिए भी है। वे यह कहने लगे हैं कि विवेचक लोग ऐसा दर्शन खोज निकालें जिससे विश्व की वर्तमान समस्याएँ हल हो सकें। खेद की बात है कि विवेचकों की दृष्टि इस वैज्ञानिक समवाय की ओर नहीं जाती। इस सुशृंखल पदार्थ समवाय की कार्यकारिता की ओर देखते हुए यदि सामाजिक संगठन भी हो तो राष्ट्रों की उन्नति कैसी होगी यह गम्भीरता-पूर्वक मनन करने की बात है। जिस अस्त-व्यस्त अतएव वर्तमान के लिए अनुपयुक्त जैसी वर्ण-व्यवस्था को आज प्राचीन समाजवाद के सुदृढ़ दुर्ग का भग्नावशेष कह सकते हैं, उसका भी स्पृहणीय शिलान्यास प्रायः इसी तात्विक पदार्थ समवाय से ही शिक्षा लेकर किया गया था।

आजकल के अधिकतर समीक्षक, विशेषतः समाज-नेतागण यह कहते पाये जाते हैं कि प्राचीन भारत को जनतंत्र या गणतंत्र का ज्ञान नहीं था। परन्तु महर्षि कणाद के समवाय को, जिसका वैज्ञानिक अस्तित्व अपने गर्भ में विशेष-जैसे वियोजक तत्वों के साथ सामान्य-जैसे संयोजक तत्वों का सामञ्जस्य दिखलाकर सुशृंखल गणतान्त्रिक समाजीकरण का शुद्ध पाठ पढ़ाता है, यदि आज के विवेचक लोग तत्वतः देखें तो अवश्य उन्हें अपना निर्णय बदल देना होगा। क्योंकि जहाँ प्रत्येक जड़ और चेतन सुशृंखल समुदाय रूप दिखलाया जाता है एवं बिना इस प्रकार के समुदाय भाव के किसी का अस्तित्व अतएव कार्यकारिता नहीं मानी जाती, वहाँ विकसित चेतन मानवसमाज के अस्तित्व एवं कार्यकारिता के लिए क्रमिक, अवान्तर, सुशृंखल समवाय के द्वारा

महासमवाय तक बनाने की आवश्यकता नहीं होगी यह यह कल्पना भी नहीं की जा सकती। प्राच्य पदार्थशास्त्र के श्रेष्ठ आचार्य महर्षि कणाद ने वस्तुतत्वों के निर्देश के अवसर पर "विशेष" का निर्देश कर समाज के भीतर कुछ हद तक समता का अनुगामी वैषम्य भी आवश्यक एवं अपेक्षित है, इसका दिग्दर्शन कराया है।

"सामान्य" पदार्थ का परिचय देते हुए यह बतलाया गया है कि कुछ आवश्यक वैषम्य के रहते हुए भी जैसे पदार्थतत्व के लिए अवान्तर वर्गीकरण अपेक्षित है, तद्वत् मानवसमाज के लिए भी क्रमिक बहुतर अवान्तर समुदायपूर्वक महासमुदाय की नितान्त अपेक्षा है। ऐसा होने पर ही मानवजीवन की सार्थकता विकसित हो सकती है। परमाणु तक पदार्थों का एक समुदाय रूप होता है। उसमें द्वयणुक, त्र्यणुक आदि भी उसी प्रकार समुदाय रूप होते हैं। छोटा समुदाय क्रमिक बड़े समुदाय के अन्तर्गत होता है। तत्त्वतः सभी अवान्तर समुदाय महासमुदाय रूप में जाकर एकता प्राप्त कर लेते हैं। समुदाय और समवाय शब्द पर्यायवाचक हैं; इत्यादि बातों को एक बार फिर सामने ले आना चाहिए जिससे इनकी अद्भुत उपादेयता का परिचय अनायास प्राप्त हो जाय।

अभाव-निरूपण

स्वरूप और प्रयोजन

प्रथम प्रकरण में पदार्थों के विभाजन के अवसर पर यह बतलाया गया है कि अभाव सातवाँ पदार्थ है। यह विशेषता अभाव में ही है कि इससे अपरिचित एक भी प्राणी नहीं पाया जा सकता। प्रत्येक प्राणी को किसी न किसी अप्राप्त किन्तु अपेक्षित वस्तु के अभाव का बोध होता ही है। अन्यथा उस वस्तु के लिए उसे इच्छा एवं प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। जो वस्तु जिसे प्राप्त रहती है उसकी इच्छा या उसे प्राप्त करने के लिए वह प्रयत्न नहीं करता। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि इच्छा एवं प्रवृत्ति के विषय प्राप्य वस्तु का अभाव प्रत्येक प्राणी अनुभव किया ही करता है। यदि यह अभाव पदार्थ न होता तो संसार की परिस्थिति कुछ और ही होती। संसार सर्वथा पूर्ण होता, विषमता का कहीं नामो-निशान न पाया जाता। समता का अखण्ड साम्राज्य होता। परन्तु ऐसी परिस्थिति नहीं है। प्रत्येक प्राणी अपने में अपूर्णता का अनुभव करता है। सुतरां अभाव भी कोई एक वस्तु है यह मानना पड़ेगा। किसी दरिद्र व्यक्ति से यदि कोई यह पूछता है कि तेरे पास सौ रुपये हैं ? तो वह यह उत्तर देता है कि नहीं, मेरे पास रुपये कहाँ से आयेंगे ? एक भी रुपया नहीं है। रुपये का बिल्कुल अभाव है। इसी प्रकार जो वस्तु जिसके पास नहीं होती उसके बारे में वह पूछने पर यही उत्तर देता है कि मेरे पास नहीं है। इस नहीं होने का नाम है अभाव। फलितार्थ यह निकला कि "नहीं", "नहीं है" इत्यादि रूप से समझी एवं समझायी जानेवाली वस्तु ही है अभाव।

इस अभाव पदार्थ के सम्बन्ध में अनेक आधुनिक अन्वेषकों की धारणा यह है कि चिर पूर्ववर्ती प्राच्य पदार्थ-शास्त्री लोग इस अभाव को कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं मानते थे। वे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छः भावों को ही पदार्थ मानते थे। परवर्ती विद्वानों ने अभाव को भी पदार्थों की गणना में स्थान दे डाला। क्योंकि इस शास्त्र के मूल प्रवर्तक महर्षि कणाद ने पदार्थों की गणना के समय इस अभाव को स्थान नहीं दिया है।

परन्तु उनकी यह धारणा इसलिए उचित नहीं प्रतीत होती है कि महर्षि कणाद के जिस पदार्थ-परिगणन सूत्र में अभाव की चर्चा नहीं हुई बतलायी जाती है, गम्भीर भाव से विचार करने पर उसी सूत्र में अभाव की चर्चा पायी जाती है। महर्षि ने चौथे सूत्र में यह कहा है कि साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से परम कल्याण की प्राप्ति होती है। इसी सूत्र में समवाय के अनन्तर अभाव की चर्चा न देखकर आधुनिक कुछ विवेचक इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि वे अभाव को पदार्थ नहीं मानते थे। परन्तु यदि वे अभाव नामक पदार्थ न मानते होते तो "वैधर्म्य" शब्द का प्रयोग उस सूत्र में कभी न कर पाते। क्योंकि समान धर्म अर्थात् अनेक में रहनेवाले एक धर्म का ही अपर नाम होता है साधर्म्य और समान न होने वाले धर्म का ही नाम होता है वैधर्म्य। यथा मनुष्यत्व सभी मनुष्यों में रहने के कारण मनुष्यों का साधर्म्य होता है और पशु-पक्षियों में नहीं रहने के कारण वह उनका वैधर्म्य होता है। इससे यह प्राप्त हुआ कि जो जिसमें नहीं रहता वह उसका वैधर्म्य होता है। मनुष्यत्व पशु-पक्षियों में नहीं रहता अतः पशु-पक्षियों का वह वैधर्म्य होता है। नहीं रहने का ही नाम है अभाव। सुतरां यह मानना ही होगा कि जो व्यक्ति वैधर्म्य मानता है, वाक्य में वैधर्म्य शब्द का प्रयोग करता है, वह अभाव पदार्थ भी मानता ही है। क्योंकि अभाव पदार्थ न मानकर वैधर्म्य बनाया ही नहीं जा सकता। महर्षि कणाद ने जब वैधर्म्य माना है, वैधर्म्य शब्द का प्रयोग किया है, तब वे अभाव पदार्थ नहीं मानते थे यह कभी नहीं कहा जा सकता।

दूसरी बात यह कि पदार्थ की जो परिभाषा प्रथम प्रकरण में की गयी है वह अभाव के लिए भी उसी प्रकार लागू होती है जिस प्रकार द्रव्य आदि पदार्थों के लिए। अभाव भी लोगों से समझा जाता ही है, यथार्थ ज्ञान का विषय होता ही है एवं "नहीं", "नहीं है", "अभाव" आदि वाचक पदों से कहे जाने के कारण वह पद का अर्थ अर्थात् वाच्य होता ही है। फिर उसे पदार्थ की श्रेणी से कैसे नीचे गिराया जा सकता है? कैसे यह कहा जा सकता है कि अभाव पदार्थ नहीं है? अतः अभाव भी एक पदार्थ है यह मानना ही होगा।

अभाव जगत का उपादान नहीं

कुछ लोग इस पदार्थ को इतनी महत्ता दे डालते हैं कि यह अभाव ही प्रत्येक भाव वस्तु का उपादान कारण है यहाँ तक मान बैठते हैं। उनका कहना यह है कि प्रत्येक भाव पदार्थ अभाव से ही उत्पन्न होता है। पिण्डाकार मिट्टी का विनाश हुए बिना घड़ा नहीं बनता। धान-जौ-चने आदि जब तक खेत में सड़ नहीं जाते, दो भागों में फट नहीं जाते तब तक उनसे उनके अंकुर पैदा नहीं होते। विनाश भी अभाव ही

है। अतः उक्त दृष्टान्त के आधार पर सर्वत्र सभी भाव पदार्थों की उत्पत्ति अभाव से ही होती है यह मानना ही पड़ेगा। जहाँ तन्तु से कपड़े बनते हैं या ईंटों से मकान बनते हैं वहाँ भी तन्तुओं को या ईंटों को जोड़ते समय कुछ न कुछ रेणु आघात से अवश्य निकल जाती हैं। अतः यह वहाँ भी मानना ही होगा कि तन्तु या ईंटों के विनाश से कपड़े या मकान बनते हैं। अतः अभाव को समग्र जगत का उपादान कारण मानना चाहिए।

परन्तु इस प्रकार अभाव को जगत का उपादान मानना उसको औचित्य से अधिक महत्ता देना है। अभाव को जगत का उपादान इसलिए नहीं माना जा सकता कि अभाव तो सर्वत्र सुलभ रहता है। उस से यदि भावों की उत्पत्ति होती तो सभी भाव कार्य सर्वदा और सर्वत्र उत्पन्न हुआ करते, किन्तु ऐसा होता नहीं। अतः अभाव को भावों का उपादान कारण नहीं माना जा सकता। दूसरी बात यह कि यदि अभाव को जगत् का उपादान कारण माना जाय तो संसार की वस्तुओं में देखी जाने वाली विचित्रता अर्थात् विभिन्नता कभी नहीं बनायी जा सकती। प्रत्येक वस्तु स्वरूपतः भिन्न होती है इसे अमान्य नहीं ठहराया जा सकता। प्रत्येक प्राणी के अंग-प्रत्यंग, आन्तर भावनाएँ, हेय-उपादेय एवं उपेक्षणीय वस्तुएँ तथा तदभिमुख प्रवृत्तियाँ एवं निवृत्तियाँ अलग-अलग हुआ करती हैं, इसे कौन अस्वीकार करने का दुस्साहस कर सकता है। अतः अभाव को भावों का फलतः जगत का उपादान कारण नहीं माना जा सकता। अभाव को इसलिए भी भाव वस्तुओं का उपादान नहीं माना जा सकता कि प्रथम प्रकरण में जो कारणों का परिचय दिया जा चुका है उससे यह सर्वथा सिद्ध हो चुका है कि उपादान कारण होता है कार्य का अन्वयी कारण, अर्थात् वह कार्यकाल में भी कार्य में अनुस्यूत रहता है। जब तक घड़े-कपड़े आदि कार्य रहते हैं तब तक कपास और तन्तु आदि उनमें अनुस्यूत रूप में रहते ही हैं। अभाव के लिए यह बात असम्भव है। क्या घड़े में घड़े का अभाव या कपड़े में कपड़े का अभाव अनुस्यूत देखा जाता है? कभी नहीं। फिर अभाव को उनका उपादान कैसे कहा जा सकता है?

इस सम्बन्ध में एक और बात ध्यान देने लायक यह है कि उपादान और उपादेय के लिए विशेष रूप से एकजातीय होना आवश्यक है। जो पृथिवी और जल द्रव्य होने के नाते कथंचित् एकजातीय भी होते हैं उनमें भी पृथिवी और जल के रूप में भिन्नजातीय होने के कारण उपादानोपादेय भाव नहीं हो पाता। न पृथिवी जल का उपादान होती है और न जल पृथिवी का उपादान होता है। न पृथिवी से जल बनता है और न जल से पृथिवी बनती है। फिर अत्यन्त विजातीय अभाव भावों का उपादान कैसे हो सकता है? भाव अभाव के उपादेय कार्य कैसे हो सकते हैं? रही बात

अनुभवसिद्ध जौ-गेहूँ-चने आदि के विनाश के अनंतर अंकुर की उत्पत्ति आदि की। किंतु इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि बीज के नाश होने पर भी उसके अवयव अर्थात् अंशस्वरूप भाव रहते ही हैं। उन्हें ही अंकुर के प्रति उपादान कारण समझना चाहिए। यही कारण है कि प्राच्य पदार्थशास्त्री लोग घड़े के प्रति पिण्डाकार को उपादान कारण न मानकर कपालों को उपादान कारण मानते हैं, कपड़े के प्रति कपास को उपादान कारण न मानकर तन्तुओं को उपादान कारण मानते हैं। बीजों के ध्वंस को अंकुर के प्रति उपादान कारण मानने पर आटे से भी अंकुर की उत्पत्ति होनी चाहिए। क्योंकि बीजों का ध्वंसस्वरूप अभाव तो वहाँ भी रहता ही है। अतः अभाव को भावों का उपादान कारण नहीं माना जा सकता।

अभाव निमित्त कारण होता है

कुछ लोग कहते हैं कि अभाव भावों का उपादान कारण नहीं होता इतना ही नहीं; वह किसी भी कार्य के प्रति किसी प्रकार का कारण नहीं होता है। अर्थात् अभाव केवल समवायिकारण या असमवायिकारण ही नहीं होता इतना ही नहीं— साथ ही वह किसी कार्य के प्रति निमित्त कारण भी नहीं होता है। परन्तु विचार करने पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं मालूम पड़ती। वह किसी भी कार्य के प्रति समवायिकारण या असमवायिकारण न होने पर भी निमित्त कारण अवश्य होता है। प्रथम प्रकरण में यह बात बतलायी जा चुकी है कि—आग से होने वाले दाह के प्रति चन्द्रकान्त मणि का अभाव कारण होता है। किसी भी कार्य के प्रति कारण रूप से स्वीकृत सारी भाव वस्तुओं के होते हुए भी किसी प्रतिबन्धक के आ जाने पर प्रकृत कार्य ठप हो जाता है, रुक जाता है, नहीं होने पाता। उस प्रतिबन्धक के हट जाने पर वह कार्य होता है, ये बातें प्रत्यक्ष देखी जाती हैं। ऐसी परिस्थिति में प्रतिबन्धक के अभाव को कार्यों के प्रति कारण मानना अनिवार्य है। जिसके रहने पर जो कार्य होता है और जिसके न रहने पर जो कार्य नहीं होता है वह उस कार्य के प्रति कारण माना जाता है। तन्तुओं के रहने पर कपड़ा बन जाता है और तन्तुओं के नहीं रहने पर कपड़ा नहीं बन पाता, अतः तन्तु कपड़े के प्रति कारण होते हैं। इसी प्रकार प्रतिबन्धक के अभाव के रहने पर अर्थात् प्रतिबन्धक के नहीं रहने पर कार्य होता है और प्रतिबन्धक के रहने पर अर्थात् प्रतिबन्धक के अभाव के नहीं रहने पर कार्य नहीं होता है। अतः प्रतिबन्धक के अभाव को प्रत्येक कार्य के प्रति निमित्त कारण मानना ही होगा। भावात्मक कारणों के रहते हुए भी जिसके आ जाने पर जो कार्य नहीं हो पाता वह उस कार्य का प्रतिबन्धक होता है। कार्य न होना प्रतिबन्ध है और उसका निमित्त बननेवाला होता है प्रतिबन्धक। प्रतिबन्धक को ही अन्य शब्द में विघ्न, बाधक आदि शब्दों से भी पुकारा जाता है। उसके न रहने पर ही जब कि कोई भी कार्य हो पाता है तो उसके

अभाव को भी कार्य के प्रति कारण मानना ही चाहिए। इसे समझने के लिए उदाहरण की कमी नहीं है। प्रत्येक कार्य के उत्पत्ति स्थल में इसे देखा जा सकता है। छात्र और अध्यापक दोनों ही जुटे हैं——पढ़ना-पढ़ाना चल रहा है किन्तु बीच में यदि कोई वहाँ जोर से बाजा बजाना आरम्भ कर देता है, जोर से गाने लगता है तो तब तक अध्ययन-अध्यापन रुक जाता है जब तक वह बन्द न हो जाय। गान और वादन के बन्द होते ही फिर अध्ययन-अध्यापन चालू हो जाता है। अतः यह मानना ही होगा कि अध्ययन-अध्यापन कार्य के प्रति वह आगन्तुक गान-वादन प्रतिबन्धक होता है और उसका अभाव उसका कारण होता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

साथ ही प्रत्येक कार्य का प्रागभाव उस कार्य के प्रति निमित्त कारण हुआ करता है। यह इसलिए मानना पड़ता है कि इसे माने बिना कार्योत्पत्ति की व्यवस्था नहीं बनती। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझना चाहिए कि हज़ार तन्तुओं से बनने वाला सहस्र-तन्तुक कपड़ा उन हज़ार तन्तुओं के अन्दर होने वाले सौ तन्तुओं में ही उत्पन्न न होकर हज़ार तन्तुओं में इसीलिए उत्पन्न होता है कि उस सहस्र-तन्तुक कपड़े का प्रागभाव उन सहस्र तन्तुओं में ही रहता है, केवल तदभ्यन्तरवर्त्ती सौ तन्तुओं में ही नहीं। यदि प्रागभाव को निमित्त कारण न माना जाय, नियामक न माना जाय तो उनके अन्तर्गत सौ तन्तुओं में ही उस कपड़े की उत्पत्ति को नहीं रोका जा सकता। तन्तुगत सहस्र संख्या को नियामक या निमित्त मानकर इस आपत्ति का निराकरण इसलिए नहीं किया जा सकता कि एकत्व के अतिरिक्त सारी संख्याएँ प्राणियों की अपेक्षाबुद्धि के अधीन होती हैं। यह बात गुण-प्रकरण में बतलायी जा चुकी है। कपड़े की उत्पत्ति के पहले सर्वत्र तन्तुओं में अपेक्षाबुद्धि होगी ही, और संख्या की उत्पादक वही मानी जायगी यह नहीं कहा जा सकता——उस पट को "सहस्र-तन्तुक" उस की उत्पत्ति के बाद तन्तु गणना के आधार पर भी कहा जा सकता है। अतः पटोत्पत्ति के बाद उत्पन्न होने वाली संख्या के पहले होने वाली पट की उत्पत्ति के प्रति उसे नियामक, निमित्त कारण कैसे माना जा सकता है? अतएव तन्तुओं में विद्यमान कपड़े के प्रागभाव को ही निमित्त कारण मानकर व्यवस्था की जा सकेगी। अतः अभाव को निमित्त कारण मानना ही होगा। प्रागभाव का परिचय आगे दिया जायगा।

अभाव प्रमाण नहीं

कुछ लोग अभाव को कारण इसलिए मानते हैं कि वह प्रमाण होता है। प्रमाण का अर्थ है प्रमा के प्रति अर्थात् यथार्थ ज्ञान के प्रति करण, अर्थात् असाधारण रूप से कारण होने वाला। जो कारण ही नहीं होता वह किसी के प्रति करण कैसे हो

सकता है ? अभाव को प्रमाण बनाना हो तो उसे यथार्थ ज्ञान के प्रति विशेष रूप से कारण होने के लिए करण मानना ही होगा। अभाव प्रमाण इसलिए होता है कि किसी वस्तु के अभाव को उस वस्तु की अनुपलब्धि से अर्थात् उस वस्तु की उपलब्धि के अभाव से यानी उस वस्तु को न मानने से समझते हैं। उदाहरण के द्वारा इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि घर में हम यदि घड़े को नहीं देखते हैं तो घर में घड़े का अभाव समझते हैं। घड़े को न देखना घड़े को देखने का अभाव ही है। इसी को दार्शनिक लोग कहते हैं घट की अनुपलब्धि। जब कि अनुपलब्धि अभाव है और वह घर में घड़े के अभाव को समझाती है तो उक्त घट की अनुपलब्धि-स्वरूप अभाव को प्रमाण मानना ही होगा। क्योंकि समझाने वाला ही होता है प्रमाण। प्रमाण होने के लिए प्रमा के प्रति असाधारण रूप से कारण होना अनिवार्य है यह बात अभी ऊपर बतलायी गयी है। अतः अभाव किसी कार्य के प्रति उपादान भले ही न हो किन्तु उसे कारण मानना ही होगा। इस तरह वे अभाव की कारणता का समर्थन करते हैं।

परन्तु इस तरह अभाव की कारणता का समर्थन इसलिए नहीं हो पाता कि अनुपलब्धि को अभाव के समझने में प्रमाण अर्थात् असाधारण रूप से कारण ही नहीं माना जा सकता। क्योंकि अन्धे भी घर में घड़े का अभाव देखने लगेंगे। घड़े का प्रत्यक्ष उन्हें नहीं होता, अतः घटानुपलब्धि उन्हें रहती ही है, उसके सहारे वे घड़े के अभाव का निश्चय घर में कर डालेंगे। किन्तु ऐसा होता नहीं, वे बिना घर भर टटोले घड़े का अभाव नहीं समझ पाते हैं। यदि यह कहा जाय कि घड़े के अभाव को चाक्षुष रूप से समझने के लिए अनुपलब्धि के साथ आँख की भी आवश्यकता होती है अतः अन्धा घड़े के अभाव का चाक्षुष निर्णय नहीं कर पाता। परन्तु तब तो आँख को ही वहाँ घड़े के अभाव के प्रत्यक्ष के लिए कारण मानना उचित होगा और तब प्रमाण भी वहाँ आँख ही बन जायगी। एक ही समय में एक ही वस्तु को देखने के लिए एक ही व्यक्ति दो प्रमाणों की अपेक्षा नहीं करता। एक ही घड़े को एक ही काल में देखने के लिए एक ही व्यक्ति दो दीपकों की आवश्यकता नहीं रखता। अतः अनुपलब्धि और आँख दोनों को प्रमाण नहीं माना जा सकता। सुतरां आँख को प्रमाण और अनुपलब्धि को सहायक मात्र मानना होगा। अतः अभाव को प्रमाण होने के नाते कारण नहीं बतलाया जा सकता। हाँ, प्रमाण के सहकारी होने के नाते या पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार प्रतिबन्धक का अभाव होने के नाते अभाव को कारण बतलाया जा सकता है।

यहाँ प्रश्न यह किया जा सकता है कि कोई व्यक्ति यदि अपने में सुख का अभाव देखकर उससे पुण्य का अभाव समझता है, तो वहाँ धूम से आग के अनुमितिस्थल में धुआँ के समान उस सुख के अभाव को अनुमान अर्थात् अनुमापक होने के नाते प्रमाण

मानना ही होगा। फिर "अभाव प्रमाण नहीं होता" यह कैसे कहा जा सकता है ? इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि आग के अनुमितिस्थल में भी धूम अनुमापक होता है। किन्तु आग के व्याप्यरूप में धूम का ज्ञान अनुमापक या अनुमान होता है। इसीलिए धूम रहने पर भी जिसे उसका प्रत्यक्ष नहीं होता वह उससे आग की अनुमिति नहीं कर पाता। तदनुसार पुण्य के अभाव के अनुमितिस्थल में भी सुख के अभाव को अनुमान न मानकर उसके ज्ञान को अनुमान मानना होगा। अतः सुख का अभाव अनुमान नहीं हो सकेगा, उसे प्रमाण नहीं कहा जा सकेगा। यदि ज्ञापक रूप में हेतु को ही अनुमान माना जाय तो प्रकृत विवेचन का अभिप्राय यह समझना चाहिए कि अनुपलब्धि स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है।

अनुपलब्धि प्रमाण नहीं है और विशेषण-विशेष्य भाव सन्निकर्ष अभाव के साथ आँख आदि इन्द्रियों का होता है, अतः इन्द्रियों से ही अभाव का प्रत्यक्ष होता है अनुपलब्धि से नहीं। यह बात ज्ञान-प्रकरण में भी बतलायी जा चुकी है।

अभाव अधिकरण स्वरूप नहीं

कुछ लोग अभाव को, फलतः अनुपलब्धि को इसलिए प्रमाण नहीं मानते कि उनकी दृष्टि में उसे प्रमाण होने के लिए कोई खास प्रमेय ही नहीं प्रतीत होता है। वे कहते हैं कि अभाव अपने अधिकरण से अर्थात् जिसमें वह प्रतीत होता है उससे अलग कोई वस्तु ही नहीं। अधिकरण तो इन्द्रियों से ही समझ लिया जाता है अतः तत्स्वरूप अभाव भी इन्द्रियों से ही समझ लिया जायगा। ऐसी परिस्थिति में अनुपलब्धिस्वरूप अभाव को हम किसे समझने के लिए प्रमाण मानेंगे ? किसी प्रमेय को जो कि अन्य प्रमाणों से ज्ञात नहीं होता समझने के लिए कोई प्रमाण माना जाता है। नाक-कान आदि से रूप को कोई नहीं समझ पाता इसीलिए आँख को प्रमाण माना जाता है! यदि रूप न होता तो आँख मानने की क्या आवश्यकता होती ?

उदाहरण के द्वारा उनके इस कथन को यों समझना चाहिए कि यदि कोई "घर में घड़ा नहीं है, उसका अभाव है" ऐसा समझता है तो मानना होगा कि घड़े का वह अभाव घर से अलग कोई चीज़ नहीं है। देखनेवाला आखिर घर को ही तो देखता है ? अतः घड़े के अभाव को उस घर से अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है ? सुतरां उस घटाभाव को घर ही मान लेना होगा। इसी प्रकार सभी अभावों को आधारभूत भावस्वरूप ही मानना चाहिए।

परन्तु यह कथन इसलिए उचित नहीं कहा जा सकता कि आधार और आधेय अर्थात् जो जिसमें रहता है और जो उसमें रहता हुआ अत्यन्त विजातीय रूप से प्रतीत होता है उन दोनों को एक तत्व कैसे माना जा सकता है। यदि आग्रहपूर्वक ऐसा माना

जाय तब तो घटाभाव आदि आधेय वस्तुएँ और घर आदि आधार वस्तुएँ ही केवल क्यों एक अभिन्न मानी जायँगी ? भावात्मक घड़े-कपड़े आदि आधेय और घर-बाहर आदि आधार भी क्यों एक नहीं माने जायंगे ? घटाभाव और घर आदि अत्यन्त विधर्मी, विलक्षण अभाव और भावों को एक तत्व मानने की अपेक्षा यह कहीं अधिक संगत होगा कि घर और उसमें रहनेवाले घड़े-कपड़े आदि को एक तत्व मान लिया जाय। क्योंकि आधारभूत घर और आधेयभूत घड़ा ये दोनों ही भाव वस्तु होने के नाते कम से कम सजातीय तो होते हैं, अति विजातीय तो नहीं होते ! जब कि आधार-आधेय भाव-प्राप्त दो सजातीय एक नहीं माने जाते तब भाव और अभाव के अति विजातीय होने के कारण घर और घटाभाव आदि अभाव को एक तत्व मान लेना कहाँ तक संगत होगा ? दूसरी बात यह कि अभाव को आधार स्वरूप मानने पर रूप के ऊपर रहनेवाला रस का अभाव रूप बन जायगा और रस के ऊपर रहनेवाला रूप का अभाव रस बना जायगा। इसका फल यह होगा कि रूपाभाव-रसाभाव आदि अभावों का प्रत्यक्ष होना कठिन हो जायगा। क्योंकि रस का अभाव रूप होने के कारण जिह्वा से नहीं देखा जा सकेगा, इसलिए कि जिह्वा रूप को बतलाने की क्षमता नहीं रखती। और रूप होने पर आँख से उसे इसलिए नहीं देखा जा सकेगा कि जो भाव वस्तु जिस इन्द्रिय से समझी जाती है, उस भाव वस्तु का अभाव भी अर्थात् नहीं होना भी उसी इन्द्रिय से समझा जाता है यह सभी को मालूम है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि आम मीठा है यह तो मैं जिह्वा से समझता हूँ पर मीठा नहीं है यह अभाव मैं जिह्वा से न समझकर आँख से समझता हूँ। अतः यह मानना ही होगा कि जो भाव जिस इन्द्रिय से देखा जाता है उसका अभाव भी उसी इन्द्रिय से देखा जाता है। ऐसी परि-स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि रूप में रहनेवाला रसाभाव जो कि आधार-भूत रूपस्वरूप होगा आँख से देखा जा सकेगा। इसी प्रकार सभी अभाव स्थलों में उनका प्रत्यक्ष न हो पायेगा जो कि सर्वथा अनुभवविरुद्ध है।

तीसरी बात यह कि अभावों को आधारस्वरूप मानने पर वायु में रहनेवाले रूपाभाव, रसाभाव और शब्दाभाव आदि अभावों को आधारभूत वायु मानना होगा। सुतरां आँख, जिह्वा और कान आदि इन्द्रियों से वायु का प्रत्यक्ष न होने के कारण वे अभाव भी प्रत्यक्षतः न समझे जा सकेंगे।

एवं ऊपर वर्णित प्रक्रिया से रूप में रहनेवाला रसाभाव रूप बन बैठेगा और रस में रहनेवाला रूपाभाव रस बन बैठेगा और वायु में रहनेवाले उक्त दोनों अभाव जब कि एक वायुस्वरूप हो जायंगे तो फलतः उन रूप-रसों को भी एक मान लेना होगा। सुतरां सर्वाधिक प्रमाण प्रत्यक्ष से सिद्ध रूप-रस आदि रूप से गुण का विभाजन

असंगत तो जायगा। जिस विभाजन को छोटे से बड़े तक सभी प्राणी मान्यता देते हैं उसे कोई बुद्धिमान् कैसे नहीं मानेगा।

एक और बात यहाँ ध्यान में रखने की यह है कि अभावों को अधिकरणस्वरूप मानने का पर्यवसित अर्थ होता है गुण और गुणी में भेद नहीं मानना। ऐसी परिस्थिति में द्रव्यों का विभाजन भी टिक नहीं पायेगा। क्योंकि विभिन्न गुणों के आधार होने के कारण ही पृथिवी-जल आदि रूप से द्रव्यों का विभाजन बन पाता है। गुण और गुणी आदि का तथा द्रव्यों का विभाजन संकट-ग्रस्त हो जाने पर पदार्थों का विभाजन भी संकट-ग्रस्त हो जायगा। फिर तो अभाव अधिकरणस्वरूप होता है यह कहना भी कठिन हो जायगा।

अभाव भावान्तर नहीं

कुछ लोगों का कहना है कि अभाव इसलिए कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है कि तत्त्वतः विचार करने पर अभाव भावान्तर ही जँचता है। भावान्तर का अर्थ है नहीं रहनेवाले भाव से अतिरिक्त भाव। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझना चाहिए, यथा—घर में यदि घड़ा नहीं है तो घड़ा ही केवल नहीं रहा, कपड़ा-बिस्तरा आदि अन्य भाव तो वहाँ हैं। घड़ा खोजने वाला व्यक्ति घड़ा नही देखता है किन्तु वहाँ विद्यमान कपड़े आदि भावों को तो देखता ही है। सुतरां घर में विद्यमान घड़े के अभाव को वहाँ विद्यमान होने के कारण देखे जाने वाले कपड़े आदि भावस्वरूप ही मान लिया जाय। अभाव नामक अतिरिक्त पदार्थ क्यों माना जाय? अतः अभाव भी भाव ही है।

परन्तु यह मतवाद इसलिए उचित नहीं प्रतीत होता कि अभाव शब्द का अर्थ होता है "भावों का विरोधी", जो भावों का विरोधी है उसे भला भावात्मक कैसे माना जा सकता है? यदि कोई किसी से पूछता है कि तुम्हारे पास रुपये हैं? तो वह उत्तर देता है नहीं, इस "नहीं" का अर्थ क्या "कपड़े-छाते-जूते" आदि है यह माना जा सकता है? यदि ऐसा अर्थ माना जाय तो उक्त प्रश्न के उत्तर में "नहीं" के स्थान पर "कपड़े-जूते हैं" यह उत्तरवाक्य भी सही माना जायगा, किन्तु ऐसा नहीं होता। तुम्हारे पास रुपये हैं? इस प्रश्न का उत्तर यदि कोई यह दे कि "मेरे पास कपड़े हैं" तो लोग उसे बहरा या पागल ही कहेंगे, उस उत्तर को सही न कहेंगे। अतः "घड़ा नहीं है" इसका अर्थ "कपड़ा है" यह नहीं लिया जा सकता। अतः अभाव को भावान्तर नहीं माना जा सकता।

द्वितीय बात यहाँ ध्यान देने योग्य यह है कि किसी भी एक वस्तु के अभाव के अधिकरण में दूसरा भाव एक मात्र नहीं होता, बहुत से अन्य भाव भी वहाँ रहते हैं, जैसे घड़े के अभाव के आधार घर में केवल कपड़ा ही नहीं रहता, कपड़े-चावल-दाल,

आटा आदि बहुत से पदार्थ रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में घर में रहने वाले घटाभाव को वहाँ विद्यमान केवल कपड़ा ही कैसे माना जा सकता है ? तुल्य युक्ति से उसे वहाँ विद्यमान सभी वस्तुस्वरूप मानना होगा। पर ऐसा मानना इसलिए असंगत होगा कि एक घटाभाव को वहाँ विद्यमान पट-चावल आदि बहुसंख्यक पदार्थ स्वरूप मानने के कारण एक को बहुत अर्थात् अनेक मानना होगा। परन्तु एक भला अनेक कैसे हो सकता है ? एकत्व और अनेकत्व स्वतः परस्पर विरुद्ध होते हैं।

तीसरी बात यह कि अभाव को समानाधिकरण भावान्तर मानने पर द्रव्य-गुण आदि रूप से होनेवाला अनुभवसिद्ध विभाजन छिन्न-विच्छिन्न हो जायगा। क्योंकि प्रत्येक अभाव को तुल्य युक्त्या उसके आधार में रहनेवाले भावभूत द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य आदि-स्वरूप मानना अनिवार्य होगा। जैसे घर में विद्यमान घटाभाव को उस घर में रहने वाले पट आदि भावों के समान उस घर के रूप-रस-गन्ध आदि गुण, कम्पन आदि कर्म, गृहत्व आदि सामान्य आदि-स्वरूप भी मानना अनिवार्य होगा। ऐसी परिस्थिति में फलतः भाव-अभाव तक की भी परिभाषा बिगड़ जायगी। सारा विभाजन नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। फलतः अभावाद्वैतवाद आ गिरेगा। यदि वहाँ तक मानने का साहस किया जाय तो यह प्रतिज्ञा भी बालू की दीवार के समान स्वतः विशीर्ण हो जायगी कि "अभाव भावान्तर हैं।" क्योंकि सभी के अभाव रूप हो जाने पर भाव और भावान्तर आयेंगे कहाँ से ?

उदाहरण द्वारा इसे यों समझना चाहिए, यथा घर में घड़े का अभाव है और वह अभाव घर में विद्यमान कपड़े आदि द्रव्य और रूप-रस आदि गुण प्रभृति समग्र भावस्वरूप है। अब यहाँ घटाभाव पट आदि द्रव्य और रूप आदि गुण कहा जा सकेगा। ऐसे ही उन गृहवर्ती द्रव्य-गुण-कर्म आदि भावों को घटाभाव भी कहा जा सकेगा। वरन् उन अनेक द्रव्य आदि को घटाभाव ही कहना संगत होगा, क्योंकि इसमें महान् लाघव होगा। इसी प्रकार जहाँ घट के आधार पट का अभाव रहेगा वहाँ पट का वह अभाव और घट एक तत्व हो जायंगे। अतः घट भी फलतः अभावस्वरूप ही हो जायगा। इसी प्रकार घर के आधार में रहने वाला घटाभाव और घर भी एक तत्व हो जायंगे। इसी प्रकार सारे द्रव्य-गुण आदि भाव पदार्थ एक अभाव तत्व ही हो जायंगे। सुतरां भाव और भावान्तर का अस्तित्व ही नहीं रह पायेगा। अतः अभाव भावान्तर है यह प्रतिज्ञा नहीं टिक पायेगी।

सरल अभिप्राय यह कि ऐसी कोई वस्तु नहीं दिखलायी जा सकती जिसके आधार में कोई न कोई अभाव न रहता हो। सुतरां सभी भावों और अभावों को एक तत्व मान लेना पड़ेगा। अतः भाव और भावान्तर कहने तक को भी न मिल पायेगा। फिर

अभाव भावान्तर है यह कहा भी कैसे जा सकता है ? अतः अभाव को स्वतंत्र पदार्थ ही मानना चाहिए ।

भाव भी अभाव नहीं हो सकता

कुछ लोग यह कहते हैं कि हाँ अभाव तो भावान्तर नहीं हो सकता किन्तु भाव अभाव हो सकता है। उदाहरण के लिए घट, पट आदि किसी भी भाव को ले सकते हैं। जहाँ घट देखा जाता है वहाँ उस घट का अभाव नहीं देखा जाता। किन्तु उस घट के अभाव का अभाव देखा जाता है। या तो लोग यह कहते हैं कि "यहाँ घड़ा है", अथवा उसके स्थान में यह कहते हैं कि "यहाँ घड़े का अभाव नहीं है"। यहाँ "नहीं है" इससे प्रथम अभाव का अभाव बतलाया गया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि घड़ा और उसके अभाव का अभाव ये दोनों नियमतः एक ही स्थान में रहते हैं एवं प्रतीत होते हैं। सुतरां घड़े और उसके अभाव के अभाव को एक तत्व मान लेने में कोई आपत्ति या अनुपपत्ति नहीं उठ सकती। ऐसी परिस्थिति में घट और घटभावाभाव इन दोनों को लाघववश एक ही मानना चाहिए। इसी प्रकार पट-मठ आदि के लिए भी समझना चाहिए। सुतरां घट पट आदि भावों को भली भाँति अभाव कहा जा सकता है।

परन्तु यह कथन इसलिए उचित नहीं प्रतीत होता कि केवल नियत सामानाधिकरण्य अर्थात् नियमतः एक ही स्थान में अस्तित्व के कारण स्वतंत्र अनुभवसिद्ध दो वस्तुओं को लाघव के आधार पर एक माना जाय तो एक घड़े के रूप-रस आदि को भी एक मानना होगा। केवल एक घर में नियमतः रहने के कारण दो व्यक्ति एक नहीं हो सकते। कालस्वरूप एक आधार में तो नियमतः सभी वस्तुएँ रहती हैं परन्तु सब को एक नहीं माना जाता। अतः एक ही स्थान में नियमतः रहने मात्र कारण से घट और घटभावाभाव को एक नहीं माना जा सकता। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि भाव अभाव हो सकता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए। पट, मठ आदि किसी भी भाव को अभाव का पद नहीं दिया जा सकता।

दूसरी बात यह कि अभाव शब्द का अर्थ ही यह होता है कि जो भाव न हो वह। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि भाव भी अभाव होता है ?

यहाँ कुछ लोग यह तर्क उपस्थित कर सकते हैं कि यदि घड़े के अभाव के अभाव को लौटाकर घड़ा न मान लिया जाय तो अभाव की अनवस्था चल पड़ेगी। अर्थात् अभाव-धारा का कहीं अन्त न हो पायेगा। अर्थात् घड़े का अभाव, फिर उसका अभाव, फिर उसका अभाव इस प्रकार अभाव की धारा अनन्त हो जायगी। अतः सर्वत्र अभाव के अभाव को प्रथम अभाव के प्रतियोगी स्वरूप ही मान लेना चाहिए। अतः घड़े के अभाव के अभाव को घड़ा मान लेना ही श्रेयस्कर है।

परन्तु इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि द्वितीय अभाव को प्रथम अभाव का प्रतियोगी भावस्वरूप न मानकर तृतीय अभाव को प्रथम अभावस्वरूप मान लेने से सारी समस्याएँ हल हो जाती हैं। भाव और अभावों का विरोध एवं परिभाषा भी ठीक हो जाती एवं अनवस्था भी नहीं होने पाती है। यथा घटाभावाभाव और घट ये दोनों तो एक तत्व नहीं होते; किन्तु घटाभाव और घटाभावाभावाभाव इन दोनों को एक मान लेने पर आगे अभावों की अव्यवस्थित-परम्परा-स्वरूप धारा भी आपन्न नहीं होती एवं अभाव भावों से अलग और भाव अभावों से अलग स्वतंत्र रह जाते हैं। भाव न होनेवाला कहलाता है अभाव यह परिभाषा भी अक्षुण्ण रह जाती है। अतः भाव पदार्थों को अभाव नहीं माना जा सकता। दोनों ही परस्पर एक दूसरे से भिन्न अनुभवसिद्ध वस्तुएँ हैं। इन्हें एक मान बैठना अदूरदर्शिता है।

अभाव के प्रभेद

यों तो तत्तत् व्यक्ति रूप से देखने पर भावों की तरह अभाव भी असंख्य ही हैं जैसे घटाभाव, पटाभाव आदि। फिर भी भावों की तरह इनका भी वर्गीकरण हो सकता है। अतः अभावों को प्रथमतः दो भागों में विभक्त समझना चाहिए, यथा—अन्योन्याभाव और अनन्योन्याभाव। अन्योन्याभाव को ही परस्पराभाव और भेद इन शब्दों से भी विवेचक लोग कहते और समझते हैं। अन्योन्याभाव से अन्य अभाव होता है अनन्योन्याभाव। इसे पूर्ववर्ती विवेचकों ने संसर्गाभाव नाम से कहा है। इसी द्वितीय अभाव को चार भागों में विभक्त समझना चाहिए, यथा (१) प्रागभाव, (२) पश्चादभाव, (३) त्रैकालिक अभाव, (४) किंचित्कालिक अभाव। इनके अन्दर द्वितीय पश्चादभाव को पूर्ववर्ती विवेचकों ने जगह-जगह पर ध्वंस, प्रध्वंस, नाश, विनाश, घात, विघात आदि विविध नामों से कहा है। त्रैकालिक अभाव अत्यन्ताभाव कहलाता है और चतुर्थ किंचित्कालिक अभाव सामयिकाभाव शब्द से कहा जाता है। इन चारों के अन्दर तृतीय और चतुर्थ को फिर (१) विशिष्टाभाव, (२) उभयाभाव (३) और अनुभय विशिष्टाभाव इन तीन प्रकारों में विभक्त समझना चाहिए।

कुछ लोगों का कहना है कि अभाव का कोई तात्विक प्रभेद नहीं है, प्रतियोगी-सम्बन्ध और काल आदि उपाधियों के सम्बन्ध से ही वह विभिन्न रूपों से प्रतीत होता है। उदाहरण द्वारा इसे यों समझना चाहिए—"घर में घड़ा नहीं है" और "कपड़ा नहीं है" ऐसी प्रतीति या वाक्यप्रयोग स्थल में, "नहीं है" से कहे जाने वाले अभाव का कोई पार्थक्य नहीं प्रतीत होता। अतः अभाव का विभाजन तात्विक नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह कथन इसलिए उचित नहीं कि "घड़ा कपड़ा नहीं" और "कपड़े पर घड़ा नहीं है" इन दोनों प्रतीतियों में महान् अन्तर पाया जाता है। क्योंकि "कपड़ा

घड़ा नहीं" ऐसा कहने पर स्वतः यह भी मालूम होता है कि "घड़ा भी कपड़ा नहीं" अर्थात् अतिरिक्त वस्तु है। किन्तु "कपड़े पर घड़ा नहीं" यह कहने या समझने पर उलटकर यह नहीं प्रतीत होता कि "घड़े पर कपड़ा भी नहीं है"। कारण, घड़े पर कपड़ा रहने पर भी "कपड़े पर घड़ा नहीं है" यह प्रतीति होती है एवं वाक्यप्रयोग होता है। अतः अन्योन्याभाव और अनन्योन्याभाव रूप में अभाव का विभाजन मानना ही होगा। औरों का पार्थक्य आगे अभी होने वाले प्रत्येक के विवेचन से स्पष्ट हो जायगा। अतः अभाव का भी विभाजन वैज्ञानिक ही है अवैज्ञानिक नहीं।

अन्योन्याभाव

जिस अभाव का प्रतियोगी तादात्म्य सम्बन्ध से सीमित हो वह कहलाता है अन्योन्याभाव। जैसे "घट पट नहीं है" ऐसा यदि कहा जाय तो इसका अर्थ यह होता है कि यतः पट ही पट हो सकता है और कोई पट नहीं हो सकता, क्योंकि पट का काम पट ही करता है और कोई नहीं कर सकता, अतः पट का तादात्म्य सम्बन्ध पट में ही है और किसी में नहीं, सुतरां घड़े में भी नहीं है। इसलिए तादात्म्य सम्बन्ध से पट घड़े में नहीं है। इसी न रहने का नाम है अन्योन्याभाव। 'अन्योन्य' इस अभाव को इसलिए कहते हैं कि जैसे घड़े में कपड़ा तादात्म्य सम्बन्ध से नहीं रहता उसी प्रकार कपड़े में घड़ा भी तादात्म्य सम्बन्ध से नहीं रहता। परस्पर में परस्पर का अभाव रह जाता है। अन्योन्य और परस्पर ये पर्यायवाचक शब्द हैं अतः इस अभाव को अन्योन्याभाव या परस्पराभाव कुछ भी कहा जा सकता है। इसी अभाव को भेद भी कहा जाता है। क्योंकि जैसे घट पट नहीं है और पट भी घट नहीं है; यह प्रतीत होता है या इस प्रकार कहा जाता है, तद्वत् घट पट से भिन्न है और पट भी घट से भिन्न है; इस प्रकार भी ज्ञान एवं वाक्यप्रयोग होता है। भिन्न शब्द का अर्थ है "भेद वाला", इसके अन्दर आने वाला भेद अन्योन्याभाव से अलग कुछ नहीं, अन्योन्याभाव ही है।

कुछ लोगों का कहना है कि अन्योन्याभाव है स्वरूप-भेद। स्वरूप का अर्थ है आकार। फलतः आकारभेद ही अन्योन्याभाव है। "घड़ा कपड़ा नहीं है" इसका अर्थ होता है कि घड़े और कपड़े के आकार एक नहीं हैं। परन्तु यह व्याख्या इसलिए उचित नहीं प्रतीत होती कि भेदात्मक अन्योन्याभाव यदि आकारभेद है तो व्याख्यानभूत "आकारभेद" के अन्दर आने वाले द्वितीय भेद की व्याख्या क्या होगी? बिना द्वितीय भेद की व्याख्या किये आकारभेदात्मक घटपट-अन्योन्याभाव को कैसे समझा जा सकता है? यदि द्वितीय भेद की व्याख्या कुछ और की जाय तो वही व्याख्या घट-पट के पारस्परिक भेद की क्यों न समझी जाय? यदि "आकारभेद" के अन्तर्गत भेद की भी वही व्याख्या मानी जाय अर्थात् उसका भी अर्थ "आकारभेद" ही माना जाय

तो अपने को समझने में अपनी अपेक्षा हो जाने के कारण आत्माश्रय दोष हो जायगा। घड़े कपड़े आदि के अनुभवसिद्ध पारस्परिक भेद को समझना कठिन हो जायगा। अतः भेद या अन्योन्याभाव का अर्थ आकार-भेद नहीं किया जा सकता। दूसरी बात यह कि आकार शब्द का अर्थ होता है अवयवों का गठन, फलतः आकृति। यह आकार तो केवल घट-पट आदि जन्य द्रव्यों में ही हो सकता है, नित्य द्रव्य और गुण कर्म आदि में नहीं। अन्योन्याभाव स्वरूप पारस्परिक भेद तो नित्य द्रव्यों, गुणों, कर्मों आदि में तथा नित्य-द्रव्यगुणों, गुण-कर्मों आदि में भी होते एवं प्रतीत होते हैं। वहाँ आकार न होने के कारण परस्पर विद्यमान अन्योन्याभाव को आकारभेद कैसे कहा जा सकेगा?

कुछ लोग कहते हैं कि अन्योन्याभाव या भेद शब्द से कही जाने वाली वस्तु है "वैधर्म्य"। वैधर्म्य का अर्थ होता है विपरीत अर्थात् विरुद्ध धर्म। "घट पट नहीं है" इसका अर्थ यह है कि पट में रहने वाले पटत्व से विरुद्ध अर्थात् उसके साथ एक जगह नहीं रहनेवाला जो घटत्व धर्म है, घट उसका आश्रय अर्थात् आधार है। किन्तु यह कथन इसलिए मान्य नहीं हो पाता कि उक्त कथन का पर्यवसित अर्थ यह होता है कि घट में रहने वाला पट का भेद यानी अन्योन्याभाव है घटत्व, और पट में रहनेवाला घट का अन्योन्याभाव है पटत्व। ऐसा मानना इसलिए सम्भव नहीं कि भाव कभी अभाव नहीं हो सकता और अभाव कभी भाव नहीं हो सकता, यह युक्तिपूर्वक पहले निर्णय किया जा चुका है।

कुछ लोगों का कहना है कि भेदात्मक अन्योन्याभाव "विशेष" से अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह कथन भी उपर्युक्त युक्ति से अनायास इसलिए खंडित हो जाता है कि "विशेष" शब्द से यदि "विशेष" नामक स्वतंत्र पदार्थ, जिसका पूर्ण परिचय पिछले प्रकरण में दिया जा चुका है, लिया जाय, तो वह भी भाव ही होता है। और यदि प्रत्येक वस्तु में साधारण रूप में विद्यमान घटत्व-पटत्व आदि किंवा गुण-कर्म लिये जायँ तो वे भी भाव ही होंगे। भाव और अभाव ये दोनों एक तत्व नहीं हो सकते यह सिद्ध हो चुका है। अतः अन्योन्याभाव विशेष ही है यह नहीं कहा जा सकता। स्वतंत्र पदार्थस्वरूप विशेषों को अन्योन्याभाव इसलिए भी नहीं माना जा सकता कि वे केवल नित्य द्रव्यों में ही रहते हैं और अन्योन्याभाव परस्पर गुण-कर्म आदि में भी रहता है। "रूप रस नहीं", "गुण क्रिया नहीं और क्रिया गुण नहीं" इस प्रकार असंख्य प्रतीतियाँ होती ही रहती हैं। घटत्व पटत्व आदि भेदक धर्मों को अन्योन्याभाव इसलिए भी नहीं कहा जा सकता कि "भेदक धर्म" इसके अन्दर भी भेद का प्रवेश हो जाता है, उसके निर्वचन के बिना अन्योन्याभाव का निर्वचन असम्भव ही रह जायगा। उसके निर्वचन के लिए भी प्रवृत्त होने पर वे ही कठिनाइयाँ उपस्थित

होंगी जो पहले उपस्थित हुई हैं। अतः अन्योन्याभाव को विशेष नहीं कहा जा सकता।

यदि कुछ प्रबुद्ध लोग यह आक्षेप करें कि इस विचार के आदि में जो अन्योन्याभाव का विवेचन किया गया है वह भी गम्भीर भाव से विचार करने पर टिक नहीं पाता। क्योंकि उक्त व्याख्या के अनुसार "घट पट नहीं है" इसका अर्थ होता है "घट में तादात्म्य सम्बन्ध से पट नहीं है", ऐसा मानने पर "घर में घड़ा नहीं है" इससे उसका कोई अन्तर नहीं रह जाता। फलतः अन्योन्याभाव और अनन्योन्याभाव इन दोनों में कोई अन्तर नहीं रह पाता। केवल इतने से ही अन्योन्याभाव और अनन्योन्याभाव इन दोनों का अन्तर मानना भी उचित नही कहा जा सकता कि अन्योन्याभाव का प्रतियोगी तादात्म्य सम्बन्ध से सीमित होता है और अनन्योन्याभाव के प्रतियोगी तादात्म्य सम्बन्ध से सीमित न होकर संयोग, समवाय आदि किसी अन्य सम्बन्ध से सीमित होते हैं। क्योंकि जब अनन्योन्याभाव के प्रतियोगी नियमतः किसी एक सम्बन्ध से सीमित नहीं होते, कहीं समवाय सम्बन्ध से, कहीं संयोग सम्बन्ध से और कहीं अन्य किसी सम्बन्ध से सीमित होते हैं, तब तादात्म्य को भी उन सम्बन्धों के अन्दर एक माना जा सकता है। विभिन्न वस्तुएँ विभिन्न प्रतीतियों के ही आधार पर मानी जाती हैं। "घर में संयोग से घड़ा नहीं है" और "तादात्म्य से घड़ा नहीं है" इन दोनों प्रतीतियों में अवच्छेदक अर्थात् सीमित करनेवाले सम्बन्ध के अतिरिक्त और कोई वैलक्षण्य तो मालूम नहीं होता। यदि कहा जाय कि एक विषय के भी वैलक्षण्य से प्रतीतियों का वैलक्षण्य तो होता ही है, अतः प्रतीति का वैलक्षण्य नहीं हो पाता यह कहना ठीक नहीं। तो फिर "घर में संयोग से घड़ा नहीं है" और "समवाय सम्बन्ध से घड़ा नहीं है" इन दो विलक्षण प्रतीतियों के विषय अभावों को अनन्योन्याभाव न मानकर विजातीय मानना चाहिए। अतः अन्योन्याभाव का उक्त "तादात्म्य सम्बन्ध से जिसका प्रतियोगी सीमित हो वह अभाव अन्योन्याभाव होता है" यह निर्वचन उचित नहीं कहा जा सकता। सुतरां अन्योन्याभाव और अनन्योन्याभाव रूप से किये गये विभाजन को संगत नहीं कहा जा सकता।

इसके उत्तर में अन्योन्याभाव का निर्वचन इस प्रकार करना चाहिए कि प्रतियोगी का समानाधिकरण होनेवाला अर्थात् प्रतियोगी के साथ एक काल में एक जगह रहनेवाला अभाव अन्योन्याभाव है। घर में जिस काल में घड़ा रहता है उस काल में भी "घर घड़ा नहीं है" यह ज्ञान होता है एवं तदनुरूप वाक्य-प्रयोग भी होता है। जिसका अभाव प्रतीत होता है वह होता है अभाव का प्रतियोगी —जैसे घटाभाव का प्रतियोगी घड़ा होता है। 'घर घड़ा नहीं है' यहाँ पर "नहीं है" शब्द से कहे जाने वाले अभाव का प्रतियोगी होता है घड़ा। वह जब घर में विद्यमान भी रहता है तब भी

"घर घड़ा नहीं है" यह प्रतीति होती ही है, अतः वहाँ "नहीं है" शब्द से कहा जाने वाला अभाव अपने प्रतियोगी घड़े के साथ एक ही काल में घर में रहता है। अतः वह अन्योन्याभाव होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

अथवा जहाँ समान वचनान्त विभिन्नवाचक दो शब्दों से सन्निहित निषेधवाचक शब्द प्रयुक्त हो वहाँ उस निषेधवाचक शब्द का अर्थ होता है अन्योन्याभाव। "घट पट नहीं है" यहाँ घट और पट शब्द दोनों ही समान वचनान्त हैं, प्रथमान्त हैं। अतः तत्सन्निहित निषेध वाचक "नहीं है" यह शब्द अन्योन्याभाव को बतलाता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

जहाँ यह कहा जाता है कि "घर में घड़ा नहीं है" वहाँ "घर में" और "घड़ा" ये दोनों पद समान वचनान्त होते नहीं। क्योंकि "घर में" यह है सप्तमी विभवित युक्त प्रयोग और "घड़ा" यह प्रथमा विभक्ति युक्त।

अनन्योन्याभाव

अन्योन्याभाव के उक्त निर्वचन के बाद कुछ लोग सरल रूप से अनन्योन्याभाव का निर्वचन यह करते हैं कि अन्योन्याभाव से भिन्न अभाव है अनन्योन्याभाव। परन्तु यह निर्वचन उतना अच्छा इसलिए नहीं कहा जा सकता कि अभाव शब्द के समान अन्योन्याभाव शब्द भी होता है "ससम्बन्धिक"। ससम्बन्धिक का अर्थ है साकांक्ष। अर्थात् अन्योन्याभाव शब्द के सुनते ही श्रोता को यह जिज्ञासा अनायास उठ खड़ी होती है कि "किसका?" जब तक घट-पट आदि के अन्दर किसी एक का नाम न लिया जाय तब तक "अन्योन्याभाव-भिन्न अभाव है अनन्योन्याभाव" इस लक्षणवाक्य से कुछ समझा ही नहीं जा सकता। यदि घट आदि किसी व्यक्तिविशेष वाचक पद को जोड़कर लक्षणवाक्य बनाया जाय, यथा—"घट के अन्योन्याभाव से भिन्न जो अभाव, वह है अनन्योन्याभाव" तो मठ आदि अन्योन्याभावों में भी यह अनन्योन्याभाव का उक्त निर्वचन लागू हो पड़ेगा। विभाजन ही असंगत हो पड़ेगा। अतः अनन्योन्याभाव का भी निर्वचन अन्य प्रकार से करना चाहिए, यथा—एक काल और एक आधार में प्रतियोगी के साथ न रहनेवाला अभाव है अनन्योन्याभाव। जब घर में घड़ा रहता है तब उसमें घड़े का अभाव नहीं रहता। क्योंकि घर में घड़े के रहते "घड़ा नहीं है" यह यथार्थ प्रतीति नहीं होती। अतः ऐसा अभाव अनन्योन्याभाव कहलायेगा।

अथवा—असमान वचनान्त विभिन्न वस्तुवाचक शब्दों सहित निषेधवाचक शब्द से समझा जाने वाला अभाव है अनन्योन्याभाव। "घर में घड़ा नहीं है" इस वाक्य में "घर में" यह सप्तमी विभक्त्यन्त पद है और घड़ा यह प्रथमान्त। अतः ये दोनों पद असमान वचनान्त हुए। इनसे सन्निहित निषेधवाचक पद हुआ "नहीं है"। उससे

समझा जाने वाला अभाव अनन्योन्याभाव होता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए। यदि "घर घटाभाव वाला है" ऐसा वाक्य प्रयोग किया जाय तो वहाँ भी "घटाभाव" का अर्थ होगा "घड़े का अभाव", उसके अन्दर "घड़े का" यह सम्बन्धवाचक होने के कारण षष्ठी विभक्त्यन्त होगा और "घर" यह प्रथमान्त। अतः असमान वचनान्त दो शब्द हो जायंगे, निर्वचन में कोई असंगति नहीं आ पायेगी।

इसी अनन्योन्याभाव को पूर्ववर्ती कुछ पदार्थशास्त्रियों ने "संसर्गाभाव" नाम से पुकारा है। संसर्गाभाव शब्द को रूढ़ या पारिभाषिक माननेवालों ने इसका भी निर्वचन वही किया है जो यहाँ सर्वप्रथम बतलाया गया है। जिन लोगों ने उक्त शब्द को यौगिक माना है उन्होंने इसकी व्याख्या यह की है कि संसर्ग विशेष से अर्थात् सम्बन्ध-विशेष से प्रतियोगी के आरोपोत्तर होने वाली प्रतीति का विषय होने वाला अभाव संसर्गाभाव है। अभिप्राय यह है कि कोई भी व्यक्ति घरमें जाकर आँख फिराकर प्रथमतः यह सोचता है कि "इस घर में यदि घड़े का अभाव न होता तो संयोग से घड़ा पाया जाता", यही हुआ संसर्गारोप, अर्थात् सम्बन्ध से घड़ा-स्वरूप प्रतियोगी का आरोप। उसके अव्यवहित उत्तर वह द्रष्टा यह समझता है कि "अतः यहाँ संयोग सम्बन्ध से घड़ा नहीं है।" इसलिए इस ज्ञान के विषयभूत अभाव का नाम है "संसर्गाभाव।" उन लोगों के दृष्टिकोण से इसका भी फलितार्थ यह समझना चाहिए कि "संसर्ग-सीमित-प्रतियोगिक अभाव" ही संसर्गाभाव है। अर्थ यह हुआ कि जिस अभाव का प्रतियोगी सम्बन्धविशेष से सीमित हो वह अभाव कहलाता है संसर्गाभाव। घड़ा कालिक आदि किसी न किसी सम्बन्ध से सर्वत्र या बहुत्र रहता ही है। जहाँ वह नहीं देखा जा रहा है वहाँ अन्य किसी न किसी सम्बन्ध से विद्यमान है, परन्तु संयोग सम्बन्ध से वह वहीं सीमित कर दिया जाता है जहाँ उसका संयोग सम्बन्ध विद्यमान रहता है। अतः अन्य सम्बन्ध से उस आधार में रहने पर भी "संयोग से घर में घड़ा नहीं है" इस प्रकार प्रतीति होती है। अतः घर में प्रतीयमान उस घटाभाव को संसर्गाभाव कहा जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। प्रागभाव और ध्वंस में भी यह निर्वचन किस प्रकार लागू होता है यह उनके विवेचन-स्थलों में दिखलाया जायगा।

प्रागभाव

'अभाव के प्रभेद' शीर्षक लेख में यह बतलाया जा चुका है कि अनन्योन्याभाव को (१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव, (३) अत्यन्ताभाव, (४) सामयिकाभाव इन चार प्रभेदों में विभक्त समझना चाहिए। उनके अन्दर सर्वप्रथम आता है प्रागभाव। यह प्रागभाव एक सरल यौगिक शब्द है। इसका अर्थ होता है किसी भी वस्तु की उत्पत्ति के पहले उस वस्तु का अनुभवसिद्ध अभाव। जैसे जिन तन्तुओं को जोड़ने से

कपड़ा बनता है उन तन्तुओं में उस कपड़े की उत्पत्ति के पहले कपड़ा उपलब्ध नहीं होता, इसके विपरीत उस कपड़े का अभाव प्रतीत होता है। वही अभाव है प्रागभाव। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। सर्वप्रथम इस प्रागभाव के सम्बन्ध में प्रश्न यह उठता है कि इसको "घड़ा होने वाला है", "कपड़ा उत्पन्न होने वाला है" इस प्रकार समझा एवं कहा जाता है। यहाँ निषेध की गन्ध भी नहीं है। ऐसी परिस्थिति में इसे अभाव कैसे माना जाय? इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि यदि कोई व्यक्ति किसी से कपड़े की उत्पत्ति के पूर्व यह पूछे कि अभी कपड़ा है या नहीं? तो वह पूछा जानेवाला क्या उत्तर देगा? यही न कि अभी नहीं है। सुतरां मानना ही होगा कि उत्पत्ति के पहले वस्तु का प्रागभाव उसके उत्पत्त्याधार में प्रतीत होता है और वह "नहीं है" इस निषेधवाचक शब्द से कहा जाता है। अतः जहाँ "है या नहीं" इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाय कि "होनेवाला है", उसका भी तात्पर्य "अभी नहीं है" यही है ऐसा समझना चाहिए। अभिप्राय यह कि निषेधवाचक शब्द का अर्थ निषेधार्थक ही समझना चाहिए, "होनेवाला है" यह शब्द लक्षणा वृत्ति से "नहीं है" इससे प्राप्त होने वाली अभाव वस्तु को ही कहता है। अतः वह भी निषेधार्थक है। अतएव यह कहना भूल है कि "घड़ा होनेवाला है" इस वाक्य के प्रयोग स्थल में निषेध की गन्ध भी नहीं है।

अन्य अभावों एवं भावों से प्रागभाव की यह विशेषता है कि यह अपने प्रतियोगी के प्रति यानी विरोधी के प्रति कारण होता है। यह इसलिए मानना पड़ता है कि इसके बिना उत्पत्तिशील वस्तुओं की उत्पत्तिव्यवस्था स्थिर नहीं हो पाती। यदि किसी एक घड़े के प्रागभाव को उसी घड़े के प्रति कारण न माना जाय तो इस प्रश्न का समाधान मिलना कठिन होगा कि वह घड़ा अपने उपादानभूत मृत्कपालों में ही उत्पन्न क्यों हुआ? तन्तु आदि अपने अनुपादानों में या अन्य कपालों में ही क्यों न उत्पन्न हुआ? यह कहकर इस प्रश्न को नहीं सुलझाया जा सकता कि उस घड़े के प्रति उपादान कारण वे ही कपाल हैं जिनमें वह उत्पन्न होता है। तन्तु आदि अन्य अनुपादान वस्तुएँ अथवा अन्य कपाल उस घड़े के प्रति उपादान कारण ही नहीं, अतः अन्यत्र उस घड़े की उत्पत्ति कैसे आपादित हो सकती है? क्योंकि इस प्रकार कहने पर भी यह प्रश्न अनिवार्य रह जाता है कि तब उस घड़े के अस्तित्व काल में भी प्रतिक्षण वह घड़ा उन कपालों में क्यों नहीं उत्पन्न होता रहता है। क्योंकि उपादान होनेवाले वे कपाल तब तक रहते ही हैं, जब तक घड़ा नष्ट न हो जाय। कपालों के अतिरिक्त घटोत्पत्ति के लिए अपेक्षित कपालद्वय-संयोग भी बना ही रहता है। उस घड़े के प्रागभाव को उस घड़े के प्रति कारण मानने पर यह आपत्ति इसलिए सामने नहीं फटक पाती कि अपने उपादान-

भूत कपालों में जब वह घड़ा उत्पन्न होता है तो उस घड़े का वह प्रागभाव नष्ट हो जाता है जो कि उस घड़े के कारण-कूट का एक सदस्य होने के नाते उस घड़े का उत्पादक था। किसी एक कारण के न रहने पर कार्य का न होना स्वाभाविक ही है। अतः उस घड़े के प्रागभाव का नाश हो जाने पर कारणभूत उसके अभाव में कपाल आदि कारणों के होने पर भी वह घड़ा पुनः उत्पन्न नहीं हो पाता। प्रागभाव अपने प्रतियोगी के उपादान में ही रहता है अन्यत्र नहीं। अतः प्रागभाव की मान्यता के पक्ष में घड़े के प्रति अनुपादानभूत तन्तु आदि में घड़े की उत्पत्ति का आपादान नहीं किया जा सकता। अब यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि तन्तु आदि में घड़ा क्यों नहीं उत्पन्न होता ? इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

प्रागभाव न मानने पर या उसे अपने प्रतियोगी का कारण न मानने पर एक आपत्ति इस प्रकार भी आती है कि सहस्र-तन्तुक अर्थात् हज़ार तन्तुओं से उत्पन्न होने वाला कपड़ा हजार के अन्तर्गत केवल सौ दो सौ तन्तुओं में भी उत्पन्न होने लगेगा। क्योंकि वे सौ दो सौ तन्तु भी उस सहस्र-तन्तुक पट के उपादान माने ही जाते हैं। यदि विपक्ष से यह कहा जाय कि सहस्रों तन्तुओं के संयोग को उस सहस्रतन्तुक पट के प्रति कारण होने से उक्त आपत्ति वारित हो जायगी। क्योंकि सहस्रवें तन्तु का संयोग तो सहस्रवें तन्तु में रहेगा, सौ दो सौ मात्र में नहीं। तो आपत्ति यह आ पड़ेगी कि वह सहस्र-तन्तुक पट तब एक मात्र अन्तिम सहस्रवें तन्तु में ही उत्पन्न हो पायेगा, सहस्रों तन्तुओं में नहीं। क्योंकि सहस्रवाँ संयोग तो केवल एक मात्र उस अन्तिम सहस्रवें तन्तु में रहेगा। कारण कहीं और कार्य की उत्पत्ति कहीं, ऐसी बात कभी किसी से मान्य नहीं होती। हाँ सहस्र तन्तुओं के सहस्रों संयोगों को उस सहस्र तन्तुक पट के प्रति कारण मानने पर उक्त आपत्ति का निराकरण हो सकता है। केवल सौ दो सौ तन्तुओं में उस सहस्र-तन्तुक पट की उत्पत्ति आपादित नहीं हो सकेगी, क्योंकि उन हजार तन्तुओं के हज़ार संयोग उन केवल सौ दो सौ तन्तुओं में नहीं रहेंगे। परन्तु एक सहस्र-तन्तुक कपड़े के प्रति उन हज़ार संयोगों को कारण मानने की अपेक्षा एक अलग, उस पट के प्रागभाव को कारण मान लेना अति लाघव के कारण विवेचकों के लिए कहीं अधिक मान्य होगा। अतः प्रागभाव मानना ही चाहिए।

जो लोग अभाव से भावों की उत्पत्ति मानते हैं, उसीसे जगत् की सृष्टि मानते हैं उनके मत में यह प्रागभाव अपने प्रतियोगी का उपादान कारण मान लिया जाता है। परन्तु पदार्थशास्त्री इससे सहमत नहीं हो सकते, क्योंकि उपादान और उपादेय में साजात्य का नियम अकाट्य है। मिट्टी से बनी चीज मृन्मय ही होती है और कुछ नहीं। सुतरां इस प्रागभाव को भावों का उपादान मानने पर भाव, भाव न होकर

अभाव हो जायंगे, जो कि अनुभवविरुद्ध है। क्योंकि अभाव का स्वरूप है शून्यता और भाव का पूर्णता, अशून्यता। ये दोनों आपस में अति विरुद्ध हैं। अत: प्राच्य पदार्थ-शास्त्रियों ने प्रागभाव को निमित्त कारण के रूप में मान्यता दी है। इनका कहना है कि प्रत्येक जन्य वस्तु का प्रागभाव उस वस्तु की उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्व तक उसके उपादान में रहता है और वही उस वस्तु की उत्पत्ति की व्यवस्था करता है तथा उस वस्तु की उत्पत्ति के पर क्षण में उसी वस्तु द्वारा मारा जाता है। अत: कुछ लोगों ने प्रागभाव का परिचय इस प्रकार भी दिया है कि जिस अभाव का विनाश हो वह प्रागभाव है। घड़े की उत्पत्ति के पर क्षण में उस घड़े का प्रागभाव नष्ट हो जाता है। अत: प्रागभाव विनाशी अभाव होता है। इसी प्रकार सभी प्रागभावों को समझना चाहिए।

परिणामवादियों के मत में निमित्त कारण होता ही नहीं। उनके यहाँ कारण एक ही प्रकार का होता है जिसे उपादान कहा जाता है। उपादान-उपादेयों का साजात्य नियम इनको भी मान्य होता है। अत: ये लोग प्रागभाव या उसे अपने प्रतियोगी के प्रति कारण नहीं मानते। परन्तु निमित्त कारण का विचार प्रथम प्रकरण में किया जा चुका है, तदनुसार उसे मानना ही होगा। प्रागभाव को प्रतियोगी के प्रति निमित्त कारण न मानने पर होनेवाली आपत्ति अभी-अभी बतलायी गयी है। अत: प्रागभाव को प्रतियोगी के प्रति निमित्त कारणरूप में मान्यता देनी ही होगी। यह सर्वथा अनिवार्य है। इस अभाव की विशेषता यह है कि इसकी उत्पत्ति नहीं होती। यह अनादि होता है, किन्तु इसका विनाश होता है। इसीलिए किसी वस्तु के उत्पन्न हो जाने पर "वह होने वाली है", "वह होगी" इत्यादि प्रागभाव-बोधक वाक्य का प्रयोग नहीं होता है।

प्रध्वंसाभाव

ध्वंस, प्रध्वंस, नाश, विनाश ये सभी शब्द पर्याय हैं। इन शब्दों से कहा जाने वाला अभाव होता है प्रध्वंसाभाव। "चाणक्य की कूटनीति से नन्द का महासाम्राज्य ध्वस्त हो गया", "कुसुमपुर भीषण अग्निकांड से विनष्ट हो गया" इत्यादि वाक्य, प्रयोग स्थल में "ध्वस्त हो गया", "विनष्ट हो गया" इन प्रयोगों से एक प्रकार का अभाव अवश्य कथित एवं ज्ञात होता है। वही है प्रध्वंसाभाव। इसकी एक विशेषता यह है कि इस अभाव की उत्पत्ति होती है किन्तु इसका नाश नहीं होता। उदाहरण के द्वारा इसे इस प्रकार समझा जाय--एक घड़े पर किसी ने डण्डे से प्रहार किया तो वह घड़ा फूट गया। यह फूटना प्रध्वंस अभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जब तक घड़े पर डण्डे का प्रहार नहीं हुआ था तब तक वहाँ घड़ा विद्यमान ही था, फूटा

नहीं था यह मानना ही होगा। अतः यह भलीभांति कहा एवं समझा जा सकता है कि डण्डे के प्रहार से घड़े का प्रध्वंसाभाव उत्पन्न हुआ। सुतरां यह मानना होगा कि प्रध्वंसस्वरूप अभाव उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। इसीलिए प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने जगह जगह पर यह कहा है कि जिस अभाव की उत्पत्ति हो किन्तु नाश न हो वह अभाव है प्रध्वंस अभाव। प्रध्वंस का प्रध्वंस इसलिए नहीं माना जाता कि प्रध्वंस का भी यदि प्रध्वंस हो तो उसकी प्रतियोगी भाव वस्तु का पुनः अस्तित्व होना चाहिए। यथा डंडे के प्रहार से घड़ा फोड़ दिया गया, उसका प्रध्वंस उत्पन्न हुआ, इसके अनन्तर यदि उस घट-ध्वंस का भी ध्वंस हो जाय तो उस घट का जिसका कि डंडे के प्रहार से ध्वंस किया गया था, पुनः आगमन होना चाहिए। क्योंकि ध्वंसात्मक विरोधी की विद्यमानता-प्रयुक्त ही वह घट नहीं रह पाया था, अब यदि उसका वह ध्वंसात्मक विरोधी ध्वस्त हो जाय तो वह घड़ा क्यों नहीं पुनः आ जायगा ? दूसरी बात यह कि किसी भी वस्तु का स्वरूप-निर्धारण बहुतर अभ्रान्त ज्ञान एवं तदनुरूप लोकव्यवहार के आधार पर ही हो सकता एवं होता है। "घड़ा फूट गया", "कपड़े फट गये" इत्यादि अभ्रान्त ज्ञान एवं व्यवहार जिस प्रकार अबाधित भाव से होते रहते हैं उस प्रकार से कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति घट-ध्वंस फूट गया, नष्ट हो गया इस प्रकार ज्ञान या वाक्य प्रयोग करता है ? कभी नहीं। फिर यह कैसे माना या कहा जा सकता है कि ध्वंस का भी ध्वंस या नाश होता है।

कुछ लोग ध्वंस का भी ध्वंस मानते हैं। उनका कहना यह है युक्ति के सहारे जो बात सिद्ध हो उसे मानना चाहिए। लोगों में व्यवहारतः वैसा ज्ञान या वाक्यप्रयोग भले ही न होता हो, किन्तु ध्वंस का भी ध्वंस इसलिए मानना अनिवार्य होगा कि प्रागभाव और ध्वंस इन दोनों को अपने प्रतियोगी के आधार में ही प्रतिष्ठित माना जाता है। यथा घड़े के प्रागभाव और ध्वंस को मृत्कपाल में प्रतिष्ठित माना जाता है। ऐसी परिस्थिति में जहाँ दण्डप्रहार से कपाल तक चूर्ण-विचूर्ण हो जायगा वहाँ वह घटध्वंस किस आधार पर प्रतिष्ठित होगा ? क्योंकि दण्डप्रहार से वह कपाल तक नष्ट हो चुका है, जिसमें घट-ध्वंस बैठ सकता। अतः ऐसी स्थिति में यह मानना ही होगा कि ध्वंस का भी ध्वंस होता है।

परन्तु यह कथन इसलिए ठीक नहीं कि युक्तिमात्र से किसी वस्तु का खण्डन या मण्डन नहीं हो सकता, किन्तु सत् युक्ति से होता है। वही युक्ति सत् हो सकती है जिसके पीछे अभ्रान्त लोकानुभव और लोकव्यवहार का वरद-हस्त हो। अतः उक्त युक्ति किंचित्कर नहीं कही जा सकती। ध्वंस का ध्वंस नहीं माना जा सकता। दूसरी बात यह कि प्रदर्शित युक्ति में कुछ बल भी नहीं है। "निराश्रय ध्वंस कैसे रहेगा"

यही तो ध्वंस-ध्वंसवादी का कहना है। परन्तु जो अद्वैतवादी अद्वैत वस्तु को स्वप्रतिष्ठ या अप्रतिष्ठ अनायास मानते हैं वे "ध्वंस निराश्रय कैसे रहेगा" यह पूछने का अधिकार कैसे रख सकते हैं ? पदार्थशास्त्री सामान्य की तरह समय-विशेष में ध्वंस को स्वप्रतिष्ठ या अप्रतिष्ठ भी मान सकते हैं। यदि ध्वंस को परप्रतिष्ठ अर्थात् पराश्रित ही बनाना हो तो इसमें भी पदार्थशास्त्रियों को ऐसी कोई कठिनाई नहीं प्राप्त हो सकती। क्योंकि समग्र जगत का आधार काल, ध्वंस का भी आधार बनने के लिए प्रस्तुत ही रहेगा। अतः उक्त युक्ति बिल्कुल टिक नहीं पाती कि कपाल-ध्वंस के स्थल में घट-ध्वंस किसके ऊपर आश्रित होकर रह सकेगा।

कुछ अभावकारणवादी इस ध्वंस से ही भावों की उत्पत्ति मानते हैं। उनका कहना है कि अंकुर तब तक उत्पन्न नहीं होता जब तक बीज फूलकर नष्ट न हो, घड़े तब तक उत्पन्न नहीं होते जब तक पिण्डाकार मिट्टी का विनाश नहीं होता। इसी प्रकार सब जगह देखा जा सकता है। अतः प्रध्वंसात्मक अभाव से ही किसी भी वस्तु को उत्पत्ति होती है। परन्तु यह इसलिए मान्य नहीं कि चूर्णीकृत बीज से तो अंकुर उत्पन्न नहीं होते। धूलीकृत मिट्टी से भी घड़े नहीं बनते। सुतरां ध्वंस को किसी भी वस्तु का उपादान नहीं बनाया जा सकता।

कुछ लोग इस प्रध्वंसाभाव को अभाव न मानकर क्रिया मानते हैं। इसका खण्डन कर्म-निरूपण में किया जा चुका है।

अत्यन्ताभाव

अनन्योन्याभाव के अन्दर तीसरा स्थान है अत्यन्ताभाव का। जहाँ जो वस्तु कभी न हो वहाँ रहने वाला उसका अभाव अत्यन्ताभाव कहलाता है। जैसे वायु में रूप कभी नहीं होता। उस में किसी प्रकार का रूप न था न आज है और न कभी होगा। अतः "वायु में रूप नहीं है" इस प्रकार ज्ञान का विषय एवं वाक्य का प्रतिपाद्य अभाव अत्यन्ताभाव कहलाता है। ऐसी व्याख्या पर ही "अत्यन्ताभाव" इस नाम के अन्दर "अत्यन्त" पद की सार्थकता होती है। अतः इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

कुछ लोगों का कहना है कि जिस अभाव का प्रतियोगी संसर्ग से अर्थात् किसी भी सम्बन्ध से सीमित है वह अभाव अत्यन्ताभाव कहलाता है। जैसे घर में संयोग सम्बन्ध से घड़े का न रहना अत्यन्ताभाव है। अभिप्राय यह है कि कोई भी वस्तु जहाँ किसी एक सम्बन्ध से रहती है वहाँ वह वस्तु अन्य सम्बन्ध से नहीं रहती। यथा घर में घड़ा यदि "संयोग" सम्बन्ध से रहता भी है तो "समवाय" सम्बन्ध से नहीं रहता। इसी प्रकार घड़े के उपादान कारण कपाल में समवाय सम्बन्ध से घड़ा रहने

पर भी "संयोग" सम्बन्ध से नहीं रहता। इसीलिए "कपाल में संयोग सम्बन्ध से घड़ा नहीं है", "घर में समवाय सम्बन्ध से घड़ा नहीं है" इस प्रकार ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोग विवेचक लोग किया करते हैं। अतः यह मानना आवश्यक है कि किसी भी सम्बन्ध से आबद्ध कर यदि किसी वस्तु का ज्ञान या वाक्य प्रयोग किया जाता है, वहाँ उस ज्ञान का विषय एवं उस वाक्य का प्रतिपाद्य होने वाला अभाव अत्यन्ताभाव होता है। इस अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी को किसी खास सम्बन्ध से सीमित कर लेने या आबद्ध कर लेने का प्रयोजन यह होता है कि किसी भी आधार में सामान्यतः किसी का भी अभाव समझना या कहना कठिन है। क्योंकि किसी न किसी सम्बन्ध से प्रत्येक वस्तु प्रत्येक वस्तु पर आधारित होती है। जैसे वही घड़ा समवाय सम्बन्ध से कपाल में, सयोग सम्बन्ध से गृह-भूतल आदि में, कालिक सम्बन्ध से काल एव समग्र काल की परिच्छेदक उत्पत्तिशील वस्तुओं में, दैशिक सम्बन्ध से दिक् एव दिक्-परिच्छेदक अव्यापक द्रव्यों में, द्रव्यत्व सामान्य को लेकर एक जातीयता सम्बन्ध से व्यापक आत्मा आदि द्रव्यों में, भावत्व, पदार्थत्व आदि को लेकर समानधर्मता सम्बन्ध से अन्य सभी भावों एव अभावों में रहता है, प्रतीत हो सकता है, वाक्यों से प्रतिपादित हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में किसी भी सम्बन्ध विशेष से उसे आबद्ध किये बिना किसी भी आधार में "घड़ा नहीं है" इस प्रकार घड़े का सामान्यतः अभाव कैसे समझा या समझाया जा सकता है? अतः किसी भी वस्तु का अभाव समझने के लिए उसके प्रतियोगी को आबद्ध कर लेना, सीमित कर लेना आवश्यक ही होगा। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए कुछ विवेचकों ने अत्यन्ताभाव का निर्वचन इस प्रकार किया है कि "संसर्गावच्छिन्न-प्रतियोगिता का अभाव होता है अत्यन्ताभाव।" इसके अन्दर "संसर्ग" शब्द का अर्थ है "सम्बन्ध" और "अवच्छिन्न" शब्द का अर्थ है "सीमित"। इसके अन्दर प्रतियोगी शब्द का प्रयोग न करके "प्रतियोगिता" शब्द का प्रयोग सभी प्रतियोगियों के संग्रहार्थ किया गया है। जैसे "जनता" का अर्थ होता है जनसमुदाय और गजता का अर्थ होता है हाथीसमुदाय। इसी प्रकार "प्रतियोगिता" का अर्थ प्रतियोगी-समुदाय समझना चाहिए। फलतः इस निर्वचन का पर्यवसान इसी अर्थ में होता है कि जिस अभाव का प्रतियोगी किसी सम्बन्ध से सीमित हो वह अभाव होता है अत्यन्ताभाव, जैसा कि अभी ऊपर लिखा गया है।

परन्तु अत्यन्ताभाव का यह निर्वचन इसलिए सर्वमान्य नहीं हो पाता कि कुछ प्राचीन पदार्थविवेचक प्रागभाव के प्रतियोगी को "उत्तरकाल" सम्बन्ध से और प्रध्वंस के प्रतियोगी को "पूर्वकाल" सम्बन्ध से अवच्छिन्न, आबद्ध अर्थात् सीमित मानते हैं। ऐसी परिस्थिति में प्रागभाव और प्रध्वंस भी, जिनका निर्वचन अत्यन्ताभाव से

पहले अलग किया जा चुका है—"अत्यन्ताभाव" कहलाने के अधिकारी हो जाते हैं जो कि उचित नहीं।

यद्यपि इस निर्वचन के कुछ पक्षपातियों ने इस आपत्ति के निवारणार्थ भी चेष्टा की है। वे कहते हैं कि जिस अभाव का प्रतियोगी संसर्ग से अर्थात् किसी सम्बन्ध से सीमित हो एव स्वयं जो त्रैकालिक हो ऐसा अभाव अत्यन्ताभाव कहलाने का अधिकारी है। अब प्रध्वंस और प्रागभाव इसलिए अत्यन्ताभाव होने के अधिकारी नहीं बन पाते कि प्रध्वंस पहले नहीं रहता और प्रागभाव पीछे नहीं रहता। अतः उन्हें त्रैकालिक नहीं कहा जा सकता। "वायु में रूप नहीं है" इत्यादि सहस्रों प्रतीति के विषय होने से अत्यन्ताभाव त्रैकालिक होते ही हैं, क्योंकि वायु में रूप कभी नहीं रहता।

परन्तु यहाँ तक पहुँचने पर तो इतना ही कहकर काम चल सकता है कि त्रैकालिक अनन्योन्याभाव अत्यन्ताभाव है। अभिप्राय यह हुआ कि अनन्योन्याभाव के अन्दर जो त्रैकालिक हो अर्थात् तीनों काल में रहने वाला हो वह अभाव अत्यन्ताभाव है। ध्वंस और प्रागभाव त्रैकालिक नहीं होते और भेदात्मक अन्योन्याभाव जो कि त्रैकालिक होता है वह अन्योन्याभाव होने के कारण "अनन्योन्याभाव" नहीं होता। सुतरां ऐसा अभाव केवल अत्यन्ताभाव ही परिशिष्ट रह जाता है। अतः यह निर्वचन उचित एव लघु होने के कारण सर्वमान्यता प्राप्त कर सकता है। तब यहाँ किया गया प्रथम निर्वचन ही अत्यन्ताभाव का सच्चा निर्वचन बन जाता है।

सामयिकाभाव

"घर में घड़ा नहीं है", "बक्स में कपड़ा नहीं है" इस प्रकार समझे एव समझाये जानेवाले घट-पट आदि के अभाव "सामयिकाभाव" होते हैं। इन्हें सामयिक अभाव इसलिए कहा जाता है कि ये किसी भी आश्रय में सदा नहीं रहते, खास समय में ही रहते हैं। घड़े का अभाव घर में सदा नहीं रहता, घड़ा लाने से पहले और घड़ा हट जाने पर ही रहता है। जब घर में घड़ा रहता है तब "घर में घड़ा नहीं है" ऐसा नहीं समझा जाता। वायु में रूप का अभाव जिस प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में रहता है, घर में घड़े का अभाव उस प्रकार तीनों काल में नहीं रहता। क्योंकि जब घर में घड़ा रहता है तब घड़े का अभाव नहीं रहता। अतः यह मानना होगा कि घर में रहनेवाला घड़े का अभाव वायु में रहने वाले रूपाभाव की तरह अत्यन्ताभाव नहीं है अपितु घड़े का सामयिक अभाव है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। "सामयिक" का अर्थ होता है सर्वदा न होकर किसी खास समय में ही होने वाला। घर आदि आधारों में घड़ा आदि अव्यापक वस्तुओं के अभाव सदा नहीं होते क्योंकि प्रतीत नहीं होते, अतः वे अभाव सामयिक कहलाते हैं।

कुछ लोग इस सामयिकाभाव को अनन्योन्याभाव का स्वतंत्र प्रभेद न मानकर अत्यन्ताभाव ही मानते हैं। वे कहते हैं कि जैसे--"वायु में रूप नहीं है" यह ज्ञान या वाक्य प्रयोग होता है उसी प्रकार घर में घड़ा नहीं है, कपड़ा नहीं है इत्यादि ज्ञान एवं वाक्य प्रयोग भी होता है। कोई विशेष अन्तर तो दिखाई देता नहीं, फिर सामयिकाभाव को अत्यन्ताभाव से अतिरिक्त क्यों माना जाय ? अतः सामयिकाभाव भी अत्यन्ताभाव ही है। परन्तु इनके सामने प्रश्न यह उपस्थित होता है कि घर में प्रतीत होनेवाले घटाभाव आदि को भी वायु में प्रतीत होनेवाले रूपाभाव की तरह अत्यन्ताभाव मानने पर वायु में जैसे रूप का अभाव त्रैकालिक अर्थात् सार्वदिक होता है उसी प्रकार घर में घटाभाव को भी सार्वदिक होना चाहिए। ऐसा होने पर घर में जब घड़ा रहेगा तब भी उस घर में "घडा नहीं है" इस प्रकार प्रतीति अर्थात् ज्ञान होना चाहिए, जैसा कि होता नहीं।

इसका उत्तर इन लोगों की ओर से यह दिया जा सकता है कि यह बात सही है कि घर में घड़े के रहने पर भी घटात्यन्ताभाव रहता है। परन्तु उस समय "घर में घड़ा नहीं है" यह ज्ञान इसलिए नहीं होता है कि "घट-संयोगध्वंस" और "घट-संयोग-प्रागभाव" को घर में घटाभाव की प्रतीति के लिए यानी ज्ञान के लिए अपेक्षित माना जायगा। इसलिए घर में घट के रहते "घर में घड़ा नहीं है" इस प्रकार अत्यन्ताभाव विषयक ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि घर में जब घड़ा रहता है तब संयोग सम्बन्ध से ही रहता है। अतः उस समय घर में "घटसंयोग" रहता ही है, न घट-संयोग का ध्वंस रहता है और न घट-संयोग का प्रागभाव, जिसे कि उक्त ज्ञान एवं वाक्य प्रयोग का नियामक माना गया है। सुतरां घर में घट रहते समय "यहाँ घड़ा नहीं है" इस प्रकार ज्ञान नहीं हो पाता एवं तदनुरूप वाक्य प्रयोग भी नहीं हो पाता।

गम्भीर भाव से इस पक्ष पर दृक्पात करने पर निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रत्येक अत्यन्ताभाव असीम है। अर्थात् उसका सीमा-निर्धारण न काल से और न देश से सम्भव है। अतः अत्यन्ताभाव नित्य होता है एवं व्यापक होता है।

इस पक्ष वाले कुछ लोग कहते हैं कि जहाँ घड़ा नहीं था वहाँ घड़ा ले आने पर भी घड़े का वह अभाव जो कि पहले था रहता ही है, न मर जाता और न कहीं अन्यत्र चला जाता है। वह मरता इसलिए नहीं कि अत्यन्ताभाव नित्य होता है, और जाता कहीं इसलिए नहीं कि उसमें क्रिया नहीं होती। क्रिया अव्यापक द्रव्यों में ही होती है। किन्तु उसका प्रतीति-नियामक सम्बन्ध नहीं रहता, वह सम्बन्ध अनित्य होता है। अतः उक्त स्थल में घट लाने पर घटात्यन्ताभाव के रहने पर भी घटात्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष लोग कर नहीं पाते।

परन्तु यहाँ कठिनता यह उपस्थित होती है कि वह काल-घटित सम्बन्ध कैसा है? उसका स्वरूप क्या है? इसका ठीक उत्तर मिलता नहीं। यदि तत्कालीन आश्रयों को ही किसी आश्रय में होनेवाले अभाव के ज्ञान का नियामक माना जाय, अर्थात् जिस समय जिस आश्रय में अभाव का ज्ञान हो उसी समय के उस आश्रय को अभाव का सम्बन्ध माना जाय—यथा जिस समय घर में घटाभाव लोग देखते हैं तत्सामयिक घर को घटाभाव के ज्ञान का नियामक खास सम्बन्ध माना जाय, क्योंकि ऐसा सम्बन्ध मानने पर घर में घड़े के रहते घड़े के अत्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष इसलिए आपादित नहीं हो सकेगा कि "तत्सामयिक भूतल" स्वरूप सम्बन्ध, जो कि विभिन्न अभावों की प्रमा-प्रतीति का नियामक माना जा रहा है, नहीं रह पाता। किसी भी आधार में घट के अस्तित्व-क्षण और नास्तित्व-क्षण इन दोनों को किसी प्रकार एक नहीं किया जा सकता। सुतरां तत्तत् क्षणघटित सम्बन्ध बदल जायंगे। इस प्रकार प्रमा-प्रतीति के नियामक सम्बन्ध-विशेष के न रहने पर घर आदि आधार में "यह घर घड़े का अभाव वाला नहीं" इस प्रकार अभाव की प्रमाप्रतीति का न होना स्वाभाविक ही है।

तो यह द्वितीय पक्ष अर्थात् तत्तत्-क्षणघटित सम्बन्ध को प्रतीति-नियामक माननेवाला पक्ष इसलिए बन नहीं सकता कि तत्तत्सामयिक आधारात्मक स्वरूप को सम्बन्ध कहना अति युक्ति-विरुद्ध है। क्योंकि जिस आधार में अभाव की प्रतीति की जाती है उसी को सम्बन्ध नहीं बनाया जा सकता। सम्बध और सम्बन्धी कभी एक नहीं हो सकते। घर में जब घड़े को रखते हैं तब घर और घड़ा इन दोनों से भिन्न होनेवाला संयोग ही घर और घड़ा इन दोनों का सम्बन्ध होता है। सर्वत्र आधार-आधेय भाव स्थल में यही नियम पाया जाता है। ऐसी परिस्थिति में "तत्तत्-सामयिक घर" को ही घर में घटाभाव के रखने के लिए सम्बन्ध रूप से कैसे चुना जा सकता है?

दूसरी जटिल समस्या इस पक्ष में यह उपस्थित होती है कि "तत्तत् सामयिक आधार" के अन्दर, जिसे अभाव-बुद्धि का नियामक सम्बन्ध मानने का दावा किया जा रहा है, "तत्तत्" इस शब्द से वक्ता का विवक्षित अर्थ क्या है? यदि अत्यन्ताभाव को लिया जाय तो त्रैकालिक नित्य होने के कारण घड़ा ले आने पर भी घटात्यन्ताभाव घर आदि आधार में रहता ही है। इसलिए "घटात्यन्ताभाव-सामयिक घर" स्वरूप घटात्यन्ताभाव की प्रतीति का निामक सम्बन्ध वहाँ विद्यमान ही रह जाता है। उस सम्बन्ध का विघटन नहीं हो पाता। ऐसी परिस्थिति में यह आपत्ति ज्यों की त्यों बनी रह जाती है कि "अत्यन्ताभाव को नित्य और व्यापक मानने पर घड़े के आधार में भी "यहाँ घड़ा नहीं है" इस प्रकार घड़े का अभाव क्यों नहीं समझा

जाता है।"

यदि उक्त सम्बन्ध के अन्तर्वर्त्ती "तत्तत्" शब्द का अभिप्रेत अर्थ अत्यन्ताभाव प्रतीति को माना जाय अर्थात् घटात्यन्ताभावीय ज्ञान के सम-सामयिक घर को वहाँ सम्बन्ध माना जाय तो इससे भी उक्त आपत्ति हटती नहीं। घड़े के आधार में भी भ्रान्त व्यक्ति को "यहाँ घड़ा नहीं है" इस प्रकार घटाभाव की प्रतीति होती ही है। सुतरां घटात्यन्ताभाव-प्रतीति का "सम-सामयिक आधार" स्वरूप उक्त प्रतीतिनियामक सम्बन्ध उस समय वहाँ नहीं है यह भी नहीं कहा जा सकता।

यदि कहा जाय कि "तत्तत्" इस पद से अत्यन्ताभाव की यथार्थ प्रतीति को लेंगे। घड़े के रहते हुए जो किसी भ्रान्त व्यक्ति को घटाभाव की प्रतीति होती है वह भ्रमरूप अयथार्थ होती है, अतः "अत्यन्ताभाव की यथार्थ प्रतीति का समसामयिक आधार" स्वरूप सम्बन्ध नहीं रहा। तो यह कहना तब तक कठिन है जब तक कि विचार्यमाण सम्बन्ध का स्वरूप-निर्णय न हो जाय। क्योंकि सम्बन्ध निर्णय के पहले, उक्त भ्रम-प्रतीति यथार्थ प्रतीत नहीं है—यह कहना इसलिए कठिन होता है कि जहाँ जो हो वहाँ उसे समझना ही यथार्थ ज्ञान कहलाता है। घड़ा लाने पर भी जब कि नित्य एवं व्यापक माने जाने के कारण घड़े के अधिकरण में घटात्यन्ताभाव माना जा रहा है, तब उस समय भी आधार में घटात्यन्ताभाव समझना भूल नहीं यथार्थ ही होगा। सुतरां उक्त स्थल में घटात्यन्ताभाव की यथार्थ प्रतीति का सम-सामयिक आधारस्वरूप अपेक्षित सम्बन्ध नहीं है यह कैसे कहा जा सकता है। अतः घटात्यन्ताभाव आदि कादाचित्क प्रतीत होने वाले सभी अभावों को अत्यन्ताभाव न मानकर सामयिकाभाव मानना ही उचित है।

घट-संयोगप्रागभाव और घट-संयोगध्वंस को अत्यन्ताभाव की प्रतीति का नियामक मानकर कथंचित् सामयिकाभाव को भी अत्यन्ताभाव की परिधि में लाया जा सकता है, जैसा कि पहले दिखाया गया है। परन्तु वह भी उचित इसलिए प्रतीत नहीं होता कि "अत्यन्ताभाव" शब्द "अत्यन्त" और "अभाव" इन दो शब्दों के योग से बना हुआ एक यौगिक शब्द है, यह अनायास स्पष्ट प्रतीत होता है, जिससे यह मालूम होता है कि अत्यन्त, अभाव के विशेषण रूप से विवक्षित है। ऐसी परिस्थिति में घटाभाव आदि अभावों को अत्यन्ताभाव कैसे माना एवं मनवाया जा सकता है? जो अभाव आधार में कदाचित् प्रतीत होता है और कदाचित् नहीं, उसकी अत्यन्तता कैसी? कादाचित्क रूप से प्रतीत होने वाले को भला "अत्यन्त" कैसे कहा जा सकता है। अतः वायु आदि में रूप आदि के अभावों को अत्यन्ताभाव और घर आदि में घड़े आदि के अभावों को सामयिकाभाव मानना चाहिए।

विशिष्टाभाव नहीं

अभाव के संबंध में कुछ लोगों का कहना है —

अन्य दृष्टिकोण से यदि अभाव का विभाजन करें तो इसको (१) विशिष्टाभाव और (२) अविशिष्टाभाव इन दो भागों में वर्गीकृत कर लेना चाहिए। विशिष्टाभाव वह होता है, जिसके एकाधिक प्रतियोगी आपस में विशेष्य-विशेषण भावापन्न रूप से भासते हैं अर्थात् प्रतीति के विषय बनते हैं। जैसे "यहाँ दण्डधर देवदत्त नहीं है" इस प्रकार यदि समझा जाय तो दण्ड-स्वरूप विशेषण से विशेषित देवदत्त नामक व्यक्ति का अभाव समझा जाता है। अतः 'दण्डधर देवदत्त' का अभाव विशिष्टाभाव कहलाता है। अविशिष्टाभाव को फिर एकाभाव और अनेकाभाव इन दो भागों में विभक्त समझना चाहिए, जिसके अन्दर अनेकाभाव को फिर द्वितयाभाव, त्रितयाभाव आदि से बढ़ाते-बढ़ाते अन्तिम संख्या परार्ध को लेकर परार्धाभाव तक समझना चाहिए। इस प्रकार अलग से अभाव का स्वतंत्र विभाजन इसलिए करना पड़ता है कि पूर्वप्रदर्शित प्रक्रिया से विभाजन के अन्तर्गत आनेवाले प्रागभाव एवं ध्वंस इन दोनों का विशिष्टाभाव आदि रूप से अवान्तर विभाजन सम्भव नहीं। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के प्रागभाव एवं ध्वंस ये दोनों ही अभाव अलग-अलग ही हुआ करते हैं। जहाँ "घटसहित पट ध्वस्त हुआ" ऐसा ज्ञान होता है वहाँ "सहित" इस पद से घट का ध्वंस और पट का ध्वंस इन दो अभावों में ही एककालीनता स्वरूप साहित्य का भान होता है। इसी प्रकार प्रागभाव स्थल में भी समझना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक जन्य वस्तु का ध्वंस और प्रागभाव अलग-अलग ही हुआ करता है एवं प्रतियोगी के उपादान में ही अलग-अलग रहा करता है, यह बात पहले ही बतलायी जा चुकी है।

परन्तु गहराई से विचार करने पर विशिष्टाभाव नाम का कोई अभाव-प्रभेद नहीं माना जा सकता। क्योंकि किसी भी विशिष्टाभाव स्थल में प्रतियोगी एक ही हो पाता है। साहित्य एवं प्रतियोगी में जिसका साहित्य प्रतीत होता है वे दोनों ही प्रतियोगी के अंश में विशेषण हो जाने के कारण "अवच्छेदक" अर्थात् प्रतियोगी को सीमित बनाने वाले ही हो जाते हैं, प्रतियोगी नहीं। जिसका अभाव लिया जाय वह उस अभाव का प्रतियोगी होता है, यह बात पहले भी कही जा चुकी है। जो लोग विशिष्टाभाव नामक एक अभाव को सामान्यतः अभाव का साक्षात् प्रभेद मानते हैं वे इसको तीन भागों में विभक्त करते हैं, अर्थात् वर्गीकृत करते हैं, यथा (१) विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव, (२) विशेष्याभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव और (३) उभयाभावप्रयुक्त अर्थात् विशेषण का अभाव और विशेष्य का अभाव

एतद्द्वय प्रयुक्त विशिष्टाभाव। उदाहरणों के द्वारा इसे यों समझना चाहिए––देवदत्त व्यक्ति के रहते हुए भी यदि उसके पास दण्ड नहीं तब भी "दण्डी देवदत्त नहीं है" इस प्रकार ज्ञान और वाक्यप्रयोग हुआ करता है। एतादृश स्थल में प्रतीत होने वाला दण्डी देवदत्त का अभाव विशेषणाभाव प्रयुक्त होता है, अर्थात् (१) विशेषणाभावमूलक विशिष्टाभाव। जहाँ दण्ड तो पड़ा है किन्तु उसे उपयोग में लाने वाला देवदत्त नामक व्यक्ति नहीं है, वहाँ भी यह प्रतीति और वाक्यप्रयोग होता है कि "दण्डी देवदत्त नहीं है।" एतादृश स्थल में प्रतीत होने वाला अभाव होता है (२) विशेष्याभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव, क्योंकि विशेषण होनेवाला दण्ड तो वहाँ रहता ही है। विशेष्य होनेवाले देवदत्त व्यक्ति के न रहने के कारण ही यह ज्ञान एवं वाक्यप्रयोग होता है कि "दण्डी देवदत्त नहीं है।" एवं जहाँ न दण्ड रहता और देवदत्त रहता है वहाँ भी यह ज्ञान एवं वाक्यप्रयोग होता है कि "दण्डी देवदत्त नहीं है।" एतादृश स्थल में प्रतीयमान विशिष्टाभाव होता है (३) उभयाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव। इस परिस्थिति में विशेषण होने वाला दण्ड भी वहाँ नहीं रहता और विशेष्य होने वाला देवदत्त भी नहीं।

परन्तु विचार करके देखने पर इन उदाहरणों से भी विशिष्टाभाव हृदय में स्थान नहीं पाता। क्योंकि प्रथम उदाहरणस्थल में प्रतीत होनेवाले अभाव को केवल विशेषण का अभाव और द्वितीय उदाहरणस्थल में प्रतीयमान अभाव को केवल विशेष्य का अभाव एवं तृतीय उदाहरणस्थल में प्रतीत होनेवाले अभाव को द्वितयाभाव अर्थात् विशेषण और विशेष्य दोनों का एक अभाव भली भांति माना जा सकता है।

उभयाभाव आदि अनेकाभाव

विशिष्टाभाव और अविशिष्टाभाव रूप में अभाव का विभाजन मान्य न होने पर भी एकाभाव और अनेकाभाव रूप में अभावों का वर्गीकरण मानना ही होगा। क्योंकि किसी भी आधार में एक वस्तु के रहने पर भी "दोनों नहीं हैं", "तीनों नहीं हैं" इत्यादि अनेकाभावों को विषय करने वाली प्रतीति और तदनुरूप वाक्य प्रयोग होता ही है। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझना चाहिए, यथा किसी घर में यदि राम व्यक्ति बैठा भी है किन्तु श्याम वहाँ नहीं है तो "राम और श्याम दोनों यहाँ नहीं हैं" इस प्रकार दोनों का अभाव समझा जाता है एवं तदनुसार वाक्य प्रयोग भी होता ही है कि "यहाँ राम और श्याम दोनों नहीं हैं।" इसी प्रकार कहीं भी एक व्यक्ति या दो व्यक्तियों के रहने पर भी "राम, श्याम और काम ये तीनों नहीं हैं" इत्यादि ज्ञान एवं वाक्यप्रयोग हुआ करते हैं। अतः उभयाभाव, त्रितया-

भाव आदि अनेकाभाव मानने आवश्यक हैं ।

कुछ लोग इन अनेकाभावों को विशिष्टाभाव मानते हैं । उनका अभिप्राय यह है कि यदि यह कहा या समझा जाता है कि "राम और श्याम दोनों नहीं हैं" तो उसका अभिप्राय यह होता है कि "राम सहित श्याम यहाँ नहीं है", अतः एक के सहित दूसरे का अभाव ही वहाँ समझा जाता है । सहित और विशिष्ट ये दोनों शब्द पर्यायवाचक हैं । अतः उभयाभाव को विशिष्टाभाव मान लेने में कोई बाधा नहीं है। इसी प्रकार त्रितयाभाव, चतुष्टयाभाव आदि स्थलों में भी समझना चाहिए।

परन्तु विशिष्टाभाव का खण्डन किया जा चुका है, अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि उभयाभाव आदि अनेकाभाव भी विशिष्टाभाव हैं? दूसरी बात यह कि विशिष्टाभाव यदि थोड़ी देर के लिए माना भी जाय, फिर भी सर्वत्र उभयाभाव आदि को विशिष्टाभाव नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जहाँ उभयाभाव परस्पर विरुद्ध दो वस्तुओं का अभाव होता है वहाँ उसे विशिष्टाभाव किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता । जैसे "इस घर में जल और आग दोनों नहीं हैं" इस प्रकार यदि समझा या समझाया जाय तो वहाँ प्रतीयमान अभाव विशिष्टाभाव कैसे कहला सकता है? विशेषण-विशेष्य भावापन्न दो वस्तुओं को ही विशिष्ट या सहित कहा जा सकता है । जल और आग दोनों एक जगह रहते ही नहीं, अतिविरुद्ध हैं, अतः जलसहित आग या आगसहित जल समझा या समझाया नहीं जा सकता । सुतरां जलसहित आग का अभाव नहीं कहा जा सकता। किसी का अभाव कहने से उसका निषेध समझा जाता है और अप्राप्त अप्रसिद्ध वस्तु का निषेध नहीं होता । सुतरां "यहाँ आग और जल दोनों नहीं हैं" इत्यादि ज्ञान या वाक्य प्रयोग स्थल में उस ज्ञान का विषय या उक्त वाक्य का प्रतिपाद्य अभाव विशिष्टाभाव है यह कभी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार तीनों का अभाव, चारों का अभाव इत्यादि स्थल में समझना चाहिए ।

व्यधिकरण धर्म पुरस्कृत अभाव मान्य नहीं

कुछ लोग व्यधिकरण धर्म से युक्त रूप में भी वस्तु का अभाव मानते हैं । व्यधिकरण धर्म का प्रकृत में अर्थ है प्रतियोगी में नहीं रहने वाला धर्म अर्थात् वस्तु । जैसे घटत्व पट में न रहने के कारण पट का व्यधिकरण धर्म है । इसी प्रकार पटत्व घट में न रहने के कारण घट का व्यधिकरण धर्म है । अभिप्राय यह कि घट जहाँ भी रहता है वहाँ स्वगत घटत्व धर्म से पुरस्कृत होकर ही रहता है, पटत्व धर्म से पुरस्कृत होकर नहीं रहता । अतः यह अच्छी तरह कहा जा सकता है कि घट पटत्व धर्म से पुरस्कृत रूप में कहीं नहीं है । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए । इसे ही विवेचकों ने व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभाव शब्द से जगह-जगह कहा है ।

परन्तु विचार करने पर इस प्रकार का अभाव-प्रभेद मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव होता है निषेधात्मक और निषेध अर्थात् निराकरण किसी भी प्रसिद्ध वस्तु का ही होना स्वाभाविक है। जब पट कभी घटत्व से पुरस्कृत हो सकता ही नहीं, वह कभी घटत्व-विशेषित हो सकता ही नहीं, तब उसका निषेधात्मक अभाव कैसा ?

यदि कोई यहाँ यह कहे कि इस प्रकार ज्ञान एवं वाक्य प्रयोग होता है, अतः व्यधिकरण धर्म-पुरस्कार से किसी भी वस्तु का अभाव मानना चाहिए। तो इसके उत्तर में वक्तव्य यह है कि एतादृश प्रतीतिस्थल में यह ध्यानपूर्वक देखना चाहिए कि वह अभाव कैसे आधार में समझा जा रहा है। यदि यह मालूम हो कि उक्त धर्म से अपुरस्कृत प्रतियोगी के रहते हुए उसके आधार में ही अन्य-धर्म-पुरस्कृत रूप से उसका अभाव समझा या समझाया जाता है, तो वहाँ उक्त आधार में विद्यमान अपुरस्कृत प्रतियोगी में उस व्यधिकरण कहे जाने वाले पुरस्कारक धर्म का अभाव ही वहाँ विषय या प्रतिपाद्य रूप से प्रतीत होता है, व्यधिकरण धर्म से पुरस्कृत रूप में प्रतियोगी का अभाव नहीं। यदि ऐसे आधार पर वह अभाव समझा या समझाया जाता है जहाँ अपुरस्कृत प्रतियोगी भी नहीं है तो वहाँ शुद्ध अपुरस्कृत प्रतियोगी का ही अभाव समझा जाता है ऐसा समझना चाहिए। अतः व्यधिकरण-धर्म अवच्छिन्नाभाव माना नहीं जा सकता।

उदाहरण के द्वारा इसे यों समझना चाहिए, यथा—घटत्व धर्म से पुरस्कृत रूप में पट यहाँ नहीं है; इस प्रतीतिस्थल में "यहाँ" पद से क्या विवक्षित है ? जहाँ कपड़ा है वह स्थान, या जहाँ कपड़ा नहीं है, वह स्थान ? जहाँ कपड़ा है उसे लेने पर यह अच्छी तरह कहा जा सकता है कि उस आश्रय में विद्यमान कपड़े में घटत्व धर्म नहीं है; यही "यहाँ घटत्वेन पट नहीं है", "यहाँ घटत्व पुरस्कृत पट नहीं है" इत्यादि प्रतीतियों का विषय है, अलग कोई घटत्वधर्म-पुरस्कृत पट का अभाव रूप व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभाव नहीं।

यदि यह कहा जाय कि उस आश्रय को यहाँ "यहाँ" शब्द से लिया जा रहा है जहाँ पट नहीं है। तब उस व्यधिकरण धर्म पुरस्कृत पटाभाव रूप स्वतंत्रतया स्वीकर्तव्य अभाव को केवल पट का अभाव स्वरूप मान लेने में कोई आपत्ति या अनुपपत्ति नहीं की जा सकती। अतः व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभाव आदि नामों से कहा जाने वाला कोई अभाव का स्वतंत्र प्रभेद नहीं माना जा सकता। यदि ऐसे आधार को उक्त "यहाँ" शब्द से लिया जाय जहाँ कि पट विद्यमान होगा, तो वहाँ "घटत्वधर्म युक्त रूप में यहाँ पट नहीं है" इस प्रकार होनेवाली प्रतीति का विषय

पट में घटत्व का अभाव कहा जा सकता है यह बतलाया जा चुका है।

सामान्य रूप से व्यक्ति विशेष का अभाव कोई स्वतंत्र अभाव नहीं

कुछ लोग सामान्य रूप से विशेष व्यक्ति का अभाव भी मानते हैं, यथा "घटत्व रूप से काला घड़ा नहीं है" ऐसा जहाँ समझा एवं समझाया जाता है, वहाँ घटत्व है सकल घट में रहने के कारण सामान्य धर्म, और काला घड़ा है विविध रंग वाले घड़ों के अन्दर एक विशेष घट। अतः "यहाँ घटत्व रूप से काला घड़ा नहीं है" इस प्रकार जहाँ समझा या समझाया जाता है वहाँ सामान्य रूप से विशेष व्यक्ति का अभाव समझने या समझाने का विषय होता है। यह अभिप्राय उक्त प्रकार से अभाव मानने वाले का ज्ञात होता है, किन्तु यह मानना भी युक्ति-संगत इसलिए नहीं हो पाता कि जहाँ नील घड़ा विद्यमान है वहाँ न यह ज्ञान होता है कि "यहाँ नील घट नहीं है" और यह ज्ञान भी नहीं हो पाता कि "यहाँ घटत्वेन नील घट नहीं है।" ऐसी परिस्थिति में उक्त "सामान्य रूप में विशेषाभाव न मानकर केवल विशेषाभाव मान लेना ही उचित है। व्यर्थ अभाव का एक स्वतंत्र प्रभेद क्यों माना जाय ?

विशेष रूप से सामान्याभाव भी मान्य नहीं

सामान्य रूप से विशेषाभाव की तरह विशेष रूप से सामान्याभाव भी कुछ लोग मानते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि विशेष धर्म विशेषगत ही होता है साधारणगत नहीं, अतः अन्यगत धर्म-पुरस्कृत रूप में अन्य रह नहीं सकता। जैसे घटत्व-पुरस्कृत रूप से पट नहीं रहता। अतः विशेष रूप से साधारण का अभाव रह जायगा। जैसे नीलत्व से पुरस्कृत रूप में रूप अर्थात् पीत-रक्त आदि सभी रूप कहीं नहीं रहते। अतः "नीलत्व से पुरस्कृत रूप में रूप नहीं है" इस प्रकार विशेष रूप से सामान्याभाव नामक अभाव एक प्रकार का स्वतन्त्र अभाव मानना चाहिए। परन्तु इस प्रकार के अभाव की स्वतंत्र रूप से मान्यता इसलिए मान्य नहीं हो पाती कि "नीलत्व-पुरस्कृत रूप से यहाँ रूप नहीं है" इस प्रकार ज्ञान वहाँ नहीं हो सकता जहाँ कि नील रूप रहता है। यथा नील कमल में कोई भी अभ्रान्त व्यक्ति यह नहीं समझ सकता कि "यहाँ नीलत्व धर्म से पुरस्कृतरूप में कोई भी रूप नहीं है", क्योंकि नीलात्मक रूप तो वहाँ नीलत्व धर्म से पुरस्कृत रूप में रहता ही है। ऐसी परिस्थिति में "नीलत्व धर्म से पुरस्कृत होकर यहाँ कोई रूप नहीं है" इस प्रकार के ज्ञान के विषय होने वाले अभाव को भली भांति "यहाँ नील रूप नहीं है" इस ज्ञान का विषयभूत नीलाभावात्मक विशेषाभाव मान लेना ही युक्तिसंगत होता है, स्वतंत्र अभाव मानना संगत नहीं। क्योंकि जिसे विशेष रूप से सामान्याभाव नाम दिया जा

रहा है, और जो स्पष्ट रूप से विशेषाभाव है इन दोनों का अभ्रान्त ज्ञान नियमतः एक ही आधार में होता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

समनियत अनेक अभाव एक नहीं

ऊपर किये गये विचारों को देखते हुए कुछ लोग इस भ्रम में फँस सकते हैं कि ये बातें समनियत अर्थात् समान आधार वाले अनेक अभावों को एक मानकर कही जा रही हैं। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है।

समनियत अनेक अभावों को एक मानने वालों का दृष्टिकोण यह होता है कि जो अनेक अभाव समान आधार में ही रहेंगे उनकी प्रमा-प्रतीतियाँ किसी भी अभ्रान्त व्यक्ति को समान आधार में ही होंगी। ऐसी परिस्थिति में किसी प्रमा-प्रतीति की अनुपपत्ति या आपत्ति उन समाधार अनेक अभावों को एक मानने पर दी नहीं जा सकती। अतः समान आधार वाले अभावों को एक ही क्यों न मान लिया जाय? किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी इसलिए नहीं है कि अनेक कभी एक नहीं हो सकते। एकता और अनेकता ये अन्धकार और प्रकाश की तरह परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध हैं। यह इसलिए कि अनेक का अर्थ होता है भिन्न और एक का अर्थ होता है अभिन्न। भेद इस सिद्धान्त में अटल, नित्य हुआ करता है। जिन दो का परस्पर में भेद होगा सदा के लिए उन दोनों में भेद ही रहेगा, अभेद कभी हो नहीं सकता। अतः समनियत होने पर भी अनेक अभावों को एक नहीं माना जा सकता।

समनियत अनेक अभावों को एक मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि तब किसी एक ही व्यक्ति में रहने वाले परस्पर विभिन्न रूप, रस आदि के अनेक अभाव एक हो बैठेंगे, जिसका फल यह होगा कि उन अभावों का प्रत्यक्ष नहीं हो पायेगा। यह एक बड़ी अनुपपत्ति होगी।

उदाहरण के द्वारा इसे इस प्रकार समझना चाहिए, यथा—एक फूल है, उसके अन्दर रूप रस आदि अनेक गुण हैं। उन गुणों के अभाव उस फूल को छोड़कर अन्यत्र सभी जगह समान रूप से रहते हैं। अतः तत्पुष्पगत-रूपाभाव और तत्पुष्पगत रसाभाव आदि अनेक अभाव समान आश्रयों में ही रहने के कारण एक हो जायेंगे। इसका फल यह होगा कि न तो उस रूपाभाव का प्रत्यक्ष हो पायेगा और न उस रसाभाव का। क्योंकि रूपाभाव होने के कारण कोई उसे जिह्वा से नहीं समझ पायेगा, और रसाभाव होने के कारण न आँख से देख सकेगा। फलतः उक्त रूपाभाव एवं उक्त रसाभाव का प्रत्यक्ष न हो पायेगा जैसा कि होता आ रहा है। इसी प्रकार समनियत अन्य अभावों के बारे में भी समझना चाहिए। अतः समनियत अनेक अभावों को एक अर्थात् अभिन्न नहीं माना जा सकता।

अभाव का सम्बन्ध

किसी भी आधार में आधेय रूप से किसी का ज्ञान जहाँ होता है वहाँ आधार और आधेय इन दोनों के बीच में एक कोई सम्बन्ध भी प्रतीत होता है। अतः घर आदि आधारों में घटाभाव आदि आधेयभूत अभावों का भी कोई सम्बन्ध होना चाहिए। परन्तु वह सम्बन्ध क्या है—यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। इसका उत्तर यह समझना चाहिए—तत्त्वतः समवाय की तरह अभाव भी आधार में स्वतः सम्बद्ध होता है। आधार और आधेयभूत अभाव से अतिरिक्त बीच में कोई सम्बन्ध नहीं होता, वहाँ अभाव स्वयं ही सम्बन्ध और सम्बन्धी दोनों का काम करता है। जो लोग अभाव का "स्वरूप" सम्बन्ध मानते हैं उनका भी अभिप्राय यही है। "स्वरूप" शब्द का अर्थ है "स्वात्मक"। फलतः "स्वरूप सम्बन्ध" का अर्थ होता है स्वात्मक सम्बन्ध अर्थात् अभावात्मक सम्बन्ध। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि घटाभाव आदि आधेयों और घर आदि आधारों के बीच कोई अतिरिक्त सम्बन्ध, जैसा कि आधेयभूत घट और आधारभूत घर इन दोनों के बीच संयोग सम्बन्ध होता है, नहीं है। अभाव स्वरूपतः अर्थात् स्वतः आधार से सम्बद्ध हो जाता है। स्वतः सम्बन्ध कैसे युक्तिसंगत हो सकता है—इसका विचार समवाय प्रकरण में विस्तृत रूप से किया जा चुका है।

कुछ लोग उक्त स्वरूप सम्बन्ध को आधेयभूत अभावात्मक न मानकर आधारात्मक मानते हैं, जिसकी आलोचना "सामयिकाभाव" शीर्षक विचार में की जा चुकी है। अधिक यह कि, सर्वत्र सम्बन्ध, जो कि आधेय और आधार इन दोनों सम्बन्धियों से अतिरिक्त भी माना जाता है, आधार पक्ष का न होकर आधेय पक्ष का ही होता है। तब इस स्वरूप संबन्ध को जो कि आधार और आधेय से अतिरिक्त न होकर दोनों के अन्दर किसी एक स्वरूप ही माना जानेवाला है, आधेय स्वरूप मानना ही उचित प्रतीत होता है। अभिप्राय यह कि जहाँ संयोग सम्बन्ध से घड़े को घर में रखा जाता है वहाँ सम्बन्ध होने वाला संयोग स्वयं भी समवाय सम्बन्ध से घर रूप आधार में आधेय बनकर ही घटात्मक आधेय को घरस्वरूप आधार में रखता है। सुतरां यह मानना ही होगा कि वह संयोग आधेय पक्ष का ही है, आधार पक्ष का नहीं है। इसी प्रकार सर्वत्र आधेय पक्ष का ही सम्बन्ध होता है। अतः अभाव और घर आदि के आधाराधेय भाव स्थल में भी सम्बन्ध रूप से प्रतीयमान "स्वरूप" सम्बन्ध आधेय पक्ष का ही होगा। अतः उसे आधारात्मक न मानकर आधेयभूत अभावात्मक ही मानना चाहिए। अभाव हुआ आधेय, तदात्मक होने के कारण फलतः यही प्राप्त होता है कि अभाव स्वतः आधार से सम्बद्ध होता है। अभाव से अतिरिक्त कोई उसका

सम्बन्ध अपेक्षित नहीं है।

मुक्ति भी अभाव ही है

धन, धर्म, काम और मोक्ष ये चार लोक-जीवन के लक्ष्य माने जाते हैं, जिनमें मोक्ष को, जिसे अन्य शब्दों में मुक्ति, निर्वाण, अपवर्ग आदि विभिन्न नामों से भी विभिन्न स्थानों में कहा जाता है, सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य माना जाता है। यद्यपि इसके इच्छुक एवं अधिकारी विरल होते हैं फिर भी सांसारिक विषयों से अति विरक्त कुछ लोग इसके इच्छुक एवं अधिकारी अवश्य होते हैं। स्थिरतापूर्वक विचार करने पर यह मुक्ति भी अभाव ही सिद्ध होती है। क्योंकि इसके अधिकारी विरक्त जन किसी सांसारिक विषय या उन विषयों से सम्पर्क रखने वाले सुख को चाहते नहीं। सुतरां उन विषयों को या उनके उपयोग से होने वाले सुखों को उनका लक्ष्य नहीं कहा जा सकता। अतः यह मानना होगा कि दुःखों का अभाव ही उन विरक्त महापुरुषों का लक्ष्य प्राप्त होता है। उसी दुःखाभाव को उक्त मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण आदि शब्दों से कहा जाता है। कुछ लोग यह कहते हैं कि विषयसम्पर्क से होने वाले जन्य सुख को भले ही मोक्ष न माना जाय, किन्तु नित्य सुख को मोक्ष कहा जा सकता है और उसके लिए विरक्त महात्माओं की इच्छा एवं प्रवृत्ति हो सकती है। परन्तु यह कथन इसलिए उचित नहीं हो पाता कि नित्य के लिए प्रवृत्ति नहीं बन पाती। सुख है आत्मा का धर्म, तदनुसार वह आत्मा को सदा ही अनायास प्राप्त रहेगा। क्योंकि उसे नित्य कहा जा रहा है। नित्य होने पर ही वह मोक्षरूप से स्वीकर्त्तव्य नित्य सुख यदि आत्मा से अतिरिक्त कहीं अन्यत्र होता तो कदाचित् उसकी प्राप्ति के लिए भी विरक्त मुमुक्षुओं की प्रवृत्ति हो पाती। परन्तु यह असम्भव है। क्योंकि सुख आत्मा का एक गुण है। अतएव वह आत्मा में ही रह पाता है अन्यत्र नहीं।

यदि कहा जाय कि उस नित्य सुख का संवेदन अर्थात् साक्षात्कार मोक्ष है। सुख के नित्य होने पर भी उसका साक्षात्कार अर्थात् प्रत्यक्ष आगन्तुक होगा, अतः तदर्थ विरक्त महापुरुषों की प्रवृत्ति बन सकती है। तो यह कथन भी युक्तिसंगत इसलिए नहीं हो पाता कि तब उक्त संवेदनात्मक मोक्ष उत्पत्तिशील भाव वस्तु होने के कारण नश्वर भी अवश्य हो बैठेगा। ऐसा एक भी दृष्टान्त नहीं उपस्थित किया जा सकता जो कि उत्पत्तिशील भाव होते हुए नश्वर नहीं है अर्थात् उसका विनाश नहीं हो पाता है। ऐसी परिस्थिति में मोक्ष चाहनेवालों के सिर पर यह आपत्ति आयेगी कि मोक्ष के बाद भी सांसारिक बन्धन आ गिरेगा। क्योंकि उक्त नित्य सुख-संवेदन के नष्ट होने पर वे मुक्त नहीं रह पायेंगे, बन्धनमुक्त होकर फिर बन्धन में फँस जायँगे। फिर उस अस्थायी मुक्ति का महत्व ही क्या रह जायगा

जिसके लिए वे निरन्तर प्रयत्नशील हो सकें? अतः सुख या नित्य सुख के संवेदन को अर्थात् साक्षात्कार को मुक्ति नहीं कहा जा सकता। यदि इस पर कुछ लोग यह कहें कि सुख को मुक्ति न मानकर दुःखाभाव को मुक्ति मानने पर गाढ़ निद्रास्वरूप सुषुप्ति भी दुःख का अभाव होने के कारण मोक्ष अवस्था कहलाने लगेगी। तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि निद्रा अन्त-रहित नहीं, सान्त अर्थात् कुछ काल के लिए ही आने वाली होती है यह सभी लोग जानते हैं। अतः निद्राकालिक दुःखाभाव भी स्थायी नहीं होता, आत्यन्तिक नहीं होता। मोक्ष केवल दुःखाभाव नहीं अपितु अत्यन्त दुःखाभाव है। अतः निद्राकालिक दुःखाभाव को मुक्ति या निद्रावस्था को मोक्षावस्था नहीं कहा जा सकता।

कुछ लोग सांसारिक विषयों के सम्पर्क से पैदा होने वाले सुख को ही मोक्ष कहते हैं। परन्तु यह इसलिए संगत नहीं कहा जा सकता कि विषयों के सम्पर्क से होने वाला सुख तो आ-कीटपतंग प्राणी मात्र को होता ही है, फिर तो सभी प्राणियों को मुक्त मानना होगा, फिर बद्ध कौन माना जायगा ? मोक्ष तो किसी बद्ध का ही होना उचित है। जो बँधा ही नहीं था वह मुक्त क्या होगा और कैसे होगा ? यदि कहा जाय कि बन्धन-मुक्ति तो एक ही व्यक्ति को अनेक बार हो सकती है, जैसे अनेक बार चोरी करते पकड़े जाने वाले अनेक बार दण्ड भोगते हैं। अतः यह प्रश्न निरवकाश होगा कि बद्ध कौन होगा। दुःख प्रत्येक प्राणी के लिए प्रतिकूल प्रतीत होता है, अतः वह दुःख ही बन्धन है। वह किसी न किसी समय सभी को होता है, अतः सब प्राणी उतनी देर के लिए बद्ध और सुख प्राप्त हो जाने पर वे ही मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार एक व्यक्ति में भी कालभेद से बद्ध और मुक्त की व्यवस्था बन सकती है, अतः यह प्रश्न निरवकाश है कि बद्ध कौन होगा ? इस व्यवस्था से आ-कीटपतंग अगर बद्ध और मुक्त होते हैं तो बन्धन-मोक्ष की व्यापकता सिद्ध होने के कारण उदारता ही व्यक्त होती है, इससे क्षति क्या है ? तो यह कथन इसलिए उचित नहीं हो पाता कि तब सुषुप्तिकाल में प्राणियों को अबद्धमुक्त मानना होगा। उस समय दुःख नहीं होता, अतः उस सुषुप्त प्राणी को बद्ध नहीं कहा जा सकता, और सुख नहीं होता इसलिए मुक्त भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु सोता हुआ व्यक्ति भी बद्ध ही कहलाता है।

विषयसम्पर्कज सुख को मुक्ति मानने में सबसे बड़ी बाधा यह उपस्थित होती है कि निषेध निरवकाश हो जाता है, उसे कहीं स्थान मिलना कठिन हो जाता है। क्योंकि तब सुखरूप मुक्ति के जितने साधन हो सकेंगे उनका आचरण न्याय्य हो बैठेगा, चोरी, लूट-पाट, व्यभिचार आदि भी अनुचित नहीं कहला सकेंगे। उनका

निषेध भी औचित्य नहीं प्राप्त कर सकेगा। क्योंकि मुक्ति को सत्पुरुषों के जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य माना जाता है, वह यदि विषय-सम्पर्क जनित सुख ही होगा तो उसके जितने भी साधन हो सकेंगे सभी सत्पुरुषों के लिए भी आदरणीय बन बैठेंगे। चोरी-डकैती आदि भी विषयसुख के साधन होते ही हैं। परन्तु परिस्थिति ऐसी नहीं है। कोई भी राष्ट्र, कोई भी परिचित लोकावास ऐसा नहीं बतलाया जा सकता जहाँ निषेध का कोई स्थान न हो, बिल्कुल छूट दे दी गयी हो कि जिसके मन में जो आये सो करे। अतः विषयजनित सुख को भी मुक्ति नहीं कहा जा सकता।

अन्य कुछ लोग आत्मा को नित्य सुखस्वरूप मानते हुए उसकी प्राप्ति को ही मुक्ति मान बैठते हैं। परन्तु यह इसलिए उचित नहीं प्रतीत होता कि आत्मा यदि स्वयं मुक्तिस्वरूप फल बन जाय तो उसे पाने वाला मुक्त कौन कहलायेगा ? मुक्ति और मुक्त इन दोनों में तो अन्तर होना चाहिए। क्योंकि मुक्ति है विरक्त जीवन का लक्ष्य, फल अतएव प्राप्य, और आत्मा है प्रापक अर्थात् उस फलभूत मुक्ति का पानेवाला। प्राप्य और प्रापक इन दोनों में यदि कोई अन्तर न हो तो मुक्ति, उसके उपाय, उसके अधिकारी आदि के सब विचार व्यर्थ हैं। क्योंकि आत्मा तो स्वयं आत्मा है, उसकी प्राप्ति ही क्या हो सकती है ? प्राप्ति तो प्रापक को अपने से अतिरिक्त किसी वस्तु की ही हो सकती है।

यदि कहा जाय कि "प्रापक, प्राप्य और प्राप्ति इनमें अन्तर होना चाहिए" इस वाक्य में आये हुए "अन्तर" शब्द का अर्थ है भेदस्वरूप अन्योन्याभाव, जिसकी चर्चा इसी अभाव प्रकरण में की जा चुकी है, जो कि कल्पित है सत्य नहीं। अतः एक अद्वैत ब्रह्मस्वरूप आत्मा को छोड़कर समग्र जागतिक वस्तुएँ काल्पनिक, मिथ्या, केवल प्रतीयमान मात्र हैं; तात्विक नहीं। सभी देखी-सुनी जाने वाली वस्तुएँ आत्म-स्वरूप अद्वैत ब्रह्म में अध्यस्त हैं तात्विक नहीं। अधिष्ठान से, अर्थात् जिसमें अध्यास किया जाय, कल्पना की जाय उससे, अतिरिक्त उस अध्यस्त का, अर्थात् जिसका अध्यास किया जाता है, कल्पना की जाती है, उसका अस्तित्व नहीं होता। कोई व्यक्ति यदि रस्सी को सर्प समझता है तो वहाँ अस्तित्व रस्सी का ही होता है सर्प का नहीं। तद्वत् समस्त देखी जाने वाली वस्तुएँ जब कि अद्वैत ब्रह्मस्वरूप आत्मा में कल्पित मात्र हैं तब उस अधिष्ठानभूत ब्रह्म से अतिरिक्त उनका अस्तित्व कैसे हो सकता है ? अतः कल्पित बन्ध-मोक्ष आदि सभी अद्वैत आत्मा का स्वरूप ही मानना होगा। सुतरां मुक्ति को आत्मा मानना ही चाहिए। तो ऐसे लोकातीत अव्यावहारिक व्यक्ति को मुक्ति-विचार के अखाड़े में उतारना ही व्यर्थ है। क्योंकि यहाँ तो त्यागमय जीवन के चरमलक्ष्य अतएव प्राप्य मुक्ति का विचार किया जा रहा है। जिस सिद्धान्त

में भेद न होने के कारण "चार" संख्या ही नहीं बन सकती वहाँ चतुर्वर्ग का स्थान ही कहाँ रह जाता है ? फिर उन चार के अन्दर होने वाली मुक्ति ही कहाँ से आयेगी जिसका विचार किया जाय ? जिस व्यक्ति को पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश सूर्य-चन्द्रमा माँ-बाप-भाई-बहिन-निजी शरीर-इन्द्रियाँ-मन आदि पर भी आस्था नहीं है, शास्त्र-शास्ता-शिष्य आदि भी जिनकी दृष्टि से झूठ हैं, यहाँ तक कि अपनी समझ भी उनकी दृष्टि में झूठी है, उन्हें क्या और कैसे कुछ समझाया जाय या उनसे समझा जाय ! अतः वे प्रकृत मुक्ति विचार के अधिकारी नहीं हैं।

इन विचारों से यहाँ तक तो निश्चित हो चुका है कि प्रकृत मुक्ति जन्य-सुख नहीं, नित्य सुख भी नहीं, नित्य सुख का संवेदन अर्थात् ज्ञान भी नहीं, एवं नित्यसिद्ध आत्मा-स्वरूप भी नहीं है। सुतरां उसे दुःखों का अभावस्वरूप मानना ही होगा। क्योंकि सुख और दुःखाभाव ये ही मुख्य प्रयोजन हैं। कोई भी प्राणी इन्हीं दो के अन्दर किसी एक के लिए प्रवृत्तिशील एवं चेष्टाशील हुआ करता है, यह अनुभवसिद्ध है। अतः जब कि मुक्ति सुखस्वरूप न हो सकी एवं वह इष्ट है, प्रवृत्ति का विषय है, उसके लिए लोग सचेष्ट पाये जाते हैं तो उसे दुःख का अभाव मानना ही होगा। अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि अभाव के प्रभेद भी अनेक बतलाये गये हैं, उनमें किसे मुक्ति माना जायेगा—(१) दुःख-प्रागभाव को, (२) दुःखात्यन्ताभाव को, अथवा (३) दुःख-प्रध्वंस को या (४) दुःख-सामयिकाभाव को ?

इस प्रश्न के उत्तर में कुछ लोग दुःख के प्रागभाव को मुक्ति मानते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक प्राणी यही चाहता है कि मुझे दुःख न हो, अर्थात् दुःख आये ही नहीं। कोई भी यह नहीं चाहता कि मुझे दुःख मिले और वह टिकाऊ होकर शीघ्र नष्ट न हो जाय। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राणी के लिए सर्वाधिक इष्ट, दुःख का प्रागभाव ही है। विषय-वितृष्ण त्यागी महात्मा इसीलिए शरीर को भी नहीं चाहते कि शरीर-इन्द्रिय आदि के रहने पर अनागत दुःखों का प्रागभाव बचाया नहीं जा सकता। शरीर-इन्द्रिय आदि दुःखसाधनों का अभाव होने पर—नया दुःख न आने पर उन दुःखों का प्रागभाव बना रह जाता है। वही अनागत दुःखों का प्रागभाव मोक्ष है। इस दुःख-प्रागभाव को मुक्ति मानने वालों के समक्ष जब यह प्रश्न रखा जाता है कि प्रागभाव तो एक अनादि अभाव है। वह तो अनायास प्राप्त ही है। ऐसी परिस्थिति में उसे मुक्ति कैसे कहा जा सकता है। क्योंकि मुक्ति तो एक प्राप्य वस्तु है, अन्यथा तदर्थ होने वाली महापुरुषों की चेष्टा निरर्थक होगी। क्योंकि कोई भी किसी स्वतःसिद्ध वस्तु के लिए चेष्टा क्यों करेगा ? और यदि करेगा तो वह उसकी चेष्टा निष्फल, निष्प्रयोजन ही कही जायगी। इसका उत्तर वे

लोग इस प्रकार देते हैं कि चेष्टाएँ दो प्रकार की होती हैं—एक किसी साध्य वस्तु की सिद्धि अर्थात् उत्पत्ति या प्राप्ति के अनुकूल और दूसरी किसी वस्तु की रक्षा के अनुकूल। जैसे किसान खेती करता है अन्न की उत्पत्ति के लिए और फसल की रखवाली करता है उसकी रक्षा के लिए। खेती करना भी चेष्टा है और रखवाली करना भी चेष्टा है। इन दोनों को सफल और सप्रयोजन मानना ही होगा, कहना ही होगा। अतः उक्त रखवाली के समान मुमुक्षु महापुरुषों की मुक्ति-चेष्टा को भी विफल नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उन मुमुक्षु महापुरुषों की मुक्तिचेष्टा अथवा प्रवृत्ति से दुःख की सामग्री संघटित नहीं हो पाती। इससे होता यह है कि पर काल में उनके दुःख नहीं आ पाते। अतः वह दुःख-प्रागभावस्वरूप उनका मोक्ष अक्षुण्ण सुरक्षित रह पाता है। इन लोगों का कहना यह है कि गम्भीर भाव से दृष्टि डालने पर यह सर्वत्र भली भाँति देखा जा सकता है कि दुःख-प्रागभाव को बचा रखने के लिए प्रत्येक प्राणी दुःख की सामग्री के विघटन में सचेष्ट रहता है। यात्री रास्ते में पड़े सर्प या काँटे से बचकर चलता है। क्यों ? दुःख-सामग्री के विघटनार्थ ही। वह यह सोचता है कि यदि पाँव इससे टकराया तो दुःख होना अवश्यम्भावी है। फिर यह दुःख प्रागभाव सुरक्षित नहीं रह सकता। अतः बचकर चलना चाहिए। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

कुछ लोगों का कहना यह है कि यों तो प्राणि-जीवन में हजारों दुःख आते और जाते रहते हैं। गाढ़ निद्रा के समय या सुख के समय भी दुःख का अभाव रहता है किन्तु स्थायी नहीं, अत्यन्त नहीं होता। अतः दुःख के अत्यन्ताभाव को मोक्ष समझना चाहिए। परन्तु अत्यन्ताभाव की जो व्याख्या की जा चुकी है उसके अनुसार यह मतवाद टिक नहीं सकता। क्योंकि सार्वदिक अभाव को ही अत्यन्ताभाव माना गया है। जैसे वायु में सदा विद्यमान रूपाभाव अत्यन्ताभाव कहलाता है। किन्तु आत्मा में दुःख का अभाव इस प्रकार सार्वदिक नहीं हो पाता। क्योंकि अमुक्त अवस्था में उसे समय-समय पर दुःख होता ही रहता है। अतः उसमें होने वाले दुःखाभाव को सामयिकाभाव ही मानना होगा, अत्यन्ताभाव नहीं। अतः दुःख के अत्यन्ताभाव को मोक्ष नहीं माना जा सकता।

अन्य कुछ लोगों का कहना है कि मोक्ष न तो दुःख का प्रागभाव रूप है और न अत्यन्ताभाव रूप। किन्तु वह दुःखों का ध्वंस रूप है। अब यहाँ जटिल प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि दुःख तो किसी के भी स्थित नहीं रहते, अमुक्त व्यक्ति के भी दुःख का ध्वंस होता ही है। ऐसी परिस्थिति में अमुक्त हम-जैसे संसारी व्यक्ति भी मुक्त कहलाने के अधिकारी बन बैठेंगे। क्योंकि दुःखध्वंस तो हम लोगों का भी है। न मालूम

आज तक कितने दुःखों का ध्वंस हो चुका है और वह सदा के लिए हम लोगों में विद्यमान है। ध्वंस का ध्वंस नहीं होता यह बात ध्वंस के विचार के समय बतलायी जा चुकी है। इसका उत्तर यह है कि केवल कुछ दुःखों का ध्वंस ही मोक्ष नहीं, अपितु दुःखों का विशेष रूप से होने वाला ध्वंस ही मोक्ष है। सांसारिक अमुक्त प्राणियों का दुःख-ध्वंस तो रहता है किन्तु अशेष दुःख-ध्वंस नहीं। क्योंकि आगे उनको होने वाले कुछ दुःख अवशिष्ट रहते हैं। कुछ विशिष्ट त्यागी महापुरुषों के दुःखों का ध्वंस निःशेष रूप से इसलिए हो पाता है कि उनके त्याग से प्रसूत ज्ञानाग्नि द्वारा वे ऐसी मरुभूमि बन जाते हैं कि भावी सुख-दुःखों के देने वाले उनके पुण्य और अपुण्य, जो कि धर्म और अधर्म शब्दों से पहले कहे जा चुके हैं, स्वयं पूर्ण दग्ध हो जाने के कारण सुख या दुःख का अंकुर उसमें उगा नहीं पाते। सुतरां भावी काल में दुःख होने की सम्भावना उनको रहती ही नहीं। पूर्व के दुःख ध्वस्त ही हो चुके रहते हैं और उक्त प्रकार से आगे दुःख होने वाले रहते ही नहीं, अतः वर्तमान दुःखों का ध्वंस अशेष दुःख-ध्वंस कहलाने का पूरा अधिकारी हो जाता है। अन्य लोगों के दुःख-ध्वंस इसलिए अशेष दुःख-ध्वंस नहीं हो पाते कि आगामी दुःख अवशिष्ट रह जाता है।

कुछ दुःख-ध्वंस-मुक्तिवादी आचार्य इस समस्या को इस प्रकार हल करते हैं कि दुःख दो प्रकार के हैं--एक मुख्य और द्वितीय अमुख्य। इन दोनों के अन्दर मुख्य दुःख तो वही है जिसे सभी प्राणी नहीं चाहते और कष्ट-पीड़ा-दुःख-संताप आदि शब्दों से उसे पुकारते हैं। इसका विशेष परिचय गुण-प्रकरण में विस्तृत रूप से दिया जा चुका है। अमुख्य दुःख वे हैं जिनसे वह मुख्य दुःख उत्पन्न होता है। अतः शरीर, इन्द्रियाँ, इन्द्रियजन्य अनुभूतियाँ एवं काम क्रोध आदि होते हैं अमुख्य दुःख। इन दोनों प्रकार के दुःखों का ध्वंस हो जाना ही मुक्ति है। मुक्ति का इस प्रकार निर्वचन करने पर बद्ध सांसारिक जीवों और मुक्त जीवों में समानता की आपत्ति नहीं की जा सकती। क्योंकि बद्ध सांसारिक जीवों के शरीर-इन्द्रियाँ आदि अमुख्य दुःख रहते ही हैं। दोनों प्रकार के दुःखों का ध्वंस तब तक नहीं हो पाता जब तक शरीरपात न हो जाय। इस पक्ष में मुख्य और अमुख्य दुःखों की मिलित संख्या २१ होती है, यथा--शरीर (१), इन्द्रियाँ (६), उनसे होने वाले ज्ञान (६) और उन ज्ञानों के (६) विषय, सुख (१) और दुःख (१)। यद्यपि इन्द्रियों के अन्दर श्रोत्र और मन ये दोनों नित्य हैं, उनका स्वरूपतः ध्वंस होना कठिन है। किन्तु सोपाधिक रूप से उनका भी ध्वंस होता ही है, अन्यथा उन दोनों से होनेवाले ज्ञान को सार्वदिक मानना होगा जैसा कि होता नहीं। इस दुःखध्वंस-मुक्तिवाद का पर्यवसित अर्थ यह होता है कि जिस व्यक्ति को जब किसी भी दुःख का प्रागभाव नहीं रहेगा --अर्थात् कोई भी उसका

दु:ख भविष्य में होने वाला न होगा एवं अतीत व वर्तमान दु:खों का ध्वंस हो जायगा तब वह व्यक्ति मुक्त कहलायेगा।

कुछ लोगों का कहना यह है कि धारावाहिक क्षणिकविज्ञान स्वरूप आत्मा का निर्विषय होना अर्थात् निराकार होना ही मोक्ष है। निराकारता भी आकार का अभाव ही होती है। अतः इस पक्ष में भी मोक्ष फलतः अभावरूप ही होता है। परन्तु ज्ञान कभी निर्विषयक नहीं होता और निर्विषयक कभी ज्ञान नहीं कहला सकता। अतः क्षणिक ज्ञानों की निर्विषयता को मोक्ष नहीं कहा जा सकता। क्षणिक विज्ञानात्मवाद का खण्डन प्रथम प्रकरण में किया जा चुका है। सुतरां उसकी आगन्तुक निर्विषयता को मोक्ष कहना असम्भव है।

कुछ अन्य लोग यह कहते हैं कि आत्मा तो जल में रहने वाले कमल के समान असंग होता है अतः वह बद्ध ही नहीं हो सकता। सुतरां उसकी मुक्ति के बारे में कोई विचार करना व्यर्थ है। क्योंकि जो बद्ध ही नहीं हुआ वह मुक्त क्या होगा ? अतः मुक्ति के संबंध में ज्ञातव्य यह है कि प्रकृति, जो कि समानांश सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की समष्टि रूप है एवं बुद्धि-अहंकार-पञ्चतन्मात्रा आदि रूप से परिणत होती है, वही पहले बद्ध रहती एवं पीछे मुक्त होती है। अतः वस्तुतः मुक्ति आत्मा में होती ही नहीं। (१) ज्ञान, (२) अज्ञान, (३) वैराग्य, (४) अवैराग्य, (५) धर्म, (६) अधर्म, (७) ऐश्वर्य और (८) अनैश्वर्य ये आठ कहलाते हैं "भावाष्टक"। इनके अन्दर ज्ञान को छोड़कर अन्य सात से उक्त प्रकृति अपने को आबद्ध करती है और अवशिष्ट एक ज्ञान से अपने को मुक्त बनाती है।

परन्तु यह कथन भी विचार करने पर इसलिए जँचता नहीं कि प्रकृति तो एक ही है। उसकी यदि मुक्ति मानी जाय तो एकदा ही सब प्राणी मुक्त हो बैठेंगे। किन्तु ऐसा नहीं माना जा सकता। क्योंकि कोई ज्ञानी है कोई अज्ञानी, कोई बद्ध है और कोई मुक्त है। तब इस प्रकार अनुभूयमान भेद नहीं बन पायेगा। यदि यह कहा जाय कि "प्रकृति मुक्त होती है" यहाँ प्रकृति शब्द से उसके प्रथम परिणाम बुद्धि को लेना चाहिए। वह प्रत्येक जीव में अलग-अलग होती है, अतः बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था भी बन जायगी। तो यह कथन भी इसलिए उचित नहीं प्रतीत होता कि उस बुद्धि को मिलने वाली मुक्ति क्या और कैसी होगी ? इस सम्बन्ध में विचार करने पर यह कहना होगा कि अपनी परिणामी प्रकृति में विलीन हो जाना ही उसकी मुक्ति होगी। सत्कार्यवाद मत में मुक्ति को कोई आगन्तुक वस्तु कहा नहीं जा सकता। किन्तु परिणामी के अंदर विलीन परिणाम तो फिर उससे निकल सकता है। क्योंकि गुप्त वस्तु फिर प्रकाशित नहीं होगी यह निर्णय किस प्रकार किया जा सकता है?

ऐसी परिस्थिति में मुक्ति भी आत्यन्तिक, अनन्तकाल स्थायी न हो सकेगी और ऐसा न होने पर फिर उसका महत्त्व ही भला क्या रह जाता है? सारकथा यह कि इस मत के अभ्युपगम पक्ष में मोक्ष, मुक्त का बन्ध, और फिर मुक्ति माननी पड़ती है। क्योंकि जब प्रकृति से बुद्धि नहीं अभिव्यक्त हुई थी तब वह पहले मुक्त ही थी। अनन्तर जब वह प्रकृति से निकली तब बद्ध हुई और फिर जब प्रकृति में विलीन हो जायगी तब मुक्त होगी। किन्तु ऐसा मानने से वह फिर कभी बद्ध नहीं होगी यह कैसे विश्वास किया जा सकता है? अतः यह कालिक मुक्ति निर्वाण, निःश्रेयस आदि शब्दों से कही जाने वाली मुक्ति कहलाने का अधिकार नहीं रख पाती।

अपर कुछ लोग दुःखामिश्रित स्वर्गसुख को ही मोक्ष मानते हैं। उनका कहना है कि तादृश सुखप्रद यज्ञ आदि पुण्य कर्म से वह सुख प्राप्त होता है। जो लोग सत्कर्मों से होने वाली ऊर्ध्वगति को ही मुक्ति मानते हैं उनका मत भी इसी मतवाद से मिलता-जुलता है। परन्तु जन्य सुख को मोक्ष मानने में प्रबल कठिनाई यह है कि उत्पत्तिशील प्रत्येक भाव पदार्थ नश्वर हुआ करता है। अतः उक्त मुक्ति को भी नश्वर मानना होगा, तब वह भी निर्वाणात्मक पूर्ण मुक्ति कहलाने का अधिकार नहीं रख सकती।

जो कुछ भी हो, परन्तु यह सभी के मत में निर्विवाद है कि मुक्त जीवों को दुःख नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में यही मानना उचित है कि मुक्ति दुःख का अभाव स्वरूप ही है अन्य कुछ नहीं।

उपसंहार

इस प्रकार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन सात पदार्थों के विवेचन के अनन्तर इन सात से अतिरिक्त कोई पदार्थ अवशिष्ट नहीं रह जाता। विवेचन या अन्वेषण भले ही नया हुआ करे किन्तु इन सात से अतिरिक्त विवेच्य, अन्वेष्य कोई विषय नहीं रह जाता। जो भी कोई वस्तु विवेचनार्थ नवीन रूप से उपस्थित होगी, गम्भीरतापूर्वक देखने पर वह वस्तु इन्हीं सात पदार्थों के अन्दर किसी न किसी में अन्तर्भुक्त हुई दीख पड़ेगी। कहने का तात्पर्य यह कि अवान्तर विशेषों का अन्वेषण तो निरन्तर होता आ रहा है और निरन्तर चलता रहेगा, क्योंकि वह स्वस्थ बुद्धि का स्वभाव या एक अविच्छेद्य अंग सा है। यही कारण है कि इस भारतीय पदार्थविज्ञान-प्रकाश के अनन्तर अन्य देशों में इनके अन्दर आने वाले भौतिक एवं अभौतिक तत्तत् विशेष तत्त्वों के सम्बन्ध में निरन्तर अन्वेषण सर्वत्र वैज्ञानिकों द्वारा होता आ रहा है एवं आगामी समय में भी होता रहेगा। परन्तु वे विवेच्य विशेष वस्तुएँ भी इन्हीं प्रदर्शित द्रव्य आदि पदार्थों के अन्दर विशेष या अति विशेष अथवा अत्यधिक विशेष होंगी।

अभिधेयत्व, प्रमेयत्व आदि अतिरिक्त पदार्थ नहीं

कुछ लोग यहाँ यह प्रश्न उपस्थित कर सकते हैं कि उक्त प्रकार से पदार्थ संख्या में सात ही हैं यह सीमानिर्धारण नहीं किया जा सकता। क्योंकि उक्त सात पदार्थ अपने-अपने अभिधानों से, वाचक शब्दों से अभिहित होने के कारण अभिधेय अवश्य होंगे। अतः इनमें रहने वाला "अभिधेयत्व" आश्रयभूत सात पदार्थों से अतिरिक्त उनमें रहनेवाला स्वतन्त्र पदार्थ होगा। इसी प्रकार "प्रमेयत्व" भी उन सब में रहने वाला और आश्रयभूत सातों से अलग स्वतंत्र पदार्थ अवश्य होगा। क्योंकि विभिन्न प्राणी-कर्तृक विभिन्न प्रमाओं के अथवा ईश्वरकर्तृक एक प्रमा के विषय होने के कारण द्रव्य आदि उक्त सातों पदार्थ प्रमेय अवश्य कहलायेंगे। अतः उनमें प्रमेयत्व नाम का धर्म अवश्य मान्य होगा। धर्म और धर्मी अर्थात् आश्रित और आश्रय इस सिद्धान्त में एक हो नहीं सकते। आश्रय और आश्रितों को एक पदार्थ, एक तत्व मानने पर तो पदार्थों की संख्या सात भी नहीं हो सकेगी; द्रव्य और उनमें रहने

वाले गुण-कर्म सभी एक रूप बन बैठेंगे। अतः धर्म और धर्मी में पारस्परिक भेद मानना अनिवार्य ही होगा। ऐसी परिस्थिति में पदार्थों की संख्या सात ही है यह कैसे कहा जा सकता है?

इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि प्रमेयत्व, अभिधेयत्व आदि एवं रूप, रस आदि गुण इन दो वर्गों को एक श्रेणी का समझना भूल है। क्योंकि रूप, रस आदि गुण प्राणि-बुद्धि की अपेक्षा न रखते हुए अपने-अपने कारणों से द्रव्यस्वरूप आश्रय में उपन्न होते हैं। उन्हें कोई समझे या न समझे इससे मतलब नहीं। परन्तु प्रमेयत्व, अभिधेयत्व आदि ऐसे नहीं हैं। क्योंकि जब किसी भी प्राणी को किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में प्रमात्मक ज्ञान होगा तब वह वस्तु प्रमेय या प्रमित कहलायेगी। तब उसमें प्रमेयत्व नाम का धर्म प्रतीत होगा। इसी प्रकार अभिधेयत्व आदि के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। अभिधान होता है शब्द, वह जब कण्ठ-तालु आदि स्थानों के साथ वायु के संयोग से आकाश में उत्पन्न होता है, तब अभिधान होता है। उस अभिधान से अर्थात् नामात्मक शब्द से, जब कोई वस्तु-विशेष कहा जाता है तब वह वस्तु-विशेष अभिधेय कहलाता है। सुतरां अभिधेयता वस्तु का एक आगन्तुक धर्म है स्वाभाविक धर्म नहीं। अतः यह अभिधेयता प्राणि-बुद्धि-सापेक्ष है। रूप-रस आदि गुण ऐसे नहीं होते। उन्हें कोई समझे या न समझे वे द्रव्य के स्वाभाविक धर्म होते हैं। अभिधेयता और गुण आदि स्वीकृत पदार्थों में यह एक महान् तथ्यात्मक अन्तर है। अतः गुण आदि के समान अभिधेयत्व को स्वतंत्र सत् स्वरूप वस्तु नहीं माना जा सकता। किन्तु वह अभिधेय तत्तत् वस्तु स्वरूप ही होकर रह जाता है। उसे अलग अतिरिक्त पदार्थ मानने का खास प्रयोजन नहीं बतलाया जा सकता। इसी प्रकार प्रमेयत्व, प्रतियोगित्व, कारणत्व, साध्यत्व आदि को भी समझ लेना चाहिए। अतः इन्हें लेकर अतिरिक्त पदार्थ स्वीकार की शंका नहीं की जा सकती। यहाँ कुछ लोग यह आपत्ति उठा सकते हैं कि यदि लोक-बुद्धि-सापेक्ष होने के कारण अभिधेयत्व, प्रमेयत्व आदि को स्वतन्त्र रूप से सत् पदार्थ न माना जायगा तो द्वित्व आदि संख्याएँ एवं परत्व, अपरत्व आदि भी धर्मी से अतिरिक्त धर्मात्मक गुण नहीं हो सकेंगे। क्योंकि उनकी उत्पत्ति में भी अपेक्षाबुद्धि की अपेक्षा होती है यह बात पहले बतलायी जा चुकी है।

इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि गुण-निरूपण के उक्त विवेचनस्थल में द्वित्व आदि संख्याओं एवं परत्व, अपरत्व आदि की उत्पत्ति की प्रक्रिया बतलाते समय उनके प्रति होने वाले समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्त कारणों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, जिससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि वे धर्मभूत वस्तुएँ

हैं। इन अभिधेयता, प्रमेयता आदि के लिए खोजने पर समवायिकारण और असमवायिकारण नहीं मिल सकते। यदि यह कहा जाय कि आश्रयभूत धर्मी ही समवायिकारण हो सकेंगे, तो यह इसलिए नहीं कहा जा सकता कि तब गुण-कर्म आदि में अभिधेयता-प्रमेयता आदि नहीं हो सकेंगी। क्योंकि समवायिकारण केवल द्रव्य ही हुआ करता है यह बात कारण-विचार के अवसर पर विचारित हो चुकी है। जिसका कोई समवायिकारण नहीं होगा उसके प्रति कोई असमवायिकारण भी नहीं हो सकेगा।

यह भी कहना कठिन है कि केवल लोकबुद्धयात्मक निमित्त कारण से उनकी उत्पत्ति होगी। क्योंकि भाव कार्य कभी कहीं केवल निमित्त कारण से उत्पन्न होने वाला नहीं पाया जाता। ध्वंस केवल निमित्त कारण से उत्पन्न होता है, किन्तु वह भाव नहीं अभाव होता है। अतः अभिधेयता आदि को स्वीकृत सात पदार्थों से अतिरिक्त कोई उत्पत्तिशील पदार्थ मानना कठिन है।

आरम्भवादी सिद्धान्त के अन्दर उक्त अभिधेयता आदि को नित्य मान लेना भी असम्भव है। क्योंकि जहाँ अभिधान और अभिधेय दोनों ही अति नूतन, पहले अति अप्रसिद्ध होंगे वहाँ अभिधेयता को किसमें आश्रित और कैसे नित्य माना जा सकेगा।

नवीन वैज्ञानिक भौतिक वस्तुओं का एवं उनके नूतन अभिधानों का प्रति दिन नवीनतया होने वाला सर्जन किसी से छिपा नहीं है। फिर उस अभिधानता और अभिधेयता को नित्य सिद्ध कैसे कहा जा सकता है? नित्य और अनित्य दो विभागों के अतिरिक्त कोई तीसरा विभाग नहीं बन सकता जिसमें अभिधेयता आदि को रखा जा सके। अतः यह मानना ही होगा कि अभिधेयत्व-प्रमेयत्व आदि कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं। इसी प्रकार कारणत्व, कार्यत्व, अवच्छेदकत्व, अवच्छिन्नत्व आदि के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। अतः इनको लेकर सात पदार्थ से अतिरिक्त पदार्थ के अतिरिक्तत्व की आशंका नहीं की जा सकती।

सामर्थ्य-स्वरूप शक्ति भी कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं बन सकती, अतः उसे लेकर भी सात से अधिक पदार्थों के अस्तित्व की शंका नहीं की जा सकती। यह बात आरम्भ में ही बतलायी गयी है।

प्राकट्य भी अतिरिक्त पदार्थ नहीं

कुछ लोगों का कहना है कि किसी भी वस्तु का जब ज्ञान होता है तब उस ज्ञान से उस वस्तु में ज्ञातता नाम की एक धर्मभूत वस्तु उत्पन्न होती है। इसीलिए किसी वस्तु का ज्ञान होने पर उस वस्तु के बारे में ज्ञाता यह विचार लोगों के समक्ष व्यक्त करता है कि "यह वस्तु ज्ञात हुई" अथवा स्वयं वह यह समझता है कि यह वस्तु मुझसे ज्ञात हुई। सुतरां ज्ञान के अनन्तर वस्तु में उत्पन्न होने वाली ज्ञातता

नामक वस्तु भी माननी होगी। इसी ज्ञातता को अन्य शब्द में "प्राकट्य" भी कहा जाता है। अतः इस प्रकार भी लोग समझते एवं वाक्य प्रयोग करते हैं कि "अमुक वस्तु प्रकट हुई", "अमुक विषय प्रकट हुआ" इत्यादि। सुतरां "प्राकट्य", "ज्ञातता" आदि शब्दों से कहा जाने वाला एक प्रकार का पदार्थ मानना चाहिए।

प्राकट्य को स्वीकृत द्रव्य, गुण आदि पदार्थों में अन्तर्भुक्त, गतार्थ इसलिए नहीं किया जा सकता कि उक्त द्रव्य, गुण आदि सभी पदार्थ अपना ज्ञान होने पर ज्ञात होंगे। अतः ज्ञातता उन सब में धर्म रूप से उत्पन्न होगी। धर्म और धर्मी ये दोनों कभी एक नहीं हो सकते। अतः उन सात पदार्थों में उत्पन्न होने वाली ज्ञातता को उसके आश्रयभूत द्रव्य आदि सात पदार्थों से अतिरिक्त स्वतंत्र एक पदार्थ मानना ही होगा। फिर पदार्थों की संख्या सात ही कैसे मानी जा सकती है?

इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि जिसका ज्ञान होता है वह ज्ञान का विषय होता है। अतः उस विषय में व्यवहार के लिए उसमें कामचलाऊ, आगन्तुक विषयता नामक धर्म उक्त अभिधेयता आदि के समान मान लिया जायगा और उसे ही ज्ञातता, प्राकट्य आदि शब्दों से भी कहा जायगा। अतः प्राकट्य नामक एक अतिरिक्त पदार्थ मानने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

ज्ञान के विषयों में उत्पन्न होने वाला कोई तात्विक पदार्थ इसलिए नहीं माना जा सकता कि ज्ञान के विषय तो अतीत और अनागत अर्थात् भूत और भावी वस्तुएँ भी हुआ करती हैं। अनुमान, शाब्दबोध और स्मरण ये इनके काल में अविद्यमान वस्तु के सम्बन्ध में भी होते हैं यह स्पष्ट है। अतीत और अनागत वस्तुएँ जब कि ज्ञान-काल में वहाँ रहेंगी ही नहीं तो प्राकट्य उत्पन्न किसमें होगा? अतः यह नहीं कहा जा सकता कि प्राकट्य या ज्ञातता नामक कोई पदार्थ उत्पन्न होता है।

ज्ञान के विषय में प्राकट्य पदार्थ के उत्पन्न होने में बड़ी जटिलता यह भी है कि समवायिकारण और असमवायिकारण के बिना कोई भी भाव पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकता, यह बात निकटपूर्ववर्ती विचार में बतलायी जा चुकी है। समवायिकारण किसी भी कार्य का द्रव्य ही होता है और कोई नहीं, यह बात बहुशः बतलायी जा चुकी है। ऐसी परिस्थिति में गुण-कर्म आदि पदार्थों के ज्ञानस्थल में उन गुण-कर्म आदि विषयों में ज्ञातता कैसे उत्पन्न होगी? गुण-कर्म आदि द्रव्य न होने के कारण समवायिकारण बन नहीं सकते। समवायिकारण के अभाव में असमवायिकारण भी नहीं मिल सकता। क्योंकि असमवायिकारण नियमतः समवायिकारण में ही रहने वाला हुआ करता है। अतः प्राकट्य को अतिरिक्त पदार्थ मानकर पदार्थों की संख्या सात से अधिक नहीं बढ़ायी जा सकती।

सादृश्य भी अतिरिक्त पदार्थ नहीं

कुछ लोग यह कहते हैं कि "सादृश्य" को सात से अलग एक स्वतंत्र पदार्थ मानना चाहिए। उसे अतिरिक्त पदार्थ मानने में युक्ति प्राकट्य पदार्थ के समान ही कुछ अंशों में है। सदृशता या सादृश्य का ज्ञान प्रामाणिक व्यक्तियों को भी उक्त द्रव्य-गुण-कर्म आदि पदार्थों में हुआ करता है। अतः उक्त सात में रहने वाले सादृश्य को सात पदार्थों के अंदर नहीं माना जा सकता। कारण, धर्म और धर्मी इस सिद्धान्त में एक नहीं माने जाते हैं। अतः सादृश्य को स्वतंत्र पदार्थ मानना चाहिए।

इसका उत्तर भी प्राकट्य-विवेचन के समान समझना चाहिए। क्योंकि यहाँ भी गुण-कर्म आदि पदार्थों में सादृश्य की उत्पत्ति के लिए समवायिकारण और असमवायिकारण ढूँढ़ने होंगे जो कि मिल नहीं सकते। आखिर सादृश्य को कौन पदार्थ माना जायगा। इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि द्रव्य-गुण आदि पदार्थों में यथासम्भव धर्म-धर्मी भाव होने के कारण सादृश्य भी विभिन्न स्थलों में द्रव्य-गुण आदि स्वीकृत पदार्थों के अन्दर ही कोई एक हो जायगा। अतः सादृश्य को सात से अतिरिक्त पदार्थ मानने का प्रयोजन नहीं रह जाता। उदाहरण द्वारा इसे यों समझना चाहिए कि दो कपड़े हैं और दोनों ही लाल हैं। अतः किसी ने यह कहा कि "यह कपड़ा उस कपड़े के सदृश है।" तो यहाँ वक्ता से प्रतिपादित होने वाला सादृश्य उस लाल रंग से अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं जो कि दोनों कपड़ों में है। और लाल रंग रूप-गुण है अतः यह सादृश्य गुण पदार्थ हो गया—अतिरिक्त नहीं। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिए; कहीं सादृश्य द्रव्य, कहीं गुण, कहीं कर्म तो कहीं सामान्य होगा। इस प्रकार यह स्वीकृत द्रव्य आदि सात पदार्थों के अन्दर ही कोई एक होकर रह जायगा। अतः इसे सात से अलग कोई पदार्थ मानना अनुचित है।

कुछ लोग सादृश्य को सामान्य पदार्थ मानते हैं। उनके कहने का आशय यह है कि सामान्य और समानता ये दोनों शब्द स्पष्ट ही पर्यायवाचक प्रतीत होते हैं। समानता सदृशता के अतिरिक्त और क्या हो सकती है? अतः समानता, सदृशता, सामान्य, सादृश्य ये सभी एक ही तत्व हैं। परन्तु यह उनका कथन इसलिए नहीं संगत कहला सकता कि यौगिक "सामान्य" शब्द सादृश्य शब्द का पर्यायवाचक होने पर भी रूढ़ "सामान्य" शब्द उससे अलग है, जिसका वाच्य अर्थभूत सामान्य नामक पदार्थ पिछले प्रकरण में विचारित हो चुका है। वह नित्य, एक, अनेकानुगत सामान्य सादृश्यात्मक सामान्य का मूलाधार है। उसी के सहारे किन्हीं दो वस्तुओं में सदृशता या समानता का प्रत्यय या व्यवहार हुआ करता है। दो लाल कपड़ों को समान तब तक नहीं कहा जा सकता जब तक दोनों में अलग-अलग विद्यमान दो

लालियों को समान न बना लिया जाय। अतः दोनों लालियों में होने वाली समानता के नियामक रूप में "लालीत्व" (रक्तत्व) नामक गुण-गत सामान्य की मान्यता आवश्यक हो पड़ती है। नियामक और नियम्य ये दोनों कभी एक नहीं होते। फलतः नियामक रक्तत्व सामान्य (पदार्थ) और नियम्य समानता इन दोनों को अतिरिक्त ही मानना होगा। अतः सादृश्य को सामान्य मानकर उसकी अतिरिक्त पदार्थता का खण्डन नहीं किया जा सकता। इसलिए ऊपर वर्णित पद्धति से ही सादृश्य की अतिरिक्त पदार्थता का खण्डन समझना चाहिए।

प्रतिबिम्ब अतिरिक्त पदार्थ नहीं

कुछ लोग यहाँ यह एक प्रश्न उपस्थित करते हैं कि प्रतिबिम्ब को स्वीकृत द्रव्य आदि सात से अतिरिक्त एक पदार्थ मानना ही होगा। क्योंकि प्रत्यक्षतः देखे जाने पर भी "वह कुछ नहीं है" यह कहना कठिन है। सार्वदिक न होने के कारण उसे नित्य द्रव्य भी नहीं कहा जा सकता। घट-पट आदि जन्य द्रव्यों की तरह अवयवों के संयोग से क्रमशः उत्पन्न न होने के कारण उसे अनित्य द्रव्य भी नहीं कहा जा सकता। शीशे आदि में देखते समय नाक-कान आदि विभिन्न अवयवों के दर्शन-प्रयुक्त गुण, कर्म, सामान्य आदि पदार्थ भी उसे नहीं माना जा सकता। सुतरां प्रतिबिम्ब को सात से अलग एक पदार्थ मानना चाहिए। अतः सात ही पदार्थ कैसे माने जा सकते हैं?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रतिबिम्ब बिम्बात्मक ही होता है, उससे अतिरिक्त और कुछ नहीं। शीशे के समक्ष जब बिम्ब उपस्थित होता है तो उसकी आँखें अर्थात् अक्षिरश्मियाँ स्वच्छ एवं सुदृढ़ शीशे से जा टकराती हैं और टकराकर वहाँ से लौटकर यथासम्भव अपने मुख एवं अन्य अंगों पर आ गिरती हैं। अतः गम्भीर भाव से विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि कोई भी द्रष्टा शीशे में मुख नहीं देखता अपितु शीशे से टकराकर लौटनेवाली अपनी अक्षिरश्मि से ग्रीवास्थ अपने मुख को ही देखता है। अतः मुख से अतिरिक्त उस का कोई भी प्रतिबिम्ब वस्तु रूप से मान्य नहीं।

यहाँ विपक्ष की ओर से प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों परस्पर विपरीत-मुख देखे जाते हैं। अर्थात् मुख यदि अपने से पश्चिम की ओर विद्यमान शीशे की ओर देखता देखा जाता है तो उसका प्रतिबिम्ब ठीक उसके विपरीत पूर्व की ओर देखता देखा जाता है। ऐसी परिस्थिति में बिम्ब और प्रतिबिम्ब इन दोनों को कैसे एक माना जा सकता है?

कुछ प्राचीन विवेचकों का इस सम्बन्ध में कहना यह है कि द्रष्टा स्वग्रीवास्थ मुख में विपरीत-मुखता का और अतिरिक्तता का भ्रम कर बैठता है। अर्थात् पश्चिम

की ओर देखते हुए अपने मुख को ही पूर्व की ओर देखता हुआ उसी प्रकार मान लेता है जिस प्रकार सीप को चाँदी मान लेता, अथवा डंडे को कभी साँप समझ लेता है। सारांश यह कि द्रष्टा विपरीतमुखता का भ्रम हो जाने के कारण एक ही ग्रीवास्थ मुख को दो समझ बैठता है। सुतरां बिम्ब से अतिरिक्त प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता। सूर्य-चन्द्र आदि सभी प्रतिबिम्ब योग्य वस्तुओं के प्रतिबिम्ब स्थल में इसी प्रकार समझ लेना चाहिए।

आधुनिक भूत-वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक भी प्रतिबिम्ब स्थल में इस बात से सहमत पाये जाते हैं कि प्रतिफलन अर्थात् प्रतिबिम्बन तो होता है देखी जाने वाली परिस्थिति के विपरीत, किन्तु प्राचीन वासनाओं के कारण मन उसे अपनी ओर उलटा हुआ समझता है। फलतः विपरीत-मुखता आदि का विभ्रम आधुनिक उभय वैज्ञानिक भी मानते ही हैं। ऐसी परिस्थिति में बिम्ब से अतिरिक्त प्रतिबिम्बात्मक किसी स्वतंत्र वस्तु की मान्यता सप्रयोजन नहीं सिद्ध होती है। अतः प्रतिबिम्ब को लेकर द्रव्य आदि उक्त सात पदार्थों से अतिरिक्त पदार्थ की शंका नहीं उठायी जा सकती। अन्य कोई भी दार्शनिक जो अपने विभिन्न दृष्टिकोण के आधार पर पदार्थों का वर्गीकरण अन्य प्रकार से करता है एवं तदनुसार पदार्थसंख्या भी अन्य प्रकार से बतलाता है उससे इस विभाजन का कोई विरोध इसलिए प्राप्त नहीं होता है कि नियामक दृष्टिकोण अलग अलग होते हैं। यदि प्रमाण और प्रमेय इन रूपों में सांसारिक सारे पदार्थों को संख्या में दो मात्र मान लिया जाय, या जड़ और चेतन स्वरूप में दो मान लिया जाय, अथवा प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति इस प्रकार से सारे पदार्थों को चार मान लिया जाय तो इसमें किसी को क्यों आपत्ति होगी ?

पाश्चात्य भूत-वैज्ञानिकों के पदार्थविभाजन से भी इसी प्रकार इस पदार्थविभाजन का कोई विरोध नहीं। क्योंकि घन, तरल और गैस इस रूप में बतलाया जानेवाला विभाजन तो फलतः परिस्थिति का ही विभाजन होकर रह जाता है, वस्तु का विभाजन नहीं कहला पाता। गम्भीर भाव से विचार करने पर यह उनका विभाजन केवल पार्थिव तत्वों का ही विभाजन है, सांसारिक समग्र पदार्थों का नहीं। इसलिए भी उससे कोई विरोध सम्भव नहीं है।